Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपाध्याय श्री मान विजय जी रचित

धर्म संग्रह

(भाग प्रथम)

पन्यास

श्री पदम विजय महाराज गणीवर्य

SCERC

श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

For Private and Personal Use Only

।। कोबातीर्थमंडन श्री महावीरस्वामिने नमः ।।

।। अनंतलब्धिनिधान श्री गौतमस्वामिने नमः ।। ।। गणधर भगवंत श्री सुधर्मास्वामिने नमः ।।

।। योगनिष्ठ आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरीश्वरेभ्यो नमः ।। ।। चारित्रचूडामणि आचार्य श्रीमद् कैलाससागरसूरीश्वरेभ्यो नमः ।।

आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर

(जैन व प्राच्यविद्या शोधसंस्थान एवं ग्रंथालय)

पुनितप्रेरणा व आशीर्वाद

राष्ट्रसंत श्रुतोद्धारक आचार्यदेव श्रीमत् पद्मसागरसूरीश्वरजी म. सा.

जैन मुद्रित ग्रंथ स्केनिंग प्रकल्प

ग्रंथांक : १८६०

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र

आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
कोबा, गांधीनगर-श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र
आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
कोबा, गांधीनगर-३८२००७ (गुजरात)
(079) 23276252, 23276204
फेक्स : 23276249
Websiet : www.kobatirth.org
Email : Kendra@kobatirth.org

शहर शाखा

आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
शहर शाखा
आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
त्रण बंगला, टोलकनगर
हॉटल हेरीटेज़ की गली में
पालडी, अहमदाबाद – ३८०००७
(079) 26582355

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

卐 नमः श्री जिन प्रवचनाय 卐

धर्म संग्रह

(सामान्य गृहस्थ जीवन पर अनेक शास्त्रों का आस्वादन)

प्रथम भाग

ग्रन्थकार व स्वोपज्ञकार :

पूज्य परम गुरु भट्टारक श्री विजयानंद सूरीश्वर जी के प्रशिष्य रत्न
परम पूज्य महोपाध्याय श्रीमान् विजय जी गणीवर्यः

संशोधक-संयोजक :

परम पूज्य विद्वच्छिरोमणि न्याय विशारद न्यायाचार्य
महोपाध्याय श्री यशो विजय जी गणीवर्यः

अनुवाद कर्ता :

परमपूज्य आचार्य श्री आत्म वल्लभ, ललित, पूर्णानंद सूरीश्वर जी
के कृपापात्र, अनेक तीर्थ उद्धारक
आचार्य देव श्रीमद् विजय प्रकाश चन्द्र सूरीश्वर जी
के शिष्य रत्न पन्यास प्रवर श्री पद्म विजयजी महाराज गणीवर्य

प्रकाशक :

श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

हस्तिनापुर-250 404 (मेरठ) (यू० पी०)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ग्रन्थ का नाम :

धर्म संग्रह

ग्रन्थकार व व्याख्याकार :

महोपाध्याय श्री मान विजय जी

संशोधक :

महोपाध्याय श्री यशो विजय जी

हिन्दी अनुवादक :

पन्यास श्री पद्मविजय जी

भाग-प्रथम

प्रकाशक :

श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

आवृत्ति :

प्रथम 2200 प्रतियां

प्रकाशन तिथि :

मूल्य : 60-00 रुपये

मुद्रक :

प्रिन्टोनिक्स

वैस्टर्न कचहरी रोड,

मेरठ-250 001 । फोन : 542302

प्राप्ति स्थान

श्री आत्मानन्द जैन बालाश्रम
हस्तिनापुर, मेरठ, यू० पी०
पिन कोड - २५०४०४

श्री नगीन चन्द जैन
नगीन प्रकाशन
वैस्टर्न कचहरी रोड,
मेरठ (यू० पी०)

कस्तूर चन्द अमीचन्द
१६, खान बिल्डिंग,
नवाव टेंक ब्रिज,
मझगांव, बम्बई-10

सरस्वती पुस्तक भंडार
रतन पोल, हाथी खाना,
अहमदाबाद (गुजरात)

सोमचन्द डी० शाह
जीवन निवास के सामने
पो०- पालीताणा (गुजरात)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पुरोवाक्

ज्ञान ही अमृत है, ज्ञान ही रसायन है और ज्ञान ही ऐश्वर्य है। अमृत समुद्र से उत्पन्न होता है, रसायन औषधियों से बनता है तथा ऐश्वर्य भौतिक सामग्री से अपेक्षित है, किन्तु ज्ञान समुद्र के बिना उत्पन्न होने वाला अमृत है। ज्ञान औषधियों के बिना बनने वाला रसायन है और ज्ञान भौतिक सामग्री के बिना ही उत्कृष्ट ऐश्वर्य है। ज्ञान प्रकाश का पुंज है। यह विशाल जगत् के संस्कारी जीवन को प्रकाश देने वाला है। मोक्ष सुख रूप सम्पत्ति का बीज भूत ज्ञान ही है। ज्ञान दान से जीव पुण्य-पाप आदि को समग्र रूप से जान लेता है। इससे अनेक प्रकार के पापों से निवृत्ति और समग्र पुण्य कार्यों की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । पुण्य कार्य में प्रवृत्ति करने वाला शीघ्र ही मनुष्य एवं देवलोक के सुख को प्राप्त करता है। पाप की निवृत्ति से नरक एवं तिर्यंच के दु:खों से मुक्त होता है। इसके अतिरिक्त मोक्ष सुख भी परम्परा से मिलता है। इसलिए तीर्थंकर भगवंतों ने ज्ञान का अमूल्य दान दिया है। यह 'धर्म संग्रह' महान ग्रन्थ उसका ही एक अंश है।

यद्यपि इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १७३१ वर्ष में वैशाख सुदि तीज (अक्षय तृतीया) के दिन उपाध्याय श्रीमान विजय जी गणीवर्य द्वारा की गई है। इस उल्लेख से सहज ही यह जानकारी प्राप्त होती है कि यह ग्रन्थ अर्वाचीन है फिर भी इसकी महत्ता कम नहीं है। क्योंकि ग्रन्थकार श्री ने इस ग्रन्थ में अनेकों प्राचीन शास्त्रों का सार संग्रह किया है। इसमें नया कुछ भी नहीं है। श्री तीर्थंकर परमात्मा ने भी जगत् का जो त्रिकालिक स्वरूप है उसे ही जगत् के सामने यथा स्वरूप वर्णित किया है। उसी अर्थ को श्रीगणधर देवों ने ग्रन्थ रूप में गुन्थन कर जगत् को शास्त्र रूप में अमूल्य भेंट दी है। यह काल बल से कम न हो जाय, इसलिये अमूल्य शास्त्र सम्पत्ति में से ही उद्धरित कर अनेक पूर्ववर्ती महर्षियों ने तत्वों को अखण्ड रखकर विशाल संख्या में संकलित-संग्रहीत कर ग्रन्थ रूप में विकसित किया है। ग्रन्थकार ने इन सबको (श्री तीर्थंकर परमात्मा, गणधर देव एवं पूर्वधर आचार्यों) के बचनों के १५० ग्रन्थों के सार रूप खजाने को एकत्र- संग्रहीत कर दिक् दर्शन कराया है। इस प्रकार तीन शताब्दी पूर्व रचित ग्रन्थ होने पर भी इसकी वस्तुत: प्राचीनता स्वयं सिद्ध हो जाती है।

इन प्रमाणों से केवल प्राचीनता ही ग्रन्थ की विशेषता नहीं है अपतु ग्रन्थकार जी ने जो भिन्न-भिन्न शास्त्र आधारों को मूल रूप में उल्लिखित करके (उत्सर्ग-अपवाद अथवा निश्चय-व्यवहार) इत्यादि भिन्न-भिन्न दृष्टियों से पारस्परिक(एक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दूसरे के) सम्बन्धों की अखण्डता को अक्षुण्ण बनाये रक्खा है। इसी प्रकार द्रव्य-क्षेत्र, काल-भाव एवं पुरुष आदि अनेक अपेक्षाओं के अनुरूप जो व्याख्या संकलना (संग्रह) की है, वे ही इस ग्रन्थ की मुख्य विशिष्टतायें हैं ।

इस ग्रन्थ के अभ्यास से यह स्पष्ट रूप में सिद्ध हो जाता है कि ग्रन्थकार श्री स्वयं भी शास्त्रों के पारगामी थे। उनमें ज्ञान की श्रेष्ठ प्रतिभा थी । उन्होंने विपुल ज्ञान गर्भित प्रतिपाद्य विषयों का विवेचन करते समय पूर्वाचार्य भगवंतों के उस विषय के अनेक ग्रन्थों के ग्रन्थकारों की दृष्टि भी अपने सामने रक्खी है। अपने निरूपण में स्थान-स्थान पर उन-उन ग्रन्थों का साक्षी पाठ भी उन्होंने विपुल मात्रा में नाम पूर्वक उल्लिखित किया है। बहुत स्थानों पर तो प्रतिपाद्य विषय का विवेचन भी अन्य ग्रन्थों अथवा ग्रन्थ की टीका से लगभग अक्षरशः ग्रन्थकार का ही अवतरित किया है। ऐसा करने में व्याख्या भले ही बड़ी हो गई हो परन्तु उस विषय का भावार्थ सम्पूर्ण रूप से ग्रन्थकार महापुरुष के आशय के अनुरूप ही किया गया है। अनेक स्थानों पर उन ग्रन्थों के समान पाठों की तुलना भी की है और भिन्न-भिन्न अनेक ग्रन्थों में उक्त विषयक चर्चा मतभेद-पाठान्तर आदि का उल्लेख भी किया है। इतनी सुन्दर रचना होने पर भी इसमें कथंचित् भी दोष न रह जाय, इसके लिये अपने समकालीन विद्वान् मनीषी पूज्य प्रवर न्याय विशारद न्यायाचार्य उपाध्याय प्रवर श्री मद् यशोविजय जी महाराज द्वारा इस अदभुत ग्रन्थ का संशोधन कराया है। पूज्य उपाध्याय भगवन्त ने सम्पूर्ण ग्रन्थ को सर्वप्रकोरण शुद्ध संशोधित करके कितनी ही आवश्यक वृद्धि करके अपने हाथों से सुशोभित किया है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति के तेरहवें श्लोक में यह स्पष्ट लिखा है कि- आगम- व्याकरण- छंद शास्त्र तथा काव्य शास्त्र आदि सर्वशास्त्रों में निष्णात वाचकेन्द्र श्री लावण्य विजय जी ने इस ग्रन्थ को सम्यग् प्रकार से शुद्ध किया है। यह इस ग्रन्थ की दूसरी विशिष्टता है। हो सकता है उन्होंने व्याकरण व छन्द आदि की दृष्टि से इस ग्रन्थ का संशोधन किया हो ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन सर्वप्रथम 'जैन धर्म विद्या प्रसारक वर्ग' (पालीताणा) नामक संस्था द्वारा वि० सं० १९६० में 'धर्म संग्रह' भाग प्रथम रूप प्रसिद्ध हुआ था । इस संस्करण में प्रस्तुत ग्रन्थ की २९ गाथाएं, टीका और उसका गुजराती भाषान्तर छपा है, उसके बाद आगे का भाग प्रकाशित न हो सका। इसके बाद यह ग्रन्थ सम्पूर्ण सटीक दो विभागों में "श्री देवचंद लाल भाई पुस्तकोद्धार फण्ड" द्वारा अनुक्रम से वि० सं० १९७१ तथा १९७४ में प्रसिद्ध हुआ। इसका संशोधन, सम्पादन प० पू० पन्यास श्री आनंद सागर जी (श्री सागरानंद सूरीश्वर)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

महाराज द्वारा हुआ है। इसके पश्चात् इसका सम्पूर्ण गुजराती अनुवाद करके दो विभागों में मुनिराज श्री भद्रंकर विजय जी महाराज ने वि० सं० २०१२ तथा २०१४ में छपवाया है। श्री सुबा जी खचंद जैन विद्याशाला की ओर से उनकी आवृत्ति बहुत बार छप चुकी है। वर्तमान आचार्य श्री भद्रंकर सूरीश्वर जी तथा प० पू० श्री विजय भुवन भानु के प्रशिष्य श्री हेमचंद विजय जी (वर्तमान आचार्य श्री) की प्रेरणा से वही दो विभाग तीन विभागों में "श्री जिन शासन आराधना ट्रस्ट" बम्बई-2 से वि० सं० २०४० तथा २०४३ में छपे हैं। उन्ही तीन भागो को मैंने हिन्दी भाषा में अनुवाद करके तीन भागों में ही प्रथम बार छपाने का उपक्रम किया है।

पूज्य आचार्य श्री सागरानंद सूरी जी (उस समय पन्यास पद पर सुशोभित थे) ने धर्म संग्रह की संस्कृत प्रस्तावना में इस ग्रन्थ को 'ग्रन्थराज' रूप में स्वीकार किया है एवं महत्वपूर्ण अग्रस्थान दिया है। इसकी यथार्थ सार्थकता तो इस महाग्रन्थ राज को यथा स्वरूप अभ्यास करने वाले सुधिजनों को ही हो सकती है।

इस ग्रन्थ को चार विभागों में विभाजित किया गया है। (पहले) विभाग में सामान्य गृहस्थ धर्म के वर्णन का अधिकार आया है। (दूसरे) विभाग में विशेष गृहस्थ धर्म का वर्णन करने का अधिकार आया है। (तीसरे) विभाग में सापेक्ष यति धर्म के वर्णन का अधिकार आया है तथा (चौथे) विभाग में निरपेक्ष यति धर्म वर्णन का अधिकार कहा गया है। इसकी विशेष विषय की सूची विषयानुक्रमणिका में दी गई है, उसी से जान लें।

प्रस्तुत ग्रन्थ के स्वोपज्ञवृत्ति सहित रचयिता श्री महामहोपाध्याय श्रीमान विजय जी ने चौदह हजार छः सौ दो श्लोक प्रमाण में इसकी रचना की है। इन्हीं ग्रन्थकार के समान नाम वाले अन्य बहुत से ग्रन्थकार हुए हैं। तपागच्छ में पाँच तथा खरतर गच्छ में दो मान विजय जी का नामोल्लेख मिलता है। इसे उपरान्त एक मान मुनि का नाम भी आया है। 'धर्म संग्रह' रचयिता के जन्म तथा स्वर्गवास की तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। ये महान विद्वान् थे। अहमदाबाद के प्रसिद्ध अग्रेसर सेठ श्री जवेरी शान्तिदास जी की प्रार्थना से उन्होंने यह एक अद्‌भुत ग्रन्थ रचा था, इनकी और भी श्रेष्ठ रचनायें हैं। "नय विचार" नामक ग्रन्थ का प्रमाण २४० श्लोक है जो वि० सं० १७२८ के आस-पास रचा गया था। इसी प्रकार "नय तत्व प्रकरण विवरण" वि० सं० १७३५, "सुमति कुमति (जिन प्रतिमा) स्तवन" वि० सं० १७२८, "गुरु तत्व प्रकाश" चौबीसी सं० १७२५ के आसपास "गजसुकुमार रास", "भगवती रास" अर्थात् सज्झाय पोढी वि० सं० १७४३ तथा "मद की सज्झाय" इत्यादि [illegible]

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भक्ति भाव से परिपूर्ण हैं एवं गायी जा रही हैं। इस प्रकार इनकी साहित्य साधना अद्वितीय है।

मैंने यह महाग्रन्थ स्वोपज्ञवृति सहित पढ़ा और सर्व शास्त्रों की अमूल्य निधि का आभास हुआ, तभी यह भावना जागृत हुई कि इस महानतम ग्रन्थ को सम्पूर्ण व्याख्या सहित हिन्दी अनुवाद के रूप में प्रस्तुत किया जाय कि सर्व साधारण जन भी पूज्य उपाध्याय भगवंत के अनुभव वचनों से लाभान्वित हो सकें। तद्भाव को साकार रूप देने के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद लिखने का साहस किया। परम पूज्य गुरुदेवों की परम कृपा से लगभग डेढ़ वर्ष में लिखकर सुज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर सका हूँ।

वस्तुतः इस महानतम ग्रन्थ का अनुवाद करने में भी आगम के गहन ज्ञान, अभ्यास एवं अनुभव की आवश्यकता है। इस सबके अभाव में अवश्य ही त्रुटियां रही होंगी। छद्म्यावस्था के कारण अथवा असावधानी या दृष्टिदोष के कारण कोई भी आगम सिद्धान्त विरुद्ध बात लिखी गई हो या मेरे द्वारा इस ग्रन्थ में पूज्य ग्रन्थकार के आशय के विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो उन सबका यहाँ मिच्छामि दुक्कड़म् देता हूँ तथा आशा करता हूँ कि ऐसी क्षतिपूर्ण त्रुटियों के लिये विद्वान्, आगम अभ्यासी, सुविज्ञ पाठक वृन्द मुझे सुझायेंगे तो मैं उसे सहर्ष स्वीकार करूंगा।

अन्त में मैं आशा करता हूँ कि धर्म प्रेमी पाठक गण इस ग्रन्थराज का पठन-पाठन करने व कराने से अधिकाधिक लाभ उठाकर, श्रुत ज्ञान प्राप्त करें तथा भव्य आत्मा, आत्म विकास करें। इसी शुभ आकांक्षा के साथ-

– पन्यास पद्म विजय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकाशकीय

भारतीय साहित्य में धर्म की महिमा अनिर्वचनीय है। उसमें धर्म का सार तत्व समाविष्ट है जिसको पाकर कोई भी भव्यात्मा नैतिक एवं आध्यत्मिक सन्मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। अपना जीवन सफल एवं सार्थक बना सकता है। इस कारण ही हमारी संस्था ने कई धार्मिक ग्रन्थ प्रकाशित किये। इस समय 'धर्म संग्रह' नामक महान ग्रन्थ सटीक रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। जैन साहित्य में इसका स्थान उत्तम एवं माननीय है। इसके रचयिता पूज्यपाद महोपाध्याय श्रीमान विजय जी महाराज हैं। उन्होने वि० सं० १६३१ में इस ग्रन्थ की स्वोपज्ञ वृत्ति रचना की है। बहु श्रुत पूज्य महामहोपाध्याय श्री यशोविजय जी महाराज साहब ने ग्रन्थ का संशोधन किया है। अत्यधिक गहन विषय वाले इस ग्रन्थ का अनुवाद वल्लभ, ललित पूर्णानंद सूरी के कृपापात्र आचार्य श्री मद् विजय प्रकाश चन्द्र सूरीश्वर जी के विद्वान् शिष्य रत्न पन्यास श्री पद्म विजय जी महाराज साहब ने अहर्निश श्रम करके हिन्दी भाषा में बड़े ही सरल एवं सहज रूप में प्रस्तुत किया है।

यह विशालकाय, महानतम ग्रन्थ है जिसके कारण तीन भागों में विभाजित किया गया है। महानतम ग्रन्थ का यह प्रथम भाग है। इसमें सामान्य गृहस्थ धर्म का वर्णन विस्तार सहित किया गया है। सम्यक् मार्ग का प्रकाशन करने वाले इस ग्रन्थ में उस समय के विद्यमान शास्त्र ग्रन्थों में से मुख्य लगभग १५० से भी अधिक ग्रन्थों का आलम्बन ग्रन्थकार ने लिया है, जिनकी सूची अलग से प्रस्तुत की गई है। वर्तमान काल में धर्म तत्व को सरलता से समझाने के लिये व स्वयं समझने के लिये यह ग्रन्थ सम्पूर्ण रूप से अनुकूल है। इस ग्रन्थ में अनेक आचार्यों एवं ग्रन्थकारों के समयग्ज्ञान का अपूर्व आस्वादन प्राप्त होता है।

ऐसे अलौकिक ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद के लिये पन्यास प्रवर श्री पद्म विजय जी महाराज साहब के अहर्निश श्रम के लिये हम उनकी अतीव अनुमोदना करते हैं तथा शासन देव से प्रार्थना करते हैं कि उनको श्रुत भक्ति के, शासन प्रभावना के अनेक कार्य करने का अधिक से अधिक सुवसर प्राप्त होता रहे।

श्रुत ज्ञान– जैन हिन्दी साहित्य का प्रचार कार्य हमारी संस्था के द्वारा चल रहा है। आज तक २२ हिन्दी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। यह महान ग्रन्थ तीन भागों में प्रकाशित हो रहा है। प्रथम भाग आपके हाथों में है। हिन्दी में लिखित ऐसे जैन साहित्य की आज बहुत आवश्यकता है। आगे भी यह कार्य चलता रहेगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रस्तुत ग्रन्थ चतुर्विध श्री संघ के लिये बहुत ही उपयोगी एवं आदर का पात्र बने। अनेक भव्यात्माओं को इस ग्रन्थ द्वारा अधिक से अधिक स्वाध्याय का अवसर मिले तथा इसमें कहे तत्वों को जीवन में आचरण द्वारा अपना कर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की अनुपम उपलब्धि हो– यही हमारी शुभ अभिलाषा है ।

इस महानतम ग्रन्थ के प्रकाशन में माननीय श्री नगीन चंद जी जैन मालिक फर्म नगीन प्रकाशन, मेरठ वालों का अत्यधिक सहयोग रहा है। एतर्थ उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ । ग्रन्थ के अति शीघ्र मुद्रण कार्य के लिये श्री सुभाष जैन (प्रिन्टोनिक्स, वैस्टर्न कचहरी रोड, मेरठ) को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने अपने समस्त आवश्यक कार्यों को स्थगित करते हुए ग्रन्थ को संशोधित कराकर इसके मुद्रण एवं प्रकाशन को प्राथमिकता प्रदान की । अन्त में उन सभी ज्ञात–अज्ञात महानुभावों को धन्यवाद दिये बगैर नहीं रह सकता जिन्होंने ज्ञानावरणीय क्षेत्र के कारण जो भी सहयोग प्रदान किया है, उनके प्रति हम कृतज्ञ हैं ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जो भी मति दोष अथवा दृष्टि दोष से त्रुटि रह गई है, वह हमारे प्रमादवश है। सुविज्ञ पाठक वृन्द भूल सुधार करते हुए, चिन्तन एवं मनन पूर्वक पढ़ें, यही शुभ अभिलाषा है ।

श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

मन्त्री

प्रो० जे० पी० सिंह (जैन)

एम० ए०, एल–एल० एम०

कानून विभाग (मेरठ कालिज मेरठ)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परम पूज्य पन्यास श्री पद्म विजय जी महाराज साहब के द्वारा प्रकाशित सरल अध्यात्म हिन्दी साहित्य

	रू०- पै०
१. योग शास्त्र	६०-००
२. संवेग रंगशाला	३०-००
३. जैन रामायण	१५-००
४. महाभारत (पांडव चरित्र)	१५-००
५. उपदेश माला	१५-००
६. वंदित्तु सूत्र	२५-००
७. समरादित्य महाकथा	३०-००
८. अध्यात्म सार	१२-५०
९. युगादि देशना	५-००
१०. पूर्व कथा संग्रह	३-००
११. ज्ञान सार	१-५०
१२. प्रशम रति	२-००
१३. देव वंदन माला	७-००
१४. पूजा कैसे करनी चाहिये	२-००
१५. तीर्थ हस्तिनापुर	०-५०
१६. प्राचीन तीर्थ पुरिमताल (इलाहाबाद)	५-००
१७. ललित भक्ति दर्पण	०-३५
१८. श्री शान्तिनाथ चरित्र	२५-००
१९. श्री नेमिनाथ चरित्र	२०-००
२०. श्री पार्श्वनाथ चरित्र	२५-००
२१. श्री धर्म संग्रह भाग-१	४०-००
२२. श्री धर्म संग्रह भाग-२	५०-००
२३. श्री धर्म संग्रह भाग-३	५५-००
२४. श्री वीस स्थानक तप आराधना विधि	१२-००

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समर्पण

मेरे परम पूज्य गुरुदेव, महा तपस्वी, अनेक तीर्थ उद्धारक
आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय प्रकाश चन्द्र सूरीश्वर जी
के गुरुभाई, महा तपस्वी, अरिहंत भगवन्त के परम
आराधक आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय ह्रींकार
सूरीश्वर जी महाराज जिन्होंने अपने जीवन
काल में करीब १८० अठाई, ६५० तेले
(अट्ठम), ७०० बेले (छट्ठ) आदि
नाना प्रकार की महा तपस्या कीं
उन महा तपस्वी आचार्य श्री
को हार्दिक श्रद्धा भक्ति
पूर्वक इस महा ग्रन्थ
को सादर समर्पित
करता हूँ।

चरण रेणु
पन्यास पद्म विजय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्रीमद्विजय ह्रींकार सूरीश्वर जी महाराज साहेब का जन्म परिचय

जन्म स्थान व जन्म सम्वत् : सादड़ी, राजस्थान सं० १८८६ आसोज सुदी मंगलवार
दीक्षा सम्वत् : सम्वत् २००६ ज्येष्ट सुदी १३ सादड़ी में सन् १९५०
पन्यास पदवी, गणिपद : गणिपद २०१७, पन्यासपद २०१९ बेंगलोर में
आचार्य पदवी : सम्वत् २०२१ महासुदी ५ मद्रास नगर में
देवलोक गमन : वीर सं० २५१८ विक्रम सं० २०४९ बैशाख कृष्णा २ रविवार दिनांक १९.४.९२ (२०.४.९२) को महान तीर्थ नागेश्वर में समाधि पूर्वक काल धर्म हुआ ।

गुरुदेव का संसारिक नाम फतेह चंद जी बाफणा था । बचपन में आपकी पढ़ाई सादड़ी में सम्पन्न हुई । आपकी माता श्री का नाम पानी बाई था । आपकी धार्मिक क्रियाओं में सदा आत्मिक श्रद्धा रूप रस लिये रहते थे । आपके पिता श्री करमचंद जी जाफणा का कारोबार बंबई में था । आपके (संसारिक बड़े भ्राता) बड़े भ्राता का नाम हमीरमल जी छोटे भ्राता का नाम कपूरचंद जी है ।

आपने सिर्फ एक बार ही बंबई में ६ महीने सर्विस श्रीमान शा० मणीलाल चीमनलाल एण्ड कम्पनी के यहाँ की, लेकिन आपका मन नहीं लगा व सन् १९४६ (अंग्रेजी वर्ष) में आप वापस सादड़ी पधार गये । वहाँ से आपके बड़े भ्राता हमीरमल जी आपको कलकत्ता और वहाँ से कालीमपोंग लेकर चले गये । करीब सालभर सन् १९४८ तक किसी भी प्रकार निकाला (कालीमपोंग दर्जिलिंग में आया है) । वहां पर कोई जिन मदिर (कालीमपोंग) नहीं था । पूजा पाठ के लिये घर में वासक्षेप पूजा, वह दीया धूप से चलाना पड़ता था । आपका मन उचट गया और गाँव सादड़ी में आप वापस पधार गये । वहाँ पर आपने पर्यूषण पर्व में ६४ पहरी पोसह, उपवास, आदि की तपस्या की, व पन्यास श्री प्रभाव विजय जी के संसर्ग में आ गये । पन्यास श्री प्रभाव विजय जी गाँव सादड़ी के रहने वाले सांसारिक नाम पुखराज जी व आपके पिता श्री करमचंद जी बाफणा के बचपन के दोस्त थे । बचपन से वे (पन्यास श्री प्रभाव विजय जी) आपके पिता श्री के पास हमेशा आते जाते रहे व दीक्षा के बाद भी बराबर आना जाना रहता था । आपके पिताजी (करमचंद जी) व भाई हमीरमल जी को ज्यादातर परदेश में रहना पड़ता था । घर पर सिर्फ आपके माता श्री पानीबाई व आप फतेह चंद जी ही रहते थे । कपूर चंद जी का जन्म १९४६ का है । आपकी दीक्षा के समय कपूर चंद जी सिर्फ 4 साल के थे ।

कर्म कथा और धर्म कथा दोनों का कहीं मेल नहीं है और आप फतेहचंद जी ने माता पिता की रजामंदी न मिलने पर भी दीक्षा लेने का निर्णय कर लिया व पन्यास श्री प्रभाव विजय जी के साथ विहार के साथ प्रस्थान कर दिया व आयंबील तपस्या शुरू कर दी व सम्वत् २००६ जेष्ठशुक्ला ६ को बाली मंदिर प्रतिष्ठा पर अपने आप साधु वेश पहन लेने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का निर्णय ले लिया। यह सूचना आपके पिता श्री करनचंद जी ने अपने बड़े पुत्र हमीरमल जी KALIMPONG को तार द्वारा दी। सूचना मिलते ही हमीरमल जी हवाई जहाज से Bagdogare से कलकत्ता देहली होते हुए जोधपुर पहुँचे। वहाँ से फौरन पाली पहुंचे (जीप द्वारा)। उस समय प्रतिष्ठा होने में एक ही दिन बाकी था। प्रभाव विजय श्री जी से मिलकर आग्रह पूर्वक निवेदन किया कि आप फतेहचंद जी को पाली में दीक्षा न देकर सादड़ी में ही देवें। आपकी विनती को स्वीकार करके जेष्ठ सुदी 93 को सादड़ी में दीक्षा देने का मंजूर किया। बड़े ठाट-बाट, गाजा-बाजा के साथ गाँव सादड़ी में हमीरमल जी ने अपने भाई फतेहचंद जी को बड़े धूम से दीक्षा सम्पन्न कराई। आपके गुरु प०प्रभाव विजय जी को पूना में आचार्य पदवी के बाद आपश्री जी को (पूर्णानन्द विजय जी) आचार्य भगवंत पूर्णानंद विजय जी नाम से अलंकृत हुये। हमीरमल जी धर्मनिष्ठ व सत्य निष्ठआत्मा हैं जिनकी वजह से हम भक्त गणों को उनकी छत्र छाया प्राप्त हुई। हम सदा आपके आभारी रहेंगे। सं० २००६ जेष्ठ सुदी ६ की बाली प्रतिष्ठा पर आप श्री हमीरमल जी ने पाषाण प्रतिमा "आदेश्वरजी" की भराई जो आज भी कुर्ला मंदिर में विराजमान् है।

आप (भगवंत ह्रींकार सूरिश्वरजी) सदा अपने गुरुवर्य की सेवा में संलग्न रहे और हर कार्य में सहायक बने रहे। आपने सम्मेतशिखर जी आदि अनेक तीर्थों में विहार किया, साथ ही तीर्थों की रक्षार्थ अपने गुरुवर्य के साथ अनेकों कार्य किये। श्री फलवृद्धि पार्श्वनाथ तीर्थ, मेड़ता रोड़ की अभिवृद्धि में आपका अनूठा योगदान रहा, प्रभु प्रतिमा जी के विलेपन का कार्य आपकी सदा प्रेरणा एवं निश्रा में सम्पन्न हुआ। आपकी ही प्रेरणा से मेड़ता में क्रिया भवन का निर्माण कार्य सम्पन्न हुआ। आप देव-द्रव्य के महान रागी एवं नवकार-महामन्त्र के परम आराधक थे। शास्त्रों के गूढ़ अध्ययन के साथ-साथ आप महान तपस्वी भी थे। आपने अपने गुरु भगवंत श्री आचार्य पूर्णानंद सूरीश्वर जी महाराज सा० की २८ वर्षों तक सेवा की है। उम्मेदपुर मंदिर की आपने रक्षा की एवं आचार्य भगवंत श्री पूर्णानंद सूरीश्वर जी महाराज सा० के गुरु मंदिर की स्थापना की, आपके सानिध्य में कई बड़ी-बड़ी घोर तपस्याएं, मासक्षमण, उपधान एवम् सिद्धचलजी के छरी पालते पैदल संग छोट संघ करीब ६ संघ से ज्यादा निकाले गये। आपने अपने जीवन काल में चारवर्णी तप, करीब 180 अट्ठाई, 650 तेला (अट्ठम) 700 बेला (छट्ठ) आदि अनेक तपस्याएं कीं।

आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले महान आचार्य भगवंत श्री विजय ह्रींकार सूरीजी म० सा० भारतवर्ष की भूमि पर कठोर तपस्या करते हुए अनेकों जन कल्याण हेतु कार्य करते हुए आखरी नागेश्वर तीर्थ पधार कर हम सर्व भक्त गणों के समूह को छोड़कर सदा के लिए विलीन हो गये। ऐसे महान उपकारी भगवंत आचार्य श्री विजय ह्रींकार सूरीश्वर जी की पुन्य तिथि भक्तगण नागेश्वरम मनाने जा रहे हैं। सदैव अमर रहे एवं अमर रहेंगे-यही हमारी प्रार्थना है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस ग्रन्थ में आधारभूत ग्रन्थों की नामावली

१. अध्यात्म मत परीक्षा
२. अनुयोग द्वार मूल
३. अनुयोग द्वार टीका
४. अनेकार्थ संग्रह
५. अयोग व्यव० द्वाद्विंशिका
६. अष्टक प्रकरण मूल
७. अस्वाध्याय निर्युक्ति
८. आचारांग सूत्र
९. आचारांग सूत्र टीका
१०. आचारांग सूत्र चूर्णि
११. आयुर्वेद
१२. आवश्यक सूत्र मूल
१३. आवश्यक निर्युक्ति
१४. आवश्यक चूर्णि
१५. आवश्यक भाष्य
१६. आवश्यक संग्रहणी
१७. उत्तराध्ययन मूल
१८. उत्तराध्ययन टीका
१९. उत्तराध्ययन निर्युक्ति
२०. उपदेश पद
२१. उपदेश माला
२२. उपदेश रत्नाकर
२३. उपासक दशांग सूत्र
२४. ओघ निर्युक्ति मूल
२५. ओघ निर्युक्ति चूर्णि
२६. ओघ निर्युक्ति टीका
२७. ओघ निर्युक्ति भाष्य
२८. कम्म पयडी टीका
२९. कल्प व्यवहार
३०. कल्प सूत्र टीका
३१. कल्याण कलिका
३२. किरातार्जुनीयम्
३३. गणि विज्ज प्रकीर्णक
३४. गच्छा प्रकीर्णक
३५. गुरु वंदन भाष्य
३६. चउसरण पयन्ना
३७. चरमावर्त द्वात्रिंशिका
३८. चेइयवंदन महा भाष्य
३९. चैत्यवंदन भाष्य
४०. चैत्यवंदन संघाचार भाष्य
४१. जीवाभिगम सूत्र
४२. ठाणांग सूत्र
४३. तत्वार्थ सूत्र
४४. त्रिषष्टि शलाका पु० चरित्र
४५. दशवैकालिक सूत्र
४६. दशवैकालिक टीका
४७. दशवैकालिक निर्युक्ति
४८. दशाश्रुत स्कंध चूर्णि
४९. दर्शन शुद्धि प्रकरण
५०. दिनचर्या
५१. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका
५२. धर्म बिन्दु प्रकरण
५३. धर्म बिन्दु टीका
५४. धर्म रत्न प्रकरण
५५. धर्म संग्रहणी
५६. ध्यान शतक
५७. नव तत्त्व प्रकरण
५८. नव्य यति जित कल्प
५९. निशीथ सूत्र
६०. निशीथ चूर्णि
६१. निशीथ भाष्य
६२. नीति शास्त्र
६३. पच्चक्खान लघुभाष्य
६४. पंचकल्प भाष्य
६५. पंच निर्ग्रन्थी प्रकरण
६६. पंच वस्तु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

६७. पंच वस्तु टीका
६८. पंच संग्रह
६९. पंचाशक
७०. पंचाशक टीका
७१. पद्म चरित्र
७२. परिशिष्ट पर्व
७३. पाक्षिक सूत्र चूर्णि
७४. पाक्षिक सूत्र वृत्ति
७५. पाराशर स्मृति
७६. पिण्ड निर्युक्ति
७७. पिण्ड निर्युक्ति टीका
७८. पिण्ड विशुद्धि
७९. पिण्ड विशुद्धि टीका
८०. पूजा प्रकरण
८१. पूजा विधि प्रकरण
८२. पूजा विंशिका
८३. पज्ञापना सूत्र
८४. प्रतिक्रमण हेतु गर्भ
८५. प्रतिष्ठा पद्धत्ति
८६. प्रवचन सारो द्वार
८७. प्रवचन सारोद्धार वृत्ति
८८. प्रशमरति प्रकरण
८९. प्राचीन समाचारी
९०. बुद्ध शास्त्र
९१. वृहत्कल्प सूत्र मूल
९२. वृहत्कल्प भाष्य
९३. वृहत्छान्ति
९४. वृहत्संग्रहणी
९५. भगवती सूत्र
९६. भगवती सूत्र टीका
९७. भाषा रहस्य
९८. मनु स्मृति
९९. महानिशीथ सूत्र
१००. यति दिनचर्या
१०१. योग दृष्टि समुच्चय
१०२. योग बिन्दु
१०३. योग विधि
१०४. योग शास्त्र मूल
१०५. योगशास्त्र वृत्ति
१०६. योग सूत्र (पात०)
१०७. रायपसेणीय सूत्र
१०८. लघु क्षेत्र समास
१०९. ललित विस्तरा
११०. लोक व्यवहार शास्त्र
१११. लौकिक नीति शास्त्र
११२. वसुदेव हिंडी
११३. व्यवहार पीठिका
११४. व्यवहार चूर्णि
११५. व्यवहार चूला
११६. व्यवहार भाष्य
११७. व्यवहार सूत्र मूल
११८. विवाह चूलिका
११९. विवेक विलास
१२०. विशेषावश्यक भाष्य
१२१. वीतराग स्तोत्र
१२२. शतक वृहत्चूर्णि
१२३. शिव पुराण
१२४. श्रवण प्रतिक्रमण सूत्र वृत्ति
१२५. श्राद्ध जित कल्प
१२६. श्राद्ध दिन कृत्य
१२७. श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र चूर्णि
१२८. श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र वृत्ति
१२९. श्राद्ध विधि प्रकरण
१३०. श्राद्ध समाचारी
१३१. श्रावक धर्म प्रज्ञप्ति
१३२. श्रावक धर्म विधि प्रकरण
१३३. श्रावक व्रत भंगावचूरि
१३४. षोडशक मूल
१३५. षोडशक वृत्ति
१३६. सद्धर्म विंशिका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१३९. सन्मति प्रकरण
१४०. समवायाङ्ग सूत्र
१४१. संबोध प्रकरण
१४२. सम्यकत्व विंशिका
१४३. संसक्त निर्युक्ति
१४४. स्कन्द पुराण
१४५. समाचारी प्रकरण
१४६. सिद्ध प्राभृत
१४७. सिद्ध सेनीय द्वात्रिंशिका
१४८. सिद्ध हेम शब्दानुशासनम्
१४९. सुदंसणा चरित्रम्
१५०. सूत्रकृताङ्ग सूत्र
१५१. हितोपदेश माला
१५२. विचारामृत सार संग्रह
१५३. विचार सार प्रकरण

इसके अतिरिक्त अन्य कितने ही ग्रन्थों का आधार लिया गया है, उनके स्थान और नाम नहीं मिले हैं ।

श्रुत ज्ञान की भक्ति का लाभ लेने वालों की शुभ नामावली

२१०००/= मैसूर श्री संघ के ज्ञान खाता की चन्द्र प्रभु मंदिर शताब्दी निमित्त ।
२१०००/= सुलै श्री संघ, मद्रास ज्ञान खाता ।
२००००/= मद्रास सिद्धाचल चौमासा आराधना संघ ।
११००१/= बेलगाम श्री संघ ज्ञानखाता ।
११०००/= गुजराती श्री संघ, गांधी नगर, बेंगलौर ।
११०००/= श्री चन्द्र प्रभु जुना मंदिर, ज्ञानखाता ।
५५०१/= चूलै श्री संघ, मद्रास ज्ञान पेटी में से मंदिर जी की शताब्दी के निमित्त।
५१०१/= गुजराती वाडी जैन संघ, मद्रास ।
५०००/= श्री राजस्थान श्री सुपार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मूर्ति पूजक संघ, कोयम्बटूर।
२१००/= साध्वी कल्पलता श्री के उपदेश से साधारण भवन की बहिनो के ज्ञानखाता से, मद्रास ।
११००/= साध्वी श्री कल्पलता श्री के उपदेश से आयंबिल खाता की बहिनो की ओर से, मद्रास ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषयानुक्रमाणिका

ग्रन्थकार मंगलाचरण १ १ - ६५

धर्म का स्वरूप

मैत्री आदि चार भावना

गृहस्थ का सामान्य धर्म

पैंतीस गुणों का वर्णन

धर्म उपदेश का स्वरूप

सद्धर्म के लिए जीव की योग्यता

अधिकार दूसरा

प्रकरण पहला - सम्यकत्त्वाधिकार ६६ - १७८

सम्यकत्व का स्वरूप

मिथ्यात्व के भेद

प्रकरण दूसरा १७६ - ४२८

श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन

श्रावक़ के व्रतों के १२४ अतिचार

सात क्षेत्र के विषय में श्रावक का कर्तव्य

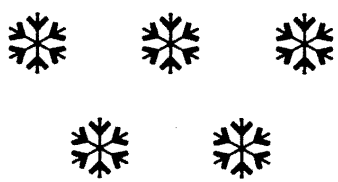

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ॐ ऐं नमः

श्री आदिनाथाय नमः

श्री आत्म वल्लभ ललित पूर्णानंद प्रकाश सूरि गुरुवरेभ्यः नमः

परम पूज्य महोपाध्याय श्रीमान् मानविजय जी गणिवर रचित स्वोपज्ञ
टीका सहित एवं न्याय विशारद न्यायाचार्य महोपाध्याय
श्रीमद् यशोविजय प्रणीत टिप्पणी विभूषित

धर्म संग्रह

(गृहस्थ जीवन का सामान्य एवं विशेष धर्म संग्रह)

(प्रथम विभाग)

टीका का मंगलाचरण

प्रणम्य विश्वेश्वर वीरदेवं, विश्वातिशायि प्रथित प्रभावम् ।
शास्त्रानुसृत्या किल धर्म संग्रहं, सुखावबुद्धयै विवृणोमि लेशतः ॥ १ ॥

ग्रन्थकार महात्मा परमपूज्य महोपाध्याय श्रीमद् मानविजय गणिवर्य स्वयं रचित मूल "धर्मसंग्रह" नामक ग्रन्थ की स्वयं ही टीका की भी रचना करते हैं जिससे भव्यात्माओं को वास्तविक अर्थ का बोध हो और कोई भी व्यक्ति अपनी बुद्धि से इसका मनमाना अर्थ न कर बैठे एवं जिज्ञासु जनों को न बहका दे। इसी आशय से प्रेरित होकर श्री उपाध्याय भगवन्त ने अपने ग्रन्थ पर स्वयं ही व्याख्या लिखी है - उसका यह प्रथम मंगलाचरण करते हैं। जगत् में सर्व से अतिशय युक्त एवं विशाल प्रभाव वाले विश्व के स्वामी श्री महावीर परमात्मा को भाव पूर्वक तीन करण के योग से नमस्कार करके बाल जीवों को सुख पूर्वक बोध-ज्ञान हो, इस भावार्थ से **'धर्म संग्रह'** नामक ग्रन्थ का शास्त्रानुसार अल्प मात्र विवेचन करता हूँ।

अब ग्रन्थकार ग्रन्थ का प्रारंभ करते समय प्रथम दो श्लोकों के द्वारा मंगलाचरण करके श्रोता वर्ग की प्रवृत्ति के लिए अपना अभिप्राय प्रगट करते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मूल श्लोक का मंगलाचरण

प्रणम्य प्रणताशेष - सुरासुर नरेश्वरम्।
तत्त्वज्ञं तत्त्व देष्टारं, महावीरं जिनोत्तमम् ॥१॥
श्रुताब्धेः सम्प्रदायाच्च, ज्ञात्वा स्वानुभवादपि।
सिद्धान्तसारं ग्रथनामि, धर्म सङ्ग्रहमुत्तमम्॥२॥

मूलार्थ - सुर, असुर एवं नरेन्द्रों से पूजनीय वस्तु तत्त्व को जानने वाले तथा वस्तु तत्त्व के उपदेशदाता जिनेश्वरों में उत्तम श्री महावीर प्रभु को नमस्कार करके श्रुत सिद्धान्त रूप समुद्र से संप्रदाय अर्थात् सद्गुरु परम्परा से जान कर तथा स्वानुभव ज्ञान से निर्णय करके आगम रहस्य के सारभूत उत्तम धर्म के संग्रह रूप ग्रन्थ की मैं रचना करता हूँ।

व्याख्या - यहां श्रमण भगवान श्री महावीर प्रभु के वास्तविक अतिशय-विशिष्ट गुणों की स्तुति करके उनको नमस्कार रूप भाव मंगल का आचरण किया है। वह इस प्रकार :- **'प्रणता शेष सुरासुर नरेश्वरम्'** - इस पद से भगवान का 'पूजातिशय' कहा है अर्थात् सुर, असुर और नरेन्द्र-चक्रवर्ती रूप तीन लोक के जीव उनकी पूजा करते हैं, इस तरह उनका महा पूजातिशय है। **''तत्त्वज्ञ''** अर्थात् तत्त्व वस्तु स्वरूप का भूत, भविष्य एवं वर्तमान पर्याय के सम्पूर्ण स्वरूप का ज्ञाता होने से तथा भव्य जीवों के संशयों का छेदन करने वाला होने से भगवान ज्ञान-गुण अतिशय वाले हैं। **''तत्त्व देष्टार''** अर्थात् भगवन्त तत्त्व के उपदेशदाता होते हैं। प्रभु के वचन-देव-मनुष्य तिर्यंच अपनी-अपनी भाषा में ही समझ सकते हैं। प्रत्येक जीवात्मा यही समझता है कि प्रभु मुझे ही आत्म कल्याण के लिए समझा रहे हैं, उनका वचनामृत श्रेष्ठतम होता है, इससे उनका यह 'वचनातिशय' गिना जाता है।

''जिनोत्तमम्'' इस चौथे पद से भगवान के चौथे अतिशय का वर्णन किया है - अपाय अर्थात् दुःख, उसके कारणभूत राग द्वेषादि अंतरंग शत्रुओं को जड़ मूल से नाश कर भगवान ने निज स्वरूप प्राप्त किया है। दुःख के कारणभूत अंतरंग शत्रुओं को जीतने से वे जिन कहलाते हैं। यद्यपि सामान्य केवली भी 'जिन' कहलाते हैं, परन्तु भगवान तीर्थ स्थापना करने वाले होते हैं, इसलिए उत्तम होने से 'जिनोत्तम' कहलाते हैं। इन अन्तरायों के रूप में राग द्वेषादि शत्रुओं का सर्वथा नाश करने से भगवान में आत्म स्वरूप अपायापगमातिशय के रूप में प्रगट होता है। इस प्रकार चारों अतिशय से भगवान के सद्भूत गुणों का कीर्तन कर शुद्ध भाव पूर्वक नमस्कार कर मंगल किया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस ग्रन्थ के प्रथम श्लोक में जो 'महावीर' पद दिया है, वह विशेष्य पद दिया है। महावीर का अर्थ होता है - वीरों से भी बढ़कर वीर। युद्ध में हजारों सुभटों को जीत लेने वाला योद्धा वास्तव में वीर नहीं कहलाता। सच्चा वीर वही कहलाता है जो कर्म-शत्रुओं को जड़-मूल से उखाड़ने में और पराजित करने में अपार सामर्थ्य रखता है अथवा कर्मों का नाश करके जो तपस्या में वीर्यवान - शक्तिशाली और उत्साही हो, वही वीर कहलाता है। इस तरह लक्षण अथवा निरुक्ति से वीर शब्द की यह परिभाषा होती है। परन्तु भगवान महावीर तो अन्य वीरों की अपेक्षा से भी अधिक वीर थे। इस कारण से 'महावीर' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। यह नाम सार्थक है। भगवान में वीरत्व तीन प्रकार का वास्तविक नाम था- (१) वार्षिक दान के समय करोड़ों सोना मोहर का दान देने से जगत् में दारिद्रय शब्द का उच्चारण करने का भी नाश किया था, इससे 'महा दानवीर' हुए। (२) सत्ता में रहे मोहादि अंतरंग शत्रुओं के परिवार रूप राग द्वेषादि बलवान शत्रुओं को जड़-मूल से उखाड़ कर नष्ट करने में 'युद्धवीर' हुए और (३) निः स्पृह मन द्वारा तीव्र तप, जो कि केवल ज्ञान की प्राप्ति का कारणभूत है, उस घोर-कठोर तप का आचरण किया था- इससे 'धर्मवीर' कहलाये। इस तरह दानवीर, युद्धवीर और धर्मवीर भगवान जगत् में सर्व वीरों से महान होने से यथार्थ 'महावीर' प्रसिद्ध हैं ।

इस तरह श्री महावीर परमात्मा को नमस्कार रूप मंगल किया है। शिष्ट पुरुष उत्तम कार्य के आरंभ में निर्विघ्नता से पूर्ण हो- इसके लिए मंगल करते हैं । यह मंगल इष्ट देवादि को नमन करना- भाव मंगल है। यद्यपि वह मानसिक शुभ अध्यवसाय रूप होता है, तथापि अपने बाद में भी शिष्ट पुरुष उसका अनुकरण करे, उसके खातिर उसको लिखा गया है। यहां पर भी ग्रन्थकार महात्मा ने प्रथम श्लोक में मंगल किया है। उसके बाद श्रोता जनों की प्रवृत्ति के लिए अभिधेय-जिसका निरूपण किया जा सके, उस विषय का वर्णन किया है। श्रेष्ठ जिज्ञासु जब तक अभिधेय अर्थात् ग्रन्थ के विषय को ही न जाने तब तक उसे सुनने पढ़ने का प्रयत्न नहीं करता। इसीलिए ही इस महाग्रन्थ में कौन सा विषय है, वह विदित कराने के लिए ग्रन्थ के आदि में '**धर्म संग्रह की रचना करूँगा**' इस शब्द से अभिधेय-नाम बतलाया है। धर्म का अर्थी आत्मा इस बात को जानकर शीघ्र ग्रन्थ शास्त्र पढ़ने-सुनने की प्रवृत्ति करता है। इसके लिए यह कहना अति आवश्यक है।

अब ग्रन्थ रचना के सम्बन्ध की बात स्पष्ट लिखते हैं कि - श्रुत सिद्धान्त रूप समुद्र से, संप्रदाय से अर्थात् अपनी गुरु परम्परा से समझकर तथा अपने अनुभव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ज्ञान से अर्थात् आगम एवं गुरुगम से प्राप्त हुआ श्रुतज्ञान और उसी प्रकार का सकल प्रमाणनय युक्त स्याद्वाद नय पूर्वक जो चिन्तन ज्ञान उत्पन्न हुआ है, उस चिन्तन ज्ञान के बल से मुझे क्षयोपशम द्वारा भावना ज्ञान प्रगट हुआ है। जो ऐदंपर्यार्थ-रहस्य का ज्ञान स्वरूप है, उससे जानकर धर्म का संग्रह करता हूँ। इस भावना ज्ञान के योग से अन्य किसी दर्शन का तिरस्कार नहीं करता। इतना ही नहीं, वरन् इससे सर्वदर्शनमय श्री जिन दर्शन के स्वरूप का यथार्थ ज्ञाता बनता है। इसके प्रभाव से उसे वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है इससे सत्यांश को ग्रहण करने वाला बन कर स्व-पर के पक्ष - प्रतिपक्ष से वह मुक्त होता है और किसी के साथ अन्याय नहीं करता है। इससे ही ऐसे ज्ञानी का वचन पक्षपात रहित होने से उपादेय बनता है। ऐसे ज्ञानियों द्वारा रचित ग्रन्थ स्व-पर के उपकारी होते हैं। इसलिए सदाग्रह सहित भावना ज्ञान के आधार पर मध्यस्थ भाव से धर्म का स्वरूप निश्चित करके धर्म का संग्रह करूँगा। ऐसा कहने से अपनी मति कल्पना के त्यागपूर्वक आगम, गुरुगम एवं उनके द्वारा प्रगट हुए अनुभव ज्ञान का आश्रय लेकर इस ग्रन्थ की रचना करता हूँ। इस तरह ग्रन्थकार ने सूचित किया है। इस बात से ग्रन्थ का गुरु परम्परा आदि से सम्बन्ध का भी दिग्दर्शन करवाया है।

प्रयोजन - ग्रन्थकार का 'आखिरी प्रयोजन' भव्य आत्माओं को बोध-धर्म तत्त्व की तसल्ली करवाना है। उस समय श्रोता वर्ग को उस ज्ञान की प्राप्ति होती है। परस्पर प्रयोजन रूप में ग्रन्थकार तथा श्रोताजन-दोनों को मोक्षप्राप्ति रूप फल प्राप्त करना है। इस तरह दोनों श्लोको में १. मंगल, २. अभिधेय, ३. सम्बन्ध और ४. प्रयोजन रूप अनुबन्ध चार का निरूपण किया है।

अब इस ग्रन्थ में धर्म का संग्रह करने से ग्रन्थकार श्री 'धर्म' शब्द का अर्थ करते हैं अर्थात् धर्म किसको कहना चाहिए ? उसे कहते हैं :-

वचनादविरुद्धयदनुष्ठानं यथोदितम्।
मैत्र्यादि भाव सम्मिश्रं, तद्धर्म इति कीर्त्यते।।३।।

अर्थ – श्री जिनेश्वर देव के आगम वचन अनुसार कालादि जो अनुष्ठान हो तथा सर्व प्राणियों के प्रति मैत्री आदि सम्मिश्रित भाव हो, उसे धर्म कहते हैं।

व्याख्या :- अविरुद्ध वचन अर्थात् परीक्षित वचन रूप आगम के अनुसार जो अनुष्ठान है, वह इस लोक और परलोक में हितकारी है। (जो आगे इस ग्रन्थ में वर्णन करने वाले हैं।) जो हेय भाव त्याग करने योग्य और उपादेय भाव ग्रहण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करने योग्य हो, उसमें जो प्रवृत्ति हो उसे 'धर्म' कहते हैं। यहाँ परीक्षित वचन किसको कहते हैं ? वह कहते हैं कि - सोने को कसौटी पर रगड़ कर, छेनी से काटकर और अग्नि से गलाकर जैसे कण, छेदन और ताप द्वारा परीक्षा होती है- वैसे ही शास्त्र वचनों की भी कण, छेदन और ताप द्वारा परीक्षा होती है। उस आगम शास्त्र में बहुत करणीय-करने योग्य कार्य का विधान बतलाया है और नहीं करने योग्य कार्य का निषेध किया गया है। वह आगम की कण शुद्धि कहलाती है।

कसौटी पर घर्षण करने से सुवर्ण शुद्ध दिखता है। फिर भी सुवर्ण जैसे भीतर से अशुद्ध होना संभव है इसलिए उसका छेदन करके परीक्षा होती है- वैसे ही आगम की विधि निषेधयुक्त होने पर भी, स्वहित से विपरीत क्रिया का कथन हो तो उसकी विधि-करने योग्य, निषेध-न करने योग्य कार्य निरर्थक हो जाता है, इसलिए जिस तरह से उसमें करणीय एवं अकरणीय का विधि निषेध बतलाया, उसी तरह- उसे बाधा न पहुँचे, इस तरह शुद्ध क्रिया का वह कथन हो तो छेदन शुद्ध माना जाता है। सुवर्ण छेनी से काटने से शुद्ध दिखता है, फिर भी जैसे उसमें अन्य धातु की मिलावट हो सकती है, अतः उसे विशेष शुद्धता जानने के लिए आग में गलाकर परीक्षा की जाती है वैसे ही आगम वचन में भी विधि निषेधयुक्त और उसके अनुरूप-अबाधक क्रियाओं का कथन किया हो, पश्चात् वह विधि निषेध में कारण बन सकता है। जिस आगम में जीवाजीवादि भावों का यथार्थ-स्याद्वाद-शैली से कथंचित् नित्यानित्यादि स्वरूप कहा हो वही आगम वचन ताप शुद्ध कहलाता है। वही उपादेय होता है। इस तरह जो परीक्षित हो, वही अविरुद्ध वचन कहलाता है। श्री हरिभद्र सूरि रचित धर्म बिन्दु में उसका वर्णन करते हुये कहा है कि - **'विधि प्रतिषेधो कप'** (सू० ६३)। **'तत्सम्भव पालना चेष्टोक्तिश्छेदाः'** (सू० ६४)। **'उभय निबन्धन भाववादस्तापः'** (सू० ६५) इत्यादि, इनका वर्णन आगे आयेगा।

निमित्त की शुद्धि होने से श्री जिन वचन ही इस तरह अविरूद्ध -शुद्ध हो सकता है, क्योंकि वचन का अंतरंग निमित्त वक्ता है, वह यदि राग, द्वेष, मोह से परतंत्र हो तो उसका वचन असत्य होना संभव है। उस राग, द्वेष, मोह की परतंत्रता श्री जिनेश्वर भगवान को नाश हुई है। इसलिए वे स्वयं शुद्ध है, इससे उनके वचन भी सत्य ही होते हैं। राग, द्वेषादि से जो परतंत्र हों वे जिन नहीं कहलाते और जो जिन हों वे राग, द्वेषादि से परतंत्र नहीं होते। राग, द्वेषादि अंतरंग शत्रुओं को जो जीते उसे ही जिन कहते हैं। ये 'जिन' शब्द नाम मात्र अथवा कल्पना मात्र से नहीं है, वरन् जैसे तपा जाय उसे तपन, दाह करे उसे दहन आदि शब्दों के समान यथार्थ नाम

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहा जाता है। वैसे ही रागादि शत्रुओं को जीता है, इसलिए ही वे जिन कहलाते हैं । श्री जिनेश्वर देव के समान जिनको राग द्वेष आदि परतंत्रता नहीं मिट गई, वे अजिन हैं । ऐसे अजिन, राग, द्वेष आदि से आधीन आत्मा का वचन उच्चारण अशुद्ध होता है, उनका वचन सत्य नहीं हो सकता है। राग, द्वेषादि के योग से विपरीत सहज बोला जाता है। प्रत्येक कार्य में अपने कार्य को अनुरूप बनाता है । गलत कारणों से जो कार्य होता है वह कभी भी अच्छा नहीं हो सकता । नीम के बीज को बोने से आम का फल नहीं प्राप्त किया जा सकता । क्योंकि ऐसा होने से तो जगत में कारण-कार्य की व्यवस्था ही नहीं रहेगी । परिणाम स्वरूप कोई भी अशुभ कारण से भी शुभ कार्य और शुभ कारण से भी अशुभ कार्य हो सकता है । यह प्रत्यक्ष अघटित है। इसलिए राग, द्वेषादि की आधीनता रहित वक्ता रूपी शुद्ध निमित्त वाला आगम वचन ही अविरुद्ध होता है।

जैसे कि घुण नाम का कीड़ा जो लकड़ी खाता है – उसमें इच्छा बिना भी किसी अक्षर की आकृति हो जाती है, इस न्याय से स्वमति कल्पना से कथन करने वाले राग, द्वेषादि युक्त अन्य दर्शनकारों का किसी स्थान पर कोई वचन अविरुद्ध मिल जाता है तथा मार्गानुसारी आत्मा का भी कोई वचन अविरुद्ध मिलता है, फिर भी वह श्री जिनेश्वर भगवंत का कथित ही होता है, क्योंकि अविरुद्ध - सत्य वचन का मूल श्री तीर्थंकर परमात्मा ही हैं । उपदेशपद गाथा ६६४ में कहा है कि :-

सव्वप्प वायमूलं, दुवाल संगं जओ जिणक्खायं ।
रयणागरतुल्लं खलु, तो सव्वं सुन्दरं तम्मि ।।

अर्थात्-जिस कारण से जिन कथित रत्नाकर समुद्र समान श्री द्वादशांगी ही सर्व प्रवादों का मूल है, इस कारण से वह सारा सुन्दर है। वह उसका ही है।

अन्य दर्शनकारों का सर्व कथन मूल द्वादशांगी है, क्योंकि कहा है कि जैसे सर्व नदियाँ समुद्र में आकर मिलती हैं वैसे ही हे भगवन्त! सर्व दर्शनों का तुम्हारे दर्शन में समावेश हो जाता है। नदियों में जैसे समुद्र नहीं दिखता वैसे ही उनके वचनों में आप श्री का दर्शन नहीं होता, परन्तु समुद्र में जैसे सर्व नदियों का जल होता है वैसे ही सर्व दर्शनों के वचन सर्वज्ञ के आगम में मिलते हैं । इससे अन्य दर्शनकारों के भी जो अवितथ वचन - झूठ रहित वचन मिलते हैं वह सारे श्री जिनेश्वर परमात्मा के आगम वचन के बिन्दु रूप हैं।

इस तरह श्री जिनेश्वर परमात्मा का आगम वचन के अनुसार जो अनुष्ठान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

किया जाय वह धर्म है। उसमें भी 'यथोदित' यह विशेषण बतलाया है वह अनुष्ठान यथोदित होना चाहिए, अर्थात् कालादि साधन के अनुसार कथन किया जाए वह धर्म कहलाता है। यहां कालादि अर्थात् भवस्थिति का परिपाक, स्वभाव । जीव में उसी प्रकार कर्मों का क्षयोपशमादि होने से प्रगट हुई धीरता, मनोबल, संघयण बल, पुण्य अनुसार प्राप्त हुई जीवन सामग्री आदि की अनुकूलता अर्थात् उस स्थिति में रहते जीव को शक्य और हितकर बन सकता है। इस तरह कथित अनुष्ठान समझना अथवा वह जीवद्रव्य आर्य, अनार्य अथवा कर्मभूमि अकर्मभूमि आदि क्षेत्र, अवसर्पिणी उत्सर्पिणी रूप काल और उस जीव के क्षायोपशमिक आदि भाव हैं उसके अनुसार आचरण करता है और हितकारी है। वह धर्म 'यथोदित' कहलाता है।

जैसे रोगी को जिस औषधादि उपचार से रोग शान्त होता है वही वास्तविक औषध है, वैसे ही जिस अनुष्ठान प्रवृत्ति से अनादि से साथ में चलने वाले मिथ्यात्व आदि दोष आत्मा में कम हों वही धर्म है । उसके लिए वास्तविक उपाय मोक्ष है। इससे विपरीत प्रवृत्ति करना वास्तविक धर्म नहीं है, परन्तु स्वयं जो धर्म करता है उसके प्रति वह द्वेष रूप है। कहा है कि जो आत्मा क्रिया अनुष्ठानों में आगम वचन का उल्लंघन करके उस आगम के नाम पर अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करता है, वह जड़-मूढ़ उस अनुष्ठान को करता हुआ भी नियम से उसका द्वेषी है । पूज्य क्षमाश्रमण श्री धर्मदास गणि ने भी उपदेशमाला गाथा ५०४ में कहा है:-

जो जहवायं न कुणइ, मिच्छद्दिट्ठी तओ उ को अन्नो ।
वड्ढेई मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणोत्ति ।।

अर्थात् – 'जो भी जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञा के अनुसार द्रव्य क्षेत्रादि के अनुरूप प्रवृत्ति नहीं करता, उससे विपरीत आचरण करता है, उसके समान मिथ्या दृष्टि अन्य कौन हो सकता है? अर्थात् उसके समान दूसरा मिथ्या दृष्टि नहीं है। क्योंकि वह आगम वचन से विपरीत आचरण करके अन्य आत्माओं को आगम वचन में शंका आदि दोष उत्पन्न करते हुए स्व पर मिथ्यारूप की वृद्धि करने वाला है।' इसलिए विरोध रहित आगम वचन के अनुरूप, कालादि के अनुसार और मैत्री आदि भावों से युक्त, क्रिया अनुष्ठान किया जाय वही धर्म कहलाता है।

आगे और धर्म का स्वरूप कहते हैं "मैत्र्यादि भाव सम्मिश्रं" अर्थात् वह धर्म भी मैत्री आदि चार भावना से सम्मिलित होना चाहिए। यदि हृदयगत मैत्री आदि भाव न हों तो वाह्य अनुष्ठान कितना भी अच्छा हो, फिर भी वह धर्म नहीं हो सकता है। जीवन में मैत्री भाव नहीं है, वह आत्मा धर्म क्रिया करते हुए भी वैर, भाव आदि शान्त नहीं करता, गुण का राग जागृत नहीं हो सकता, स्वयं गुणी बन सकता है, न

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ही करुण और माध्यस्थ्य भाव जागृत हो सकता है। परिणाम में अशुभ ध्यान की वृद्धि और कर्म बन्धन का कारण ही होता है, इसलिए ये चार भावनायें जीवन में और धर्म साधना में अवश्य होनी चाहियें। वे धर्म भावना का मूल रूप है अथवा धर्म की प्रथम भूमिका हैं। संसार को छेदन करने वाली हैं। अत: १. समस्त जीवों के प्रति मैत्री भावना, २. गुणों से अधिक आत्माओं के प्रति सेवा भक्ति राग प्रमोद भावना, ३. दु:खी जीवों के प्रति करुणा भावना, और ४. जिसका सुधार न हो सके ऐसे अविनय आदि दोषों से दुष्ट जीव के प्रति माध्यस्थ्य-उपेक्षा भावना धर्मार्थी आत्मा के अतंकरण और जीवन में होनी चाहिए। यदि बाह्य अनुष्ठान इस प्रकार भाव पूर्वक हो, वह धर्म कहलाता है। क्योंकि- मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा रूप चारों भावनायें अवश्य मोक्षफल की प्राप्ति कराने वाली हैं। ऐसा धर्म रूप कल्प वृक्ष का मूल रूप शास्त्रों में कहा गया है। जैसे मूल बिना वृक्ष या फल नहीं होते वैसे ही मैत्री आदि भाव रूप मूल के बिना धर्म रूपी वृक्ष नहीं हो सकता, तो फिर मोक्षफल कहाँ से मिल सकता है? इसलिए धर्म आराधकों को मैत्री आदि चार भावनायें अवश्य होनी चाहिए।

[उसमें १. जगत के प्राणी मात्र के प्रति स्नेह परिणाम रखना मैत्री भावना है। २. अपने से अधिक गुण वाले बुजुर्ग के प्रति विनय वंदन स्तुति सेवा आदि करना तथा छोटे गुण वाला हो उसे देखकर प्रसन्नता दिखाना हार्दिक भक्ति राग रखना वह प्रमोद भावना है। ३. दीन दु:खी, रोगी, भयभीत आदि प्राणियों के प्रति दु:ख दूर करने की भावना, करुणा भावना है। और ४. अयोग्य क्रूर आत्मा के प्रति राग, द्वेष रहित परिणाम रखना - उसे माध्यस्थ भावना कहते हैं।]

सकल वास्तविक पदार्थ समूह को जानने में कुशल बुद्धिशाली महर्षियों ने कहा है -जो दुर्गति में गिरते हुए जीवों को धारण करता है और स्वर्ग आदि शुभ स्थान में स्थापित करता है उसे धर्म कहते हैं। इस तरह अविरुद्ध आगम वचन के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सापेक्ष; मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा भावयुक्त, जीवों के हेयोपादेय भावों का त्याग करना तथा ग्रहण करने योग्य बाह्य प्रवृतिरूप अनुष्ठान-क्रिया करना, वही धर्म हो सकता है। ऐसे विशिष्ट धर्म बिना अस्त व्यस्त अनुष्ठान दुर्गति से बचाव अथवा सद्गति प्राप्त कराने में समर्थ नहीं हो सकता है, अत: वह धर्म नहीं कहलाता है।

इस तरह [ ] कोष्ठक के अन्दर जो लिखा गया है वह परम पूज्य महोपाध्याय श्री यशो विजय जी महाराज का है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

[यहाँ शिष्य शंका करता है कि - "इस तरह तो शास्त्र में प्रीति, भक्ति, वचन और असंग इन चार प्रकार के अनुष्ठान को धर्म कहा है, वह असत्य साबित हो जायेगा, और केवल 'वचन अनुष्ठान' एक ही प्रामाणिक धर्म हो जायेगा।" उसका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं कि तुम्हारी शंका अयोग्य है क्योंकि तुम जैसा कहते हो वैसा उसमें केवल वचनानुष्ठान को ही धर्म नहीं कहा गया । परन्तु आगम वचन जिसमें प्रेरक - प्रयोजक हो, वह सब क्रिया- अनुष्ठान रूप व्यवहार को धर्म कहा गया है । इसलिए प्रीति, भक्ति आदि अनुष्ठान भी आगम वचन की प्रेरणा वाला होने से इस व्याख्या के अनुसार वह धर्म रूप ही कहा जाता है।]

यद्यपि वास्तविक रूप से तो चारों अनुष्ठानों का लक्षण अलग-अलग होने से, एक के लक्षण दूसरे में नहीं घटते, क्योंकि - प्रीतित्व और भक्तित्व आत्मा की इच्छा के भेद रूप हैं। प्रीतिमान और भक्तिवान आत्मा की क्रिया उनमें रही प्रीति और भक्ति योग से, प्रीति और भक्ति अनुष्ठान वचन अनुष्ठान से अलग होता है । वचन अनुष्ठान आगम वचन के स्मरण पूर्वक, तदनुसार सावधानीयुक्त प्रवृत्ति रूप होता है। उसमें आगम वचन से कम ज्यादा की प्रवृत्ति नहीं होती अर्थात् वचनानुष्ठान आगम वचन की मर्यादा है । प्रीति अर्थात् आदर और भक्ति अर्थात् पूज्यभाव, उसमें आगम वचन नियामक नहीं हो सकता है। स्त्री और माता के प्रति जैसे हृदय का भाव भिन्न होने पर भी दोनों का पालन करने में भेद नहीं होता । वैसे ही यहाँ भी आगम वचन की प्रेरणा होने पर जिस अनुष्ठान में आदर-प्रीति मुख्य होता है वह प्रीति अनुष्ठान कहलाता है और जिस क्रिया में आदर पूर्वक पूज्यभाव मुख्य होता है वह भक्ति अनुष्ठान कहलाता है- इन दोनों अनुष्ठानों में आगम वचन की प्रेरणा-प्रयोजक होने पर भी उसकी मर्यादा नहीं है अर्थात् आगम वचन से कम ज्यादा प्रवृत्ति भी हो सकती है। इसलिए दोनों अनुष्ठान बहुत अतिचार वाले होते हैं। जबकि वचन अनुष्ठान आगम वचन की मर्यादा वाला होता है, इससे उसमें अतिचार बहुत अल्प और सूक्ष्म होते हैं। निश्चय नय से वचनानुष्ठान छठे गुण स्थानक से नीचे वाले मुनी के द्वारा नहीं हो सकता।

इस तरह प्रीति, भक्ति और वचन अनुष्ठान में स्वरूप से भेद हैं, और इन तीनों से भी भिन्न असंग अनुष्ठान है जो कि वचनानुष्ठान के अति अभ्यास रूप है। जैसे कुम्हार का चक्का प्रथम दण्ड बल से फिर भ्रमण के बल से दण्ड बिना भी भ्रमण करता है वैसे ही वचनानुष्ठान वचन के बल से होता है और असंग अनुष्ठान तो उसके लगातार अभ्यास के बल से प्रीति, भक्ति अथवा वचन के आलम्बन बिना केवल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आत्मा के सहज स्वभाव में रमणता पूर्वक होता है। इस तरह प्रीति, भक्ति, वचन और असंग अनुष्ठान का अलग-अलग भेद हैं। अतः एक का लक्षण दूसरे में नहीं घटता, फिर भी दोष कुछ भी नहीं है।

और प्रस्तुत अधिकार में तो 'वचनात्' पद में पंचमी विभक्ति प्रयोज्य-प्रयोजक सम्बन्ध के अर्थ में होने से जिन- वचन जिस अनुष्ठान में प्रयोजक - प्रेरक है, उस अनुष्ठान को धर्म कहते हैं। इस व्याख्या का कथन होने से प्रीति, भक्ति और असंग अनुष्ठान में भी आगम वचन प्रेरक रूप में ही है - इसलिए सारे अनुष्ठान में यह व्याख्या घटती है अर्थात् इन चारों ही अनुष्ठानों में यह व्याख्या घटती है, इससे सभी प्रकार से धर्म रूप है। विशेष षोडशक के तीसरे प्रकरण में २, ३ और ४ गाथा में कहा है कि:-

धर्मश्चित्त प्रभवो, यतः क्रियाधि करणाश्रयं कार्यम् ।
मलविगमेनैतत् खलु, पुष्टचादिमदेष विज्ञेय ॥१॥

रागादयो मलाः खल्वागम सद्योगतो विगम एषाम्।
तदयं क्रियात् एवहि, पुष्टिश्चित्तस्य शुद्धस्य (शुद्धिश्च चित्तस्य)॥२॥

पुष्टिः पुण्योपचयः, शुद्धिः पापक्षयेण निर्मलता ।
अनुबन्धिनि द्वयेऽस्मिन् क्रमेण मुक्तिः परा ज्ञेया ॥३॥

अर्थात् - धर्म चित्त में प्रकट होता है, क्योंकि क्रिया का जो अधिकरण - आधार हो, उसके आश्रय में कार्य होता है। जैसे कि मिट्टी पर क्रिया होती है तो घट रूप कार्य मिट्टी में प्रगट होता है। इसी तरह धर्म कार्य चित्त के मैल दूर करने से हो जाता है, अतः तत्त्व से धर्म, पुण्य आदि की पुष्टि होती है आदि शब्द से चित्त की शुद्धि रूप बतलाया है॥१॥ राग, द्वेषादि चित्त के मैल रूप नाश का निश्चय आगम के सद्योग से होता है। इसलिए यह धर्म क्रिया से ही प्रगट होता है, जो कि चित्त की पुष्टि और शुद्धि रूप है ॥२॥ यहाँ पुष्टि जो शब्द का उपयोग किया है, उसका तात्पर्य पुण्य का बढ़ावा-संचय और शुद्धि अर्थात् ज्ञानावरणीयादि पाप कर्मों का क्षयोपशम होने से चित्त की निर्मलता प्रगट होती है। इन दोनों की परस्पर बल से वृद्धि होती है। क्रमशः सर्व कर्मों का क्षय करता है। आत्मा की कर्मों से आखिर मुक्ति होती है, वही मोक्ष होता है ॥३॥

षोडशक ग्रन्थ के अनुसार तो इस तरह पुष्टि है-शुद्धिमत चित्त में भाव धर्म समझना चाहिए और उस चित्त के अनुसार प्रवृत्ति-क्रिया को व्यवहार धर्म समझना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चाहिए। यह भाव धर्म और व्यवहार धर्म का निष्कर्ष जानना। पूज्य महोपाध्याय श्रीमान् यशो विजय गणीवर्य जी ने स्वकृत द्वात्रिंशिका में भी इसी तरह ही धर्म का लक्षण बतलाया है कि 'शुद्ध अनुष्ठान द्वारा कर्म मैल दूर होता है इससे सम्य ग्दर्शन आदि गुण प्रगट होते हैं जो कि मोक्ष का कारण हैं । उसका लाभ फल जो जीव शुद्धि है वही धर्म कहलाता है '।

यहाँ जो अविरुद्ध आगम वचन के अनुसार अनुष्ठान को धर्म कहा है, वह भी व्यवहार से समझना। ऐसा उपचरित व्याख्या साहित्य में मिलता है। जैसे कि 'नड्वल नाम की वनस्पति वाला पानी पैर पर लगाने से रोग होता है, इसलिए उस वनस्पति के पानी को पाद रोग कहते हैं।''घृत जीवन' घी जीवन का कारण है, अत: घी यह जीवन कहलाता है। इसमें वस्तुत: नड्वल का पानी कोई रोग नहीं है, परन्तु पैर के रोग का कारण है। घी जीवन नहीं है, परन्तु जीवन का कारण है। इस तरह कारण में कार्य का उपचार - व्यवहार करके उसका ही कार्य रूप व्यपदेश किया गया है । ऐसे व्यपदेश-कथन को उपचरित्र कथन कहा जाता है। यहाँ भी अविरुद्ध आगम वचन के अनुसार अनुष्ठान उस स्वरूप में धर्म नहीं है, परन्तु चित्त की शुद्धि - पुष्टि रूप भाव धर्म के कारण रूप में व्यवहार धर्म है अर्थात् कारण को भी कार्य मानकर उपचार से धर्म कहा गया है। इस तरह से व्यवहार धर्म और भाव धर्म दोनों के लक्षण कहे गये हैं । कारण रूप द्रव्य धर्म में कारण रूप भाव धर्म का अंश होता है, इसलिए उपचार हो सकता है। ऐसा अंश जिसमें न हो उसमें उसका उपचार नहीं हो सकता। द्रव्य धर्म और भाव धर्म दोनों परस्पर सापेक्ष हैं - यह बात प्रसिद्ध है, अर्थात् द्रव्य धर्म की अपेक्षा से ही उसके कार्य को भाव धर्म कहा है और भाव धर्म की अपेक्षा से ही उसके कारण को द्रव्य धर्म कहा है। इस तरह कार्य कारण रूप में भाव धर्म और द्रव्य धर्म दोनों परस्पर एक दूसरे में रहते हैं।

इस प्रकार धर्म का लक्षण बतलाया । अब उसी धर्म के भेद प्रभेद समझाते हैं -

स द्विधा स्यादनुष्ठातृ गृहिव्रति विभागत:।
सामान्यतो विशेषाच्च, गृहि धर्मोऽप्ययं द्विधा।।२।।

अर्थ - 'उस धर्म के अनुष्ठान के भेद से दो भेद हैं - गृहस्थ धर्म और यति-साधु धर्म। गृहस्थ धर्म के भी दो भेद, सामान्य धर्म और विशेष धर्म हैं । यह श्लोक धर्म बन्धु का है' ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तरह पूर्व गाथा में जिस धर्म का लक्षण कहा है, उस धर्म के दो भेद होते हैं। वह भी अनुष्ठान के भेद से प्रथम गृहस्थ धर्म और दूसरा यति धर्म। उसमें जो घर में रहकर धर्म की आराधना करता है उसे गृहस्थ धर्म कहते है। वह हमेशा अथवा विशेष पर्व आदि निमित्त प्राप्तकर अनुष्ठान करता है यह गृहस्थ धर्म है और व्रत अर्थात् महाव्रत जिसमें हों वह व्रती-यति साधु कहलाता है। उसका चरण सित्तरी और करण सित्तरी धर्म है। इन दोनों का स्वरूप इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने स्वयं आगे वर्णन किया है। गृहस्थ धर्म की सामान्य और विशेष अवस्था के भेद से सामान्य धर्म और विशेष धर्म दो भेद होते हैं। उसमें विशेषता यह है कि भिन्न-भिन्न दर्शन वाले धर्मी मनुष्यों का सर्व साधारण अनुष्ठान गृहस्थ का सामान्य धर्म है और जैन दर्शन के अनुसार सम्यकत्व प्राप्ति पूर्वक अणुव्रतादि का स्वीकार, पालन करना वह श्रावक का अनुष्ठान है – उसे विशेष धर्म जानना। इस तरह गृहस्थ धर्म के दो भेद समझना। उनमें से प्रथम सामान्य धर्म का वर्णन दस श्लोक में किया गया है –

तत्र सामान्यतो गेहि धर्मो न्यायार्जितं धनम् ।
वैवाह्यमन्य गोत्रीयः कुल शील समैः समम् ॥५॥

शिष्टाचार प्रशंसाऽरिषड् वर्गत्यजनं तथा ।
इन्द्रियाणां जय उपप्लुत स्थान विवर्जनम् ॥६॥

सुप्राति वेश्मिके स्थानेऽमति प्रकट गुप्तके।
अनैक निर्गम द्वारं गृहस्थ विनिवेशनम्॥७॥

पाप भीरुकता ख्यातदेशाचार प्रपालनम ।
सर्वेष्वनपवादित्व नृपादिषु विशेषतः ॥ ८॥

आयोचित व्ययो वेषो, विभवाद्यनुसारतः।
माता पित्रर्वनं सङ्गः सदाचारैः कृतज्ञता ॥ ९॥

अजीर्णेऽभोजनं काले भुक्तिः सात्म्याद लोल्यतः
वृत्तस्थज्ञान वृद्धार्हा गर्हि तेष्व प्रवर्त्तनम्॥१०॥

भर्त्तव्य भरणं दीर्घ दृष्टिर्धम श्रुतिर्दया।
अष्ट बुद्धि गुणैर्योगः, पक्षपातो गुणेषु च॥११॥

सदाऽनभिवेशश्च, विशेष ज्ञानमन्वहम्।
यथार्ह मतिथौ साधौ दीने च प्रतिपन्नता ॥१२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अन्योन्यानुपघातेन, त्रिवर्गस्यापि साधनं।
अदेशाकालाऽचरणं, बलाबल विचारणम्।।१३।।
यथार्ह लोक यात्रा च परोपकृति पाटवम्।
ह्रीः सौम्यता चेति जिनैः, पञ्चप्तो हित कारिभिः ।।१४।।

हे दशभि कुलकम्

अर्थ :- सामान्य और विशेष रूप दो गृहस्थ धर्म कहे थे। उसमें अब गृहस्थ का सामान्य धर्म परमोपकारी श्री जिनेश्वर परमात्मा ने वर्णन करते हुए पैंतीस गुण मार्गानुसारी कहे हैं। वह इस प्रकार हैं :- (१) न्याय सम्पन्न वैभव, (२) समान कुल शील वाले अन्य गोत्र के साथ विवाह करने वाला, (३) शिष्टाचार का प्रशंसक, (४) अरि षट्वर्ग का त्यागी, (५) इन्द्रिय समूह को वश में रखने वाला, (६) उपद्रव वाले स्थान को छोड़ने वाला, (७) योग्य स्थान में रहने वाला, (८) पाप भीरु वाला, (९) प्रसिद्ध देशाचार का पालन करने वाला, (१०) किसी का भी अवर्णवादी नहीं, विशेषकर राजादि के अवर्णवाद का त्यागी, (११) आय के अनुसार खर्च करने वाला, (१२) अपने वैभव के अनुसार पोशाक धारण करने वाला, (१३) माता पिता का पूजक, (१४) सदाचारी, (१५) कृतज्ञता वाला, (१६) अजीर्ण के समय भोजन का त्यागी, (१७) समय पर भोजन करने वाला, (१८) व्रत नियम में स्थिर ज्ञान वृद्धों का पूजक, (१९) निंदनीय कार्य का त्याग करने वाला, (२०) आश्रितों का पोषक, (२१) दीर्घ दृष्टि, (२२) हमेशा धर्म श्रमण करने वाला, (२३) दयावाला, (२४) बुद्धि के आठ गुणों से युक्त, (२५) गुणों का पक्षपाती, (२६) मिथ्या दुराग्रह से सदा दूर, (२७) विशेष ज्ञान वाला, (२८) अपनी शक्ति के अनुसार अतिथि दीन दुःखी की सेवा करने वाला, (२९) धर्म, अर्थ और काम परस्पर अबाधक साधना करने वाला, (३०) निषिद्ध देशाचार, कालाचार का त्यागी, (३१) बलाबल का विचार करने वाला, (३२) लोकप्रिय, (३३) परोपकार करने वाला, (३४) लज्जावान, (३५) सौम्यता वाला। इस तरह पैंतीस गुणों से युक्त व्यक्ति गृहस्थ धर्म का पालन करने के योग्य बन सकता है। पैंतीस गुण मार्गानुसारी की व्याख्या अलग-अलग लिखते हैं -

(१) न्याय सम्पन्न विभव :- जो धन स्वामी द्रोह, मित्र द्रोह, विश्वासघात, दूसरे को ठग कर, चोरी, जुआ आदि पाप कार्य किए बिना, अपने-अपने वर्ण-कुलाचार के अनुसार सदाचार और न्याय नीति से ही उपार्जित किया हो वह धर्म

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रूप है। न्याय से उपार्जित किया हुआ धन वैभव ही इस लोक में हितकारी हो सकता है। जिसका धन न्यायोपार्जित होता है, वह निःशंक होकर अपने शरीर के लिए उपयोग कर सकता है । और मित्रों और स्वजनों को भी यथायोग्य बाँट सकता है । कहा है कि - अपने पुरुषार्थ और बल से धन उपार्जित करने वाला धीर पुरुष स्वाभिमानी और प्रत्येक स्थान में पवित्र और निःशंक होता है और बुरा कार्य करने वाला तथा अपनी आत्मा को कुकर्म से मलिन करने वाला पापी पुरुष प्रत्येक स्थान पर शंकाशील होता है कि कहीं कोई मेरे पापों को जान न ले तथा निन्दा का पात्र होता है । न्यायोपार्जित धन सात क्षेत्र रूपी सुपात्र में दान देने से, दीन, दुःखी, अनाथ आदि को अनुकम्पा पूर्वक देने से, शुभ उपयोग करने से परलोक सुख में कारण हो सकता है । अन्य शास्त्रों में भी न्यायोपार्जित धार्मिक धन को दान देने योग्य कहा है। दान विधि कहते हैं कि -जो धन स्वयं विरुद्ध नहीं है अर्थात् अन्याय आदि दोष वाला नहीं है, ऐसे धन को अपने आश्रित वर्ग आदि को दिया जाय तो नाराजगी आदि विरोध नहीं होता। कल्याण कामना से, विधि बहुमान पूर्वक, चित्त की प्रसन्नता पूर्वक, तुच्छ-स्वार्थ बुद्धि आदि दोष सेवन किए बिना संत पुरुष आदि सुपात्र को अथवा करुणापूर्वक दीन दुःखी आदि को देना ही वास्तविक दान है। क्योकि शुद्ध चित्त, वित्त और पात्र का योग हो और विधिपूर्वक दिया हो, तभी वह वास्तविक फल दे सकता है।

किन्तु अन्याय से एकत्रित किया हुआ धन तो इस जन्म में और परलोक में अहितकारी होता है। अन्याय युक्त कार्य लोक विरुद्ध होने से उसके कर्त्ता को इस लोक में राजदंड, जेल या फांसी, वध, बंधन, अपकीर्ति आदि मिलती हैं और परलोक में भी उक्त पाप से नरकादि दुर्गति में भ्रमण करना पड़ता है। कभी किसी अन्यायी, अनीतिमान व्यक्ति को पापानुबन्धी पुण्य कर्म के उदय से धन मिल जाय और इस लोक में विपत्ति नजर न आए, परन्तु भविष्य काल में अथवा आगामी जन्म में तो उस पर अवश्य ही विपत्ति आती है। कहा है कि धन के राग -मोह में अन्धा बना हुआ जीव पापकर्म से जो कुछ धन प्राप्त करता है, जैसे लोहे में पिरोये हुए माँस को मछली खाने की इच्छा करती है और वह उसमें फंस कर मर जाती है, वैसे ही उसका भी अन्त आता है इसलिए न्याय वृत्ति एवं परमार्थ दृष्टि से धन उपार्जन करना ही श्रेष्ठ उपाय है, यह उसका वास्तविक रहस्य-तत्त्व समझना। कहा है कि जैसे मेंढक जलाशयों की और हंस पक्षी आदि पूर्ण सरोवर की ओर स्वतः खिंचे चले आते हैं, वैसे ही शुभ कर्म करने वाले मनुष्य के पास सभी संपत्तियाँ वशीभूत होकर चली

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आती हैं। न्यायोपार्जित धन गृहस्थ जीवन धर्म में मुख्य साधन होने से पैंतीस गुणों में इसे प्रथम स्थान दिया है। धन के बिना आजीविका आदि निर्वाह का अभाव होने से गृहस्थ की सारी शास्त्रोक्त क्रियाएँ रुक जाती हैं, इससे जीवन अधर्म रूप बन जाता है। पंचाशक ४/१४ में कहा है कि ' गृहस्थ की आजीविका का विच्छेद होने से सारे कार्य शिथिल हो जाते हैं। इसलिए धन प्राप्ति की अपेक्षा रखने वाले गृहस्थ को सम्पूर्ण संयम-साधु जीवन अंगीकार करना ही योग्य है।'

(२) समान कुल शील वाले अन्य गोत्र के साथ विवाह-सम्बन्ध :- भिन्न गोत्र वाले और समान कुलाचार वाले के साथ में विवाह करना चाहिए। यहाँ उसी प्रकार किसी एक पुरुष से चला वंश ही गोत्र कहलाता है। बहुत लम्बे काल का अंतर पड़ने से उस गोत्र का सम्बन्ध टूट गया हो और उससे भिन्न गोत्र में जन्म हो जो वर्तमान काल में प्रसिद्ध हो, परन्तु कुल शील समान हों अर्थात् जिसके पिता दादा आदि पूर्वजों की वंश परम्परा खानदानी हो और मद्य, माँस, रात्रि भोज आदि अशुभ दुर्व्यसनों के त्याग रूपी शील-सदाचार भी समान हों उसे समान कुल शील कहते हैं। उनके साथ ही सद् गृहस्थ को विवाह सम्बन्ध करना चाहिए। यह गृहस्थ के सामान्य धर्म का दूसरा गुण जानना।

इस विषय पर लौकिक नीति शास्त्र में इस तरह मर्यादा बतलाई गई है-बारह वर्ष की कन्या और सोलह वर्ष का पुरुष हो तो वह परस्पर विवाह करना योग्य है। ऐसा विवाह अर्थात् सगाई-सम्बन्ध करना, विवाह, संतति की उत्पत्ति और उसका पालन करना आदि व्यवहार से चारों वर्ण में कुल को निर्मल करता है अथवा कुलीनता बढ़ाता है। इस तरह योग्यता अनुसार सगाई सम्बन्ध पूर्वक अग्निदेवता की साक्षी पूर्वक पाणि ग्रहण करना विवाह कहलाता है। वह विवाह लोक व्यवहार में आठ प्रकार का कहा गया है १- वस्त्राभूषण से सुसज्जित करके कन्यादान करना ब्राह्म विवाह कहलाता है, २- वैभव का विनियोग करके कन्यादान करना प्राजापत्य विवाह है, ३- गाय बैल आदि के दानपूर्वक कन्यादान करना आर्य विवाह है, ४- जिस विवाह में यज्ञ करने के हेतु यजमान याज्ञिक को दक्षिणा में कन्यादान दे वह दैव विवाह है। ये चारों धर्म विवाह कहलाते हैं। यहाँ विवाह को धर्म इसी कारण से कहा गया है कि गृहस्थ के लिए उचित देव पूजा, सुपात्र दान आदि धर्म व्यवहार का वह अंतरंग कारण है। ५- माता-पिता या भाई आदि की अनुमति के बिना परस्पर के अनुराग से गुप्त रूप में प्रेम सम्बन्ध जोड़ लेना गान्धर्व विवाह कहलाता है। ६- किसी शर्त के बन्धन में आकर कन्यादान देना असुर विवाह है। ७- बलात्कार से कन्या का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अपहरण करके विवाह करना राक्षस विवाह है। ८- सोई हुई अथवा प्रमाद अवस्था में पड़ी हुई कन्या का अपहरण करके विवाह कर लेना पैशाच विवाह कहलाता है। यें चारों अधार्मिक विवाह हैं। यदि वर और कन्या दोनों की सम्मति से प्रसन्नता पूर्वक विवाह हो तो वह अधार्मिक विवाह भी धार्मिक विवाह बन जाता है।

आर्य देश के आचार रूप इस विवाह का फल योग्य, उत्तम, शुद्ध स्त्री की प्राप्ति है। उत्तम कुलशील वाली शुद्ध कन्या के साथ विवाह लाभदायक और सफल होता है, किन्तु बुरी स्त्री के साथ विवाह सम्बन्ध से इस लोक में भी क्लेश-कलह होता है और परलोक में भी नरक की प्राप्ति होती है। सच्चरित्र शुद्ध कुलीन स्त्री मिलने से सुजात, अतिजात आदि श्रेष्ठ पुत्र की परम्परा की प्राप्ति होती है – उसे संस्कारी बनाती है, योग्य परिवार मिलने से पुरुष के चित्त में अखण्ड शान्ति रहती है। घर के कार्यों की सुव्यवस्था रहती है। उससे श्रेष्ठ कुलाचार की विशुद्ध सुरक्षा होती है देव, गुरु, अतिथि, बन्धु-बांधव, सगे सम्बन्धी, मित्र आदि का सत्कार सन्मान होता है तथा औचित्य आचरण आदि बहुत लाभ होता है।

इसलिए कुलवधू स्त्री की रक्षा करनी चाहिए। उसकी रक्षा के उपाय बताते हैं। उसे घर के कार्यों में नियुक्त करना, जिससे वह उन्मत्त न हो जाय। उसे यथोचित धन सौंपना, हमेशा सदाचार सम्पन्न माता समान उत्तम स्त्रियों के मध्य रखना। उसे स्वच्छन्दता से रोकना और स्वतंत्रता की ओर मोड़ना। इससे उसकी रक्षा होती है अन्यथा उसका परिणाम अनिष्ट आता है।

(३) शिष्टाचार प्रशंसक :- शिष्ट पुरुष के आचरण की प्रशंसा करने वाला हो। शिष्ट पुरुष वह कहलाता है जिसके जीवन में तप व्रतधारी ज्ञान वृद्ध गुणवानों की विनय सेवा द्वारा उनके पास से जिसे विशुद्ध हितकर शिक्षा मिली हो। विशेषत: जिसका सुन्दर आचरण रूप शिष्टाचार हो। योग बिन्दु गाथा १२६ से १३० में कहा है :- 'वह लोकापवाद से डरता हो, दीन-दुखियों का उद्धार करने वाला हो, उपकारी के उपकार को नहीं भूलने वाला- कृतज्ञ, अपने स्वार्थ का त्याग करके भी अन्य की योग्य प्रार्थना को भंग नहीं करने रूप सुदाक्षिण्य गुणों से युक्त हो। इन सब गुणों से युक्त पुरुष को सदाचारी (शिष्ट) कहा जाता है। सर्वत्र निन्दा का परित्याग करे गुणवान साधु की प्रशंसा करे, आपत्ति में दीनता धारण नहीं करे, धीरता, वीरता धारण करे, सुख संपत्ति के समय में नम्रता धारण करे, थोड़ा और अवसर के अनुसार उचित हितकारी बोले, परस्पर विरोध हो ऐसे विचार आचार का त्याग करना अर्थात् बोलने के अनुसार यथाशक्ति आचरण करे, आचरण में रख सके इतना उच्चारण करे वह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अविसंवदिता, आपत्ति काल में शुभ कार्य नहीं छोड़े, कुलाचार का पालन करे, आय से अधिक अथवा अयोग्य कार्य में लक्ष्मी का खर्च नहीं करे, जो कार्य जिस स्थान पर करने योग्य हो वह वहीं करे, अच्छे कार्य करने के लिए हमेशा आग्रह रखे, अति निद्रा-विकथा, विषय कषाय अथवा व्यसन रूप प्रमाद का त्याग करना, लोकाचार के अनुसार चलना, उसका विरोध नहीं करना, औचित्य धर्म का सर्व प्रकार पालन करे और प्राणान्त में भी अयोग्य निन्दनीय कार्य नहीं करे ।

इस तरह शिष्टाचार की प्रशंसा करना । क्योंकि शिष्ट पुरुषों के उपयुक्त आचारों की प्रशंसा धर्म का बीज रूप है, यह परलोक में भी फल देता है और परिणाम से मोक्षफल देता है। जैसे दूध बिना गाय को घंटी, घूंघरी आदि बाँध कर सजाने से उसकी कुछ भी कीमत नहीं बढ़ती अर्थात् उसे कोई दूध अर्थी लेता नहीं है क्योंकि दूध बिना केवल आडम्बर से दूध का काम पूर्ण नहीं होता, वैसे ही मनुष्य भी झूठे आडम्बर से बड़ा नहीं बनता, इसलिए गुणों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इसलिए गुणीजन के गुणों की प्रशंसा, विनय, सेवा आदि ही उस गुण प्राप्ति का वास्तविक उपाय है। जैसे हाथी शरीर से बड़ा होता है फिर भी अंधेरे में नहीं दिखता और उसके दंतशल छोटे होते हैं फिर भी शुद्ध, उज्ज्वल, सफेद होने से वह दिखते हैं । वैसे ही गुण बिना बड़ा मनुष्य भी जगत् में आदर सम्मान प्राप्त नहीं करता और निर्धन सत्ता रहित भी गुणवान मनुष्य पूज्यनीय होता है। इसलिए धन, सत्ता आदि बाह्य पदार्थों से महत्त्व बढ़ाने की अपेक्षा गुणवानों की प्रशंसा आदि द्वारा गुणी बनने का प्रयत्न करना चाहिए । गुणी के समान गुणी के गुणों की प्रशंसा करने वाला भी जगत् में सम्मान प्राप्त करता है। इसलिए शिष्टाचार की प्रशंसा सामान्य गृहस्थ धर्म में अवश्य करनी चाहिए।

(४) अरिषट् वर्ग त्यागी :- काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष- इन आत्मा के छह अंतरंग शत्रुओं का त्याग करना चाहिए । ''क्योंकि वे उत्तम पुरुषों की उत्तमता का नाश करते हैं ।'' यहाँ १- दूसरे की परिणीता अथवा अपरिणीता कन्या, विधवा स्त्री आदि के साथ सहवास की इच्छा करना काम है। २- अपनी अथवा पराई हानि का सोच विचार किए बिना कोप-गुस्सा करना क्रोध है। ३- दान देने योग्य सुपात्र या दया पात्र आत्माओं के देने योग्य वस्तु अपने पास होने पर भी नहीं देना अथवा कारण बिना भी अन्य के पास से धन लेने की इच्छा करना वह लोभ है । ४- किसी के योग्य उपदेश को दुराग्रह वश नहीं मानना वह मान है। ५- अच्छा कुल, शरीर में बल, उच्च जाति, बहुत धन, विद्वत्ता सुन्दर रूप आदि प्राप्त होने पर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अहंकार, दूसरे को हल्का दिखाने का मन परिणाम गर्व करना मद है और ६- बिना कारण दु:ख देकर और स्वयं जुआ, शिकार आदि अनर्थकारी कार्यों में आनंद मानना हर्ष कहलाता है। यह काम क्रोध आदि आत्म के अंतरंग बनकर आत्म गुण रूपी धन का नाश करते हैं, इसलिए दु:ख के कारणभूत इन छ: अंतरंग शत्रुओं का त्याग करना चाहिए। कहा है कि १- काम से ब्राह्मण कन्या को बलात्कार से सताने वाला दांडक्य नाम का भोज, बन्धुओं और राज्य के सहित नष्ट हुआ तथा वैदेह कराल भी नष्ट हुआ। २- क्रोध से ब्राह्मणों पर आक्रमण करने वाले जनमेजय और भृगुओं पर आतंक करने वाले तालजंघ का भी विनाश हुआ। ३- लोभ से चारो वर्णों का सर्वस्व हड़प जाने वाले सेल (पुरुरथा) और सौवीर देश के अजबिन्दु का विनाश हुआ। ४- मान से परस्त्री को वापिस न करने के कारण रावण और दुर्योधन का राज्यमान से विनाश हुआ। ५- मद से अम्भोद्भव और भूतावमानी कार्तवीर्य अर्जुन का विनाश हुआ। ६- हर्ष से अगस्त को प्राप्त न करने से वातापि और द्वैपायन को प्राप्त न करने के कारण श्रीकृष्ण के समुदाय का नाश हुआ। इनके दृष्टान्त अन्य ग्रन्थों से जान लें।

(५) इन्द्रिय समूह का जय :- कान, आँख, नाक, जीभ और शरीर स्पर्श इन पाँचों इन्द्रियों को शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श रूप अपने-अपने विषय में आसक्ति का त्याग करना अर्थात् विकार वश नहीं होना ही इन्द्रिय जय कहलाता है। सद्गृहस्थ को अपने इन्द्रिय-समूह को यथोचित मात्रा में वश में करने का अभ्यास करना चाहिए। जो इन्द्रियों की स्वच्छन्दता का त्याग करता है, उन पर अत्यन्त आसक्ति को छोड़ता है तथा स्पर्श आदि विकारों को रोकता है, वही इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है। ऐसा मनुष्य महा संपत्तियाँ प्राप्त करता है। कहा भी है 'इन्द्रियों का असंयम विपत्तियों का मार्ग है और उस पर विजय प्राप्त करना संपत्तियों का मार्ग है इन दोनों मार्गों में जो मार्ग इष्ट (हितकारी) लगे, उसी मार्ग से जाओ। ये इन्द्रियाँ सर्वस्व हैं। ये ही स्वर्ग और ये ही नरक स्वरूप हैं। दोनो ये ही हैं। जो इन्हें वश में कर लेता है उसे स्वर्ग मिलता है और जो स्वच्छन्दता पूर्वक इनको विपरीत मार्ग पर जाने देता है उसे नरक मिलता है। सर्वथा इन्द्रिय निरोध धर्म तो साधुओं के लिए योग्य है। यहाँ तो श्रावक धर्म की भूमिका प्राप्त करने से पहले धर्म मार्गानुसारी सद्गृहस्थ का प्रसंग है। अत: यथोचित मात्रा में इन्द्रिय संयम पालन करना उसके लिए परम आवश्यक बतलाया है।

(६) उपद्रव के स्थान को छोड़ने वाला :- जहाँ अपने राज्य या दूसरे देश के राज्य की ओर से भय हो, दुष्काल, मंरकी आदि रोग का उपद्रव हो, महायुद्ध

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

छिड़ गया हो, लोगों में परस्पर विरोध बढ़ गया हो– ऐसे स्थान गाँव, नगर आदि में सर्वत्र अशान्ति पैदा हो गई हो, रात-दिन लड़ाई, झगड़ा रहता हो तो सद् -गृहस्थ को वह स्थान शीघ्र छोड़ देना चाहिए। यदि मनुष्य उस स्थान का त्याग नहीं करता तो पहले के कमाये हुए धर्म, अर्थ, काम का भी विनाश कर बैठता है, और नया उपार्जन नहीं कर सकने से अपने दोनों लोक बिगाड़ता है।

(७) सद्गृहस्थ के रहने का स्थान :- जहाँ आने जाने के द्वार अधिक न हों, क्योंकि अनेकों द्वारों से चोरी जारी आदि का भय होता है, इसलिए अनेक द्वारों का निषेध करते हुए कहते हैं कि गृहस्थ को कम द्वार वाले एवं सुरक्षित घर में रहना चाहिए और घर भी योग्य स्थान पर हो। जहाँ हड्डियों आदि का ढेर न हो, तीक्ष्ण कांटे न हों तथा घर के आस पास बहुत सी दूब, घास, प्रवाल, पौधे, प्रशस्त वनस्पति उगी हुई हों। जहाँ मिट्टी अच्छे रंग की और सुगन्धित हो, जहाँ का पानी स्वादिष्ट हो, जिसमें निधान आदि हो– ऐसे स्थान को प्रशस्त माना गया है ।

ऐसे उत्तम स्थान के गुण, दोष, शकुन, निमित्त शास्त्र, स्वप्न शास्त्र या उस विषय के शास्त्र आदि के बल से जाने जा सकते हैं । इस तरह जानकर मकान तैयार करवाना, उसमें निवास करना। जिस स्थान पर अच्छे सदाचारी शीलादि सम्पन्न पड़ौसी हों वह घर होना चाहिए क्योंकि **"ससंर्गजा दोष गुणा भवन्ति"** अर्थात् जैसी संगति मिलती है वैसे दोष गुण प्रकट होते हैं। लोक में कहावत है कि गधे के साथ घोड़ा बाँधने से वह रेंकना न सीखे परन्तु काटना या लात मारना जरूर सीख लेता है। बुरे या गंदे आचरण वाले पड़ौसी जिस घर के पास होंगे वहाँ उनका वार्तालाप सुनकर, उनकी चेष्टाएँ देखकर गुणी लोगों के गुणों की भी हानि हो जायेगी। ओध निर्युक्ति गाथा ७६७ वीं में कहा है कि वेश्या, दासत्व करने वाले, पशुओं के किराया आदि से आजीविका चलाने वाले, हास्य, विस्मय से रंजित करने वाले, नर्तक, भिक्षुक, मंगता, श्मशान रक्षक, चांडाल, मछुआ, शिकारी, भील, मांत्रिक, तांत्रिक, अघोरी, नीच जातीय आदि पड़ोसियों का होना अच्छा नहीं है, इनसे दूर रहना चाहिए। वह मकान राजमार्ग में या अति गुप्त न होना चाहिए । शोधने में कठिनाई हो और बहुत घरों के अन्दर ढक गया (घिरा हुआ) होने से घर की शोभा छिप जाती है। आग लगने पर ऐसे मकान से बाहर निकलना बड़ा कठिन होता है घर में आने जाने के दरवाजे अनेक नहीं होने चाहियें यदि घर के जाने -आने के बहुत मार्ग है तो उसमें दुष्ट लोग प्रवेश कर जाएँ फिर भी ख्याल न रहे और इससे धन, स्त्री आदि की रक्षा करना मुश्किल हो जाय। इसलिए अच्छे पड़ौसी, श्रेष्ठ गुणवाली भूमि पर, अति प्रकट या गुप्त स्थान छोड़कर, अनेक दरवाजे रहित घर में निवास करना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चाहिए । ऐसा घर धर्मी आत्माओं के लिए धर्म का पोषक होता है।

(८) पाप भीरु : - दृष्ट और अदृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष और परोक्ष दु:ख के कारण-भूत पाप कर्मों से डरने वाला पाप भीरु कहलाता है। उसमें चोरी, परदारा गमन, जुआ आदि कार्य इस लोक में प्रत्यक्ष राजदण्ड आदि का कारण बनता है और वह सांसरिक विडम्बनाएँ पैदा करता है। मद्यपान, माँस भक्षण, रात्रि भोजन आदि पाप कार्य पर लोक के अन्दर शास्त्र में कथनानुसार नरक आदि दुर्गति के परोक्ष दु:ख पहुँचाते हैं । इसलिए पाप कार्यों से डरना चाहिए । यह गृहस्थ के सामान्य धर्म का लक्षण है।

(९) प्रसिद्ध देशाचार का पालन :- सद्गृहस्थ को शिष्ट पुरुषों द्वारा मान्य चिरकाल से चले आते हुए परम्परागत या देश में सर्वत्र जो व्यवहाररूप बन गया हो- भोजन, वेश-भूषा, भाषा इत्यादि अनेक प्रकार के लौकिक व्यवहार का पालन करना, यदि वैसा तो देश और जाति के लोगों का विरोध, धर्म की निंदा होती है तथा अकल्याण का कारणभूत बनता है। लोग कहते हैं कि- योगी पुरुष सारे जगत को भूल मात्र देखते हैं, तथापि जिन्होंने योग के रहस्य को समझा है तथा लोग द्वार की अपेक्षा वाले वे मन से भी देशाचार का उल्लंघन नहीं करते, तो फिर गृहस्थ का तो पूछना ही क्या? इस प्रकार देशाचार की विविध रीति रिवाज का पालन करना गृहस्थ का सामान्य धर्म है।

(१०) अवर्णवाद का त्यागी :- अवर्णवाद का अर्थ है- निन्दा । सद्गृहस्थ को किसी का भी अवणवाद नहीं करना चाहिए, चाहे वह व्यक्ति जघन्य हो, मध्यम हो या उत्तम हो। दूसरे की निन्दा करने से मन में घृणा, द्वेष, वैर, विरोध तो होगा ही- इससे अनेक महादोष उत्पन्न होते हैं। श्री प्रशम रति नामक ग्रन्थ की १०० वीं गाथा में वाचक चक्रवर्ती श्रीमान् उमा स्वाति जी ने कहा है, "दूसरे का अपमान करने से, उसकी निन्दा करने से अथवा अपनी प्रशंसा करने से जीव नीच गोत्र कर्मबन्ध करता है जो अनेक जन्मों में उदय होता है। वह नीच गोत्र करोड़ों जन्म में भी नहीं छूटता ।" इस प्रकार सामान्य जन सम्बन्धी अवर्णवाद-निन्दा इतनी हानिकारक है तो फिर बहुजन मान्य राजा, मन्त्री, पुरोहित आदि सत्ताधारी लोक मान्य पुरुष का तो कहना ही क्या ? अत: ऐसे विशिष्ट लोगों की निंदा का खास तौर से त्याग करना चाहिए । क्योंकि उससे धन अथवा प्राण नाश आदि विपरीत परिणाम आता है।

(११) आय के अनुसार व्यय करना :- सद् गृहस्थ को कमाई के अनुसार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

खर्च करना चाहिए। उसे अपने परिवार के लिए, आश्रितों के भरण पोषण के लिए, अपने निजी उपयोग के लिए तथा देवता और अतिथियों के पूजन सत्कार में धन खर्च करने से पहले यह देखना चाहिए कि मुझे अपनी खेती, पशुपालन या व्यापार आदि से कितनी आय है? यह देखकर ही उसके अनुसार खर्च करना चाहिए। नीति शास्त्र में कहा है- कमाई के अनुसार चार विभाग करने चाहियें अपनी आय का चौथा भाग भविष्य में काम आए इसलिए भंडार में रखे चौथा भाग ब्याज या व्यापार में, चौथा भाग धर्म कार्य और उपभोग में और चौथा आश्रितों के भरण-पोषण में लगाए। कुछ नीतिकारों का कहना है कि कमाई हुई रकम में से आधी से ज्यादा रकम धार्मिक कार्यों में लगाए और शेष बची हुई थोड़ी रकम सक्रिय होकर इस लोक के कार्य में लगाए। यदि गृहस्थ अनुचित रूप खर्च करता है तो जैसे दिनों दिन बढ़ता रोग शरीर को दुर्बल बना देता है, वैसे ही समग्र वैभव भी प्रतिदिन के अति ज्यादा खर्च करने से पुरुष को भी सभी व्यवहारों के लिए असमर्थ बना देता है। और भी कहा है कि- आय का विचार किए बिना जो कुबेर के समान अधिक खर्च करता है, वह धनवान थोड़े ही समय में भिखारी बन जाता है। इसलिए आय से कम खर्च करना चाहिए।

(१२) संपत्ति के अनुसार वेश धारण करना :- सद्गृहस्थ को अपनी सम्पत्ति, आय, वैभव, वय, अवस्था, गाँव, नगर, देश, काल और जाति के अनुसार ही वस्त्र अलंकार आदि धारण करने चाहिएं। जो संपत्ति- आय अच्छी होने पर भी कृपणता के कारण उसके अनुसार वेष धारण नहीं करता, वैभव होने पर भी खराब-गंदे, फटे टूटे कपड़े पहनता है, वह लोगों में निन्दा का पात्र बनता है। जो अपनी हैसियत या सम्पत्ति के अनुसार पोशाक धारण नहीं करता, इसके विरुद्ध तड़कीली-भड़कीली पोशाक पहनकर दिखावा करता है, वह लोगों में हँसी का पात्र होता है। लोग उसकी चटकीली या बहुमूल्य पोशाक से अनुमान लगा लेते हैं कि इसने बेईमानी, अन्याय, अत्याचार या निन्दनीय कर्म करके पैसा कमाया होगा जिससे निष्प्रयोजन इतना खर्च करता है। वह धर्म के लिए भी अयोग्य है। इसलिए सम्पत्ति, हैसियत, वैभव, उम्र, देश, काल आदि के अनुसार योग्य अच्छी पोषाक धारण करनी चाहिए। यह पोषाक मंगल रूप गिनी जाती है और ऐसे मंगल भूत पुरुषों के पास लक्ष्मी आती है। कहा है कि- लक्ष्मी मंगल से प्राप्त होती है, बुद्धि से बढ़ती है और कौशल से मूल बढ़ता है अर्थात् उस पुरुष के लिए वह लक्ष्मी दासी बनकर रहती है, उसे छोड़ती नहीं है। इन्द्रिय निग्रह आदि संयम युक्त जीवन से लक्ष्मी शोभा को

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्राप्त करती है और लोगों में प्रशंसा का पात्र बनता है । अत: हैसियत के अनुसार वेश रखने वाला सदाचारी सर्वत्र प्रेम का पात्र बनता है और धर्म योग्य बनता है।

(१३) माता पिता का पूजक :- वही सद्‌गृहस्थ उत्तम माना जाता हे जो तीनों काल में माता पिता को नमस्कार करता हो तथा उनको परलोक हितकारी धर्मानुष्ठान में लगाता हो उनका सत्कार सन्मान करना तथा प्रत्येक कार्य में उनकी आज्ञा का पालन करना, अच्छे रंग और सुगन्ध वाले पुष्प फलादि पहले उन्हें देकर बाद में स्वयं उपयोग करना, उनको पहले भोजन करवाकर फिर स्वयं भोजन करना, उनके सोने के बाद स्वयं सोना इत्यादि बाह्य सेवा के साथ उनके द्वारा स्वीकार किए व्रत नियम में जरा भी रुकावट न आए- इस तरह व्यवहार करना । यदि ऐसा नहीं करता तो उसके परिवार में विनय की परम्परा नहीं पड़ सकती तथा वहां प्राय: उच्छृंखलता, अविनय तथा बहुत कलहकारी बातें बढ़ेंगी। इसलिए माता पिता की सेवा भक्ति प्रत्येक गृहस्थ को करनी चाहिए । पिता की अपेक्षा माता अधिक पूजनीय होती है। माता को पहला स्थान दिया है, 'पिता माता' नहीं कहकर 'माता पिता' कहा जाता है । मनुस्मृति २/१४५ में कहा है कि 'दस उपाध्याओं के बराबर एक आचार्य होता है सौ आचार्यों के बराबर एक पिता और हजार पिताओं के बराबर एक माता होती है इस कारण माता का गौरव अधिक है ।

१४- सदाचारी के साथ संगति :- सद्‌गृहस्थ के लिए सत्संग का बड़ा महत्त्व है । जो इस लोक और परलोक में हितकारी सुन्दर आचार सेवन करने वाले सदाचारी पुरुषों की संगति करता है वह दुराचार से बचकर सदाचारी होता है और जुआरी, खल, ठग, जार, भाट, क्रूर, भांड, नट आदि असत् पुरुषों की संगति करने से अपने शील का नाश तत्काल होता है । कहा है कि यदि तुम सज्जन पुरुषों की संगति करोगे तो तुम्हारा भविष्य सुधर जायेगा और दुर्जन का सहवास करोगे तो भविष्य नष्ट हो जायेगा अर्थात् यदि गुण प्राप्त किए भी होंगे तो वे भी नष्ट हो जायेंगे। आत्मा स्वयं अकेला ही है, संयोग होने के बाद भी वियोग होता ही है, अत: वस्तुत: संग छोड़ने में ही आत्म सुख रहा है, फिर भी संग छोडना अशक्य है । तब संग सज्जन पुरुषों का करना चाहिए, क्योंकि सत्पुरुषों का संग औषध रूप होता है अर्थात् सज्जन पुरुषों के संयोग से धीरे-धीरे गुणवान बनता है, आखिर में आत्मा जगत् के राग को तोड़कर स्वरूप में तन्मय बन जाता है। अत: जब तक संग नहीं छूटे तब तक संग में से छूटने के लिए भी सत्पुरुषों की संगति करना आवश्यक है।

१५- कृतज्ञता :- सद्‌गृहस्थ को कृतज्ञ होना चाहिए कृतज्ञ का अर्थ है, जो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दूसरों के किए उपकार को जानता है । उसके उपकार को भूलता नहीं है परन्तु सिर पर भार रूप मानता है । उसका यथा शक्ति बदला किस तरह चुकाया जा सके – उसकी चिन्ता करता है। कहा है कि नारियल भी बाल्यकाल- पौध अवस्था में अल्प पानी से सींच कर स्वयं को पालन करने वाले को उपकारी मानकर, मस्तक पर जटा रूप भार को धारण करके, उपकारी को अपने प्राण का नाश करके भी अमृत समान मधुर पानी देता है अर्थात् नारियल फोड़ने से नारियल का जीव प्राण-मुक्त होता है और उसमें से मनुष्य मधुर पानी प्राप्त करता है। यदि नारियल भी इस तरह कृतज्ञता के गुण को धारण करता है तो सत्पुरुष उपकारी को किस तरह भूल सकता है ? अर्थात् सज्जन पुरुष कभी भी उपकारी के उपकार को नहीं भूलता उपकारी की ओर से जो कल्याण का लाभ होता है, उसके बदले उसका बहुमान करता है। जिस तरह से नारियल सर्व फलों में श्रेष्ठ फल रूप प्राप्त किया है तथा पूजा के योग्य बना है, वैसे ही कृतज्ञ पुरुष महान यश प्राप्तकर कुशल-कल्याण के हिस्सेदार होते हैं।

(१६) अजीर्ण में भोजन त्यागी :- अजीर्ण के समय भोजन छोड़ देना चाहिए । अजीर्ण होने पर भी भोजन करने से सभी रोगों की वृद्धि होती है क्योंकि सब रोगों का मूल कारण अजीर्ण है । अजीर्ण के चार भेद हैं- १- नरम मल हो उसे आम कहते हैं। २- दुर्गन्ध वाला, मरी हुई मछली की गंध समान विदग्ध अजीर्ण है, इससें अपान वायु दुर्गन्ध वाला होता है। ३- बार-बार मल होना, शरीर में अंग वेदना होना, विरग्ध अजीर्ण कहलाता है । ४- जिससे आलस-प्रमाद हो, वह रसशेष अजीर्ण है। अजीर्ण अपने चिह्नों से जाना जा सकता है । मल और अपान वायु की सड़ान से उसमें बदबू आना, शरीर का भारी हो जाना, भोजन में अरुचि होना, खट्टी और खराब डकारें आना- ये अजीर्ण के लक्षण हैं । आगे बढ़कर अजीर्ण से मूर्च्छा, अति बकवास, उल्टी, अधिक थूक आना, शरीर में थकावट आदि अनेक विकार होते हैं और इससे मृत्यु हो सकती है । इसलिए, पहले किया हुआ भोजन जब तक हजम न हो तब तक नया भोजन नहीं करना चाहिए ।

(१७) समय पर पथ्य भोजन करना :- सद्गृहस्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह भूख लगने पर आसक्ति रहित होकर अपनी प्रकृति, रुचि, जठराग्नि एवं खुराक के अनुसार उचित मात्रा में भोजन करे और क्षुधाकाल समाप्त होने के बाद भोजन करेगा तो उसे भोजन पर अरुचि और घृणा होगी और शरीर में भी कमजोरी होगी। 'आग बुझ जाने के बाद ईंधन झौंकना व्यर्थ होता है।' अर्थात् जठराग्नि भूख होने पर भी नहीं खाने से मंद हो जाती है और फिर एक साथ खाने से उसे वमन,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अतिसार या अजीर्ण आदि होते हैं और कभी मृत्यु भी हो सकती है। इसलिए अपनी खुराक से अधिक मात्रा में खाना उचित नहीं है। भूख के बिना अमृत भी खाया जाता है तो वह भी जहर हो जाता है। भूख लगी हो, उस समय आहार पानी भी अपने शरीर की प्रकृति एवं खुराक के अनुकूल पथ्य कारक तथा सुखपूर्वक ग्रहण करता है, वह सात्म्य भोजन कहलाता है। इस प्रकार सात्म्य अर्थात् प्रकृति के अनुकूल जिंदगी भर कालकूट विष भी मात्रा रूप में खाया जाय तो वह भी हितकारी होता है। अत: अति सात्म्य खाद्य वस्तु जो पथ्य रूप हो, उसी का सेवन करें। रुचि के अनुकूल, अपथ्य और अहितकारी वस्तु को सात्म्य समझकर भी सेवन न करें। शक्तिशाली के लिए सभी वस्तु हितकारी हैं ऐसा मानकर कालकूट विष न खाएं। विष तन्त्र ज्ञाता और अत्यन्त दक्ष व्यक्ति की भी किसी समय विष से मृत्यु हो सकती है। **'यो हि मितं भुङ्क्ते स बहु भुंक्ते।'** अर्थात् जो प्रमाण भोजन करता है वही वास्तव में बहुत भोजन करता है, यह बात बुद्धि से सहज ही समझ में आती है।

(१८) वृत्तस्थों और ज्ञान वृद्धों का पूजक :- दुराचार के त्याग पूर्वक सदाचार में प्रवृत्ति करने वाला व्रत नियम धारी पुरुष, जो कि 'हेय उपादेय वस्तु के विवेक रूप ज्ञान से वृद्ध हो' अर्थात् अपने से जो विशेष ज्ञानी और व्रत धारी हो वह आये तब खड़ा होना, सन्मुख जाना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना, आसन देना, वंदन करना, शरीर सेवा करना, उत्तम आहार-पानी-वस्त्र पात्र आदि उचित वस्तुओं को उन्हें दान देना इत्यादि विनम्र रूप सेवा करनी चाहिये क्योंकि गुणवान पुरुषों की जो सेवा करता है वह कल्प वृक्ष के समान सदुपदेशादि महान फल प्राप्त करता है। शास्त्र वार्ता समुच्चय की गाथा ७ में कहा है कि – गुणीजन की सेवा से हमेशा हितकर उपदेश मिलता है, अन्य भी धर्मी पुरुषों के दर्शन सम्पर्क आदि का लाभ मिलता है। इस तरह अनेक महान लाभ गुण वालों की सेवा से मिलते है।

(१९) निन्दनीय कार्य का त्यागी :- सामान्य लोक में अथवा लोकोत्तर संतों में भी जो कार्य आदरणीय नहीं होने से निंदनीय माना गया हो, ऐसे सुरापान, माँस भक्षण, पर स्त्री सेवन आदि पापों का त्याग करना चाहिए। सामान्य कुल में जन्म लेकर भी मनुष्य यदि अच्छे आचार करता है तो वह बड़प्पन को प्राप्त करता है। कहा है कि अच्छे कुल में जन्म लेने वाला यदि नीच आचार का पालन करने वाला हो तो वह निन्दनीय माना जाता है और छोटे कुल में जन्मा हुआ भी आचरण विशुद्ध हो तो वह विशिष्ट है, प्रशंसनीय माना जाता है। ग्रन्थकार का आशय है कि कुल के अनुसार आचार भी शुद्ध होना चाहिए। इसमें आचार की मुख्यता बताने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के लिए कुल की गौण क्रिया है, यह उसका अर्थ नहीं है। किसी भी कुल वाला केवल सदाचार से श्रेष्ठ बन सकता है, परन्तु वह उसके जीवन काल में लगातार नहीं टिकता। इसलिए कुल और शील दोनों से उत्तमता होना आवश्यक है। दोनों की महत्ता समान है।

(२०) पोष्य का पोषण करना :- सद्गृहस्थ का यह उत्तरदायित्व है कि परिवार में माता-पिता, पत्नी, पुत्र, पुत्री आदि और जो व्यक्ति अपने आश्रित सगे-सम्बन्धी नौकर-चाकर हों- उनका भरण पोषण करना, तथा योगक्षेम-रक्षा आदि करना चाहिए। उसमें वृद्ध माता-पिता, सती स्त्री और जिसमें अपनी निर्वाह शक्ति न हो वह पुत्र-पुत्री- इन तीन को कोई भी कार्य करके भी अवश्य भरण-पोषण करना चाहिए। कहा है- हे तात! गृहस्थ धर्म में लक्ष्मीवान के यहाँ दरिद्र मित्र, पुत्र बिना विधवा बहन, स्वजाति के वृद्ध और कुलवान दरिद्र- इन चारों प्रकार के मनुष्य का निवास हो अर्थात् धनवान गृहस्थ को इन चारों दु:खियारों की अवश्य सार संभाल लेना चाहिए। इससे उन सबका सद्भाव व सहयोग प्राप्त होगा। भविष्य में वे सब उपयोगी बनेंगे।

(२१) दीर्घ दर्शी :- किसी भी कार्य का परिणाम क्या आयेगा ? उसके अर्थ अनर्थ का विचार करके कार्य करना। क्योंकि विचार किए बिना कार्य करने वाले को महान आपत्तियाँ आती हैं। किरात में आया है कि- लाभ-हानि का विचार किए बिना कार्य नहीं करना चाहिए। अविवेक से कार्य करना महा आपत्तियों का स्थान होता है। दूरदर्शिता से विचार कर कार्य करने वाले को गुणानुरागिनी संपदायें अपने आप आकर मिलती हैं। इसलिए सद्गृहस्थ को हर कार्य को दूर की सोचकर करना चाहिए।

(२२) धर्म श्रुति :- सद् गृहस्थ को प्रतिदिन अभ्युदय और नि:श्रेयस (मोक्ष) के कारण रूप धर्म के श्रवण में उद्यम करना चाहिए। जैसे निरोगी, चतुर और युवा पुरुप सुन्दर स्त्री के साथ दिव्य गीत को एक तान पूर्वक सुनता है, इससे भी अति राग पूर्वक हमेशा धर्म उपदेश सुनना चाहिए। प्रतिदिन उपयोग पूर्वक सत्कथा-उपदेश श्रवण करने से चित्त थका हो तो थकान उतर जाती है, कषाय उद्वेग से तप गया हो तो ताप शान्त हो जाता है, आपत्ति आदि से दिग्मूढ़ बना हो तो उस व्यक्ति की व्याकुलता दूर हो जाती है और अन्यत्र स्थित चंचल मन भी स्थिर हो जाता है इत्यादि बहुत लाभ होता है। अत: प्रतिदिन धर्म-श्रवण जीवन में उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि करता है। यह फल की प्रधानता बताने के लिए यहां अलग बताया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(२३) दयावान :- यह सद्गृहस्थ का महत्त्वपूर्ण गुण है। दु:खी जीवों का दु:ख दूर करने की अभिलाषा दया है। मनुष्य प्रत्येक प्राणी को सुखी करने की इच्छा वाला होता है। परम यतना के योग से उसकी सर्व धर्म आराधना क्षमा आदि युक्त होती है। प्रशमरति में कहा है "धर्म का मूल दया है।" जैसे हमें अपने प्राण प्रिय हैं वैसे ही सभी जीवों को भी अपने प्राण उतने ही प्रिय हैं। इसलिए धर्मात्मा गृहस्थ दया के अवसर कदापि न चूके।

(२४) बुद्धि के आठ गुणों का स्वामी :- सद्गृहस्थ में बुद्धि के निम्नलिखित आठ गुण होने आवश्यक हैं :- **१- शुश्रुषा** - धर्मशास्त्र सुनने की अभिलाषा। **२- श्रवण** - धर्म सुनना। **३- ग्रहण** - उपयोग पूर्वक धर्म श्रवण करके उसे ग्रहण करना। **४- धारण** - सुनी हुई धर्म की बात को भूल न जाए, इस तरह उसे धारण करके मन में रखना। **५- ऊह** - जो अर्थ सुना हो, जाना हो याद रखा हो वह जहाँ-जहाँ घटित हो वहाँ-वहाँ उसे घटाना अथवा अतिरिक्त अर्थों के सम्बन्ध में तर्क करना। **६- अपोह** - उक्ति (श्रुति), युक्ति और अनुभूति के विरुद्ध अर्थ से हटना अथवा हिंसा, झूठ, चोरी आदि दुष्ट भाव, आत्मा को हानि पहुँचाने वाले पदार्थों को छोड़ देना अथवा अपने को पृथक् कर लेना या ऊह यानि सामान्य ज्ञान का और पोह यानि विशेष ज्ञान का विश्लेपण करना। **७- अर्थ विज्ञापन** - ऊहापोह से संशयादि दोप रहित वस्तु का विशिष्ट सम्यग् ज्ञान प्राप्त करना। **८- तत्त्वज्ञान** - ऊहापोह के विशेप प्रकार के ज्ञान से विशुद्ध निश्चय ज्ञान प्राप्त करना। इस प्रकार आठ गुण उत्तरोत्तर बुद्धि के विशुद्ध रूप हैं। इन गुणों वाला विशिष्ट पुरुप कभी भी अकल्याण-दु:ख को प्राप्त नहीं करता है, उसका योग करना। अत: सद्गृहस्थ को यथा संभव इन आठ बुद्धि गुणों को अपनाना चाहिए।

(२५) गुणों का पक्षपाती :- सद्गृहस्थ गुणों और गुणी जनों का पक्षपाती होना चाहिए अर्थात् गुणी जन जब भी उसके सम्पर्क में आएँ, वह उनके साथ सौजन्य, दाक्षिण्य, औदार्य तथा गाम्भीर्य का व्यवहार करे। 'आइये पधारिये' जैसे प्रिय शब्दों से स्वागत करे। साथ ही गुणी जनों का समय-समय पर बहुमान करे। उनकी प्रशंसा करे, उन्हें प्रतिष्ठा दे, उनके कार्यों में सहायता करे, उनका पक्षपात करे इत्यादि प्रकार से गुणी जनों के अनुकूल प्रवृत्ति करे। ऐसे गुणीजनों के प्रति एवं स्व पर कल्याणकारी, अन्य धर्म रूप आत्म गुणों के प्रति पक्षपाती पुरुप निश्चय ही पुण्य के बीज के द्वारा इस लोक-परलोक में उत्तम गुणों रूप लक्ष्मी को प्राप्त करता है, अर्थात् गुणवान स्वयं बनता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(२६) अभिनिवेश से दूर :- सद्गृहस्थ को हमेशा दुराग्रह से दूर रहना चाहिए । अभिनिवेश के विषय में कहते हैं । दुराग्रही (हठधर्मी) वह व्यक्ति होता है जो नीतिमार्ग से विपरीत कार्य करता है और दूसरों को नीचा दिखाने के लिए, पराभूत करने के लिए किसी कार्य की जिद्द पकड़ कर आरंम्भ करता है। इसलिए कहा है कि अहंकार नीच पुरुपों को निष्फलता दिखाता है । उनमें अनीति, दुर्गुण और कार्यारम्भ से ही खेद पैदा करता है। उल्टे प्रवाह में तैरने का व्यसन जलचर मछलियों के समान व्यर्थ परिश्रम है। वास्तव में अभिनिवेश युक्त व्यक्ति जिद्दी और अभिमानी होता है। वह अपने ही दुर्गुणों से दु:खी होता है। इसलिए सद्गृहस्थ को अभिनिवेश से रहित होना चाहिए । कदाग्रह से रहित भाव नीच व्यक्तियों में भी यदा कदा दिखाई देता है, किन्तु वह होता है कपट युक्त । इसलिए यहाँ 'सदा' शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् सदा के लिए दुराग्रह को छोड़ना चाहिए।

(२७) विशेषज्ञ :- जो पदार्थों में अच्छा, खराब का अन्तर, कार्य में करने योग्य नहीं करने योग्य का अन्तर और स्व पर में रहे गुण-दोष रूप विभाग आदि का अन्तर जानता है । वस्तु तत्त्व का निश्चय करने वाला ही वास्तव में विशेषज्ञ कहलाता है। विशेषज्ञता से रहित अर्थात् वस्तु-अवस्तुकृत्य-अकृत्य, स्व-पर आदि का अन्तर नहीं जानने वाले मनुष्य में पशुता से कोई अन्तर नहीं है। जैसे पशु को अच्छे-खराब भावों का भेद ज्ञान रूप विवेक नहीं होता वैसे ही उस पुरुप में वह ज्ञान नहीं होता है। अथवा आत्मा के गुण दोष को जो जानता है वही विशेषज्ञ कहलाता है। जो मनुष्य अपने जीवन में गुण-दोष की वृद्धि-हानि का अवलोकन करता है, उसका जीवन सफल है। कहा है कि मनुष्य को प्रतिदिन अपने जीवन चरित्र का अवलोकन करना चाहिए कि मेरा आचरण पशु के समान है अथवा सत्पुरुपों के समान है ? इस प्रकार हमेशा विचार करना चाहिए।

(२८) अतिथि आदि का सत्कार :- सद्गृहस्थ को घर आए अतिथि का स्वागत करना आवश्यक है अतिथि उसे कहते हैं । हमेशा सत्प्रवृत्ति स्व पर कल्याण की सुन्दर भावना में एकाग्र होने की जिसकी कोई निश्चित तिथि न हो । कहा है कि 'जिस महात्मा ने तिथि और पर्वो के उत्सव का त्याग किया है, उसे अतिथि समझना चाहिए और शेप को अभ्यागत जानना ।' साधु साध्वी गण कोई एक तिथि या पर्व निश्चित न करके, सदा ही उत्तम आचरण होने से समग्र लोक में प्रशंसनीय होते हैं। इसलिए वे उत्कृष्ट अतिथि हैं। जिसकी धर्म, अर्थ और काम रूप पुरुषार्थ करने की समग्र शक्ति क्षीण हो गई हो, ऐसे दीन, अतिथि साधु की यथायोग्य सत्कार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भक्ति करनी चाहिए। उनके अनुकूल, अन्न, पान, वस्त्र आदि देकर उनकी औचित्य पूर्वक सेवा करनी चाहिए। एक ओर औचित्य गुण और दूसरी ओर अन्य करोड़ों गुण हों तो भी दोनों समान नहीं है, क्योंकि औचित्य गुण के बिना शेष गुण समूह हों तो वे जहर समान हैं। दान, शील, तप आदि कोई भी धर्म प्रवृत्ति अथवा खाना, पीना, सोना, कमाना, बोलना आदि सामान्य प्रवृत्ति भी औचित्य रहित हो तो उल्टा निन्दा का पात्र बनता है। इसलिए औचित्य पूर्वक सेवा करना ही वास्तविक है। अंत: करण में सभी के प्रति समान सद्भाव होना आवश्यक है। जैसे दवाखाने के प्रत्येक दर्दी के प्रति समान आदर होता है, परन्तु डॉक्टर उसकी सेवा रोग के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में करता है। वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए।

(२६) परस्पर अबाधित रूप से तीनों वर्गों की साधना :- धर्म, अर्थ और काम ये तीन वर्ग कहलाते हैं। १. जिससे अभ्युदय और मोक्षसुख की सिद्धि हो वह धर्म है २. जिससे लौकिक गृहस्थाश्रम के सर्व प्रयोजन सिद्ध होते हैं, वह अर्थ है, और ३. अभिमान से उत्पन्न समस्त इन्द्रिय-सुखों से सम्बन्धित रस युक्त प्रीति वह काम है। सद्गृहस्थ को इन तीनों वर्गों की साधना इस प्रकार से करनी चाहिए कि ये तीनों वर्ग एक दूसरे के लिए परस्पर बाधक न बनें। तीनों में से केवल किसी एक या किसी दो की साधना करना उचित नहीं है। तीन वर्ग की साधना में जो मर्यादा छोड़ता है, उसके दोनों जन्म बिगड़ने से यह जन्म भी निरर्थक बनता है। कहा है कि- त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम की परस्पर अविरोध रूप साधना किये बिना जिसका दिन व्यतीत होता है वह पुरुष लौहार की धौंकनी के समान स्वांस लेते हुए भी जीवित नहीं है। यदि कोई इन तीनों में धर्म की उपेक्षा करके केवल तत्त्वहीन सांसारिक विषय सुख में क्षुब्ध बनता है, वह जंगली हाथी के समान आफत का शिकार बनता है। क्योंकि जो धर्म और अर्थ से उदासीन होकर केवल विषय भोगों में ही आसक्त रहेगा वह धर्म, अर्थ और शरीर तीनों को खोकर पराधीन एवं दु:खी हो जायेगा।

इसी प्रकार जो धर्म और काम का अतिक्रमण करके केवल अर्थ उपार्जन में ही लगा रहता है - वह जीवन का सच्चा आनन्द नहीं प्राप्त कर पाता, न ही मानसिक शान्ति पाता है। उसके धन का उपयोग दूसरे करते हैं। दामाद, हिस्सेदार, सरकार या अन्य लोग उसके धन पर कब्जा जमा लेते हैं। उसके तो सिर्फ मेहनत ही पल्ले पड़ती है। जैसे सिंह हाथी का वध करके केवल पाप का भागी बनता है और हाथी का माँस तो अन्य जंगली जीव खाते हैं। वैसे ही वह केवल पाप का अधिकारी बनता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थ और काम का अतिक्रमण करके केवल धर्म का सेवन भी गृहस्थ के लिए उचित नहीं है, क्योंकि उसे अपने परिवार, समाज व देश के प्रति कर्तव्यों का भी पालन करना है। यदि वह एकान्त धर्म क्रिया में लग जायेगा तो गैर जिम्मेदार बनकर दु:खी होगा। अपनी रोटी के लिए भी उसे दूसरे का मुँह ताकना पड़ेगा। इसलिए साधु तो सर्वथा धर्म का सेवन कर सकता है, लेकिन गृहस्थ सर्वथा धर्म का पालन करने में प्राय: असमर्थ होता है। वह श्रमणों की उपासना-सेवा भक्ति कर सकता है। इसलिए धर्म में रुकावट न आए इस प्रकार अर्थ और काम का सेवन करे। बोने के लिए सुरक्षित बीजों को खाने वाला किसान समय पर बीज न रहने के कारण सपरिवार दु:खी होता है, वैसे ही वर्तमान काल में धर्माचरण न करने वाला व्यक्ति भविष्य में सुखद फल या कल्याण नहीं प्राप्त कर पाता। वास्तव में वही मनुष्य सुखी कहलाता है जिसके अगले जन्म के सुख में बाधा न पहुँचे, इस प्रकार से जगत् के सुख का अनुभव करे। धर्म की बेदरकारी करने वाला इस जन्म में कभी पूर्व पुण्य के बल से दु:खी न हो तो भी भविष्यकाल में तो दु:खी होता ही है। क्योंकि सुख का मूल धर्म है। जैसे जड़ नष्ट हो जाने के बाद वृक्ष नहीं टिक सकता वैसे ही धर्म नष्ट हो जाने के बाद सुख टिक नहीं सकता। इसलिए बुद्धिजीवी पुरुष को धर्म का घात न हो, इस तरह अर्थ और काम में प्रयत्न करना चाहिए।

इसी तरह अर्थ उपार्जन करना बंद करके जो धर्म और काम का ही सेवन करता है, वह कर्जदार बन जाता है। काम को छोड़कर जो केवल धर्म और अर्थ का सेवन करता है, वह गृहस्थ मनहूस बन जाता है। उस घर के लोग असंतुष्ट रहते हैं। इस कारण काम-पुरुषार्थ की सर्वथा उपेक्षा करने वाला गृहस्थ अवस्था में टिक नहीं सकता। धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में से प्रत्येक के एकान्त सेवी गृहस्थ तादात्विक, मूलहर, और कदर्य के समान अपने जीवन के विकास में स्वयं रुकावट डालते हैं। जो धन का कुछ भी संचय नहीं करता तथा बिना सोचे उपार्जित धन को खर्च कर डालता है, उस मनुष्य को 'तादात्विक' कहते हैं। जो बाप दादों के अथवा अन्य पूर्वजों के उपार्जित धन का अनीतिपूर्वक उपभोग करके उसे खत्म कर देता है उसे 'मूलहर' कहते हैं। जो नौकर, कुटुम्ब, परिवार और स्वयं खुद को परेशान दु:ख सहन करके धन को एकत्रित करता है, कुछ भी खर्च नहीं करता उसे 'कदर्य' कहते है। उसमें तादात्विक और मूलहर को धन का नाश होने से धर्म और काम का भी नाश होता है, इससे दोनों का कल्याण नहीं होता और कदर्य-कृपण का धन संग्रह राजा, सरकार, राज्य कर्मचारी या चोर ले जाते हैं। वह धन उसके धर्म और काम

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के लिए नहीं रहता । इस तरह तादात्विक, मूलहर और कदर्य- ये तीन धर्म, अर्थ और काम में परस्पर बाधक होते हैं ।

इससे गृहस्थ को त्रिवर्ग के अबाधित रूप से सेवन में अन्तराय नहीं डालना चाहिए। कदाचित् संयोग के कारण किसी पुरुषार्थ सेवन में बाधा उपस्थित होने का समय आ जाए तो उत्तरोत्तर का सेवन छोड़कर पूर्व के पुरुषार्थ की बाधा से रक्षा करनी चाहिए । जैसे काम की बाधा उपस्थित हो तो धर्म और अर्थ में बाधा की रक्षा करनी चाहिए । क्योंकि धर्म और अर्थ के होने पर काम की प्राप्ति भी आसानी से हो सकती है। काम और अर्थ में बाधा आए तो धर्म की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि अर्थ और काम का मूल धर्म है। कहा है कि- भीख माँगकर निर्वाह करने से भी अगर धर्म की रक्षा होती है तो मैं अपने को सम्पत्तिशाली मानता हूँ। वास्तव में सज्जन पुरुष धर्म रूपी धन से धनाढ्य होते हैं ।

(३०) निषिद्ध देश कालचर्या का त्याग:- जिस देश और काल में जिस आचार का निषेध किया हो उसे सद्गृहस्थ को छोड़ देना चाहिए । हठाग्रह से निषिद्ध देशाचार, भंडार का स्थान, वेश्या, नट, चोर, जुआरी, वध आदि के स्थान पर जाने से अनेक आपत्तियाँ आना संभव होने के कारण उस स्थान पर नहीं जाना चाहिए और कालाचार से विरुद्ध, मध्य रात्रि और परदेश जाने के लिए मध्याह्न काल, सायं काल में जाता है तो उसे राजदण्ड, चोर, डाकू के उपद्रव आदि हो सकते हैं। इससे धर्म की हानि भी होती है। इसलिए वर्जित देशाचार कालाचार आदि का त्याग करना चाहिए।

(३१) बलाबल का ज्ञाता :- बल अर्थात् अपना अथवा दूसरे का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सापेक्ष सामर्थ्य और अबल अर्थात् अपनी निर्बलता-सबलता का विचार करके सभी कार्य प्रारम्भ करना चाहिए । ऐसा कार्य करना सफल है, अन्यथा उसका परिणाम प्राय: कर विपरीत होता है। कहा है कि क्रोधादि का त्याग कर शम भावपूर्वक अपनी शक्ति के अनुसार योग्य स्थान पर प्रयत्न करने वाले जीवों का दिन प्रतिदिन विकास होता जाता है और शक्ति के अतिरिक्त कार्य आरम्भ करने से विपरीत परिणाम होता है, विकास में भी क्षय का कारण बनता है। इसलिए कहा है कि- सुखाभिलाषी को अभी कौन सा समय है ? मित्रों का बल कैसा है ? मैं कौन हूँ अर्थात् मेरी योग्यता कैसी है ? मेरे में शक्ति कितनी है ? इत्यादि बारम्बार चिन्तन करना चाहिए ।

(३२) यथोचिता लोक यात्रा- लोगों के चित्त के अनुसार व्यवहार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करना। जो जो व्यक्ति संपर्क में आए उसके चित्त को पहिचान कर वर्तन करना। दूसरे का विरोधी व्यवहार करने से अप्रिय होता है और अपने प्रति जो आदर, प्रेम या अपने वचन के प्रति बहुमत आदि हो उसका नाश होता है, उल्टा असद्भावना होती है और अपनी हितकारी धार्मिक प्रवृत्ति को भी दूषित गिनता है। इस तरह अपने सद्अनुष्ठान की भी लघुता होती है, यह महान धर्म हानि इसलिए लोगों के चित्त का विरोधी आचरण नहीं करना चाहिए। प्रशमरति श्लोक १३१ में कहा है कि सभी धर्मी पुरुषों को भी लोक आधार रूप है- लोगों की सहायता से ही सत्कार्य हो सकते हैं। इसलिए लोक विरुद्ध और धर्म विरुद्ध कार्य का त्याग करें।

(३३) परोपकार करने में कर्मठ :- सद्गृहस्थ को परोपकार के कार्य सदा करने चाहिएं। उसे केवल अपने ही स्वार्थ में रचा पचा नहीं रहना चाहिए। परोपकार करने में चतुर एवं परोपकार परायण मनुष्य का दर्शन सभी के नेत्रों में अमृतांजन के समान होता है।

(३४) ह्री :- अर्थात् लज्जावान सद्गृहस्थ के लिए लज्जा का गुण परमावश्यक है। लज्जावान व्यक्ति किसी भी पापकर्म को करते हुए संकोच करेगा और प्राण चले जाए मगर अंगीकार किए हुए व्रत नियम का त्याग नहीं करेगा। कहा है कि लज्जा अनेक गुणों की जननी है। वह अत्यन्त शुद्ध हृदय वाली आर्य माता के समान है। अनेक गुणों की जन्म दात्री लज्जा को पाकर साधक, सत्य सिद्धान्त पर डटा रहता है। लज्जाशील सत्य शाली महापुरुष सुख सुविधाओं और प्राणों का भी परित्याग कर देते हैं, परन्तु अंगीकार की हुई प्रतिज्ञा को कदापि नहीं छोड़ते।

(३५) सौम्यता :- सद्गृहस्थ की प्रकृति और आकृति सौम्य होनी चाहिए। क्रूर आकृति और भयंकर स्वभाव वाला मनुष्य लोगों में उद्वेग पैदा कर देता है। जबकि सौम्य प्रकृति वाले मनुष्य से सभी आकृष्ट होते हैं, कोई भयभीत नहीं होता। वह सभी को सुखकारी होता है। इस तरह सामान्य गृहस्थ धर्म के पैंतीस गुण कहे हैं।

यहाँ इतना विशेष समझना- 'न्याय उपार्जित धन प्राप्त करना, सुस्थान पर घर बनाना, और माता पिता की पूजा-सेवा करना, इत्यादि वाक्य विधि शास्त्र में साक्षात् मिलते नहीं हैं। इसलिए शास्त्र में जिसका उल्लेख न हो ऐसे न्याय से धन प्राप्त करना, अच्छे स्थान पर घर बनाना इत्यादि कार्यों में धर्म का लक्षण मानना अर्थात् वह कार्य करने में धर्म है, ऐसा कहना अयोग्य गिना जाता है, तो फिर जिसका शास्त्र में स्पष्ट उल्लेख न हो, वैसा भी यदि आचरण शिष्ट पुरुष करते हों तो वह आचरण शिष्ट पुरुष का आचरण होने से करणीय है- ऐसा समझना। कोई कार्य शिष्ट पुरुषों के द्वारा आचरण करने से वह धर्म रूप कहा जाता है। इसलिए इसमें दोष नहीं है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तरह होने पर भी यहाँ शंका होती है कि - अप्राप्त अंश का विधान अर्थात् जो भक्ष्य-अभक्ष्य या पथ्य-कुपथ्य के विवेक बिना कुछ भी वह खाये और पाप का भागी अथवा रोगी बने उसे जानकारी देना आवश्यक है, परन्तु प्राप्त अंश में अर्थात् जगत् में अनादि प्रवाह से जो चलती ही आयी है- वह प्रेरणा या सलाह देना आवश्यक नहीं है। यहां धन कमाना, घर का निर्माण करना आदि अंश प्राप्त क्रिया रूप है और उसमें न्यायपूर्वक धन उपार्जन करना तथा योग्य स्थान पर परिमित द्वार वाला मकान बनाना, इत्यादि विशेषण वाला अप्राप्त अंश रूप है। तो 'न्याय पूर्वक धन कमाना' उसमें 'न्याय पूर्वक' इतना विधान ही धर्म रुप कह सकते हैं । परन्तु 'धन कमाना' इतने अंश को धर्म नहीं कह सकते। इसी तरह 'योग्य स्थान पर परिमित द्वार वाला' इत्यादि विशेषण अंश को धर्म कह सकते हैं, परन्तु 'घर मकान बनाना' इस अंश को धर्म नहीं कह सकते क्योकि वह प्राप्त अंश है, उसमें प्रेरणा करना बेकार है। केवल 'न्याय उपार्जित' आदि अंश अप्रर्याप्त क्रिया रूप होने से उसका ही विधान करना धर्म माना जाता है, परन्तु यहाँ तो 'न्यायोपार्जित धन कमाना' इत्यादि सम्पूर्ण वाक्य को धर्म कहना कैसे उचित हो सकता है ?

इस शंका का समाधान करते हैं कि- अनुवादक वचन प्राप्त अंश को अर्थात् जो सहज सिद्ध हो उसका अनुवाद करता है और विधि वचन अप्राप्त अंश को अर्थात् टूटे हुए को पूर्ण करने वाला होता है । इस तरह वाक्य में अनुवाद्य विषय और विधेय विषय दोनों नियम यथाक्रम होता है। प्राप्त अर्थात् विद्यमान और अप्राप्त अर्थात् अविद्यमान अंश का ही विधान होता है, फिर भी वह अप्राप्त अर्थ का स्थान आधार प्राप्त अर्थ में ही होता है, क्योंकि अप्राप्त अर्थ विशेषण रूप और प्राप्त अर्थ का- विशेष्य का भी कथन करना ही पड़ता है । उसके बिना वाक्य की समझदारी श्रोता वर्ग को हो ऐसा कोई उपाय नहीं है। जैसे कि यहां 'न्यायार्जित' इतने विशेषण के ही विधान ही जरूरत है, इसलिए केवल 'न्यायार्जित' इतना ही कहा जाए तो सुनने वाला क्या समझेगा ? कुछ भी नहीं समझेगा । इसलिए वह विशेषण जो विशेष्य में हैं उन्हें कहना चाहिए। वह धन रूप विशेष्य जो कि प्राप्त अंश रूप है, उसका उल्लेख करना ही चाहिए अर्थात् न्यायार्जित के साथ धन शब्द का उपयोग करने से ही श्रोता जन को यथार्थ समझ में आयेगां । इसी तरह 'सुस्थान- अच्छे पड़ौस में परिमित द्वार वाला' इतना ही कथन करना यहाँ आवश्यक है और 'घर बनाना' यह कहने की आवश्यकता नहीं है, फिर भी 'सुस्थान पर अच्छे पड़ौस में परिमित द्वारा वाला' इतना विशेषण ही कहे और उसका आधार भूत 'घर बनाना' इस विशेषण अंश को छोड़ दे तो वह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वाक्य रचना वास्तविक अर्थ वाली नहीं बनती, इसलिए 'सुस्थान पर अच्छे पड़ौसी वाला परिमित द्वार वाला घर बनाना चाहिए।' वह धर्म है। इस तरह प्राप्त अप्राप्त अंश दोनों का उपयोग करना ही पड़ता है, क्योंकि विशेषण का आधार उस विशेषण से विशिष्ट उसका विशेष्य ही होता है इसलिए विशेषण के साथ में विशेष्य का भी उल्लेख करना ही चाहिए। विशेष्य के उल्लेख के बिना केवल विशेषण का उल्लेख करने से वस्तु तत्त्व में समझ में नहीं आता, क्योंकि विशेषण से विशेष्य की ही विशिष्टता बतानी होती है। विशेष्य के बिना विशेषण किस काम का है? जैसे कि 'काला घोड़ा' इसमें घोड़ा विशेष्य है और काला विशेषण है। यहाँ केवल 'काला, शब्द ही उच्चारण करते जायँ, परन्तु साथ में घोड़ा शब्द न बोले तो 'काला' इतना ही कहने से समझने वाला क्या समझे ? इसलिए 'काला' इस विशेषण के साथ में जैसे 'घोड़ा' इस विशेष्य को भी बताना ही पड़ता है, वैसे यहां भी 'न्यायार्जित' आदि अप्राप्त अंश के रूप विशेषण का विधान करना चाहिए। फिर भी वह विशेषण विशेष्य में ही विधान रूप होने से न्यायार्जित आदि के साथ में 'धन' आदि शब्द का उपयोग करना आवश्यक है । इसी तरह पैंतीस गुणों में प्राप्त-अप्राप्त अंशों का विभाग स्वयमेव करना और उसमें अप्राप्त अंश का ही विधान है उतने अंश ही धर्म है ऐसा समझना। केवल उसमें प्राप्त अंश का विधान आधारभूत होने से उसके साथ में जोड़ा है। इस तरह स्वयमेव समझ लेना ।

यहाँ प्रश्नकार प्रश्न करते हैं कि- "आप तो न्यायोपार्जित आदि अंश में धर्म कहते हैं, परन्तु आपकी यह धर्म की व्याख्या आचार्य श्री हरिभद्र सूरि जी के वचन से विरुद्ध होती है। क्योंकि उन्होंने तो 'उपदेशपद' ग्रन्थ में सततताभ्यास, विषयाभ्यास, और भावाभ्यास ये तीन प्रकार के अनुष्ठान बतलाये हैं। उसमें भावाभ्यास ही केवल धर्म स्वरूप कहा है और शेष सततताभ्यास और विषयाभ्यास अनुष्ठान धर्म रूप नहीं है। अतः वह झूठा सिद्ध होता है ।

ग्रन्थकार श्री उसका समाधान करते हैं कि उपदेश पद का कथन सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान आदि के अनुसार आत्मा के भावों में- अध्यवसाय में ही धर्म को मानने वाला है, जो निश्चय नय की अपेक्षा वाला है। इससे वहाँ सततताभ्यास, विषयाभ्यास रूप अनुष्ठान धर्म रूप नहीं है । ऐसा कहा है- वह सत्य है । यहाँ तो अपुनर्बंधक, मार्गाभिमुख, मार्ग पतित, मार्गानुसारी आदि जीवों के भाव-अध्यवसाय को भी धर्म मानने वाले का जो व्यवहार नय है- उसकी अपेक्षा से धर्म का लक्षण कहा जाता है अर्थात् यह तो सम्यकत्व प्राप्ति के पहले मिथ्यात्व गुण वाले, शुभ अध्यवसाय वाले

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विशिष्ट जीवों के लिए सामान्य गृहस्थ धर्म का वर्णन किया है । अतः यह कथन व्यवहार नय का होने से तुम्हारे प्रश्न का समाधान हो गया। इस बात को स्पष्ट समझाने के लिए उपदेश पद में गाथा १४६ से १५१ तक पाठ बतलाकर स्पष्ट करते हैं :-

'अन्ने भणंति तिविहं, सयय विसय भाव जोगओण वरं।
धम्मंमि अणुट्ठाणं, तहुत्तर पहाण रूवं तु ॥ १ ॥
एअं चण जुत्तिखमं णिच्छयणय जोग ओ जओ विसए।
भावेण य परि हीणं, धम्माणुट्ठा णमो किह णु ॥ २ ॥
ववहारओ उजुज्जइ, तहा तहा अपुण्बंध गाई सुत्ति ॥'

अर्थात् - 'हमेशा माता पितादि के प्रति विनय वैयावच्च सेवादि सतत प्रवृत्ति सततााभ्यास कहलाता है, मोक्ष मार्ग के नायक श्री अरिहंत भगवान का बारम्बार पूजन, दर्शन, नमस्कार आदि प्रवृत्ति विषयाभ्यास कहलाता है और सम्यग् दर्शनादि भाव का संसार के प्रति उद्वेग-वैराग्यपूर्वक पुनः पुनः परिशीलन करना भावाभ्यास कहलाता है। इस तरह सततााभ्यास, विषयाभ्यास और भावाभ्यास ये तीनों धर्म अनुष्ठान कहलाते हैं, और उसमें प्रथम से दूसरा और दूसरे से तीसरा श्रेष्ठ है।' इस तरह अन्य आचार्यों का कथन है वह निश्चयनय से युक्ति युक्त नहीं है क्योंकि-माता पिता के विनयादि रूप सततााभ्यास में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानादि की आराधना का अभाव होने से धर्म नहीं माना जाता और विषयाभ्यास में भी संसार के प्रति वैराग्यादि भाव रहित पूजा, दर्शन, भाक्ति आदि को किस तरह धर्म कह सकते हैं ? अर्थात् संसार के प्रति वैराग्य पूर्वक सम्यग् दर्शनादि की आराधना के परिणाम बिना श्री अरिहंत देव की भक्ति भी धर्म नहीं कहा जाता है । धर्मानुष्ठान उसे कहते हैं कि जिसमें संसार की ओर वैराग्य पूर्वक ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना का परिणाम हो । इसलिए निश्चयनय के अभिप्राय से भावाभ्यास रूप तीसरे प्रकार के अनुष्ठान को ही धर्मानुष्ठान कहा जाता है। प्रथम दो प्रकार के धर्मानुष्ठान रूप में नहीं गिने जाते हैं। व्यवहार नय के अभिप्राय से तो प्रथम गुण स्थानक वाले- अपुनर्बन्धक आदि अवस्था वाले जीव के लिए प्रथम दो अनुष्ठान भी धर्म अनुष्ठान गिने जाते हैं ।

यहाँ जो तीव्र राग-द्वेष के परिणाम से पाप न करे, उस जीव को अपुनर्बंधक समझना । उसमें आदि शब्द का प्रयोग किया है, इससे अपुनर्बंधक की ही उत्तर विभाग में विशिष्ट अवस्था वाले मार्गाभिमुख अर्थात्- मन की सरलता में कारणभूत स्व-अभिलाष रूप कर्म का क्षयोपशम की विशेषता को मार्ग कहते हैं और क्षयोपशम रूप मार्ग में प्रवेश करने की योग्यता वाले जीव को मार्गाभिमुख कहते हैं मार्गपतित

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् इस तरह क्षयोपशम मार्ग जिसने प्रारंभ किया और उत्तरोत्तर गुणवृद्धि वाले जीव को मार्गपतित- मार्ग में चलने वाला कहा जाता है। इस तरह क्षयोपशम भाव के बढ़ते परिणाम से जिस जीव को चरण करण पूर्ण करने की तैयारी हो उसे 'मार्गानुसारी' कहते हैं। इस मार्गानुसारी जीव को आखिर यथा प्रवृत्ति करण रूप द्वारा सातों कर्मों की स्थिति घटाकर पल्योपम के असंख्यातवें भाग में एक कोड़ा कोड़ी सगरोपम कम शेष रहता है अर्थात् जब कर्मों की स्थिति इससे अधिक न रहे उस समय उस जीव को राग द्वेष के तीव्र उदय रुप ग्रन्थि उदय में आता है, उसका वह जीव अपूर्वकरण रूप परिणाम द्वारा भेदनकर अनिवृत्ति करण द्वारा चतुर्थ गुण स्थानक की प्राप्ति करता है । उसे सम्यग् दर्शन की प्राप्ति कहलाती है। इस अवस्था में जीव सम्यग् दृष्टि कहलाता है । परन्तु वह जीव विरति वाला नहीं होने से अविरति सम्यग् दृष्टि कहलाता है। इस तरह अपुनर्बन्धक दशा में से विकास साधते जीव मार्गाभिमुख, मार्गपतित, मार्गानुसारी और अवरिति-सम्यग् दृष्टि प्राप्त करता है । परन्तु उन जीवों में प्रथम दो प्रकार के अनुष्ठान- सतताभ्यास और विषयाभ्यास का व्यवहार नय से धर्म अनुष्ठान रूप है ।

इस तरह से जब उपदेश पद में कहा है कि धर्म का लक्षण निश्चय नय और व्यवहार नय द्वारा विवेक से घटाना चाहिए, तब फिर प्रश्न उठता है कि- "आप तो सम्यग् दर्शनादि भावों की बार बार सेवना- परिशील रूप भावाभ्यास अनुष्ठान को ही धर्म कहते हैं और वह तो निश्चय नय से अप्रमत्तादि गुण स्थानक में ही होता है । अतः आप की व्याख्या के अनुसार तो निश्चय नय के अभिप्राय से सातवें गुण स्थानक से धर्म है, ऐसा निश्चय होता है । परन्तु धर्म संग्रहणी में तो निश्चय नय के मतानुसार शैलेशी अवस्था चौदहवें गुण स्थानक के अन्तिम समय में ही धर्म होता है और उसके पहले के समय में तो धर्म की साधना होती है, वह धर्म नहीं होता, ऐसा कहा है । उसका क्या मतलब वह पाठ इस तरह धर्म संग्रहणी गाथा २६ में कहा है :-

'सो उभयक्खय हेऊ, सीले सीचरम समय भावी जो।
सेसो पुण निच्छयओ, तस्सेव पसाहगो भणिओ ।।'

अर्थात्- 'शैलेशी करण के अन्तिम समय में जो धर्म है वही शुभकर्म एवं अशुभकर्म रूप धर्म-अधर्म दोनों का क्षय करने वाला होने से धर्म है और उसके पूर्वावस्था में होने वाली प्रवृत्ति निश्चय नय के मतानुसार धर्म की साधना रूप है।'

"इस तरह निश्चय नय के मतानुसार भी आपकी व्याख्या में एवं धर्म संग्रहणी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के कथन में प्रत्यक्ष विरोध दिखता है, उसका क्या कारण है ?'' इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार स्वयं देते हैं कि धर्म संग्रहणी में शुद्ध- निरूपचरि धर्म का ही स्वरूप वर्णन करने की इच्छा से वहाँ 'धर्म' पद की व्युत्पत्ति में निमित्त रूप निरूप चरित भाव को मानने वाली जो एवंभूत नामक निश्चय नय मतानुसार व्याख्या की है और उस नय से तो 'शैलेशी के आखिर समय की जो अवस्था है वही निरूप चरित्र शुद्ध धर्म रूप है।' यह सत्य कहा है। यहाँ तो उपचरित्र व्यवहार धर्म जो कि अनुष्ठान रूप है, वह 'धर्मानुष्ठान' पद की व्युत्पत्ति में निमित्त भूत अर्थात् घट जाय उन भावों को मानने वाले जो एवंभूत रूप निश्चय नय उसके मतानुसार व्याख्या की है और सातवें गुण स्थानक में भी उसी प्रकार का धर्मानुष्ठान तो होता है, इससे जरा भी विरोध नहीं है।

यहां फिर श्रोता को शंका होती है कि ''इस प्रकार आप की व्याख्या से तो निरूप चरित्र शुद्ध भावाभ्यास अनुष्ठान रूप धर्म भी निश्चय नय से अप्रमत्त साधु को सातवें गुण स्थानक में ही माना जा सकता है और छठे प्रमत्त गुण स्थानक में, पांचवें देश विरति गुण स्थानक में, चौथे अविरति सम्यग् दृष्टि गुण स्थानक में आपेक्षिक रूप में औपचारिक उपचार से ही घटता है, ऐसा निश्चय हुआ और आप तो यहां अपुनर्बंधक आदि प्रथम गुण स्थान वाले जीवों को भी औपचारिक धर्म होता है- ऐसा कहते हैं, वह किस तरह युक्त हो सकता है ?''

इसका समाधान ग्रन्थकार करते हैं कि- जैसे पर्याय की अपेक्षा छोड़कर केवल द्रव्य को मानने वाले द्रव्यार्थिक नय अनेक परमाणु वाले द्रव्य को भी द्रव्य मानते हैं और आखिर एक परमाणु को भी द्रव्य मानते हैं, वैसे ही निश्चय धर्म की अपेक्षा छोड़कर व्यवहार मात्र को धर्म रूप में मानने वाला व्यवहार नय अविरति-सम्यग् दृष्टि मय धर्म को मानते हैं और अपुनर्बन्धकादि में भी धर्म को मानते हैं। इस अभिप्राय से यहाँ अपुनर्बन्धक आदि को भी धर्म कहा है। इस तरह समझ लेना। इसी अभिप्राय से ही समर्थ शास्त्र प्रणेता आचार्य श्री हरिभद्र सूरि जी भी इस बात का समर्थन करते हुए योग बिन्दु श्लोक ३६६ में कहते हैं कि :-

अपुनर्बन्धकस्यायं, व्यवहारेण तात्त्विकः ।
अध्यात्म भावना रूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥ ३६६ ॥

अर्थात् - 'यह अध्यात्म रूप और भावना रूप योग-धर्म व्यवहार नय से कारण में कार्य के उपचार द्वारा अपुनर्बन्धक के लिए तथा उसके उपलक्षण से अविरिति-सम्यग् दृष्टि के लिए होता है और उपचार बिना निश्चय नय से तो ऊपर के गुण स्थानक में स्थिर चारित्रवान के लिए होता है।'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस प्रकार योग बिन्दु मूल में अपुनर्बंधक को और टीका के अन्दर उपलक्षण से सम्यग् दृष्टि को भी धर्म कहा है । इस अपेक्षा से भी यहां अपुनर्बधंक को धर्म होना कहा है । इससे परमार्थ से निश्चय होता है कि धर्मानुष्ठान रूप धर्म अनुपचरित्र निश्चय नय से अप्रमत्त संयमियों को ही होता है, छठे गुण स्थानक प्रमत्त संयत को, पाँचवे देश विरति को तथा चौथे अविरति सम्यग् दृष्टि को अपेक्षा से निश्चय और व्यवहार दोनों नय से होता है, और अपुनर्बन्धक आदि को तो व्यवहार से ही होता है । इसलिए जो पहले पैंतीस गुण रूप सामान्य गृहस्थ धर्म बतलाये हैं वे व्यवहार नय से अपुनर्बन्धक आदि जीवों की अपेक्षा से बतलाया है, ऐसा समझना । कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म संग्रहणी में धर्म का स्वरूप निरूपचरित एवं भूतनय से वर्णन किया है, इसलिए वहाँ चौदहवें गुणस्थानक के आखिरी समय में धर्म होने के लिये कहा है । उपदेश पद में भावाभ्यास रूप धर्म-अनुष्ठान का स्वरूप उपचरित्र निश्चय नय से सातवें गुण स्थानक से होने के लिये बतलाया है जो कि पहले गुण स्थानक में भी अपुनर्बन्धक आदि अवस्थाओं में व्यवहार नय से धर्मयुक्त है। इसलिए परस्पर व्याख्या में विरोध नहीं है । ग्रन्थकार ने पहले धर्म की व्याख्या तीसरी गाथा में बतलाया है कि शुद्ध निश्चय धर्म का कारणभूत तो अनुष्ठान रूप व्यवहार धर्म है उसका स्वरूप कहूँगा ।

इस तरह भेद-प्रभेद से सामान्य गृहस्थ का स्वरूप कहकर अब उसका फल बताने के लिए पँद्रहवीं मूल गाथा कहते हैं:-

एतद्युतं सुगार्हस्थ्यं, यः करोति नरः सुधी ।
लोकद्वयेऽप्यसौ भूरि, सुखामाप्नोत्यनिन्दितम् ।।१५।।

अर्थात् - "जो बुद्धिमान पुरुष अपने गृहस्थ जीवन को पूर्व कहे अनुसार गृहस्थ के सामान्य धर्म से युक्त अर्थात् धर्मवान बनाता है, वह पुरुष इस लोक और परलोक में उत्तरोत्तर शुभ फलों को देने वाले बहुत सुख को प्राप्त करता है।"

इस तरह सद्गृहस्थ का सामान्य फल बतलाया । अब इस सामान्य धर्म रूपी गुणों वाले पुरुष में उत्तरोत्तर विशिष्ट गुण वृद्धि की योग्यता प्रगट होती है, वह दृष्टान्त पूर्वक बतलाते हैं:-

तस्मिन् प्रायः प्ररोहन्ति, धर्मबीजानि गेहिनि ।
विधिनोप्तानि बीजानि, विशुद्धायां यथा भुवि ।।१६।।

अर्थ- जैसे शुद्ध भूमि में विधिपूर्वक बोया हुआ बीज उत्पन्न होता है, वैसे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ही इस सामान्य धर्म का विधि पूर्वक आचरण करने वाले उस सद्गृहस्थ में धर्म के बीज में से अंकुर आदि प्रगट होते हैं ।

भावार्थ- लोकोत्तर धर्म के कारणभूत ये धर्म के बीज हैं जो कि लोकोत्तर धर्म रूप फल को देने वाले हैं। इससे उत्तरोत्तर धर्म चिन्तन, जिज्ञासा, धर्म श्रवण आदि अंकुर अवश्यमेव प्रगट होते हैं। यह बात 'योग दृष्टि समुच्चये' शास्त्र में इस तरह कही है-

जिनेषु कुशलं चित्तं, तन्नमस्कार एव च ।
प्रणामादि च संशुद्धं, योग बीजमनुत्तमम् ।। २३।।
उपादेय धियाऽत्यन्तं, संज्ञा विष्कम्मणान्ति तम् ।
फलाभि सन्धि रहितं, संशुद्ध ह्यो तदीदृशम ।। २५।।
आचार्यादिष्वपि ह्येतद्विशुद्धं भाव योगिषु ।
वैयावृच्य च विधिवच्छुद्धाशय विशेषतः ।। २६।।
भवेद्वेगश्च सहजो, द्रव्याभिग्रह पालनम् ।
तथा सिद्धान्तमाश्रित्य, विधिना लेखनादि च ।। २७।।
लेखना-पूजना दानं, श्रवणं वाचनोद् ग्रहः ।
प्रकाशनाऽथ स्वाध्याय श्चितना भावनेति च ।। २८।।
दुःखितेषु दयात्यन्तमद्वेषो गुणवत्सु च ।
औचित्या सेवनं चैव, सर्वत्रैवा अ विशेषतः ।। ३२।।

अर्थात् :- श्री जिनेश्वर भगवान के प्रति उपादेय बुद्धि अर्थात् आहारादि संज्ञाओं की अपेक्षा बिना तथा क्रोधादि संज्ञाओं-कारणों के बिना तथा इस लोक परलोक के फल की आंकाक्षा बिना की शुद्ध मानसिक प्रीति, उस प्रीति के बल से वाचिक स्तवन स्तुति आदि नमस्कार और कायिक पंचांगादि प्रमाण इत्यादि कुशल मन वचन, काया की शुद्धि प्रवृत्ति, वह योग का शुद्ध श्रेष्ठ बीज है।।२३-२५।। भावाचार्य, भावोपाध्याय तथा भावसाधु आदि गुरुजन के प्रति पूर्व कहे अनुसार प्रीति, नमस्कार और प्रणाम आदि रूप कुशल योग प्रवृत्ति तथा उपदेश पद गाथा २३७ आदि शास्त्र में कथनानुसार विधि अनुसार शुद्ध आशय पूर्वक उनकी सेवा वैयावच्च करना ।।२६।। इष्टवियोगादि आर्त्तध्यान रूप निमित्त बिना ही जन्मादि दुःखों के चिन्तन से साहजिक संसार का उद्वेग, संसार की ओर अरुचि तथा मुनिवर्ग को औषध आदि देना इत्यादि द्रव्य अभिग्रहों को रुचि पूर्वक पालन करना । ग्रंथिभेद के पहले भाव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अभिग्रह नहीं होता, इसलिए इस अवस्था में केवल द्रव्य अभिग्रह ही होता है तथा सिद्धान्त की भक्ति अर्थात् सिद्धान्त शास्त्र को लिखाना, उसकी पुष्प वस्त्रादि से पूजा करना, पुस्तक का दान देना, व्याख्यान का श्रवण करना, स्वयं पढ़ना, विधि पूर्वक ज्ञान प्राप्त करना, वह ज्ञान अन्य भव्यात्माओं को देना, वाचना-पृच्छनादि स्वाध्याय करना, उसके अर्थ का चिन्तन करना और उसके भाव का विचार करना ॥ २७-२८॥ शारीरिक आदि कष्टों से पीड़ित दीन दु:खियों के प्रति यथाशक्ति दु:ख निवारण करने का उपाय दया करना, विशिष्ट ज्ञानी आदि गुणवान् के प्रति मात्सर्य- ईर्ष्या का त्याग करना, दीनादि सर्व के प्रति सामान्य औचित्य का पालन करना इत्यादि प्रवृत्ति सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र रूप योग-धर्म की प्राप्ति में कारणभूत होने से उसे धर्म का बीज कहा है ॥३२॥

सामान्य गृहस्थ धर्म से युक्त शास्त्र में कथनानुसार बाल, मध्यम, पंडित आदि जीवों का परिचय कर उसके योग्य विधिपूर्वक उपदेश देना । जिसका स्वरूप इस ग्रन्थ में ही आगे कहा जायेगा, उस तरह उपदेश द्वारा सुखपूर्वक ऐसे धर्म के बीज बोये जा सकते हैं। जैसे विधिपूर्वक अच्छी जमीन में बोया हुआ अनाज का बीज उग जाता है। वैसे ही धर्म का बीज प्राय: उन जीवों में उग जाता है। उसका बोना, उगाना, अंकुर आदि किसे कहते हैं ? उसे कहते हैं कि -धर्म की शुद्ध भाव से प्रशंसा आदि करना वह धर्म बीज का बोना कहलाता है, अर्थात् उस धर्म की प्राप्ति करवानी है। धर्म की चिन्ता अभिलाषा करना वह धर्म बीज का अंकुर कहलाता है । उस धर्म की बातें सुनना, वह उसका कंद कहलाता है । धर्म का आचरण करना वह पुष्प की नाल कहलाता है । उससे देव मनुष्य के योग्य सुख संपदा मिलना वह उसका पुष्प कहा है और परिणाम में सर्व कर्म निवृत्ति मोक्ष प्राप्त होना वह धर्म बीज का फल कहा है।

इस तरह धर्म बीज बोये जीव में कभी भी धर्म का उदय नहीं होता है अत: उपदेश पद की गाथा २२४ में कहा है कि-

अकए बीजक्खेवे, जहा सुवा सेवि न भवई सस्सं ।
तह धम्म बीज विरहे, न सुस्समाएवि तस्सस्सं ॥

अर्थात् - 'अच्छी वर्षा होने पर भी जैसे बीज बोये बिना अनाज उत्पन्न नहीं होता वैसे ही धर्म के बीज के बोये बिना जीव में श्री तीर्थंकर परमात्मा विराजमान नहीं होते हैं तथा सुषमा काल में धर्म वृक्ष का अंकुर आदि उत्पन्न नहीं होता है। उस मोक्ष साधक की सामग्री सफल नहीं होती है ।'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ सोलहवें श्लोक में प्रायः कहने में ग्रन्थकार का यह आशय है कि श्री मरुदेवा माता के समान किसी जीव में उसका तथा भव्यत्व यदि परिपक्व हो गया हो तो धर्म बीज बोये बिना भी धर्म तत्त्व प्रगट हो सकता है, इसलिए 'प्रायः' शब्द उपयोग किया है ।

अब पूर्व कहे अनुसार सामान्य गृहस्थ धर्म से युक्त और योग बीजादि की प्राप्ति वाला जो जीवात्मा है, उसकी शास्त्र में कौन सी संज्ञा अर्थात् उसका क्या नाम है तथा उसकी अवस्था कैसी होती है वह कहते हैं:-

स आदि धार्मिक श्चित्रस्तत्तत्तन्त्रानुसारतः ।
इह तु स्वागमापेक्षं, लक्षणं परिगृह्यते ।। १७।।

अर्थ- पूर्व कहे अनुसार जीव आदि धार्मिक कहलाता है और अपने-अपने दर्शन-संप्रदाय के अनुसार वह जीव अनेक प्रकार से अलग-अलग प्रवृत्ति वाला होता है। यहाँ तो जैन आगम के अनुसार उसका लक्षण बतलाया है ।

भावार्थ- पूर्वोक्त कथनानुसार उत्तरोत्तर गुणवृद्धि- आत्म शुद्धि चरमावर्त्तकाल में ही होती है, उसके पहले नहीं होती है । जिस पुद्गल परावर्त में जिस जीव का मोक्ष अवश्य होता है, वह उसका चरमावर्त्त काल कहलाता है। इस चरमावर्त्त काल को प्राप्त कर जीव प्रथम ही धर्म का आरंभ करता है, इसलिए जैन संप्रदाय में उस जीव का 'आदि धार्मिक' ऐसा नाम रखा है । यह आदि धार्मिक जैन दर्शन अनुयायी ही होता है, ऐसा एकान्त नहीं है । योग्यता को प्राप्त करने वाला जीव अलग-अलग दर्शनों को मानने वाला भी हो सकता है और वह अपने-अपने मान्य सिद्धान्त के अनुसार क्रिया करने वाला होने से भिन्न आचार वाला भी हो सकता है । क्रिया अन्य दर्शन की होने पर भी अंतः शुद्धि होने के कारण उसे अपुनर्बन्धक कहने में या मानने में विरोध नहीं है । अपुनर्बन्धक जीव भिन्न-भिन्न दर्शन के अनुयायी होने से अनेक स्वरूप के होते हैं । इस अपुनर्बन्धक की भी उत्तरोत्तर अनेक अवस्थाएँ होती हैं इसलिए सांख्य दर्शन, बौद्ध दर्शन आदि अलग-अलग दर्शन में कही हुई भी मोक्ष की हेतु भूत क्रिया उनमें योग्य है। वह भिन्न-भिन्न आचार उनकी उत्तरोत्तर अवस्थाओं में होता है। योग बिन्दु गाथा २५१ में कहा है कि -

अपुनर्बन्धकस्यैवं, सम्यग् नीत्योपपद्यते ।
तत्तत्तन्त्रोक्तमखिलमवस्था भेद संश्रयात् ।।

अर्थात्- जीव की भिन्न-भिन्न अवस्था के कारण में उन दर्शनों के अन्दर कही सारी प्रवृत्तियाँ सम्यग्तया अपुनर्बंधक में ही घटती हैं ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अपुनर्बन्धक की अनेक अवस्था होने से अंत: शुद्धि की तारतम्यता के कारण भिन्न-भिन्न दर्शन में मोक्ष साधक सारी क्रिया कही है, वह उनमें योग्य ही है। इतना सर्वदर्शनकार अपुनर्बन्धक का वर्णन करके, इस ग्रन्थ में जैनागम की अपेक्षा से कहना है कि आदि धार्मिक जीव कैसा होता है ? उसका लक्षण कहते हैं। जिसे बौद्ध 'बोधिसत्व' कहते हैं, सांख्य उसे 'निवृत्त प्रकृत्यधिकार' कहते हैं और अन्य दर्शन वाले उसे 'शिष्ट' कहते हैं, उसे ही हम यहां 'आदि धार्मिक- अपुनर्बन्धक' आदि कहते हैं ।

'ललित विस्तरा' ग्रन्थ में आदि धार्मिकता- अपुनर्बन्धकता प्राप्त करने के लिए ऐसी विधि बतलाते हैं कि सर्वप्रथम पाप मित्रों का त्याग करना, कल्याण मित्र की संगति करना, औचित्य का उल्लंघन नहीं करना, लोकमार्ग का अनुकरण करना, माता-पिता, कलाचार्या आदि गुरुजनों का बहुमान करना, उनकी आज्ञा का पालन करना, दानादि धर्म में प्रवृत्ति करना, परमात्मा की विशेष रूप में अष्टप्रकारी पूजा करना, साधु असाधु का विवेक करना, विनयादि विधिपूर्वक धर्मशास्त्रों का श्रवण करना, प्रयत्न पूर्वक उसका चिन्तन-मनन करना और श्रवण अनुसार यथाशक्ति आचरण करना, धैर्य का आलम्बन लेना, भावी परिणाम का विचार करना, मृत्यु को दृष्टि के सामने रखना और वह इसलिए कि इस लोक की सुख साधना से परलोक की साधना को मुख्य समझना, गुरुजन की सेवा करना, योग पट अर्थात् ॐ कार का पट, ह्रींकार का पट, सिद्ध चक्र पट, सूरिमंत्र का पट, ऋषि मंडल पट आदि अनेक प्रकार के तीर्थ आदि के पट बनाने में आते हैं- उन पटों के दर्शन, नमस्कार, ध्यान करना, उनकी आकृति स्थापित करना आदि, हृदय में धारण कर उसकी बारम्बार तलाश करना, योग की साधना में जिनसे विक्षेप हो ऐसे कार्यों का त्याग करना, ज्ञानादि योग की सिद्धि के लिए प्रयत्न करना, भगवान की मूर्ति बनवानी, भगवान के वचन-आगम साहित्य लिखवाना, नमस्कार महामन्त्र रूपी पंच परमेष्ठि - महामंगल का जाप करना, अरिहंतादि चार शरणा स्वीकार करना, पापकारी-दुष्कृत्यों की गुरु महाराज के सम्मुख निंदा करना, सत्कृत्यों की अनुमोदना करना, पट के मन्त्र के अधिष्ठायक देवों की पूजा करना, सदाचारों का श्रवण करना, औदार्य गुण जीवन में लाना और उत्तम पुरुषों के आचार को आचरण में लाना इत्यादि प्रवृत्ति रूप लक्षण जिसके जीवन में हों वह अपुनर्बन्धक- आदि धार्मिक होता है ।

इस जीव की सारी प्रवृत्ति उत्तम होती है और उसकी अपुनर्बन्धक आदि अवस्था नियम से मार्गानुसारी-मोक्ष मार्ग के अनुसार ही होती है, क्योंकि उसके बिना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ऐसी उत्तम प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए नैगम नय के अभिप्राय से ऐसे जीव की प्रवृत्ति विचित्र होने पर भी प्रथम आरंभ से ही उत्तम ही होती है– ऐसा कहा है। जैसे प्रस्थक (एक प्रकार का अनाज मापने का माप) बनाने की इच्छा से बढ़ई जंगल में काष्ठ लेने जाता है, उसे काटता है, मार्ग में गमनागमन-जाना आना आदि कार्य करता है। ऐसा करके जब तक वह माप तैयार करता है तब तक बीच में अनेक अन्य भी प्रवृत्तियाँ करता है। फिर भी वह सारी प्रवृत्तियाँ प्रस्थक-माप बनाने के उद्देश्य से होने से प्रस्थक की क्रिया कहलाती हैं। लकड़ी लेने जाते समय उसे कोई पूछे तो भी वह कहे कि प्रस्थक लेने जा रहा हूँ। लकड़ी आदि सारा प्रस्थक का पूर्व अभ्यास रूप होने से नैगमनय के (जो कि नय सामान्य-विशेष उभय को मुख्य मानने वाला है उसके) मतानुसार प्रस्थक के लिए क्रिया रूप है, इस अपेक्षा से अपुनर्बंधक आदि भी मार्गानुसारी होने से उनकी सारी प्रवृत्तियाँ उत्तम ही कहलाती हैं। इस उद्देश्य से ही कहा है कि "**कुठारादि प्रवृत्तिरपि रूप निर्माण प्रवृत्ति रेव**" अर्थात् 'किसी को प्रस्थक आदि रूप बनाना हो तो उसके लिए कुल्हाड़ी से लेकर सारी प्रवृत्तियाँ प्रस्थक आदि बनाने की ही प्रवृत्ति मानी जाती है। इसी तरह आदि धार्मिक पुरुष की अपने-अपने देव को नमस्कार आदि धर्म विषयक जो-जो प्रवृत्तियाँ होती हैं, वह दोष वाली होने पर भी सर्व प्रकार से धर्म के अनुरूप होने से बाधक नहीं हैं, ऐसा धर्म रहस्य के जानकार पुरुष कहते हैं। यहां एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'उनकी सदोष प्रवृत्ति होने पर भी धर्म के अनुरूप किसलिए कहते हो ?' उसका समाधान करते हैं कि देवादि तत्त्वों के प्रति उन जीवों का हृदयगत विरोध नहीं होता है, प्रवृत्ति में दोष है। वे अनाभोग - अज्ञानतादि के योग में हैं परन्तु हृदय का दूषण नहीं है। देवादि तत्त्वों के प्रति विरोध नहीं होने से उसका 'समन्तभद्रता' अर्थात् सर्व प्रकार से कल्याण ही होता है।

इस तरह प्रस्थक के दृष्टान्त के समान जैन दर्शन से भिन्न अन्य जो दर्शन-नयवाद हैं उसमें कहे हुए '**सुप्त मण्डित-प्रबोध दर्शनादि**' दृष्टांतों को जीवन में इस तरह घटाना जैसे कि कोई निद्राधीन पुरुष निद्रा में चंदनादि विलेपन करने में और आभूषण से शृंगार करे तो आप तो उस समय ख्याल उसे नहीं आता, परन्तु जागृत होने के बाद शरीर में चंदन आदि का विलेपन और आभूषणों से अलंकृत देखकर वह आश्चर्य चकित हो जाता है। जैसे नाव में निद्राधीन बने पुरुष को नाव की गति का ख्याल नहीं आता है परन्तु जागने के बाद स्वयं समुद्र किनारे पहुँच गया है - यह जानकर आश्चर्य चकित होता है वैसे ही अज्ञान, अनाभोग आदि कारण से उस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अवस्था में अपनी प्रवृत्ति का महत्त्व आदि धार्मिक पुरुष को समझ में नहीं आए, दोषों का सेवन करे, तथापि सम्यग् दर्शन आदि गुणों की प्राप्ति होने के बाद उसे आश्चर्यजनक विचित्र गुणों से अलंकृत अपनी आत्मा का दर्शन होता है । इसलिए उसकी वह पूर्व की प्रत्येक प्रवृत्तियां भी उत्तम ही समझना चाहिएं ।

इस प्रकार से अनायोगादि कारण से प्रवृत्ति दोष वाली होने पर भी वह इष्ट का साधक है क्योंकि अपुनर्बन्धक जीव अपनी अवस्था उचित आचार में कभी भूल कर सकता है फिर भी वह अपने उचित आचार सेवन में प्रयत्नशील ही रहता है और इससे उसे उपदेश आदि देने से सफल होता है। इस विषय में सांख्य दर्शन मानता है कि "तामसी राजसी सात्त्विकी प्रकृति का अधिकार बल आत्मा के ऊपर से निवृत्त नहीं होता, अर्थात् जब तक आत्मा प्रकृति के आधीन बना हो तब तक उसमें ऐसा (अपुनर्बन्धक) स्वरूप प्रगट नहीं होता ।" और बौद्ध मानता है कि "जब तक भव-संसार (भवितव्यतादि) की परिपाक दशा नहीं होती तब तक जीव को ऐसी दशा प्राप्त नहीं होती ।" जैन दर्शन मानता है कि "जो जीव इसके बाद मिथ्यात्वादि कर्मों, उत्कृष्ट स्थिति को नहीं बांधता है, उस जीव में ऐसी उत्तमता-आदि धार्मिकता प्रगट होती है ।" यहां तक ललित विस्तरा के साक्षी पाठ द्वारा आदि धार्मिक का स्वरूप बतलाया है।

अब प्रसंगोपात्त पंचाशक की गाथा ३/४ तथा योग शतक की १३ गाथा द्वारा अपुनर्बन्धक का स्वरूप कहते हैं –

पावंण तिव्व भावा, कुणइ ण बहु मन्नई भव घोरं।
उचिअट्ठिइं च सेवइ, सव्वत्थपि अपुणबंधोत्ति।।

अर्थात्- अपुनर्बन्धक जीव हिंसादि पाप कर्मों को तीव्र परिणाम- अति संक्लेश पूर्वक नहीं करता है क्योंकि अति उत्कृष्ट स्थिति वाले मिथ्यात्व आदि कर्मों का क्षयोपशम होने से उसकी आत्मा निर्मल बनी है, अतः पाप का तीव्र परिणाम नहीं होता तथापि सामान्य मोहनीय आदि अशुभ कर्म के योग से सामान्य परिणाम से पापवृत्ति वाला तो होता है । दुःख की खान के समान भयंकर संसार की - सांसारिक प्रवृत्तियाँ करने पर भी उसे बहुमान नहीं होता है और देव, अतिथि, माता पिता आदि सभी के प्रति देश, काल, बल आदि के अनुसार उचित व्यवहार को अच्छी तरह पालन करता है, क्योंकि उसके कर्म पतले हो जाने के कारण वह उचित कार्य को नहीं छोड़ सकता । अपुनर्बन्धक वाला जीव मार्गानुसारी के सन्मुख होता है । यहां

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मोर के बच्चे के दृष्टान्त से समझना कि जैसे मोर के अण्डे को रंगने की जरूरत नहीं है- वह स्वाभाविक ही अपनी योग्यता से विचित्र रंग वाला होता है, वैसे ही यहां अपुनर्बन्धक जीव भी अपने कर्मक्षय होने से स्वाभाविक रूप से ही मार्गानुसारी के सन्मुख होता है ।

इस तरह अपुनर्बन्धक-आदि धार्मिक जीव का स्वरूप-लक्षण बताकर अब सद्-धर्म का उपदेश के लिए योग्य है, वह बात कहते हैं:-

स धर्म देशना योग्यः, मध्यस्थत्वाज्जिनैर्मतः।
योग दृष्ट् युदयात्सार्थं, यद् गुण स्थानमादिमम्।।१८।।

अर्थ - उस आदि धार्मिक को माध्यस्थ गुण के योग से भी जिनेश्वर भगवान ने धर्म उपदेश के लिए योग्य माना है, और उसमें योगदृष्टि का उदय होने से उसका प्रथम गुण स्थानक सार्थक होता है ।

भावार्थ- इस प्रकार गुण संपत्ति वाले आदि धार्मिक जीव को श्री जिनेश्वर ने लोकोत्तर धर्म का उपदेश सुनने के लिए योग्य बतलाया है । इस जीवात्मा ने धर्म प्राप्ति में कारणभूत चरम पुद्गल परावर्त रूप काल बल प्राप्त किया है। उपदेश पद की गाथा ४३२-४३३ में कहा है कि:-

घण मिच्छत्तो कालो, एत्थ अकालो उ होइ णायव्वो।
कालो अ अपुणबंधग पभिइ धीरेहि णिद्दिट्ठो।।४३२।।
णिच्छयओ पुण एसो, चित्रे ओ गठि भे अ कालंमि।
एयंमि विहिसय पालाणाउ आरोग्गमेया उ ।।४३३।।

अर्थात् :- जहां तीव्र मिथ्यात्व होता है वहाँ अनंत काल हो वह अचरमावर्तकाल कहलाता है । उस काल में जीव श्री जिनेश्वर भगवन्त के वचन रूपी औषध के लिए अयोग्य होता है । चरमावर्त काल में तो जीव के अन्दर तथाभव्यत्व के परिपाक से धर्म बीजों का बोना, उनकी वृद्धि और पोषण आदि के लिए योग्य भी बनता है । इसलिए यहां अपुनर्बन्धक आदि अवस्था जिस काल में प्रगट होती है उस चरमावर्तकाल के अन्दर व्यवहार नय से श्री जिन वचन रूपी औषध के लिए योग्य बनना कहा है । निश्चय नय से तो ग्रन्थी भेद होता है और उसके बाद का काल योग्य जानना । क्योंकि ग्रन्थी भेद के बाद श्री जिन वचन रूप आज्ञा का पालन सदा होता है और इससे आरोग्यता प्रगट होती है ।

यहां अपुनर्बंधक आदि कहने से मार्गाभिमुख-मार्गपतित भी समझना । उसका स्वरूप इस तरह है - मार्ग अर्थात् चित्त की सरलता। जैसे सर्प का बिल सीधा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होता है इसलिए वक्र गति वाला सर्प भी बिल में सीधा चलता है, वैसे ही जीव के भी चित्त की वक्रता को दूर करने वाला, उत्तरोत्तर विशिष्ट गुण प्राप्ति करने- वाला, स्व-अभिलाषा जन्य कर्म का क्षयोपशम विशेष हो- उसे मार्ग कहते हैं। अर्थात् १- क्षयोपशम में हेतुभूत श्रद्धा की शुद्धि, उससे २- विमल, विमलतर तथा विमलतम क्षयोपशम की शुद्धि और ३- उसके फल रूप उत्तरोत्तर गुण वृद्धि रूप आत्मा की विशिष्ट अवस्था - आत्म शुद्धि, इन तीन प्रकार से सुखासिका को (आनंद अनुभव रूप आत्म स्वरूप को) मार्ग कहते हैं ।

इस तरह क्षयोपशमादि रूप मार्ग प्राप्त करने की योग्यता वाला- उसको प्रारंभ करने वाला जीव मार्गाभिमुख कहलाता है और वह क्षयोपशमादि भावों को प्राप्त करने वाला जीव मार्ग पतित-मार्ग में चलने वाला कहलाता है । इन दोनों अवस्थाओं की पूर्व अवस्था अपुनर्बन्धक अवस्था है। ये दोनों अवस्थाएँ चरम पुद्गल परावर्त काल में ही होती हैं । इस अवस्था वाले चरमावर्त काल को भी व्यवहार नय से श्री जिनेश्वर के वचन को औषध रूप बना कर कर्म रोग को घटाने के लिए योग्य काल कहा है । निश्चय नय की अपेक्षा से तो चरम यथा प्रवृत्ति करण रूप मार्गानुसारिता के अन्त में होने वाले अपूर्व करण और अनिवृत्ति करण द्वारा जब ग्रन्थि भेद और सम्यकत्व प्राप्ति हो उस समय और उसके बाद का काल ही वीतराग वचन को कर्म रोग की औषध रूप में बनाने के लिए योग्य काल कहा है । क्योंकि ग्रन्थि भेद के बाद ही जीव की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की उचित जो-जो विधि - निषेध अर्थात् करणीय-अकरणीय शास्त्र में बतलाया है, उसको सर्वदा पालन करने की शक्ति उस जीव में प्रगट होती है। उसके योग से उन शास्त्र वचनों का बराबर पालन करने से वचन-औषध द्वारा संसार की कारणभूत कर्म व्याधि का निरोध होता है अर्थात् आत्मा की आरोग्यता प्रगट होती जाती है व्यवहार से अपुनर्बन्धक आदि दशा में भी वचन औषध का प्रयोग मान्य है, फिर भी उस काल में तथाविध आत्म शुद्धि के अभाव में अनायोग की अधिकता होने से उन शास्त्र वचनों से विशिष्ट सूक्ष्म बोध नहीं होता और ग्रन्थि भेद के बाद तो मोहनीय कर्म की बहुत मंदता के परिणाम से अति निपुण बुद्धि प्रगट होती है । उसके बल से उन कार्यों में सूक्ष्म बुद्धि पूर्वक प्रवृत्ति करने से जीव कर्म व्याधि का विच्छेद कर सकता है। ग्रन्थि भेद का ही महत्त्व बताने के लिए उपदेश पद की गाथा ४३४ कहते हैं कि -

इयरा वि हंदि एयंमि, एस आरोग्ग साहगो चेव।
पुग्गलपरि अट्टद्धं, जमूण मे अंमि संसारो।।४३४।।

अर्थात् - 'इतरथा अर्थात् विधि का निरतिचार सतत पालन न होने पर भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निश्चय से श्री जिनेश्वर के वचन रूपी औषध ग्रन्थि भेद के बाद के काल में आत्मा के कर्म रोग का नाशक बनता ही है। कहा है कि 'मोक्ष पद देने वाले सम्यकत्व रत्न को अंतर्मुहूर्त्त तक भी प्राप्त करने के बाद, यदि वह चला जाय तो भी जीव संसार समुद्र में लम्बे काल तक भ्रमण नहीं करता। तो फिर दीर्घ काल तक सम्यकत्व को धारण करने वाले जीव के लिए तो कहना ही क्या ? अर्थात् उनको तो बहुत अल्प काल में ही मुक्ति प्राप्त होती है क्योंकि – ग्रंथिभेद करने के बाद अर्थात् सम्यकत्व प्राप्त होने के बाद श्री तीर्थंकरादि की आशातना आदि महापाप कर्मों को करने वाले जीवों को भी अर्द्धपुद्गल परावर्त काल से भी कुछ कम काल तक ही संसार के अन्दर भ्रमण करना पड़ता है, इससे अधिक नहीं होता। श्री विंशिका नामक ग्रन्थ में भी, चरमावर्तविंशिका में कहा है कि –

अचरमो परिअट्टेसु, कालो भव बाल कालमो भणिओ।
चरमो अधम्म जुव्वण, कालो तह चित्त मे ओत्ति ॥१॥

ता बीअ पुव्व कालो, णेओ भव बाल काल एवेह।
इयरो उ धम्म जुव्वणा-कालो विहिलिंगम्मुत्ति ॥२॥

अर्थात् 'अचरमपुद्गल परावर्त रूप अनंत काल उस संसार का कारणभूत होने से 'संसार वर्धक बाल काल' कहा गया है। चरमपुद्गल परावर्त काल धर्म साधना का काल होने से 'धर्म यौवन काल' कहा गया है। जीवों का 'भव्यत्व' – यहाँ विचित्र काल, कर्म, भवितव्यता आदि भिन्न-भिन्न कारण होने से 'तथा भव्यत्व बनता है। इस कारण से चरमावर्त काल में भी जीवों के लिए मोक्ष प्राप्ति के अलग-अलग भेद होते हैं। इसका विशेष स्वरूप आगे १६ वीं गाथा के विवेचन में इस ग्रन्थ में कहा जायेगा। इसलिए चरमावर्त में भी धर्म-योग बीज की प्राप्ति के पहले के काल को तो संसार-बाल काल ही समझना और बीज प्राप्ति के बाद का काल धर्म यौवन काल समझना। यह भेद उसके आचार और स्वभाव से ऊपर समझना।' यहां प्रश्नकार प्रश्न करते हैं कि –

गलमच्छ भव विमोअग-विसन्न भोईण जारिसो एसो।
मोहा सुहो वि असुहो, तत्फल ओ एवमेसो वि ॥१८८॥

अर्थात् 'मछली को फंसाने के लिए जाल में लगे हुए लोहे के कांटे पर मांस का टुकड़ा होता है। उसको खाने के लालच से ज्यों ही मछली आती है त्यों ही वह फंस जाती है और वह मछली मार के हाथ में आ जाती है इस प्रयोग को 'गल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मच्छ' कहते हैं। कुशास्त्र श्रवण से कौआ, सियार, चींटी, मक्खी आदि दु:खी जीवों को सुखी करने की बुद्धि से मार डालने में जो लोग धर्म मानते हैं अर्थात् दु:खी जीवों को इस संसार के दु:खों से छोड़ने की बुद्धि से मार डालना 'भव विमोचक' कहलाता है और भूख के दु:ख से छुटकारा प्राप्त कराने के लिए जहर मिश्रित भोजन करवाना वह 'विषान्नभोजी' कहलाता है। इन गलमच्छ, भवविमोचक या विषान्नभोजी जीवों के अंत: परिणाम शुभ होते हैं, परन्तु अज्ञान योग से उस का फल दारुण होने से जैसे अशुभ हैं वैसे यहाँ भी मोह, अज्ञानता तथा जिन आज्ञा पालन करने के परिणामों का अभाव आदि होने से मिथ्या दृष्टि जीव को परिणाम शुभ होने पर भी फल अशुभ ही है।'

पूज्य आचार्य श्री हरिभद्रसूरि जी महाराज के वचन के अनुसार तो मिथ्यादृष्टियों की बुद्धि विपरीत होने से उसके परिणाम अच्छे होने पर भी अशुभ फल जनक होने से अशुभ ही है तो फिर मिथ्यादृष्टि समान आदि धार्मिक जीव उपदेश के लिए योग्य कैसे हो सकता है? उसका समाधान ग्रन्थकार कहते हैं कि - आदि धार्मिक जीव में मिथ्यात्व होने पर भी 'माध्यस्थ' गुण होने से श्री जिनेश्वर भगवान ने उसे धर्म उपदेश के योग्य कहा है। क्योंकि उसमें रागद्वेष की मंदता के कारण प्रगट हुए पूर्व कहे अनुसार सर्वगुण के बल से उसमें माध्यस्थ-निष्पक्षपात गुण प्रगट होने से उसे धर्म उपदेश के योग्य कहा है। आगम शास्त्रों में भी मध्यस्थ को धर्म उपदेश के लिए योग्य बतलाया है। उपदेश रत्नाकर की तीसरी तरंग में कहा है कि - 'रागी, द्वेषी, मूढ़ और पूर्व व्युद्ग्राहित अर्थात् दूसरों से भ्रमित-भरमाया गया। इस तरह चार प्रकार के जीव उपदेश के लिए अयोग्य हैं और मध्यस्थ-निष्पक्षपाती जीव धर्म श्रवण करने के लिए योग्य है ।

इस तरह आप श्री हरिभद्र सूरि जी के जिस कथन से अयोग्यता कहते हो, वह कथन तो कदाग्रह से ग्रस्त-अभिग्रहिक, मिथ्यादृष्टि जीव की अपेक्षा से कहा गया है। अर्थात् जो जीव दुराग्रही है वह धर्म श्रवण के लिए अयोग्य है। इस तरह वहाँ कहने से वह वचन मध्यस्थ - अपुनर्बन्धक जीव के लिए धर्म श्रवण की योग्यता का बाधक नहीं है- ऐसा समझना। यहाँ कहने का सार यह है कि- अपने पक्ष में अति आग्रह वाले कई मिथ्यादृष्टि जीवों को प्रबल मोहनीय कर्म का उदय होता है तथापि अपने मान्य शास्त्र सुनने आदि से 'राग द्वेष की मंदता रूप' मोह का बहुत सारा उपशम भी उसमें हो सकता है। यह उपशम होने में पापानुबन्धी पुण्य हेतु रूप होने से उसका परिणाम अति दुष्ट आता है क्योंकि - ऐसे जीव को पुण्याभास रूप

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पापानुबन्धी पुण्य के उदय से सुख मिलता है, उस समम वह सुख में मूढ़ बन जाता है । जब पापानुबन्धी पुण्य का विलय हो जाता है तब वह अवश्य नरकादि दुर्गति को प्राप्त करता है। इस तरह परिणाम दारुण होने से उस जीव की ऐसी उपशम वाली प्रवृत्ति भी असत् प्रवृत्ति रूप ही है परन्तु गुणवान पुरुषों की हित शिक्षा को स्वीकार करने की योग्यता होने के कारण उसमें सत्य की जिज्ञासा प्रगट होती है । उसके प्रभाव से मोह की मंदता होती है । इससे रागद्वेष की शक्ति के घात रूप जो उपशम है- अर्थात् निमित्त मिलने पर भी राग द्वेष से बच जाने की आत्मा की शक्ति रूप शान्त परिणाम होते हैं । वह सत्य का पक्षपाती होने से दुराग्रह के अभाव से सत्यप्रवृत्ति रूप ही है। अर्थात् ऐसे उपशम आत्मा की प्रवृत्ति सत्प्रवृत्ति रूप ही है ।

फिर शिष्य प्रश्न करता है कि 'आदि धार्मिक में माध्यस्थ्य के कारण धर्म श्रवण की जो योग्यता बतलाई है वह अपने मत-सिद्धान्त को मानने वाले किसी एक पक्ष के आदि धार्मिक में घट सकता है, परन्तु आदि धार्मिक अलग-अलग मत वाला होने से भिन्न-भिन्न आचार वाले वे अपने-अपने सिद्धान्त में स्थिर है' उन सभी में माध्यस्थता कैसे घट सकती है ? और माध्यस्थता के अभाव उनमें उपदेश सुनने की योग्यता भी कैसे हो सकती है ? यहाँ आचार्यश्री जी समाधान देते हैं कि - उनमें योग दृष्टि प्रगट होने से उनका 'मिथ्यात्वगुणस्थान' मिथ्यात्व के सद्भाव में भी गुण प्रापक होने से सार्थक है, और इससे मिथ्यात्व होने पर भी वे धर्म श्रवण के लिए योग्य है, क्योंकि मिथ्यात्व होने पर भी योग दृष्टि का बल प्रगट हुआ है । उसके बल से वे सत्य के शोधक, निष्पक्षपाती और अद्वेषादि गुणवाले होते हैं, तथा सतत शुभ प्रवृत्ति करने पर भी थकते नहीं हैं । इससे उनके संवेग में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है और इस संवेग वृद्धि की तार-तम्यता के कारण प्रगट होती मार्गाभिमुखता रूप, ईख, ईख का रस, ईख का पकाया हुआ गाढ़ा रस और गुड़ की मिठास की जैसे उनमें उत्तरोत्तर अधिक गुणवाली मित्रा, तारा, बला और दीप्रा ये चार प्रकार की योग दृष्टियां क्रमशः प्रगट होती हैं । उत्तरोत्तर विशिष्ट गुणप्राप्ति रूप इन चार दृष्टियों में यथाक्रम सविशेष आत्म शुद्धि होती है । पातंजल योग दर्शनकार भगवान पंतजलि तथा भदन्त भास्कर आदि अन्य योगियों ने भी इस विषय में इस तरह माना है। उन दृष्टियों का स्वरूप योग दृष्टि समुच्चय ग्रन्थ के आधार पर संक्षेप से यहाँ देते हैं। वह इस प्रकार है -

१. **'मित्रा'** नाम की दृष्टि में बोध स्वल्प मात्र होता है तथा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग कहे हैं । अहिंसा,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अकिंचनता ये पांच अणुव्रतों अथवा महाव्रतों को अन्य योगियों ने 'यम' कहा है । इस यम रूपी योग का प्रथम अंग जीव को यह प्रथम मित्रा दृष्टि प्राप्त होती है अर्थात् देश से या सर्व से पांच व्रत (यम) मित्रा दृष्टि वाले आत्मा में प्रगट होते हैं । देव, गुरु आदि के कार्यों में लगातार प्रवृत्ति करने पर भी वह थकता नहीं है। वह देव, गुरु के प्रति कुशल मन-वचन-काया के योग से संसार के प्रति सहज वैराग्य और शास्त्र लिखना, लिखाना, पढ़ना आदि योग के बीज का आत्मा में बोना । इस दृष्टि में होता है। इन बीजों की बातें सुनने में भी उसे अति प्रीति होती है और इससे संत पुरुषों की संगति में रहता है। इस तरह इस दृष्टि वाले जीवात्मा में अध्यवसाय रूप आखिर यथा प्रवत्तिकरण के बल से कर्ममल को बहुत कम कर देते हैं, जिससे समस्त गुण प्रगट होते हैं । इस हेतु से ही आखिर यथा प्रवृत्तिकरण फिर नियम से अपूर्वकरण प्राप्त होने से आखिर यथा प्रवृत्तिकरण को भी कारण में कार्य का उपचार करके अपूर्वकरण कहा है। इस विषय में योग दृष्टि समुच्चय में कहा है कि –

अपूर्वासन्न भावेन, व्यभिचार वियोगतः ।
तत्त्व तोऽपूर्व मेवेदमिति योग विदो विदुः ।।३६।।
प्रथमं सद्गुण स्थानं, सामान्ये नोपवर्णितम् ।
अस्यां तु तदवस्थायां, मुख्यमन्वर्थ योगतः ।।४०।।

अर्थात् 'आखिर यथा प्रवृत्तिकरण और अपूर्वकरण में अल्पकाल का ही अन्तर होने से और यहां से पुनः वापित पडना रूप विपर्यास टल जाने से योगी इस चरम यथा प्रवृत्ति करण को भी अपूर्व करण ही मानते हैं । सामान्य रूप से शास्त्र के अन्दर मिथ्यात्व दशा में भी जो पहला गुण स्थानक कहा है, वह मिथ्यात्व का उदय होने पर भी इस अवस्था में उन गुणों की प्राप्ति रूप होने से उसकी यथार्थता होता है ।''

२. **'तारा'** नाम की दूसरी दृष्टि में पहली दृष्टि की अपेक्षा बोध कुछ स्पष्ट होता है और शोच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर का ध्यान – ये पांच 'नियम' हैं । इन्हें योग की दूसरी भूमिका रूप योग का दूसरा अंग कहा है, उस जीव में इस दृष्टि से प्रगट होता है। इससे आत्मा में से कदाग्रह दूर होता है, सत्य गुण रूपी तत्त्व को जानने की इच्छा होती है और योग का स्वरूप जानने सुनने की अटूट प्रीति का जन्म होता है। इसके उपरांत योग को प्राप्त करने, भाव योगियों की सेवा के लिए आत्मा यथाशक्य तत्पर रहता है । सर्वत्र औचित्य में कमी नहीं आने देता । इतना ही नहीं परन्तु सदाचार के पालन में आने वाली कमी उसे महाभय रूप लगती है और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अधिकाधिक योग प्रवृत्ति करने की चाहना होती है। इस दृष्टि में रहने वाले जीव को अपनी बुद्धि कल्पना में विसंवाद - शंकायुक्त दिखती है । इससे और मोक्षार्थियों की समस्त प्रवृत्तियों को यथार्थ समझने की अपनी शक्ति नहीं होती। इस तरह वह शिष्ट पुरुषों के आचरण को शुद्ध ही मानता है, उनके अनुसार आचरण करता है, परन्तु अपनी कल्पना के विसंवाद को टिकने नहीं देता योग । दृष्टि समुच्चय गाथा ४६ वीं में कहा है कि:-

"नास्माकं महती प्रज्ञा, सुमहान् शास्त्र विस्तरः ।
शिष्टाः प्रमाणमिह तदित्य स्यां मन्यते सदा ॥४६॥

अर्थात् 'हमारी बुद्धि विशाल नहीं है और शास्त्र तो अति विशाल हैं, इसलिए जैसा शिष्ट पुरुष कहते हैं उसके अनुसार चलना चाहिए । इस तरह इस दृष्टि वाला हमेशा मानता है।' अधिक गुणों में विनय, अपने बड़े गुणों को अल्प मानना, संसार के भय से दु:खी होना, इत्यादि भाव इस दृष्टि में प्रगट होते हैं।

३. '**बला**' नाम की तीसरी दृष्टि में जीव का बोध दृढ़ होता है। यहाँ असत् वस्तु की तृष्णा रुक जाने से उसमें स्थिरता गुण प्रगट होने के साथ में योग का तीसरा अंग भूत 'आसन' नामक गुण प्रगट होता है। आसन अर्थात् गोदोहिकासन, उत्कटासन, पद्मासन, वज्रासन, वीरासन, पर्यंकासन, भद्रासन आदि शास्त्रों में बतलाये हुए अंग रचना रूप भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्रायें। ऐसे आसन के बल से वह चित्त की स्थिरता साध सकता है। इससे साधक को जो आसन अपने चित्त की स्थिरता के लिए उपयोगी दीखे उस आसन की साधना इस दृष्टि में वह करता है। तत्त्व जानने की इच्छा से आगे बढ़कर युवावस्था वाला शरीरादि से सुखी चतुर पुरुष अपनी उत्तम स्त्री के साथ में बैठकर दिव्य संगीत सुनने में जैसी प्रीति रखता है, इससे भी अधिक प्रीति पूर्वक वह तत्त्व श्रवण करता है। योग के विषयों में उसे आकर्षण होता है अर्थात् योग साधना के लिए उसमें उत्कंठा जागृत होती है और चित्त में स्थिरता प्रगट करने से योग साधना के उपायों में कुशल बनता है। इस दृष्टि में एक क्रिया करते हुए बीच में दूसरी क्रिया करने रूप क्षेप दोष नहीं होता। कुएं में पानी आने के मार्ग रूप झरणों के समान यहां तत्त्व श्रवण की ऐसी तीव्र इच्छा जागृत होती है कि तत्त्व सुनने के योग से चौथी दृष्टि में सुन्दर बोध प्रगट होता है ।

४. '**दीप्रा**' नामक चौथी दृष्टि में 'प्राणायाम' नाम के योग के चौथे अंग की प्राप्ति होती है। शरीर के भिन्न-भिन्न विभाग में रहे प्राण, अपान, उदान और व्यान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नाम की वायु हैं जो कि वर्ण से क्रमशः हरी, काली, सफेद और लाल और भिन्न रंग वाली होती हैं। उस वायु की गति पर विजय प्राप्त करना। उसे प्राणायाम कहते हैं। उसके तीन प्रकार हैं- १. शरीर के स्थान में वायु खाली करना रेचक है। २. उस स्थान में भरना पूरक है और ३. उस स्थान की वायु रोककर रखना उसे कुंभक कहते हैं। ये तीनों शरीर में वायु की गति के विजय रूप द्रव्य प्राणायाम कहलाते हैं। और उसके बल से आत्मा की बहिरात्मा दशा का त्याग रूप रेचक, अंतरात्मदशा के प्रकाश रूप पूरक और प्रगट हुई अंतरात्म दशा में रमणता रूप कुंभक है। इन तीन प्रकार के भाव प्राणायाम की प्राप्ति यहां चौथी दृष्टि में जीव को होती है। तथा प्रकार के प्रशांत रस की प्राप्ति होने से योग की क्रिया के समय दूसरी क्रिया में उपयोग जाने से 'योगोत्थान दोष' भी यहाँ मिट जाता है। तीसरी दृष्टि में जागृत हुई तत्त्व श्रवण की तीव्र इच्छा का फल रूप में यहाँ तत्त्व श्रवण का लाभ मिलता है और उस श्रवण से धर्मतत्त्व को प्राण से अधिक गिनता है। अर्थात् धर्म के लिए प्राण देता है, परन्तु उसे छोड़ता नहीं, तथा तत्त्व के श्रवण से सुनाने वाले गुरु जन के प्रति अति भक्ति जागृत होने से समापत्ति आदि से उसे श्री तीर्थंकर परमात्मा का दर्शन होता है।

अर्थात् ध्यान अवस्था में अंतरात्मा ध्याता है, परमात्मा ध्येय है और अंतरात्मा की परमात्मा स्वरूप में एकाग्रता होना ही उसे ध्यान कहते हैं। यह ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों एकाकार बन जाते हैं, उसे समापत्ति कहते हैं। जैसे निर्मल स्फटिक रत्न में दूसरी वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही अंतरात्मा में परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है - उसे समापत्ति कहते हैं। उसे ही श्री तीर्थंकर परमात्मा के दर्शन कहते हैं अथवा अपनी आत्मा जो शुद्ध चिदानंदमय परमात्मा रूप है, उसका ध्यान में दर्शन होता है - वह आत्म दर्शन कहलाता है।

१. मित्रा दृष्टि में बोध घास की अग्नि के समान बहुत कम प्रकाश करने वाला और जल्दी बुझने वाला होता है। यह बोध-ज्ञान कार्य कारण काल तक टिक नहीं सकता। इसके अभाव में इष्ट कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। बोध-ज्ञान का बल अल्प होने से धर्म बीज़ का संस्कार -धारणा भी अच्छी तरह से नहीं हो सकती और इससे क्रिया में कमी होने से भाव चैत्य वंदनादि अनुष्ठान का योग आत्मा को प्रथम दृष्टि में नहीं होता।

२. तारा दृष्टि में बोध-ज्ञान गोबर की अग्नि के समान होने से उसे भी मित्रा दृष्टि के समान ही कार्य साधना में असमर्थता होती है। इस बोध में भी तात्त्विक बल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

या स्थिरता नहीं होने से क्रिया करने के समय उस बोध का स्मरण नहीं सा रहता है, जिससे क्रिया यथार्थ नहीं हो सकती है। इस तरह दूसरी दृष्टि में भी भाव चैत्य वंदनादि अनुष्ठान यथार्थ स्वरूप में नहीं हो सकता है।

३. बला दृष्टि में बोध लकड़ी की अग्नि के समान है अर्थात् पूर्व की दो दृष्टि से कुछ विशिष्ट प्रकाश टिक सकता है और दृढ़ होने से कार्य काल में स्मरण अच्छा होता है, परन्तु वह स्मरण भाव चैत्य वंदनादि करने में केवल प्रीति कराता है। इससे उस विषय में प्रयत्न होने पर भी अधूरा होता है।

४. दीप्रा दृष्टि में बोधज्ञान दीपक की ज्योति समान है। पूर्व की तीन दृष्टि से अधिकतर स्थिति वाला है और अधिक बलवान होता है। इससे कार्यकाल में स्मरण भी सुन्दर होता है। इससे जीव की अवस्था में चैत्यवंदनादि अनुष्ठान अच्छे होते हैं। फिर भी वह भाव स्वरूप नहीं है, परन्तु द्रव्य स्वरूप होता है, क्योंकि ग्रंथिभेद के अभाव में तथा प्रकार से प्रवृत्ति में भेद रहने से अध्यवसाय में – भाव में भी भेद पड़ता है। योगी जन इस चौथी दृष्टि को प्रथम गुण स्थानक श्रेष्ठ में श्रेष्ठ कक्षा मानते है।

इस तरह कहे अनुसार योग दृष्टि समुच्चय के ग्रन्थ के आधार पर मिथ्यात्व अवस्था में भी जीव को माध्यस्थ गुण में से प्रगट होती मित्रा, तारा, बला, और दीप्रा दृष्टियों के योग से गुण स्थानकता की प्राप्ति होती है। इससे उसकी प्रवृत्ति गुणों के अनुसार होती है और इससे ही उसे दुराग्रह नहीं होता। जीव का यह अनाभिग्राहिकता अर्थात् दुराग्रह का अभाव है। यही धर्म श्रवण की योग्यता का सुन्दर कारण है, यह निश्चित रूप में समझना। इस विषय पर ललित विस्तरा में कहा है– **''इत्थं चानाभोगतोऽपि मार्गगमनमेव सदन्धन्यायेन, इत्यध्यात्म चिन्तका :।''** अर्थात् 'इस तरह अच्छे भाग्यशाली का, अन्धे के समान नहीं जानते हुए भी, सत्य मार्ग में प्रयाण होता है– वह श्रेष्ठ ही है, ऐसा अध्यात्म वादियों का चिन्तन है।' इस वचन के अनुसार यदि अज्ञानी मिथ्या दृष्टि में भी मिथ्यात्व की मंदता होने से माध्यस्थता प्रगट हुई हो, और तत्त्वज्ञान की इच्छा आदि गुणों के योग से मार्ग के अनुसार ही चलता हो, तो उसे धर्म श्रवण के लिये योग्य बतलाया है। उससे भी विशेष गुण प्रगट होने से दुराग्रह दूर हो जाने से जो अनाभिग्रहिक बना है, वह तो धर्म श्रवण की योग्यता वाला अवश्य बनता है, उसमें संदेह का लेश मात्र भी अवकाश नहीं रहता। इस तरह आदि धार्मिक जीव धर्म सुनने के लिए योग्य है। ऐसा बतलाकर अब 'उपदेश देने वाले गुरु महाराज किस विधि पूर्वक उपदेश दें?' वह कहते हैं –

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सा च संवेग कृत्कार्या, शुश्रुषोर्मुनिना ।
बालादिभावं संज्ञाय, यथा बोधं महात्मना ।।१६।।

अर्थ - मुनि को उस धर्म उपदेश सुनने की इच्छा वाले आत्मा को संवेग उत्पन्न हो – इस तरह श्रेष्ठ उपदेश देना चाहिए। अर्थात् गीतार्थ गुरु को अपने ज्ञान अनुसार श्रोता की बाल बुद्धि आदि भाव जानकर, उसे संवेग प्रगट हो इस तरह उपदेश देना चाहिए।

भावार्थ - जो धर्म उपदेश श्रोता के मन में संवेग (वैराग्य) प्रगट करे, ऐसा उपदेश देना चाहिए। संवेग का लक्षण इस प्रकार है- 'जीव के पाप कर्म का जनक हिंसादि आश्रव जिसमें न हों ऐसा प्रथम (१) सत्धर्म। राग द्वेष-मोह आदि अंतरंग शत्रुओं को पराजित करके सर्व दु:खों से मुक्त बने हो ऐसे दूसरे (२) शुद्ध देव। और सर्व प्रकार से ग्रंथि समूह अर्थात मूर्च्छा के कारणभूत विविध परिग्रह से जो मुक्त हों ऐसे तीसरे (३) निर्ग्रन्थ साधु। इन तीनों पर निश्चल शुद्ध राग हुआ हो – वह संवेग कहलाता है।' इस प्रकार संवेग जीव में उत्पन्न हो ऐसा उपदेश देना चाहिए। वह उपदेश कौन दे सकता है ? उसे कहते हैं –

गीतार्थ के अतिरिक्त अन्य को धर्म उपदेश देने का अधिकार नहीं है। इसलिए गीतार्थ साधु को उपदेश देना चाहिए। निशीथ सूत्र में कहा है कि "जिसने निशीथ अध्ययन का अभ्यास किया है, वह गीतार्थ साधु प्रकल्प यति कहलाता है। उसे संसार के दु:ख का नाश करने वाले और भव्य आत्म रूपी पुंडरीक कमलों का विकास अर्थात् बोध कराने वाले श्री जिनेश्वर कथित धर्म का उपदेश देना चाहिए।" श्रेष्ठ अर्थात् अन्य दर्शन वालों से अतिशय वाले जैन धर्म की महत्ता पूर्णरूप में समझ में आए, इस तरह उपदेश देना चाहिए। वह भी सभी को नहीं परन्तु जो सुनने के लिए आया हो, सुनने की इच्छा रखता हो उसे ही ऐसा उपदेश देना चाहिए। क्योंकि इच्छा के बिना उपदेश लाभदायक नहीं होता, हानि होती है। इसलिए धर्म अर्थी श्रोता को भी – उसकी बुद्धि, रुचि आदि भाव अथवा उसका स्वरूप तलाश कर उसे लाभ हो – इस तरह उपदेश देना चाहिए। इसलिये कहा है कि जीव के बालत्व को, मध्यम बुद्धि वाले को या समझदार को अच्छी तरह जानकर उपदेश देना चाहिए। जीव की किस प्रकार की रुचि है ? वह बाल, मध्यम और पंडित बुद्धि रूपी तीन प्रकार के धर्मार्थी को पहचाने। उसके लिए षोडश प्रकरण में १-२ में कहा है कि–

बाल: पश्यति लिंग, मध्यम बुद्धिर्विचार यति वृत्तम ।
आगम तत्त्व तु बुध: परीक्षते सर्व यत्नेन ।।१।।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् 'बालक सदृश बुद्धिवाला जीव उपदेश देने वाले का वेश आदि बाह्य दिखावा देखकर आकर्पित होता है। उसके आचार तक उसका लक्ष्य नहीं पहुँचता। मध्यम बुद्धिवाला आगे बढ़कर धर्म कथन करने वाले का आचार सदाचार देखकर आकर्पित होता है और पंडित बुद्धि वाला तो धर्म कथन करने वाले के बाह्य वेश आडम्बर या उसके आचरण को गौण कर, उसके उपदेश दिये धर्म की पूर्ण आदर पूर्वक परीक्षा करता है। इस तरह बाह्य वेपादि रुचि भेद से श्रोताओं के भी बाल, मध्यम और पंडित भेद बताये गये हैं। इस तरह रुचि द्वारा बालक आदि के लक्षण बताये हैं। उसके आचरण रूपी लक्षण को बतलाते हुए कहते हैं कि –

बालो ह्य सदारम्भो, मध्यम बुद्धिस्तु मध्यमाचारः ।
ज्ञेय इह तत्त्व मार्गे, बधुस्तु मार्गानुसारी यः ॥

अर्थात् "निषेध कार्यों को करने वाला और असद् आरंभ वाला हो उसे निश्चय ही प्रथम बाल बुद्धि कहते हैं। लाभ – हानि का विचार किए बिना केवल सूत्र में कही अनुसार क्रिया करने में ही संतोष मानने वाला, अर्थात् इस क्रिया में विशेष लाभ है, इस क्रिया में अल्प लाभ है, आदि विचार करने की शक्ति रहित हो और सामान्य आचार वाला होने से दूसरा मध्यम बुद्धि वाला कहा गया है एवं ज्ञान–दर्शन–चारित्र रूप मोक्ष मार्ग के अनुसार हो उसे मोक्ष मार्ग– धर्म साधना में तीसरा पंडित जन समझना।" इस प्रकार श्रोता की रुचि और आचार से उसे पहिचान कर उसके अनुसार उपदेश देना चाहिए– यह निश्चय हुआ। अब बाल बुद्धि आदि जीव को कैसा उपदेश हितकर होता है वह बतलाते हैं –

१. बालक जैसी बुद्धिवाले जीव को मुख्यतया बाह्य आचार के समान होता है जैसे कि – 'लोच करना, जूते चप्पल आदि पहनना नहीं, पृथ्वी पर केवल संथारा– एक आसन पर शयन करना– परन्तु पलंग, तलाई आदि उपयोग नहीं करना, रात्रि के दूसरे–तीसरे प्रहर में ही सोना– इससे अधिक नहीं सोना, ठंडी–गरमी आदि सहन करना, छट्ठ अट्ठम आदि जैन दर्शन में प्रसिद्ध अनेक प्रकार के बाह्य तप जो अल्प सत्त्व वालों को अथवा दुर्बल शरीर वालों को दुःशक्य हैं ऐसे तप करना, उपधि – वस्त्र पात्र आदि अल्प सामग्री रखना, उसमें भी शास्त्र कथित 'उद्गमादि' दोष नहीं लगाना, बयालीस दोष रहित निर्दोष आहार पानी से निर्वाह करना, उसमें श्री जैन आगम प्रसिद्ध द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भिन्न–भिन्न प्रकार के नियम – अभिग्रह करना। घी, गुड़, शक्कर, तेल, दही, दूध या मिठाई आदि इष्ट–मिष्ट आहार तथा मेवा, फूल फलादि नहीं खाना, उपवासादि पारणे में भी केवल एक सिक्थ – एक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ही दाने से अथवा आयंबिल, एकासना आदि से पारना करना। एक क्षेत्र में स्थिर नहीं रहना, अनियत - अप्रतिबद्ध रूप में ग्रामानुग्राम नौकल्पी विहार करना, हमेशा काउस्सग्ग करना, आतापना लेना इत्यादि कष्टों को सहन करना।' आदि बाह्य धर्म क्रिया सविशेष करने से जीव मोक्ष को प्राप्त करता है। ऐसा समझना और उपदेशक को भी स्वयं उसके सामने उस आचरण का सम्यक् पालन करना चाहिए।

२. मध्यम बुद्धि वाले श्रोता को इर्या समिति आदि साधु के सदाचार का, जो कि राग द्वेष मोह रहित तीन कोटि शुद्ध साधु व्यवहार अथवा स्वयं सचित का अचित करना, पकाना, या खरीद करना, दूसरों द्वारा सचित से अचित करवाना, पकवाना या खरीद करवाना तथा इन तीनों की अनुमोदना करना- इन दोषों के त्याग से तीन कोटि परिशुद्ध बयालीस दोष रहित आहार से निर्वाह करना इत्यादि समझाना। कष छेदन और ताप से शुद्ध जिन-आगम की महत्ता समझाना। अथवा प्रथम वय, मध्यम वय और अन्तिम अवस्था में हितकारक साधु की क्रियाओं को समझाना जैसे कि मोक्षार्थी साधुओं के लिए हमेशा माता के समान हितकारी इर्या समिति आदि पांच समिति और मनोगुप्त आदि तीन गुप्ति, यह आठ प्रवचन माता हैं इन्हें नहीं छोड़ना चाहिए। योग शास्त्र प्रथम प्रकाश श्लोक ४५ में कहा है कि 'साधुओं में संयम रूप गात्र (पुत्र) को जन्म देने वाली, उसका पालन करने वाली और उसकी अशुद्धि रोकने वाली होने से ये आठ प्रवचन (संयम) की माता कही हैं।' इनका शुद्ध पालन करना। आठ प्रवचन माता का पालन करने वाले साधु को कभी भी संसार का भय नहीं होता क्योंकि ऐसे साधु को 'मांडली में बैठकर गुरु के पास में आगम वाचना लेना आदि' शास्त्र में कही विधि अनुसार प्राप्त किया ज्ञान भावी अपायों को नाश करने वाला होने से अत्यंत फल देने वाला होता है और आठ प्रवचन माता का पालन नहीं करने वाले साधु को ज्ञान भार-भूत बन कर संसार में परिभ्रमण कराता है। और, अहो! यह परमोपकारी गुरुदेव मेरे संसार दुःख के नाशक है इत्यादि कृतज्ञता - पूज्यभाव पूर्वक उनका बहुमान-सेवा आदि करने से महापुण्य उपार्जन होता है। उसके परिणाम में अन्य जन्मों में सर्वज्ञ दर्शन की और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए साधु को अवश्य गुरु आज्ञा का पालन करना चाहिए। गुरु आदि का आंतरिक प्रीति रूप बहुमान करना चाहिए इत्यादि साधु के आचारों से मोक्ष होता है। इस तरह साधु-आचारों में बहुमान उत्पन्न हो, इस प्रकार उपदेश देना चाहिये।

३ - पंडित-बुधजन श्रोता को तो भाव प्रधान तत्त्व समझाना चाहिए अर्थात् जिनाज्ञा का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पुरुष सापेक्ष उत्सर्ग अपवाद से यथायोग्य कपट

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रहित रूप से पालन करना चाहिए । धर्म और जिनाज्ञा की विराधना करना अधर्म है– धर्म का यही सार है । आज्ञा का पालन करना– यही धर्म का सर्वस्व है। वीतराग स्तोत्र प्रकाश १६ में कहा है 'हे वीतराग! आपकी सेवा से भी आप की आज्ञा का पालन करना उत्कृष्ट है क्योंकि जीव को आप की आज्ञा का पालन करना मोक्ष का कारण और आज्ञा का भंग करना संसार का कारण होता है।' क्योंकि मन को हिंसा आदि पापों से रोकने वाला और स्वाध्याय–ध्यानादि में जोड़ने वाला एक जिन वचन ही है। इस श्री जिन वचन में ही धर्म है, इसलिए श्री जिनेश्वर देव का वचन ही मोक्ष का अनन्य साधन है। जिनाज्ञा बिना अनुष्ठान तो प्राण बिना शरीर है, जिनाज्ञा ही प्रत्येक क्रिया का प्राण है। (तत्त्व से यदि श्री जिन वचन हृदय में हैं तो श्री जिनेश्वर भगवान ही हृदय में हैं और श्री जिनेश्वर हृदय में हैं तो सर्वसुख की निश्चित सिद्धि है, कारण कि श्री जिनेश्वर प्रभु महा चिंतामणि रूप हैं, उनके हृदय में विराजमान होने से समता प्रगट होती है और मोक्ष फल को देने वाली यह समता ही योगियों की माता रूप है।) इत्यादि श्री जिन वचन की आराधना ही धर्म है । इस तरह बुद्धिमान श्रोता को, प्रत्येक अनुष्ठान में जिनाज्ञा का बहुमान जागे, ऐसा उपदेश देना चाहिए।

इस प्रकार से श्रोता की रुचि और आचरण के अनुसार बाल, मध्यम या पंडित का निर्णय करके भी अपने से जितना बोध हो सके उसके अनुसार ही उपदेश देना चाहिए । क्योंकि वक्ता को जिसका ज्ञान न हो उस विषय में भी उपदेश दे, वह सूत्रानुसार हो फिर भी उसे उन्मार्ग – उत्सूत्र उपदेश कहा है। (क्योंकि जिसको उत्सूत्र भाषण का भय न हो वही नहीं समझते हुए भी बोलता है, ऐसे उपदेशक को उत्सूत्र भाषक कहा है ।) इस प्रकार के उपदेश से श्रोता और वक्ता दोनों का अनर्थ होना संभव है। जैसे अंधा और बहरा कभी भी सन्मार्ग में चढ़ नहीं सकता वैसे ही स्वयं शास्त्रों को समझने में अज्ञान (अंधा) है और दूसरे का कहना मानने के लिए तैयार नहीं (बहरा) है, ऐसा उपदेशक स्वयं संसार में परिभ्रमण करता है और अन्य को भ्रमण करवाता है ।

अपने बोध के अनुसार भी श्रोता के ऊपर उपकार करने की बुद्धि से ही उपदेश देना चाहिए । (कुछ तुच्छ स्वार्थ साधने के लिए या अपनी महत्ता बढ़ाने के लिए इत्यादि दुष्ट आशय से धर्मोपदेश देने वाले का वचन श्रोता में धर्म रूप परिणाम नहीं लाता। व्यवहार नय से तो उपदेश देने वाले का वचन जैसे आशय वाला होता है वैसे ही भाव श्रोता में उत्पन्न होते हैं । इसीलिए ही धर्म उपदेश का अधिकार – त्यागी–धर्मी साधुओं का ही है। वेशधारी शिथिलाचारी का वचन प्रायः कर धर्म प्राप्ति जनक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नहीं होता, उलटा किसी को अनादर जनक भी बनता है ।) इसी तरह धर्म उपदेश की विधि संक्षेप में कही है। धर्म बिन्दु में उसका विस्तार पूर्वक स्वरूप है, वह उनके ही शब्दों में यहाँ कहते हैं।

१ - अब हम धर्म उपदेश की विधि का वर्णन करते हैं (धर्म बिन्दु अध्याय २ - सूत्र ४)।

२- उपदेश देने वाले को प्रथम श्रोता को पहिचानना अर्थात् गुणवानों के संग में प्रीति, लोकप्रियता आदि उसके गुणों को जान लेना, इसके अतिरिक्त वह कौन से देव, गुरु और धर्म को मानता है? जिस देव आदि को मानता है, उसके दर्शन में धर्म का स्वरूप कैसा बतलाया है? मोक्ष का स्वरूप वहाँ किस प्रकार कहा है? इत्यादि भी जानना चाहिए । इससे श्रोता यदि राग, द्वेष, मोह या भ्रम से मुक्त हो तो कुशल उपदेशक उसकी रुचि जानकर लोकोत्तर गुणवाला बना सकता है और उसके दर्शन का होने से उस दर्शन में कथित जो मार्गानुसारी अथवा दूषित वचन हो उससे ही सत्य समझाकर उसे सुखपूर्वक सत्य मार्ग में लगा सकता है। (अध्याय २ - ५)

३ - लौकिक अथवा लोकोत्तर सामान्य गुण, जैसे कि दान गुप्त देना, घर में आए हों 'तुरन्त खड़े होना, सन्मुख जाना इत्यादि' सत्कार सम्मान करना, किसी का अच्छा कार्य करके दूसरे को नहीं कहना, दूसरे ने उपकार किया हो तो बहुत से मनुष्यों के बीच में उस उपकारी की प्रशंसा करना, लक्ष्मी का अभिमान नहीं करना, किसी का पराभव-अपमान हो इस तरह दूसरे की हलकी बात- निंदा नहीं करना, धर्म श्रवण आदि शुभ कार्यों का असंतोष रखना, इत्यादि गुण कुलीन उत्तम जाति वाले बिना अन्य में प्रगट नहीं होता है। इस तरह गुण और गुणी की प्रशंसा करना । (अध्याय २-६)

४ - पूर्वोक्त सामान्य गुणों से विशेष गुणों की प्रशंसा करना जैसे कि 'अहिंसा, सत्य, चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य का पालन, और परिग्रह - मूर्च्छा का त्याग करना।' ये पांच यम-नियम सर्व दर्शनकारों ने मान्य किये हैं और महा पवित्र गुण कहे हैं। इन विशिष्ट गुणों का परिचय करवाना । (अध्याय २-७)

५ - पूर्वोक्त के अनुसार सामान्य - विशिष्ट गुण समझाने पर भी श्रोता नहीं समझे, फिर भी 'अरे मंद बुद्धि! इतना समझाने पर भी अल्पमात्र भी तू नहीं समझता ।' इत्यादि जिससे उसका तिरस्कार हो वैसा नहीं बोलना। ऐसा कहने से तो कुछ समझने की इच्छा वाला हो तो भी फिर उसके पास नहीं आता और उसका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपदेशक की ओर जो राग-बहुमान हो वह भी खतम हो जाता है। (अध्याय २-८)

६ - इसलिए वह न समझे फिर भी उसे सुनने की इच्छा बढ़े, इस तरह वात्सल्य पूर्वक कहना कि 'शास्त्र की बात गहन होती है, उद्यम करने से धीरे-धीरे समझ में आयेगा। इत्यादि कहकर उस की इच्छा अधिक बढ़ानी चाहिए। सुनने की इच्छा -रुचि - प्रेम प्रगट हुए बिना धर्म कहने से उलटा अनर्थ होना संभव है। कहा है कि - 'सुनने की इच्छा रहित जीव को जो धर्म सुनाता है वह वास्तविक पिशाच ग्रस्त अथवा बहुत बोलने वाला है। (अध्याय २ - ६)

७ - एक बार कहने से नहीं समझता तो फिर युक्ति प्रयुक्ति से भी उसे उस विषय को बारम्बार समझाना। जैसे दृढ़ संनिपात जैसा रोग मिटाने के लिए कड़वा काढ़ा आदि उपचार पुनः - पुनः करना आवश्यक है, वैसे ही मन्द बुद्धि वाले जीव को बारम्बार उपदेश देना युक्त ही है। (अध्याय २ - १०)

८ - इसी तरह वस्तु तत्त्व को एक बार अथवा बारम्बार कहने से भी वह समझ जाता है और जो भारी कर्मी हो वह सूक्ष्म अर्थों को नहीं समझ सकता अर्थात् समझने वाले को तू लघुकर्मी है, इत्यादि कहकर उसकी बुद्धि की प्रशंसा करना। (अध्याय २ - ११)

९ - शास्त्रों में बहुमान पैदा करवाना अर्थात् - 'अल्प संसारी, बुद्धिमान, श्रद्धालु जीव परलोक के सुख के लिए आगम के अतिरिक्त अन्य में श्रद्धा नहीं रखता। अर्थ और काम में तो उपदेश बिना भी प्राणी उद्यमी होता है, जीव को धर्म के लिए तो शास्त्र के अतिरिक्त अन्य कोई आधार नहीं है, इसलिए शास्त्र पर आदर करना ही हितकर है। अर्थ और काम का उपदेश नहीं सुनने से या उसमें उद्यम नहीं करने से मनुष्य को अधिक से अधिक नुकसान हो तो दरिद्रता आती है, परन्तु धर्म के श्रवण में अथवा धर्म क्रिया में उद्यम नहीं करने से महा अनर्थ होता है। पन्नवणा सूत्र में कहा है कि 'जीव को धर्म के अभाव में प्राणातिपात आद्रि क्रियाओं द्वारा कर्म बंधन होता है और उसके द्वारा संसार भ्रमण चलता ही रहता है। इसलिए उस क्रिया और कर्म बन्धन से बचने के लिए धर्म क्रिया की पूर्ण आवश्यकता है।' यह क्रिया पद के उदाहरण से समझ लेना। इसलिए हमेशा शास्त्र श्रवण में प्रयत्न करने वाले धर्मार्थी का जीवन प्रशंसा-पात्र बनता है। मोह रूपी काली रात्रि के समान इस जगत् में शास्त्र ही दीपक है, शास्त्र ही सन्मार्ग में चढ़ाता है, शास्त्र ही पाप रोग का औपध और पुण्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का कारण है, शास्त्र सर्वत्र नेत्र है अर्थात् सभी वस्तुओं को सर्वदा बताने वाला है, और सर्व सुख का साधक है । जिसको शास्त्र में भक्ति नहीं है उसकी धर्म क्रियाएँ अंधे की देखने की प्रवृत्ति के समान निष्फल ही होती हैं क्योंकि अपने कर्म के दोष से वह सफल नहीं होता है। जो श्रद्धालु अभिमान का त्याग करके देव-गुरु-धर्म आदि माननीय भाव में बहुमान धारण करता है अथवा कराता है वह गुणरागी महा भाग्यशाली है । उसकी धर्म क्रिया उत्तम है परन्तु जिसे शास्त्र के प्रति ही अनादर है, उसकी श्रद्धा - क्रिया आदि गुण वास्तविक नहीं हैं परन्तु उन्मादी के उन्मान समान है। सत्पुरुष उसके गुणों की कभी प्रशंसा नहीं करते । इसलिए शास्त्र का रागी बनना चाहिए । मलिन वस्त्र को जैसे पानी अत्यंत शुद्ध करता है, वैसे ही शास्त्र वचन अंतः करण के मैल को साफ कर चित्त रूपी रत्न को शुद्ध बनाता है। " श्री तीर्थंकर देवों ने शास्त्र भक्ति को मुक्ति स्त्री की मुख्य दूती कहा है। इसलिए मुक्ति स्त्री को जल्दी स्वीकार करने की भावना वालों को उसकी दूती रूप शास्त्र की भक्ति करना योग्य है ।" इत्यादि शास्त्र में बहुमान रखना । (अध्याय २ - १२)

१० - धर्म उपदेश में आक्षेपिणी कथा का उपयोग करना। जिस कथा के कहने से भव्य जीव मोह के पाश में से छूट कर तत्त्व-सत्य की ओर खिंच आए उसे आक्षेपिणी कथा कहते हैं । उसके चार भेद हैं । वह इस प्रकार हैं :- १ - लोच करना, स्नान न करना आदि आचारों का वर्णन जिसमें मुख्य होता है वह 'आचार आक्षेपिणी' है । २ - क्रिया आदि किसी प्रसंग पर अतिचार आदि लग जाय तो उसका प्रायश्चित्त लेना, आदि व्यवहार धर्म का वर्णन जिसमें मुख्य हो वह 'व्यवहार आक्षेपिणी' है। ३ - श्रोता संशय वाला हो तो मीठे वचनों से उसे समझाना, संशय दूर करना, इत्यादि ज्ञान कराने का उद्देश्य जिसमें मुख्य हो वह 'प्रज्ञप्ति आक्षेपिणी' कथा है । ४ - श्रोता का स्वरूप - श्रद्धा - बुद्धि के अनुसार सूक्ष्म जीवाजीव आदि भावों के कथन रूप दृष्टिवाद का वर्णन जिसमें मुख्य हो वह 'दृष्टिवाद आक्षेपिणी' कथा समझना। (अध्याय २ - १३)

११ - ज्ञानादि पांच आचार रूप धर्म का स्वरूप समझाना । वह इस प्रकार है :-

1. **ज्ञानाचार** - ज्ञान की प्राप्ति, तथा रक्षण के लिए सदाचारों का पालन करना। वह आठ प्रकार से पालन करना -

(क) '**कालाचार**' - द्वादशांगी अथवा द्वादशांगी से भिन्न श्रुत को पढ़ना,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पढ़ाना आदि स्वाध्याय के लिए जो-जो समय शास्त्र में कहा है, उस-उस समय में स्वाध्यायादि करना चाहिए और निपेध समय पर नहीं करना चाहिए क्योंकि श्री जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञा है – 'श्रुत योग्य काल में पढ़ना चाहिए।' जगत् में भी प्रसिद्ध है कि खेती आदि कार्य जिस-जिस ऋतु में करना योग्य है उस ऋतु में करने से ही वे अच्छे फल देते हैं, अन्य ऋतु में वे नुकसान करने वाले भी होते हैं। उसी तरह ज्ञान भी जिस काल में जो पढ़ने का कहा हो उस काल में वही पढ़ने से कर्म नाशक एवं गुण प्राप्ति का कारण बनता है ।

(ख)'**विनयाचार**' – जिसके पास में श्रुत ज्ञान पढ़ना हो वे विद्यागुरु आएं तो खड़े होना, सामने जाना, बैठने के बाद बैठना, उनके पैर धोना, आसन देना, इत्यादि उनका विनय करना क्योंकि विनय के बिना ज्ञान नहीं मिलता, कभी मिल भी जाय तो भी वह इप्ट फल दायक नहीं होता। इससे अविनय द्वारा मिला ज्ञान अज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने से वह अज्ञान रूप में संसार के अन्दर भ्रमण करवाता है ।

(ग)'**बहुमानाचार**' - विद्यागुरु के प्रति हृदयगत प्रेम - आतंरिक प्रीति- सद्भाव धारण करना। गुरु के प्रति हार्दिक पूज्य भाव धारण करने वाले के अल्प काल में कर्म टूटने से ज्ञान प्रगट होता है और ज्ञान से शेप रहे कर्मों का भी नाश हो जाता है, इसलिए सच्चे ज्ञानी गुरु की सेवा नहीं छोड़नी चाहिए। यहां बाह्य सेवा रूप विनय और हृदय प्रेम रूप बहुमान, इन दोनों के योग से चार विभाग होते हैं- १- विनय हो परन्तु बहुमान न हो, २- बहुमान हो परन्तु विनय न हो, ३- विनय और बहुमान दोनों हों और ४- दोनों न हों। इन चार विभागों में तीसरा विभाग सर्व श्रेप्ठ है, दूसरा विभाग सामान्य तथा पहला और चौथा विभाग अयोग्य समझना ।

(घ)'**उपधानाचार**' – जो श्रुत को पुप्ट करे वह उपधान है। अमुक प्रकार का तप- श्रुत ज्ञान की इच्छा वाले को यह उपधान तप करना चाहिए। उपधान सूत्र की आराधना है, उपधान के बिना सूत्र बोलने का अधिकार नहीं मिलता। उपधान दो प्रकार का है - अगाढ़ और अनागाढ़। अगाढ़ उपाधान या योग वहन में कारण पड़ने पर भी अधूरा छोड़ नहीं सकता और अनागाढ़ में कारण से अधूरा छोड़ सकता है। शास्त्र में जितना कहा हो उतना, उस प्रकार, उस अध्ययन का तप करना चाहिए क्योंकि वह तप करने से ज्ञानावरणीय कर्म नप्ट होते हैं, और इस तरह प्राप्त किया शुद्ध ज्ञान सफल होता है ।

(ङ)'**अनिह्नवाचार**'- जो जो ज्ञान जिसके पास से मिला हो –यह ज्ञान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उनके पास से मिला है, इस तरह स्पष्ट कहना ही चाहिए, मैंने स्वयं अथवा अन्य के पास से अध्ययन किया है, ऐसा कहकर विद्या गुरु का नाम छिपाना नहीं चाहिए। ऐसा करने से चित्त मलिन होता है और प्राप्त हुआ ज्ञान चला जाता है अथवा लाभदायक नहीं होता ।

(च-छ-ज) 'व्यंजन, अर्थ और तदुभय आचार' - श्रुत ज्ञान पढ़कर उसका उत्तम फल प्राप्त करने की इच्छा वाले को उसका कोई अक्षर, कामा, मात्रा, शब्द या वाक्य- कुछ भी कम-अधिक नहीं करना व्यंजनाचार है । जैसे कि **'धम्मो मंगल मुक्किट्ठ'** पद है, उसके स्थान पर **'पुण्णं कल्लाण मुक्कीसं'** ऐसा बदल देना व्यंजन भेद है, और आचारांग सूत्र में **'आवंती के आवंती लोगं सि विप्परा मुसंति'** ऐसा वाक्य है, उसका अर्थ (लोक में कई पांखडी लोग (कि जो असंयमी हैं) छहकाय जीवों का उपताप' करते हैं। ऐसा होता है फिर भी कोई **'शब्दानामनेकार्थाः'** इस न्याय से प्रत्येक शब्द के अनेक अर्थ होने से 'अवन्ति देश में रस्सी कुए में पडने से लोग उपलाप करते हैं ।' ऐसा अर्थ भी करें तो हो सकता है, परन्तु वह तत्त्व से असत्य है। ऐसा ग्रन्थकर्त्ता के आशय से विरुद्ध अर्थ करना अर्थ भेद कहलाता है, तथा **'धर्मो मङ्गल मुत्कृष्टं', 'अहिंसा पर्वत मस्तके'** इसमें वर्ण भेद और अर्थ भेद दोनों होने से यह उभय भेद कहलाता है। इस तरह वर्णभेद, अर्थभेद और उभयभेद नहीं करना ही क्रमशः व्यंजनाचार, अर्थाचार और उभयाचार कहा गया है । यदि शास्त्रों के अक्षरादि की रक्षा नहीं करते फेर बदल करे तो अक्षर भेद से अर्थभेद होता है, अर्थभेद से क्रिया भेद होता है, क्रिया-भेद से मोक्ष नहीं होता है और मोक्ष के अभाव में देश विरति या सर्व विरति आदि सारा निष्फल होता है। इस तरह ज्ञान के आठ आचार समझाना ।

२. दर्शनाचार - अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अथवा रक्षा के लिए सदाचारों का पालन, उसके भी आठ भेद हैं -

(क) 'निः शंकित आचार'- जिन कथित शास्त्रों में देश से शंका अथवा सर्व से शंका नहीं करना । श्री वीतराग देव राग, द्वेष से रहित होने से उनका कथन सत्य ही है। मेरी बुद्धि इतनी तीक्ष्ण नहीं होने से न समझ में आए ऐसा हो सकता है, ऐसा मानना - वह निःशंकित आचार है ।

यहाँ १- देश शंका अर्थात् 'जीव सब समान कहे हैं वह सत्य है, परन्तु उसमें कोई भव्य और कोई अभव्य होता है उसका क्या कारण है?' इस प्रकार कुछ अंश

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में शंका करे, लेकिन ऐसा विचार नहीं करना कि - 'जगत् के सभी पदार्थ युक्ति से समझ सकें ऐसे नहीं हैं, इसलिए जो युक्ति से समझा जाता है उसे युक्ति से और शेष को श्रद्धा से मानना चाहिए।'

'जीव है' आदि सिद्ध करने के लिए युक्ति मिलती है, परन्तु 'भव्य कैसे या अभव्य कैसे ?' यह जानने के लिए सामान्य मनुष्य की बुद्धि पूर्ण नहीं है, इसलिए वह तो ज्ञानी पुरुष ही समझ सकते हैं। जगत् व्यवहार में भी श्रद्धा बिना कुछ नहीं हो सकता है। अपना पिता कौन है? इसके लिए माता के वचन पर श्रद्धा रखे बिना क्या उपाय है? जगंल के प्रस्थान में राह बताने वाले के वचन पर श्रद्धा रखनी ही पड़ती है। श्रद्धा से ही सर्वकार्य सिद्धि है। आत्म सुख की सिद्धि में ज्ञानी के वचन की श्रद्धा बिना कभी आगे बढ़ नहीं सकता, यह सुनिश्चित है। प्रत्येक दर्शनकार को श्रद्धा को स्वीकार करना ही पड़ता है जिसको समझने के लिए जो भाव युक्ति से समझाया जाय उसे उसी युक्ति से समझना चाहिए। परन्तु जो अगम्य है, जगत् में जिसके लिए वचन या युक्ति नहीं चले- उसे श्रद्धा से मानना ही चाहिए। नहीं तो सत्य से वंचित रहकर जो अगम्य-श्रद्धा गम्य भाव को भी समझाने के लिए कुयुक्तियों का आश्रय लेता है, वह जिनाज्ञा का विरोधक है। ऐसा शास्त्रकार कहते हैं।

२. 'सर्व शंका अर्थात् प्राकृत' - 'जो सामान्य प्रजा की भाषा में रचना है तो वह किसी सामान्य मानव की कल्पना रूप क्यों न हो ?' इस प्रकार से तर्क करना, परन्तु "बाल, स्त्री, अल्प बुद्धि या मूर्ख आदि चरित्र के अर्थी जीव भी सरलता से शास्त्रोक्त तत्त्व समझ सकें- इस तरह उपकार करने के लिए तत्त्वज्ञों ने प्राकृत भाषा में शास्त्र की रचना की है।" इस सत्य पर विश्वास नहीं करना सर्व शंका कहलाती है। 'जो भाव हमें प्रत्यक्ष है, अनुभव में आता है अथवा इष्ट है- उसका प्रमाण ही शास्त्रों में वर्णन किया है, इसलिए शास्त्रों में कल्पना रूप नहीं है।' ऐसे निश्चय वाला श्रद्धालु जीव श्री जिन शासन को प्राप्त किया दर्शनाचार वाला है। यहां नि: शंकता गुण है और नि:शंकित गुणी है। अपेक्षा से गुण - गुणी का अभेद है, इस तरह बताने के लिए आचार रूप गुण का कथन गुणी के कथन द्वारा किया है। यदि गुण से गुणी को सर्वथा भिन्न ही माना जाये तो गुण से कोई गुणी नहीं माना जायेगा। दर्शनाचार पालन करने पर भी दर्शन गुण प्रगट रूप नहीं है, फिर मोक्ष तो होगा ही कैसे? इसलिए गुण और गुणी, दर्शन और दर्शन वाला कथंचित् अपेक्षा से अभिन्न हैं, इस तरह समझाने के लिए यहाँ गुणी द्वारा गुण का स्वरूप बतलाया है। अब आगे के तीन आचारों में भी इसी तरह स्वयंमेव समझ लेना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(ख) **'निष्कांक्षित आचार'**– यहाँ कांक्षा का अर्थ होता है अन्य किसी दर्शन की अभिलाषा। वह जिसको न हो उसे 'निष्काँक्षित' कहते हैं। शंका के समान कांक्षा के भी देश से और सर्व से - इस तरह दो भेद हैं। १- दिगम्बर आदि किसी एक दर्शन की अभिलाषा देश कांक्षा, और २- सर्व दर्शनों की अभिलाषा सर्व कांक्षा समझना। इस तरह देश से या सर्व से पर दर्शन की अभिलाषा करने वाला यह नहीं समझता कि उन दर्शनकारों ने अपने शास्त्रों में अहिंसा को धर्म कहते हुए भी उसमें छह काय जीवों की हिंसा हो, उन क्रियाओं का विधान किया है और उस में आत्मा, परमात्मा आदि का स्वरूप भी असत् कहा है, क्योंकि उसमें कोई मोक्ष को ही नहीं मानते तो कोई आत्मा को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य मानते हैं इत्यादि। उन दर्शनकारों के वचन की असत्यता है। ऐसे दूषित धर्मों की जहाँ तक अभिलाषा है वहाँ तक जैन दर्शन की सत्यता समझ में नहीं आती और श्रद्धा टिक नहीं सकती, इसलिए पर दर्शन की आकांक्षा का त्याग करना ही आचार है।

(ग) **'निर्विचिकित्स आचार'** – विचिकित्सा– यह बुद्धि का भ्रम रूप है। ऐसा भ्रम जिसको नहीं है वह 'निर्विचिकित्सक' कहलाता है। कोई ऐसा संदेह करे कि - 'जैन दर्शन सर्वश्रेष्ठ है। फिर भी खेती आदि में जैसे किसी को लाभ होता है और किसी को लाभ नहीं भी होता, वैसे ही मुझे भी इस जैन दर्शन से लाभ होगा या नहीं होगा?' ऐसे संदेह का मूल अज्ञान है, इसलिए इसे छोड़कर निश्चय करना चाहिए कि - 'विधि पूर्वक यथा योग्य प्रवृत्ति करने वाले को उसका फल मिलता ही है। कभी कर्म की विचित्रता आदि के कारण क्रिया पर भी किसी को तत्काल फल मिलता है, किसी को चिरकाल में फल मिलता है और किसी को शूली की सजा सुई से पूर्ण हो जाता है, कई नुकसान से बच जाने का फल मिलता है और किसी को लाभ होने से फल मिलता है। इस तरह श्री जिन कथित धर्म की यथाविधि आराधना करने वाले फल से वंचित नहीं रहते' यह सुनिश्चित है।' ऐसा निश्चय करना वह निर्विचिकित्स आचार है। इसका दूसरा **'निर्विजुगुप्सः'** ऐसा भी शब्द पर्याय है' उसका अर्थ है निंदा नहीं करना, अर्थात् जैसे साधु साध्वी के शरीर पर पसीने के कारण बड़े दुर्गन्धित और मलिन वस्त्र आदि देखकर उनके सम्बन्ध में अश्रद्धा अथवा उनकी निंदा नहीं करना 'निर्विजुगुप्सा' नामक तीसरा दर्शनाचार है।

(घ) **'अमूढ़ दृष्टि आचार'**– अर्थात् मूढ़ता का त्याग करना। जगत् में सच्चे की अपेक्षा बनावटी मोती देखने में सुन्दर और सस्ते होते हैं, सोने से काँसे की गर्जना अधिक होती है, सज्जन से भी दुर्जन का आडम्बर आकर्षक होता है। वैसे ही अज्ञान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कष्ट रूप तप करने वाले बाल तपस्वियों का तप लोगों को आश्चर्य मुग्ध करता है और कई तो विद्यामंत्र की सिद्धि से भोले लोगों को आश्चर्य चकित करते हैं, इत्यादि कार्य करने वाले होते हैं । इस तरह ऐसे बाल-अज्ञान, तपस्या, विद्या आदि से मूढ़ता के योग से अपने दर्शन में चित्त की चंचलता नहीं करना। जैन दर्शन की श्रद्धा में जिसकी स्थिरता आ गई, डावाँडोल नहीं होता– उस जीव को 'अमूढ़ दृष्टि आचार' वाला जानना ।

यहां एक से चार आचारों का वर्णन गुण के स्थान पर गुणी का निर्देश करके किया है । उसका कारण पहले बतलाया है। अब शेष चार आचारों का वर्णन गुण के निर्देश से किया जायेगा । उसमें कारण यह है कि जैसे गुण गुणी से कथंचित् अभिन्न है वैसे कथंचित् भिन्न भी है। यदि गुण गुणी को एकान्त अभिन्न -एक स्वरूप में ही मान लें तो गुण के अभाव में गुणी का भी अभाव ही हो जाय, वस्तु मूल से ही झूठी ठहर जाय और उससे शून्यवाद सत्य ठहर जाय अर्थात् इससे मिथ्यात्व का पोषण रूप महान अनर्थ हो जाय। इसलिए अब आखिरी चार आचारों की व्याख्या गुण निर्देश से करते हैं ।

(ङ)'उपवृंहण' – समान धर्म वाले सधार्मिक बन्धुओं के गुणों की प्रशंसा आदि करके धर्म आराधना में उनका उत्साह बढ़ाना, उन को धर्म करणी में आगे बढ़ाना इत्यादि उपवृंहण कहलाता है।

(च)'स्थिरीकरण' – किसी का मन आपत्ति, शंका आदि कारणों से धर्म आराधना से डिग रहा हो, चलायमान हो गया हो या पतित हो रहा हो – उसे समझा बुझाकर, उपदेश या प्रेरणा देकर तथा आराधना - विराधना का फल समझा कर धर्म में स्थिर करना। जिससे वह बीच में ही धर्म को न छोड़कर सदा के लिये पूर्ण रूप से स्थिर हो जाय, उसे स्थिरीकरण कहते हैं ।

(छ)'वात्सल्य' – सधार्मिक बन्धुओं को धर्म करने के लिए विघ्न उपसर्ग का निवारण करना तथा तन मन धन से सब प्रकार की सहायता सेवा भक्ति करना, हृदय में उनके प्रति अनुराग वत्सलता रखकर उसमें अपना हित समझकर जितना हो सके उतना साथ देना इत्यादि वात्सल्य कहलाता है।

(ज)'प्रभावना' – श्री जिनेश्वर परमात्मा द्वारा स्थापित शासन-मोक्ष मार्ग की ओर जीवों का आकर्षण - विभिन्न निमित्तों द्वारा शासन की ओर प्रभावित करना। बहुमान - आदर आदि बढ़े इस तरह श्री जिन शासन की महिमा बढ़ाना। यह प्रभावना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सामान्य से धर्म कथादि आठ प्रकार की होती है, इसका विशेष वर्णन आगे समकित के ६७ भेद में कहा जायेगा। इस तरह दर्शनाचार का स्वरूप उपदेशक को समझाना चाहिए ।

३. **'चारित्राचार'** – इसके भी आठ भेद हैं, पांच समिति और तीन गुप्ति। इन आठ प्रवचन माता का पालन करना, वह आठ प्रकार का चारित्राचार है। इसका वर्णन इस ग्रन्थ के दूसरे विभाग में कहा जायेगा। वह तथा चारित्र का महत्व आदि श्रोता को समझाना चाहिए ।

४. **'तपाचार'** – तप बारह प्रकार का है, छह प्रकार का बाह्य तप और छह प्रकार का अभ्यंतर तप। इसका यथा शक्ति आचरण करना ही तपाचार है। इसके बारह भेदों का स्वरूप दूसरे विभाग में कहा जायेगा। इस तप के भेद और उसका फल आदि श्रोता को समझाना चाहिए।

५. **'वीर्याचार'** – पूर्व ज्ञानाचारादि चार आचारों के जो छत्तीस भेद बतलाए हैं उनके पालन में बाह्य -अभ्यंतर सामर्थ्य को छुपाये बिना शक्ति अनुसार उद्यम करना चाहिए। अर्थात् शक्ति अनुसार उन आचारों को जीवन में उतारना और उनका पालन करना, यथा शक्ति पराक्रम फोड़ना वीर्याचार कहलाता है। इस तरह ज्ञानादि पांच आचार का स्वरूप उपदेशक को श्रोता को समझाना चाहिए। (अध्याय २-१४)

१२. आचारों का स्वरूप समझाने के बाद उनके पालन के लिए उपदेश देना कि - 'इस लोक में राज्यादि या परलोक में देवत्व आदि नश्वर सुखों की अभिलाषा बिना, शुद्ध बुद्धि से इन आचारों को पालन करने की श्री जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञा है और उसे पालन करने में मेरा हित है।' ऐसा समझकर पांचों आचारों का स्व शक्ति के अनुसार तुझे पालन करना है। ऐसा उपदेश देना। (अध्याय २-१५)

१३. पूर्वोक्त आचारों में धैर्य, शरीर बल या काया बल आदि के अभाव में यदि आचारों का पालन करना अशक्य हो तो उसके लिए अंत: करण का अनुबन्ध- प्रेमपूर्वक कब इसका संपूर्ण रूप में पालन करने की सामग्री मिले और आराधना करूँ, ऐसी भावना धारण करना और सामग्री प्राप्त करने के लिए कालक्षेप करना परन्तु शीघ्रता नहीं करना, क्योंकि काल-समय आये बिना उत्सुक होना वह आर्तध्यान है, इत्यादि समझाना । (अध्याय २-१६)

१४. इसके अनुसार स्वीकार किए आचारों के पालन के लिए श्रोता को अपने से अधिक आचार वाले अथवा समान आचार वाले पुरुष की संगति में रहना चाहिए।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्वयं जिन आचारों का पालन करता है उन्हें शोभायमान करना और जिनसे आचार का भंग न हो ऐसी क्रियाओं का पालन करना, तथा उसके लिए 'मैं क्या करता हूँ? मेरा क्या कर्तव्य है?' इत्यादि को बारम्बार स्मरण करना इत्यादि उपाय समझाना चाहिए। (अध्याय २-१७)

१५. इन आचारों का अच्छी तरह पालन करने से इस जन्म में उपद्रव शान्त हो जाते हैं, गुण रूपी संपत्ति बढ़ती है और लोकप्रिय बनता है, वैसे ही परलोक में सद्गति, अच्छे देश में जन्म और परम्परा से मोक्ष प्राप्त होता है। इत्यादि उसके फल समझाना जिससे कि श्रोता का उसके पालन करने में आदर बढ़े। (अध्याय २-१८)

१६. आचारों का निरतिचार पालन करने से जो दैवी सुख मिलता है उसका वर्णन करना। जैसे कि - उत्तम रूप, लम्बा आयुष्य, प्रभावशालित्व, सुख, शरीर की कान्ति, अच्छी लेश्या, विशुद्ध इन्द्रियां, विशुद्ध अवधि ज्ञान, उत्तम भोग सामग्री, विमान आदि के देवमय भोग जिसका विशेष वर्णन धर्म बन्धु में सातवें अध्याय में कहा है- उसका स्वरूप विस्तार पूर्वक समझाना। योग्य जीवों को ऐसे धर्म के फल समझाना, यह उसके आचार पालन में उत्साह बढ़ाने के लिये आवश्यक है। (अध्याय २-१६)

१७. इन आचारों का पालन करने से जीव पूर्वोक्त कहे अनुसार देव लोक के सुख भोग कर, पुनः उत्तम - आर्य देश में, धर्म के काल में, सदाचारी उत्तम पुरुष से प्रसिद्ध ने निष्कलंक उत्तम कुल में - जहां अनेक मनोरथ सफल कर सके तथा निष्पाप जीवन व्यतीत कर सके, ऐसे धर्मी कुटुम्ब के घर में, मनुष्य के रूप में जन्म धारण करता है, ऐसा समझाना। (अध्याय २-२०)

१८. पंचाचार का पालन करने से सुकुल में जन्म होता है, इतना ही नहीं अपितु सुन्दर रूप, अच्छे लक्षणों वाला शरीर और आरोग्यता आदि मनुष्य जन्म की सारी उत्तम सामग्री भी मिलती है। इसका विशेष वर्णन धर्मबिन्दु में सातवें अध्याय में कहा है, वह उसे बतलाना। (अध्याय २-११)

१९. उपर्युक्त पंचाचार केंघातक हिंसा, असत्य आदि दस प्रकार के असदाचार जो कि पाप के भेद-हेतु हैं, उनकी दुष्टता समझाना। जैसे कि - "हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, मूर्च्छा, क्रोध, मान, माया, लोभ, और तत्त्व का अविश्वास-मिथ्यात्व, अश्रद्धा- ये पाप के हेतु हैं। इन दस में भी 'तत्त्व में अश्रद्धा रूप मिथ्यात्व के समान कोई शत्रु नहीं है, इसके सदृश अन्य कोई जहर नहीं है, इसके समान कोई रोग नहीं है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और उसके समान कोई अज्ञान - अंधकार नहीं है । शत्रु, जहर, रोग, अज्ञान आदि एक साथ मिलकर भी आत्मा को जो दु:ख नहीं दे सकते हैं, वह दु:ख एक ही दुरन्त मिथ्यात्व अनेक जन्मों तक देता है। जलती अग्नि की ज्वाला में पड़कर जलकर मर जाना अच्छा है, परन्तु मिथ्यात्व के साथ में जीना किसी तरह अच्छा नहीं है। अन्य सब एक जन्म नाशक हैं, जबकि मिथ्यात्व अनंत जन्मों को बिगाड़ने वाला है।'' इसी तरह शेष हिंसा, झूठ आदि की भी भयंकारी अवस्था समझानी। (अध्याय २-२२)

२०. इन दस पाप हेतुओं का स्वरूप भी समझाना जैसे कि प्रमाद के योग से किसी जीव के प्राणों का वियोग -नाश करना हिंसा है, अप्रिय । अहितकारी या झूठ बोलना झूठ है । दूसरे की वस्तु उसकी इच्छा के विरुद्ध उसके दिये बिना लेना चोरी है । विषय सेवन करना मैथुन है, और स्वयं को मिली हुई या नहीं मिली वस्तु पर मूर्च्छा रखना परिग्रह कहा गया है ।'' इत्यादि समझा कर क्रोधादि का स्वरूप भी समझाना । (अध्याय २-२३)

२१. उपदेशक को स्वयं भी उन असदाचारों का त्याग करना चाहिए क्योंकि नटकार द्वारा वैराग्यमय कथा करने से जैसे उपादेय नहीं होती परन्तु निष्फल जाती है वैसे ही असंयमी का उपदेश भी निष्फल जाता है । (अध्याय २-२४)

२२. उपदेश देने वाले को स्वयं का आचरण माया रहित सरलता वाला रखना चाहिए जिससे कि श्रोताजन उसका विश्वासी बनकर उसके उपदेश में भी विश्वास करें और उपदेशक से दूर न रहकर निश्रा में रहना स्वीकार करें। (अध्याय २-२५)

२३. इस लोक-पर लोक में अपाय-दु:ख के कारण रूप असदाचार ही हैं, वह भी समझाना। जैसे कि यदि पुरुष स्वर्ग में नहीं जाता अधोगति में जाता है, तो उसमें दुष्ट प्रमाद ही निमित्त है, ऐसा निश्चत समझाना। यह प्रमाद अर्थात् किसी भी प्रकार-मन वचन काया का असदाचार है। इससे दु:ख होता है आदि । (अध्याय २-३६)

उन असदाचारों का सेवन करने से नरकादि के दु:ख मिलते हैं । जैसे कि नरक में तीक्ष्ण तलवार, तीक्ष्ण भाला, कठोर कुल्हाड़ी, विषम चक्र, फरसी, त्रिशूल, मुद्गर, बांस, भुषंढी आदि शस्त्रों द्वारा तालवे का भेदन, मस्तक का छेदन, हाथ, कान, नाक, होंठ आदि काटना, छाती-पेट आंत चीरना, आंखे फोड़ना इत्यादि महा दु:खों से नरक के जीव हमेशा पीड़ाएं भोगते हैं। उछलता है, नीचे गिरता है, जमीन पर लेटता है, दीनता करता है, फिर भी अपने दुष्ट कर्मों के परदे से अंधा बना हो-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तरह नरक के जीव को वहाँ कोई रक्षा करने वाला नजर नहीं आता है अर्थात् कोई उसकी रक्षा नहीं करता। तिर्यंच गति में भी भूख, प्यास, अति ठंडी, तेज गरमी, परस्पर का भय, पराधीनता तथा ताड़ना, तर्जना की पीड़ा आदि महा दुःखों को जीव भोगता है अर्थात् तिर्यंच सुखी है, ऐसा बोलना वह भी केवल बोलना मात्र है। असदाचारी आत्मा मनुष्य गति में दरिद्रता, रोग, दुर्भाग्य, शोक, मूर्खता तथा हीन जाति और हीन कुल में जन्म लेना, इन्द्रिय या हाथ पैर आदि अवयव नहीं मिलना, मिले तो भी अन्धा, बहरा, वामन, लूला, लंगड़ा, होना इत्यादि दुःख – असदाचारों का फल भोगता है। देव गति में भी च्यवन होना तथा वियोग का दुःख, क्रोध, ईर्ष्या, मद, विषम-इच्छा आदि से दुःखी होता है। इस तरह असदाचार के योग से देव गति में भी अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं। इसलिए विचार करके कहो कि चारों गतियों में से कोई भी सुख प्रशंसा-पात्र है ? अर्थात् कोई नहीं है। इत्यादि समझाना। (अध्याय २-२७)

२५. असदाचारों को सेवन करने वाले का जन्म मनुष्य जीवन में भी हल्के कुल में, यवन, शक आदि हल्की जाति में या भील, वेश्या आदि के यहां होता है यह समझाना । (अध्याय २-२८)

२६. ऐसे कुल में जन्म होने से दुःख की परम्परा प्रारंभ होती है, क्योंकि असदाचार से परवश जीव दुष्कुल में जन्म लेता है । वहां भी उसका शरीर खराब वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाला होने से, सत्पुरुषों की संगति का अभाव होने से, दुःख से बचाने वाला समर्थ धर्म स्वप्न में भी जीव को प्राप्त नहीं होता । उलटे निर्भयता से हिंसा, झूठ आदि पाप, नरकादि दुर्गतियों के दुःख भोगने पड़ें, ऐसे पाप कर्मों का बन्धन करता है और उन कर्मों के अधीन बने हुए उस जीव के दुःख के कारणभूत कर्मों की परम्परा चलती ही रहती है। कहा है 'कर्म से पराधीन जीव द्रव्य - क्षेत्र-काल और भाव, इस तरह चार प्रकार के अनंत पुद्गल परावर्त अनंत काल तक इस संसार चक्र के चक्कर में पीसे जाते हैं और महा यातना भोगते हैं ।' यहाँ पुद्गल परावर्त काल का माप कहते हैं-असंख्यात वर्ष का एक पल्योपम, दस कोड़ा कोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम, दस कोड़ा कोड़ी सागरोपम, का एक उत्सर्पिणी काल, दूसरे दस कोड़ा कोड़ी सागरोपम का एक अवसर्पिणी काल, ये उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी दोनों मिलकर बीस कोड़ा कोड़ी सागरोपम का एक काल चक्र और ऐसे अनंत काल चक्रों का एक पुद्गल परावर्त होता है । इतने काल तक संसार चक्र में परिभ्रमण करता हुआ महा दुःख भोगता है। यह सब असदाचारों से उत्पन्न हुए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दु:खों की परम्परा है ।' उसे अच्छी तरह से समझाना। (अध्याय २-२६)

२७. वस्तुत: अनर्थ कारक मूढ़ पुरुषों के लक्षण बतलाते हुए युक्ति पूर्वक मूढ़ता की भी दारुणता और अनादरणीयता समझाना। जैसे कि- मूढ़पुरुष शत्रु को मित्र मानता है और मित्र को शत्रु मानता है, मित्र को मारता है, खराब कर्म के आचरण करता है इत्यादि मूढ़ता के कार्य हैं।

सच्चा हितकारक और अपने को लाभदायक युक्ति संगत भी उपकारी वचनों का मरने की इच्छा वाला जैसे औषध का अनादर करता है वैसे ही मूढ़ात्मा अनादर करता है। समझदार पुरुष दु:ख आये तब बुद्धि से उसके मूल को समझ लेता है कि- संसार दु:ख की खान है और असदाचारों से उसकी परम्परा चल रही है, ऐसा समझकर वह वैरागी बनता है। और मूढ़ दु:खी होता है तब हाय तौबा करते 'गले में पत्थर बांधकर पानी में डूबने के समान' मूढ़ता रूपी पत्थर से चिपक कर संसार समुद्र में डूबता है, इत्यादि समझाना। जैसे कि मोह से मूढ़ बना जीव जगत् के जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, व्याधि, शोक से पीड़ित हुआ प्रत्यक्ष देखता हुआ भी मोह के कारण संसार के प्रति उद्वेग-उदासीन नहीं होता है। वस्तुत: मोहवश बने जीवों की बुद्धि का, मोह हरण करता है । इससे वे कर्मभूमि रूप क्षेत्र में धर्म रूपी खेती के लिए मनुष्यत्व रूप बीज को प्राप्त करने पर भी धर्मानुष्ठान रूपी खेती का प्रयत्न ही नहीं करते । अहो! भयंकर मोह के अज्ञान को धिक्कार हो कि जिसके प्रताप से अगाध जल में रहने वाली मछली जाल में लगे हुए लोहे के कांटे पर मांस का टुकड़ा खाने के लिए फंसती है वैसे ही मोह का परिणाम दारुण है। ऐसे कृत्रिम सुखों में आसक्त बना जीव सदाचार को छोड़ देता है, इत्यादि समझाना। (अध्याय २-३०)

२८. शुद्ध ज्ञानी अथवा सम्यग् ज्ञान की प्रशंसा करना, जैसे कि – आंखें बन्द करके भी स्थिर बुद्धिवाला पंडित पुरुष इस जगत् के सत्य स्वरूप को देख सकता है। ऐसे सत्य स्वरूप को तीन नेत्र वाले महादेव, चार मुख और आठ नेत्र वाले ब्रह्मा, छह मुख और बारह नेत्र वाले कार्तिक स्वामी, अथवा हजार नेत्र वाले इन्द्र, अरे! अधिक क्या कहें ? सम्पूर्ण जगत् के सारे नेत्र एकत्रित होकर भी नहीं देख सकते। वह पंडित जो वस्तु प्राप्त न हो सके उसे प्राप्त करने की इच्छा नहीं करते, गई वस्तु का शोक नहीं करते, संकट के समय में सात्त्विक वृत्ति का आचरण करते हैं, परन्तु उदासीन नहीं होते। अपने को मान मिले या अपमान हो, फिर भी गंगाद्रह के समान हर्ष या शोक नहीं करते, वही वास्तविक पंडित – ज्ञानी है। गंगा के द्रह में पानी आता है और जाता है, परन्तु वह उछलता नहीं या कम नहीं होता वैसे ही पंडित

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जन मान - अपमान के समय ज्ञानबल से समभाव में रहते हैं, इत्यादि ज्ञान और ज्ञानी की महिमा का वर्णन करना जिससे श्रोता ज्ञान और ज्ञानी के प्रति रुचिवाला बने। (अध्याय २-३१)

२९. पुरुषार्थ जो कि उत्साह रूप है - उसकी महिमा की प्रशंसा करना। जैसे कि-समुद्र रूपी खाड़ी को पार करना, आकाश में अधर स्थिर रहना और पाताल में गमन करना आदि वहाँ तक ही कठिन है कि जहां तक कीर्ति का अर्थी धीर-वीर पुरुष, पुरुषार्थ के विरोधी भाग्य के मस्तक पर पैर रख कर अर्थात् भाग्य को तुच्छ मान कर और जीवन की भी परवाह छोड़कर, साहस नहीं करते अर्थात् साहसी तीनों लोकों को हिला सकता है । जो पुरुष उद्यम को छोड़कर भाग्य पर बैठ कर रहता है, उस प्रमादी का भाग्य भी जैसे नपुंसक पति को छोड़ कर स्त्री चली जाती है वैसे ही छोड़कर चला जाता है। इत्यादि समझाना चाहिए कि जिससे श्रोता प्रमाद को दूर करके दुष्कर कार्यों को करने में भी उत्साही बने। (अध्याय २-३२)

३०. 'सदाचार से प्राप्त हो वही सच्चा बल है' आदि सच्चे बल के स्वरूप का उपदेश देना। शरीर बल तो सामान्य बल है और सदाचार से प्राप्त हुआ आत्मवीर्य वास्तविक बल है, जो कि सदाचार द्वारा पोषण होते-बढ़ते श्री तीर्थंकर परमात्मा के बल जितना खिलता है। यदि कोई अपने बल से मेरु पर्वत को दण्ड के समान पकड़कर पृथ्वी को मस्तक पर छत्री रूप धारण करे अर्थात् पृथ्वी को उलटी कर मस्तक पर उठा लेता है तो वह बल सदाचार रूपी कल्प वृक्ष का ही फल है, ऐसा महार्षियों ने कहा है। (अध्याय २-३३)

३१. पूर्वोक्त धर्मोपदेश जब श्रोता में श्रद्धा रूप समझ रूप, और तदनुरूप आचरण रूप में परिणाम प्राप्त करे तो वह सफल होता है। तब समझना चाहिए कि अब उस तत्त्व ग्रहण के लिए योग्य बना है। ऐसे सदाचारी योग्य श्रोता को उसके बाद अति गंभीर तत्त्व स्वरूप 'आत्मा,' उसका अस्तित्व , कर्म से बन्धन और मोक्ष, आदि अदृष्ट भाव समझाना, अर्थात् पूर्व में जो साधारण गुण प्रशंसादि अनेक प्रकार का उपदेश बताया है वह उपदेश आत्मा में कर्म मंद होने से जब परिणाम प्राप्त करे, उसमें श्रद्धा, जानकारी और क्रिया रूप में सफल हो तब भूखे को भोजन के समान श्रोता को तात्त्विक पदार्थ का उपदेश दिया जाय, वह सफल होता है। इसलिए ऐसे को आत्मादि भाव का उपदेश देना। (अध्याय २-३४)

३२. श्रुत धर्म की श्रद्धा और परिचय बिना ऐसा भाव समझ में नहीं आता। इसलिए प्रथम श्रुत धर्म की महत्ता और फिर उसके वास्तविक स्वरूप का परिचय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करवाना। जैसे कि 'सकल कल्याण के कारणभूत चारित्र धर्म रूप धर्म - कल्प वृक्ष को उत्पन्न करने के लिए श्रुत धर्म एक उत्तम क्यारी के समान है' अर्थात् श्रुत क्यारी में धर्म वृक्ष उगता है और उसके ऊपर सकल कल्याणरूप-मोक्ष फल आता है। धर्मवृक्ष की क्यारी के समान यह श्रुत धर्म 'वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुपेक्षा और धर्मकथा' - पांच प्रकार के स्वाध्याय रूप है। इसकी महिमा अनंत है, क्योंकि यही आत्मा का वास्तविक नेत्र है। जो श्रुत ज्ञान रूप निर्मल नेत्रों से जगत् में दृष्ट-अदृष्ट और हेय-उपादेय स्वरूप सर्व पदार्थों को देखता है वही वास्तव में देखता है, वही आखों वाला है। इत्यादि उपदेश देकर प्रतिबोध करना। (अध्याय २-३५)

३३. श्रुत धर्म का प्रत्येक दर्शन में अलग-अलग स्वरूप है, उसमें से सत्य-असत्य कौन सा है? यह विवेक करने से श्रोता में शक्ति प्रगट नहीं होती, इसलिए श्रुत की परीक्षा करने के लिए उसे समझाना कि - श्रुत धर्म स्वरूप में एक ही है, फिर भी प्रत्येक धर्म वाले अपने-अपने शास्त्र से श्रुत धर्म को भिन्न-भिन्न मानते हैं। इन सबमें से सत्य कौन सा है ? उसे स्पष्ट करने के लिए श्रुत धर्म की भी सोने के समान कण, छेदन, और ताप से परीक्षा करनी चाहिए। अन्य भी कहते हैं कि - जगत् में सब लोग शब्द से धर्म धर्म कहते हैं, परन्तु उसके स्वरूप का विचार नहीं करते, जैसे आंक का दूध भी दूध कहलाता है, फिर भी वह दूध के काम में नहीं आता, वैसे ही यहां भी प्रत्येक शास्त्र को श्रुत धर्म रूप में मानते हैं वह प्रत्येक में विचित्रता है अर्थात् सभी उपकारक नहीं हैं। इसलिए ही विचारक पुरुष सर्वप्रकार की सुन्दर सुख संपत्ति प्राप्त करने में समर्थ, जगत् मात्र का हितकारी और दुर्लभ श्रुत धर्म को ठगे जाने के भय से सोने के समान परीक्षा करके ही ग्रहण करते हैं, इत्यादि कहकर उसमें आगम की परीक्षा करने का भाव प्रगट कराना। (अध्याय २-३६)

३४. उसके बाद उसके उपायों का वर्णन करके बतलाना कि - जैसे सुवर्ण रूप में समान है फिर भी सोना शुद्ध और अशुद्ध भी होता है। भोले लोग उसकी शुद्धि अशुद्धि का विचार नहीं करते, परन्तु बुद्धिमान पुरुष उसे कसौटी पर घिसकर, काटकर अथवा आग से तपाकर परीक्षा करते हैं, वैसे ही श्रुत धर्म में भी बुद्धिमान पुरुषों को कण, छेदन और ताप से उसकी परीक्षा करना आवश्यक है, ऐसी प्रेरणा देना। (अध्याय २-३७)

३५. **कष का स्वरूप** - जिस आगम में 'स्वर्ग या मोक्ष सुख के अर्थी को तप ध्यान आदि करना तथा पांच समिति और तीन गुप्ति पालन पूर्वक शुद्ध अनुष्ठान करना' इत्यादि अविरुद्ध कार्यों को करने को बताने वाले विधि वाक्य होते हैं, और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'किसी जीव को मारना नहीं, झूठ नहीं बोलना,' आदि अधम कार्यों का निषेध करने वाला प्रतिषेध वाक्य हो।' कहने का तात्पर्य यह है कि इस तरह विधि और प्रतिषेध वाक्य जिस शास्त्र में स्थान-स्थान पर विस्तार पूर्वक हों वह शास्त्र कसौटी से शुद्ध है। इससे विपरीत जैसे विष्णु ने असुरों का घात किया तथा अन्य ने भी अन्य धर्मियों का घात किया- क्या उनको मार डालने में पाप नहीं है ? ऐसे अकर्त्तव्य का विधान करने वाले आदि वाक्य जिस शास्त्र में हों वह शास्त्र कष-कसौटी से शुद्ध नहीं है, आदि समझाना। (अध्याय २-३८)

३६. **छेदन का स्वरूप** – जिस शास्त्र में कहे हुए अनुष्ठान – क्रिया ऐसी हो कि उस क्रिया के करने से पूर्व में कहे विधि वाक्य या प्रतिषेध वाक्यों का सम्पूर्ण-यथार्थ पालन हो और जो विधि या प्रतिषेध स्पष्ट रूप में न मिलता हो परन्तु विधि या निषेध उस क्रिया द्वारा समझाया जाय। ऐसे अनुष्ठान जिस शास्त्र में हों वह शास्त्र छेदन से शुद्ध है। जैसे कसौटी से परीक्षा करने पर भी अशुद्धि की शंका वाले परीक्षक सोने के टुकड़े को छेदन करते हैं- काटते हैं, वैसे ही विधि निषेध वाक्यों रूपी कसौटी से शुद्ध शास्त्र भी छेदनादि से अशुद्ध होना संभव है, इसलिए उसकी छेदन से परीक्षा करनी चाहिए। वह छेदन बाह्य विशुद्ध-आचरण क्रिया रूप है। बाह्य क्रिया-आचरण वही विशुद्ध है कि जो शास्त्र में प्रत्यक्ष रूप में नहीं मिलता। परन्तु शुद्ध विधि और निषेध समझ में आए और प्रत्यक्ष मिलती हो, ऐसी विधि और निषेध का उत्तरोत्तर निरतिचार रूप में पालन होता है। ऐसी चेष्टा-क्रिया यदि शास्त्र में विस्तार पूवर्क बतलाई हो तो वह धर्म शास्त्र छेद शुद्ध - छेदन परीक्षा द्वारा भी शुद्ध है, ऐसा जानना। (अध्याय २-३६)

३७. **ताप का स्वरूप** – सोने की कष और छेदन से शुद्धता निश्चय होती है, फिर भी कमी दिखे तो अग्नि में तपाया जाता है। वह तपाने से काला हो जाय, ताप को सह न सके तो शुद्ध नहीं माना जाता। वैसे ही आगम भी विधि-निषेध वाक्यों से युक्त हो और उस विधि-निषेध का पालन हो, ऐसी क्रियाओं का प्ररूपक हो अर्थात् कष-छेदन से शुद्ध हो तो भी अग्नि रूप परीक्षा में यदि असत्य हो जाय तो वह उपादेय नहीं होता, इसलिए उसकी अग्नि से परीक्षा करनी चाहिए। जिस शास्त्र में पूर्वोक्त विधि-निषेध और अनुष्ठान जिसमें घट सके, ऐसी परिणामी अर्थात् सत्ता रूप स्थिर रहने पर भी उसके पर्याय रूपांतर बदलते जाय ऐसे जीव-अजीव आदि पदार्थ का कथन यथार्थ रूप हो, वह शास्त्र ताप शुद्ध कहलाता है अर्थात् जिस शास्त्र में 'पदार्थ वस्तु रूप में नित्य और पर्याय से प्रतिक्षण नये-नये स्वरूप को धारण करने वाला अनित्य' इस प्रकार जीवादि का नित्यत्वानित्यत्व आदि स्वरूप कहा हो वह शास्त्र

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ताप शुद्ध कहलाता है। पूर्व कहे अनुसार आत्मा आदि पदार्थ परिणामी हो तभी उसमें पूर्व के उन अशुद्ध पर्यायों का नाश होता है और इससे ध्यान, अध्ययन आदि अन्य शुद्ध पर्याय प्रगट होने से शास्त्रोक्त विधि-निषेध रूप 'कष' और बाह्य क्रिया रूप 'छेदन' उसमें घटे, जो आत्मा आदि पदार्थों को एकान्त अपरिणामी – स्थिर – एक स्वरूप वाला अथवा एकान्त अस्थिर या प्रतिक्षण में सर्वथा नाश होने वाला मानने में आए तो कष और छेदन नहीं घटे कारण कि उसका स्वरूप बदलता ही नहीं है या सर्वथा उसका नाश हो तो विधि-निषेध अथवा उसके अनुरूप क्रियाओं का उसे क्या लाभ हो सकता है ? वह सब नाकामी ही बनती है। (अध्याय २-४०)

३८. 'कष' छेदन और ताप परीक्षा- इन तीनों में कौन बलवान या निर्बल है ? ऐसा प्रश्न जब श्रोता करे तब इन तीनों का परस्पर अंतर उपदेशक नीचे अनुसार बतलाए (अध्याय २-४१)

३९, ४०, ४१ - जैसे कप या छेदन की परीक्षा में पास न हो अथवा पास होने पर भी ताप-अग्नि परीक्षा में गलत हो तो उस सोने को बुद्धिमान मनुष्य ग्रहण नहीं करता, वैसे ही शास्त्र भी कष या छेदन से पास न हो अथवा पास हो फिर भी ताप रूप परीक्षा में पास न हो तो बुद्धिमानों को वह शास्त्र उपादेय नहीं बनता। कष, छेदन में पास होने पर भी ताप से पास न हो तो सोना नाम मात्र से सोना है, वैसे ही वह शास्त्र भी नाम मात्र से ही शास्त्र कहलाता है। क्योंकि जो अग्नि की परीक्षा में पास हो उसकी ही कष और छेदन की परीक्षा सफल हैं। वस्तुतः ध्यान, अध्ययन आदि से पूर्वोपार्जित कर्म की निर्जरा होती है। इसलिए शास्त्र के ऐसे विधान सफल हैं और हिंसादि कार्य नहीं करने से नये कर्म नहीं आते, अतः ऐसे निषेध कार्य सफल हैं। छेद रूप बाह्य क्रियाओं का जो विधि-निषेध अप्रगट हो उसे प्रगट करने से और प्रगट हो उसका निरतिचार पालन करने से सफल है। अब जो आत्मा अपरिणामी ही हो अर्थात् जिसके पुराने कर्मों का नाश हुआ और नये कर्म नहीं आते आदि रूपांतर ही न हो अथवा वह एकान्तक्षय विनश्वर ही हो तो विधि-निषेध और अनुष्ठान रूप कष या छेदन का फल क्या आता है? और वह किसको मिले? अर्थात् विधि निषेध तथा अनुष्ठान निष्फल ही बन जाय। इसलिए समझाना कि कष और छेदन का फल तो आत्मादि परिणामी हो तो ही आता है और तब ही वह सफल माना जाता है। आत्मा में कर्मों की निर्जरा और संवर किये बिना कष-छेदन का अन्य कोई फल नहीं है। (अध्याय २- ४२, ४३, ४४)

४२. यहां कोई एकान्तवादी यह कहते हैं कि - 'चाहे आत्मा परिणामी न

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हो फिर भी कण और छेदन तो सफल ही हैं।' उसका समाधान करते हैं कि 'वही पदार्थ सत्य वास्तविक कहलाता है जो कि अपने साध्य को सिद्ध करे जैसे नीरोगी की भूख को मिटाने के लिए भोजन और प्यास को शान्त करने के लिए जल ही वास्तविक कहलाता है। भूख मिटे नहीं या प्यास बुझे नहीं – वह आहार या पानी वास्तविक नहीं है, वैसे ही यहां भी जो कण या छेदन आत्मा में अपना फल दे वही वास्तविक है, जो फल नहीं दे सके उसकी वास्तविकता कैसे मानी जाय ? अर्थात् यथार्थ नहीं माना जाता।' आदि समझाना। (अध्याय २ - ४५)

४३. कार्य नहीं सिद्ध करने वाली वस्तु भी यदि सत्य मानने में आए तो वह मांगे हुए आभूषण से शरीर की शोभा करने के समान है अर्थात् अपनी दरिद्रता को जाहिर करने के समान होता है। अलंकार के फल दो हैं, उसमें प्रथम फल आजीविका का सुखपूर्वक निर्वाह होता हो तो उसे धारण करने से निष्कलंक अभिमानिक, बड़प्पन मानने रूप सुख का अनुभव करने वाली शरीर की शोभा होती है अर्थात् अलंकार से शरीर शोभा बढ़ती है, अन्य लोगों में धनिकता जाहिर होती है और इससे पहनने वाले को महान रूप सुख का अनुभव होता है, और दूसरा फल किसी संयोग से जीवन निर्वाह में मुश्किल हो तो उसे बेच कर आभूषण से आजीविका का निर्वाह हो सकता है परन्तु यदि वह दूसरे के मांगे हुए हों तो पहनने से शरीर शोभायुक्त और धनवान है – ऐसा होने के बदले दूसरों के हैं – ऐसा जाहिर होते ही १ – अपकीर्ति करवाता है, जिसके परिणाम से अपमान जनक दुःख होता है और २ – जीवन निर्वाह मुश्किल से चलता हो उस समय भी न्याय मार्ग में चलने वाले का पर के आभूषण से काम नहीं होता। इस तरह दोनों में से एक भी फल नहीं मिलता। वैसे ही यहाँ भी द्रव्य से नित्य और पर्याय से परिणामी आत्मा में तो शास्त्र कथित ये 'कष और छेदन' किसी प्रकार के अपवाद बिना-पुराने कथंचित् भिन्न कर्मों की निर्जरा करना और नये कर्मों बंधन नहीं रूप स्वयं का फल दे, परन्तु आत्मादि पदार्थों को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य मानने वाला वादी अपने वाद को शोभायमान करने के लिए इन कष और छेदन को विधि-निषेध वाक्य या तदनुरूप अनुष्ठान को स्वीकार करे फिर भी मांगे हुए आभूषण के समान उसकी आशा निष्फल ही होती है। इन कष-छेदन का कुछ भी फल नहीं दे सकता है, उलटे उसे असत्य वादी सिद्ध करता है। इत्यादि यथार्थ स्वरूप समझाना। (अध्याय २-४६)

४४. अब श्रोता यह कहता है कि 'कष' छेदन तथा ताप इन तीनों से परीक्षा में जो शुद्ध हो वही श्रुत धर्म स्वीकार करने योग्य है, यह मैं समझा हूँ, परन्तु ऐसे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शुद्ध धर्म का कथन किस तरह हो कि वह प्रमाण भूत माना जाय ?' उसके अन्तर में उसे प्रथम 'किसको कहा हुआ श्रुत धर्म अप्रमाण भूत गिना जाय' उसे समझाने के लिए कहा है कि - 'स्वयं छद्मस्थ होने से प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रत्येक पदार्थ को अपने ज्ञान चक्षु द्वारा देखने की जिसमें शक्ति नहीं है उसका कथन तात्त्विक - प्रमाण भूत नहीं माना जाता। क्योंकि जो कथन सत्य हो- वस्तु का यथार्थ स्वरूप बताने वाला हो वही कथन प्रमाण भूत माना जाता है। वस्तु को साक्षात् देखे - जाने बिना कहने वाले छद्मस्थ का वचन जाति अंध-जन्मांध चित्रकार के बने चित्र के समान है। जैसे जन्म से अन्धे का चित्र यथार्थ नहीं होता, वैसे ही छद्मस्थ के कहे वचन यथार्थ नहीं होते। इसलिए ऐसे अज्ञ का कहा हुआ शास्त्र अप्रमाणिक माना जाता है अर्थात् उनके द्वारा रचित शास्त्र वस्तु को यथार्थ रूप में बताने के लिए समर्थ नहीं हो सकता। इत्यादि समझाना चाहिए। (अध्याय २-४७)

४५. उसके बाद सम्यग् वचन को पहिचाने के उपाय बताने चाहिएं। जैसे कि- जिस शास्त्र वचन में कर्म का बन्धन - मोक्ष की घटना घट सकती हो वह 'शास्त्र वचन' शुद्ध है। उस घटना को समझाने के लिए कहा है कि "बन्ध अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, इन कर्म बंधन के हेतुओं द्वारा आत्मा के साथ में कर्म पुद्गलों का लोहा और अग्नि के समान या दूध और पानी के समान परस्पर का भेद नहीं दिखता इस तरह मिल कर रहना।" और मोक्ष अर्थात् इस तरह "कर्म पुद्गलों से बद्ध हुई आत्मा का 'सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप मोक्ष के उपायों द्वारा' कर्मों से सर्वथा अलग होना।" आत्मा के साथ में होने वाले कर्म के इस तरह के बंधन का और मोक्ष का जिस शास्त्र में वर्णन किया हो उस शास्त्र को शुद्ध समझना, अर्थात् जिस शास्त्र में बंध-मोक्ष पर्याय घटता हो ऐसा आत्म स्वरूप उसके पर्याय के साथ में बतलाया हो वही शास्त्र सर्वज्ञ पुरुष का कहा हुआ है। ऐसा पंडित निश्चित रूप में मान सकते हैं। आदि समझाना। (अध्याय २-४८)

४६. पूर्वोक्त कथित बन्ध-मोक्ष की घटना के लिए उस शास्त्र के अन्दर बन्धन करने वाली आत्मा और बंधन कर्मों को भी बतलाना चाहिए, नहीं तो बंधन करने वाली आत्मा और बंधन के अभाव में बंध-मोक्ष की बातें भी असत्-कल्पना मात्र ही रह जायेंगी इसलिए -

(क) बन्ध-मोक्ष की घटना के लिए बध्यमान आत्मा और बन्धन कर्म कैसा होना चाहिए ? उसके लिए समझाना कि - बध्यमान अर्थात् मूल सामर्थ्य ढक जाने से पराधीन बना भिन्न-भिन्न चौदह प्रकार की अवस्था वाला आत्मा अर्थात् १. सूक्ष्म

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एकेन्द्रिय, २. बादर एकेन्द्रिय, ३. दो इन्द्रिय, ४. तेइन्द्रिय, ५. चौरिन्द्रय, ६. असंज्ञि पंचेन्द्रिय और ७. संज्ञि पचेन्द्रिय - ये सात पर्याप्ता और सात अपर्याप्ता मिलाकर चौदह प्रकार के जीव शास्त्र में कहे हैं तथा बंधन अर्थात् मिथ्यात्व आदि कारणों से आत्मा के साथ में मिला हुआ, परमार्थ रूप में सत् -विद्यमान अनंतानंत पुद्गल परमाणु के समूह रूप होने से मूर्ति-रूपी स्वरूप वाला और १. ज्ञानावरणीय २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयुष्य, ६. नाम ७. गोत्र और ८. अंतराय - ये आठ विचित्र स्वभाव वाले कर्म हैं।

(ख) यहां 'बंधन करने वाला आत्मा है' ऐसा कहने से सांख्य दर्शन का असत्य रूप सिद्ध होता है। क्योंकि सांख्य दर्शन में कहा है कि 'आत्मा का तो बन्धन नहीं होता, उससे अलग नहीं होता और संसरता-दूसरे स्वरूप को भी प्राप्त नहीं करता, केवल अलग-अलग रूपों को धारण करने वाली, सत्त्व- रजस् -तमस् इन तीन गुणों के समूह रूप, प्रकृति का ही बन्धन होता है। छूटना और संसरण रूपांतर धारण करता है । इसके बदले यहां बन्धन, मुक्त और संसरण आत्मा के विषय में कहा है, इस तरह सांख्य दर्शन की असत्यता सिद्ध होती है।

(ग) 'बंधन' अनंत पुद्गल परमाणु के समूह रूप होने से रूपी और सत् - विद्यमान स्वरूप है। ऐसा कहने से बौद्ध धर्म का खंडन होता है, क्योंकि बौद्ध दर्शन में बंधन को असत् माना है । उसके मत में शुद्ध आत्मा से एकान्त अभिन्न राग, द्वेषादि दूषणों से वासित - संस्कारित जो 'क्लिष्ट आत्मा है वही 'संसार' और रागादि से मुक्त जो 'शुद्ध आत्मा-चित्त' वही आत्मा का 'भवान्त' मोक्ष है अर्थात् बौद्ध मत में बध्यमान आत्मा से बंधन सत् स्वरूप में कोई अलग वस्तु ही नहीं है। इस तरह बध्यमान आत्मा से राग, द्वेष आदि बंधन और बन्धन के कारण को एकान्त अभिन्न मानने से आत्मा का बन्ध और मोक्ष का अभाव होने से बौद्ध दर्शन भी असत्य सिद्ध होता है।

(घ) ऊपर कहे अनुसार सांख्य दर्शन के मत में प्रकृति का ही बंध मोक्ष होता है, ऐसा मानने से 'आत्मा स्वयं संसार और मोक्ष, इन दो अवस्थाओं से एकान्त अभिन्न है अर्थात् वह संसार और मोक्ष स्वरूप है।' अथवा 'आत्मा उन दो अवस्थाओं से एकान्त भिन्न अर्थात् न ही तो ससारी और न ही मोक्ष अवस्था वाला ।' इस तरह निश्चय होता है और इससे उसे बंधन होने का या मुक्त होने का घटित ही नहीं होता। इससे 'योगियों के यम नियमादि अनुष्ठानों का फल मोक्ष है' ऐसा ही उस सांख्य शास्त्र में कहा है वह असत्य सिद्ध होगा, इसलिए 'आत्मा का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बन्धन नहीं होता' इत्यादि जो कथन सांख्य दर्शन का है वह असत्य प्रलाप रूप ही है। (अध्याय २-४६)

४७. बौद्धमत का भी असत्यवादीत्व इस कारण से है कि – 'हमेशा जो वस्तु जिससे भिन्न नहीं है– एकान्त अभिन्न ही है वह वस्तु उससे अलग नहीं है परन्तु वही है और इस न्याय से बौद्धमत में चित्त से सर्वथा अभिन्न राग द्वेषादि से कोई भिन्न वस्तु रूप में मान्य नहीं है इसलिए उसे चित्त कहना झूठ है। चित्त से जो अलग नहीं है वह चित्त ही है और इससे ही वह सिद्ध होती है, क्योंकि लोगों में भी 'स्वयं अपने से बंधन होता है' ऐसा कभी माना नहीं जाता, परन्तु बंधन होता पुरुष और बन्धन रूप बेड़ी ये दोनों भिन्न-भिन्न होते हैं, इसलिए वे एक दूसरे के लिए परस्पर बंधन रूप हैं। और 'चित्त (आत्मा) ही बन्धन है।' ऐसा मानने से तो संसार या मोक्ष समान भेद भी नहीं रहता, क्योंकि 'चित्त-आत्मा' तो संसार या मोक्ष दोनों में एक ही रूप में रहेगा और इससे 'कर्म स्वरूप-कर्म से अभिन्न आत्म, यही संसार है और यही मोक्ष ह' इस तरह दोनों अवस्थाओं का एक ही रूप होने से बुद्ध का वचन सर्वथा असत्य होगा।

इस तरह बध्यमान आत्मा और बन्धन रूप कर्म – ये दो भाव, कंथचित् भिन्न हैं, इससे एकान्त भिन्नता या अभिन्नता मानने से सांख्य दर्शन या बौद्ध दर्शन में संसार और मोक्ष अवस्था योग्य नहीं है, इत्यादि उन दर्शनों की मान्यता पूर्वक समझाना। (अध्याय २-५०)

४८. इस तरह बंध, मोक्ष और बध्यमान आत्मा तथा बंधन कर्म का स्वरूप बतला कर, बन्ध और मोक्ष के कारण - हेतु का भी परिचय करवाना चाहिए। कारण बिना कार्य संभव नहीं होता है, इसलिए हेतुओं को जाने बिना बंध, मोक्ष, बध्यमान या बंधन, सब का कथन निष्फल होता है। उस बन्धन और मोक्ष के हेतु इस तरह हैं– 'हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, मूर्च्छा, मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ– ये दस प्रकार के जो आत्मा के दुष्ट परिणाम-अध्यवसाय हैं वे दुःखमय संसार का बीज-भूत जो पाप कर्म रूप बंधन है, उसके कारण हैं। जैसे बंधन रूप कर्म आत्मा के साथ में रहता है, वैसे ही बंधन के कारणभूत ये दसों प्रकार के परिणाम-अध्यवसाय भी आत्मा के साथ में ही रहते हैं। इससे ही बंधन रूप कर्म से आत्मा का बन्धन होता है। इन बन्धन के कारणों से विपरीत 'अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, त्याग, तत्त्व, श्रद्धा, क्षमा, नम्रता, सरलता और संतोष' ये दस प्रकार के शुभ अध्यवसाय कर्म बंधन से छुटकारा-मोक्ष के कारण-हेतु हैं। सब कार्यों में अपना कारण जैसा हो, वैसा ही

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कार्य बनता है, अर्थात् शुद्ध कारण से शुद्ध और अशुद्ध कारण से अशुद्ध कार्य बनता है, इत्यादि उपदेश देना । (अध्याय २-५१)

४९. पूर्व कहे अनुसार हिंसा, झूठ आदि हेतुओं से कर्म रूप बंधन प्रवाह की अपेक्षा अनादि कालीन है । अत: कब से जीव को यह बंधन प्रारंभ होगा – उसका अनादिकाल कुछ है ही नहीं, जीव के समान उसे भी अनादि मानते हैं । यहाँ किसी का प्रश्न होता है कि – 'प्रति समय कर्म बंधन यह कार्य रूप है तो उसको अनादि मानना किस तरह कह सकते हैं? क्योंकि जो कार्य रूप हो वह उत्पत्ति धर्म वाला होता है और उत्पत्ति का काल ही उसका आदि काल कहलाता है। कर्म भी प्रति समय नया बन्धन होता है तो वह उत्पन्न होने से उसकी आदि है, तो अनादि क्यों कहलाता है?' यहां शास्त्रकार महर्षि समाधान करते हैं कि 'कर्म यह स्वयं कार्य है फिर भी अतीत-भूतकाल के समान उस का अनादित्व असत्य नहीं है । जैसे काल के प्रत्येक समय में वर्तमानत्व होने पर भी अपने-अपने उत्तर समयों की अपेक्षा से वे सब भूत काल रूप हैं तथा अभी के समय की अपेक्षा से भी सब समयों का भूतकाल रूप है अर्थात् उसमें उस काल में वर्तमान समय तो था, फिर भी वर्तमान की अपेक्षा से वे सारे भूतकाल हैं और उसकी आदि नहीं है, वैसे ही यहां बंधन रूप कर्म का भी आदि नहीं है। जैसे अतीत काल के अनंत समयों में उस काल की अपेक्षा से वर्तमान काल है वैसे ही यहां प्रति समय में स्व हेतु से कर्म बन्धन होने में भी कार्य धर्म-उत्पत्ति धर्म वर्तमान काल रूप में योग्य है परन्तु उत्तरोत्तर समय में कर्म बंधन की अपेक्षा से पूर्व से पूर्व समय के सर्व कर्म बन्धन भूतकाल के ही हैं और भूतकाल के समान उनकी भी आदि नहीं है, इसलिए प्रवाह से वह अनादि काल के हैं। ऐसा समझाना। (अध्याय २-५२)

५०. यहां करता और किया – इन दो शब्दों में करता 'चालू क्रिया' को कहते हैं और किया जो क्रिया समाप्त हो उसे कहते हैं । संस्कृत भाषा में चलती क्रिया में 'क्रियमाण' और समाप्त कार्य में 'कृतक' शब्द का उपयोग होता है, तथापि यहाँ कर्म बन्धन की क्रिया प्रति समय चलती है फिर भी उसे 'कृतक' बतलाकर उससे अनादित्व की सिद्धि की है। वह इस तरह '**कडेमाणे कडे**' अर्थात् 'करता हो उसे भी किया' यह पर्यायास्तिकाय निश्चयनय के अभिप्राय से '**क्रियमाण**' करते हुए भी '**कृतक**' किया ऐसा कह सकते हैं । इस नय पर्याय की मुख्य मान्यता होने से प्रतिसमय की क्रिया को प्रति समय में मुख्य रूप में मानते हैं, अर्थात् उसके मतानुसार 'क्रियाकाल ही समाप्ति काल' है, चाहे पट हजारों तंतुओं का हो, परन्तु प्रत्येक तंतु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की क्रिया उस तंतु को जोड़ते ही समाप्त होती है। एक तंतु जोड़ा अर्थात् हजार तंतु का पट हजारवें अंश में तैयार हुआ- यह जैसे सत्य है वैसे ही यहां भी जिस समय में जो कर्म बन्धन करने की क्रिया प्रारंभ की हो उसी समय में वह क्रिया समाप्त भी होती है। इससे उतने अंश में उस कर्म का बन्धन होते हुए भी, बन्धन हो गया ऐसा कहना वह झूठा नहीं है। इस प्रकार से मूल में कर्म बंधन से 'कृतक' अर्थात् अपने हेतु से उत्पन्न हुआ बतलाकर भी 'प्रतिक्षण करता वह कर्म बंधन उत्तरोत्तर कर्मबंधन के साथ में पूर्व कर्म बन्धन की अपेक्षा रूप प्रवाह द्वारा अनादिकाल का है।' ऐसा कहा है वह यथार्थ है । (अध्याय २-५३)

५१. यदि इस प्रकार अनादि कालिक न होता तो '**कृतकत्व**' के स्थान पर '**क्रियमाणत्व**' शब्द का उपयोग उचित माना जाता अर्थात् 'कृतक' शब्द से 'अनादि भूतकाल के समयों में जैसे वर्तमान काल रहता है, वैसे ही बन्धन भी अनादि कालिक होने पर भी उसमें वर्तमान काल रूप - कार्यरूपता बन जाती है।' ऐसा जो कहा है, उसके बदले 'क्रियमाण' अर्थात् 'वर्तमान में होता है' - ऐसा शब्द प्रयोग कर उसमें वर्तमान कालिक -कार्यत्व है, ऐसा ही बतलाया जाता। तात्पर्य यह है कि उसका अनादिकालत्व होने से यहां 'कृतक' शब्द का प्रयोग किया है। (अध्याय २-५४)

५२. पूर्व में कहे अनुसार 'हिंसादि बंधन हेतु या अहिंसा आदि मोक्ष हेतु आत्मा कैसे स्वरूप वाला हो, जो उसमें बंधन या मोक्ष रूप कार्य कर सके?' इस प्रश्न के समाधान में कहते हैं कि - आत्मा यदि परिणामी (भिन्न पर्याय रूप में परिणाम प्राप्त करने वाला) और शरीर से कथंचित् भिन्न तथा कथंचित् अभिन्न हो तभी वह बंध या मोक्ष के हेतु अपने-अपने कार्य उसमें साध सकता है।' यहाँ परिणामी अर्थात् द्रव्य से एक स्वरूप में स्थिर रहने पर भी पर्याय से भिन्न भिन्न रूपांतर को प्राप्त करने वाली वस्तु को परिणामी कहते हैं। जैसे कि - सोना सोने के रूप में कायम रहता है फिर भी कड़ा, हार आदि उत्तरोत्तर बदलती आकृति उसके परिणाम कहलाते हैं । शरीर, शरीर रूप में कायम रहता है, फिर भी उसमें बचपन, जवानी, वृद्धावस्था आदि बदलती अवस्थायें उसके परिणाम हैं । आत्मा आत्मा रूप में कायम है फिर भी देव, नारक, मनुष्य, स्त्री, पशु आदि बदलती अवस्थायें उसके परिणाम हैं । इस तरह जिसके परिणाम बदलते हैं उसकी पूर्व अवस्था का नाश और नूतन की उत्पत्ति होती है, फिर भी वह वस्तु रूप में स्वयं प्रत्येक अवस्था में विद्यमान होता है, वह वस्तु परिणामी कहलाता है। कहा है कि परिणाम के ज्ञाता ने वस्तु का जो सर्वथा नाश न होना या सर्वथा मूल रूप में नहीं रहना, परन्तु रूपान्तर होना उसे परिणामी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहा है, ऐसे परिणाम जिनके बदले उसे परिणामी कहते हैं। इस तरह आत्मा परिणामी हो और शरीर से भी एक अपेक्षा से अभिन्न और दूसरी अपेक्षा से भिन्न हो तभी बन्ध या मोक्ष का हेतु है – उसमें बन्ध या मोक्ष रूप कार्य कर सकता है, इत्यादि समझाना। (अध्याय २-५५)

५३. परन्तु यदि आत्मा को कूटस्थ नित्य – एक स्वरूप वाला ही और शरीर से सर्वथा भिन्न स्वरूप या सर्वथा अभिन्न स्वरूप वाला ही माना जाता है तो उसका बन्ध या मोक्ष इत्यादि होता ही नहीं, अर्थात् बन्ध हेतु या मोक्ष हेतु ऐसे आत्मा में कोई भी फेर-फार नहीं कर सकने से निष्फल ही होता है, इत्यादि समझाना। (अध्याय २-५६)

५४. १-आत्मा की वर्तमान पर्याय अवस्था का विनाश करना, २- पर्याय का विनाश न हो वैसा दु:ख देना और ३- उसे मानसिक क्लेश उत्पन्न करना – इन तीन प्रकार से श्री जिनेश्वर ने आत्मा की हिंसा कहा है, इसलिए इन तीनों प्रकार की हिंसा का प्रयत्न से त्याग करना वह अहिंसा कहलाती है। अब जो आत्मा ही पर्याय रहित केवल द्रव्य स्वरूप हो, जिसमें किसी तरह तिल समान थोड़ा मात्र भी फेर-फार नहीं होता हो वह हमेशा उत्पत्ति-विनाश रहित स्थिर एक ही स्वरूप वाला माना जायेगा, तो उसके पूर्व स्वरूप के नाश रूप मृत्यु, दु:ख और क्लेश आदि नये भावों की उत्पत्ति उसमें नहीं होती और पूर्व कहे अनुसार तीनों में से एक भी हिंसा उसमें नहीं होती, क्योंकि उन तीनों प्रकारों में से एक भी हिंसा उसकी प्रारंभ अवस्था का नाशक ही है। पहली हिंसा उसके वर्तमान मनुष्य या तिर्यंच आदि पर्याय का नाशक है, दूसरी हिंसा उसकी सुखी अवस्था का नाशक है, और तीसरी हिंसा उसकी चित्त प्रसन्नता का नाशक है। 'आत्मा को नित्य अपरिणामी' मानने से यदि एक एक प्रकार की अवस्था का नाश नहीं होगा, तो हिंसा किसकी और किस तरह होंगी ? नहीं होगी – वह समझाना। (अध्याय २-५७)

५५. इस तरह आत्मा को जैसे एकान्त नित्य मानने से हिंसा आदि उसमें नहीं घट सकतीं वैसे ही एकान्त अनित्य मानने से भी उसमें हिंसा आदि नहीं घट सकती हैं, क्योंकि प्रतिक्षण समय-समय पर नाश होती अनित्य आत्मा स्वयमेव मरने से शिकारी, चांडाल आदि कोई भी उसका हिंसक ही किस तरह मानोगे ? और हिंसक स्वयं भी अनित्य-क्षण विनश्वर होने से हिंसा करेगा भी किस तरह? क्योंकि उसे भी एकान्त अनित्य क्षण विनाशी ही मानना होगा। इस तरह पदार्थ को एकान्त नित्य मानने में भी अपने उत्पत्ति क्षण के दूसरे ही क्षण में स्वयं नाश होने से जगत् में कोई किसी का हिंस्य या हिंसक दोनों ही नहीं हैं। (अध्याय २-५८)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५६-५७. इस तरह एक तो आत्मा को एकान्त नित्य या अनित्य मानने से हिंसा वस्तु ही उड़ जाती है। दूसरा 'आत्मा और शरीर दोनों' सर्वथा अलग ही हैं और परस्पर कोई सम्बन्ध ही नहीं है, ऐसा मानने से भी स्त्री का या शयन-आसन आदि का शरीर का इष्ट स्पर्श होता है अथवा कांटे, अग्नि आदि अनिष्ट स्पर्श जो कि केवल स्पर्श- नेन्द्रिय का विषय है, उस आत्मा को कोई सुख दुःख का अनुभव नहीं करवा सकता। जैसे देवदत्त एवं अग्निदत्त नामक मनुष्य दोनों अलग हैं तो देवदत्त का खाया हुआ अग्निदत्त की भूख शान्त नहीं करता, वैसे ही शरीर और आत्मा अलग ही हैं, तो शरीर के स्पर्श का अनुभव आत्मा को किस तरह हो सकता है ? इतना ही नहीं परन्तु शरीर में पुष्पमाला पहनना, चंदन विलेपन करना, स्त्री सेवन आदि क्रीड़ा करना और वस्त्र, अलंकार धारण करना – ये सारे उपकार शरीर को ही होंगे, आत्मा अत्यंत भिन्न होने से उसे कोई उपकार नहीं होगा। इसी तरह शरीर को शिक्षा करते पीड़ा आदि अपकार भी आत्मा में नहीं होगा, और शरीर से शरीर का घात रूप हिंसा भी हिंस्य या हिंसक शरीर की क्रिया रूप होने से आत्मा तो हिंस्य या हिसंक भी नहीं होगा। परिणाम यह आयेगा कि- आत्मा में हिंसा, सुख-दुःख आदि भाव नहीं होने से शास्त्र और अनुभव सारा असत्य ही सिद्ध होगा । (अध्याय २-५६, ६०)

५८-५९. जैसे एकान्त से शरीर या आत्मा को अलग मानने से पूर्व कहे अनुसार हिंसादि योग्य नहीं हैं, वैसे एकान्त से 'शरीर ही आत्मा है' इस तरह अभेद मानने से भी हिंसादि घटित नहीं होगा। जैसे कि जो 'चैतन्य युक्त शरीर वही आत्मा है' ऐसा मानता है । उस नास्तिकवादी के मतानुसार आत्मा की मृत्यु ही उड़ जाती है, क्योंकि शरीर या आत्मा अलग है ही नहीं तो मृत्यु किसकी कहोगे? यदि मृतक देह में भी देह के आरंभक-देह रूपरूप बने पृथ्वी, पानी, तेज, वायु और आकाश- इन पाँच भूतों में से एक भी भूत का अंशमात्र वियोग हुआ दिखता नहीं है, तो मरा कौन ? वायु का वियोग माना तो मृतदेह फूलता है- वह नहीं बन सकता। तेज-अग्नि का वियोग मानें तो सड़ता है, दुर्गन्ध वाला बनता है - वह नहीं होता इत्यादि विचार करने से मृतदेह में भूत का वियोग तो सिद्ध नहीं होता, फिर मृत्यु किसकी किस रूप में हुई ? यहाँ नास्तिकवादी 'पूर्व में थे उन वायु- तेज का वियोग होता है इसलिए वह मृत्यु कहलाती है और मृत्यु के बाद अन्य वायु, तेज का योग होने से वह फूलता है - सड़ता है ।' इस तरह मनाने की मेहनत करता है तो भी वह असत्य है, क्योंकि मृत्यु मानते हुए परलोक का तो अभाव ही रहेगा। आत्मा जो देह रूप है वह देह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तो यहाँ विद्यमान है, परलोक में नहीं गया। देह ही आत्मा है, जो कि यहाँ प्रत्यक्ष है और उससे अलग आत्मा है ही नहीं। तो परलोक में कौन गया ? इसके बचाव में 'मृत्यु होती है और परलोक नहीं है' ऐसा कहा जाता है तो वह भी सर्वथा झूठ है। सर्व दर्शन के शिष्ट पुरुषों को मान्य, प्रमाण पुरस्सर सिद्ध होते परलोक का इस तरह अपलाप कैसे हो सकता है? परलोक किसी कल्पना मात्र से मान लिया हुआ नहीं है वरन् प्रमाण सिद्ध है, क्योंकि जीव को जो जो अभिलाषा-इच्छा होती है वह पूर्व-अभिलाषा इच्छा में से जन्मती है, अर्थात् उस की पूर्व में कोई अभिलाषा होती है।' जैसे युवावस्था की इच्छा के पूर्व बाल्यकाल की इच्छाएँ होती हैं। इस नियमानुसार उस दिन के जन्मे बालक को जैसे खूलना, माता के स्तन पर दृष्टि पड़ते ही स्तनपान करने की इच्छा होती है तो उसकी पूर्व में भी उसे इच्छा होनी ही चाहिए। वह इच्छा इस जन्म की नहीं परन्तु पूर्व जन्म की ही युक्त है। यहाँ स्तनपान की इच्छा तो पहले ही होने से उस इच्छा का कारण पूर्व जन्म की इच्छा है। ऐसा मानना ही चाहिए। यह इच्छा ही पूर्व जन्म की सिद्धि करती है। पर की अपेक्षा से ही पूर्व कहलाता है, पर जन्म बिना पूर्वजन्म नहीं कहलाता। बालक का जो वर्तमान जन्म है, वह उसके पूर्व जन्म की अपेक्षा परजन्म ही है, यह परजन्म ही परलोक है। इसे माने बिना कैसे चल सकता है ? ऐसे प्रमाण सिद्ध परलोक का नास्तिक अपलाप करे - इतने मात्र से वह असत्य नहीं माना जायेगा। इत्यादि विस्तार पूर्वक समझाना। (अध्याय २/६१-६२)

६०-६१. इस तरह नास्तिक मत में जैसे देह और आत्मा को अभिन्न मानने से मृत्यु और परलोक उड़ जाता है वैसे ही सांख्य दर्शन के मतानुसार आत्मा और शरीर में सर्वथा भिन्नता मानने से भी एक शरीर से दूसरे को ताड़ना, तर्जना हिंसा आदि करना अशुभ कार्य और देवादि को नमन, स्तवन आदि शुभ कार्यों का फल भी आत्मा को नहीं मिलेगा अर्थात् इससे दु:ख या सुख का आत्मा को अनुभव नहीं होगा। दूसरे के द्वारा किये शुभ या अशुभ का अनुभव दूसरे को नहीं होता तो 'करेगा कोई और भोगेगा कोई' ऐसा मान लें तो जिसने किया उसे अनुभव न होने से **'कृतनाश'** और नहीं करने का अनुभव होने से **'अकृतागम'** यह आपत्तियाँ आती हैं, जो जगत् को मान्य ही नहीं हैं। और आत्मा द्वारा शुभाशुभ क्रिया द्वारा उर्पाजन किये शुभाशुभ कर्मों का फल सुख, दु:ख भी इस जन्म में अथवा परजन्म में देह को भोगना नहीं होगा, क्योंकि आत्मा जिसका कर्ता है, उसका फल अकर्ता शरीर को किस तरह मिलेगा ? इत्यादि समझाना। (अध्याय २- ६३, ६४)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

६२. सांख्य दर्शनकार कभी यदि ऐसा समझाए कि चाहे शरीर के द्वारा किया आत्मा अनुभव न करे या आत्मा की क्रिया शरीर अनुभव न करे- इससे कोई आपत्ति नहीं है, फिर भी वह उचित नहीं है, क्योंकि जगत् में सब लोगों में प्रसिद्ध है कि शरीर के द्वारा की हुई शुभाशुभ क्रिया का फल आत्मा और आत्मा के किये शुभाशुभ ध्यानादि का फल शरीर अनुभव करता है। इसी तरह ही प्रत्यक्ष दृष्ट और शास्त्र सिद्ध होने से जो इष्ट है, वह दृष्ट-इष्ट ही असत्य हो तो उस मत को सत्य किस तरह मान सकते हैं ? प्रत्यक्ष दिखता है कि देह द्वारा चोरी-परदारा सेवन आदि दुष्ट क्रिया करने के योग से जेल आदि में दीर्घकाल तक शोक, खेद आदि दुःख आत्मा भोगता है और आत्मा को उत्पन्न हुए क्षोभ, भय, ताप आदि की पीड़ा शरीर भी भोगता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष दृष्ट और शास्त्र सिद्ध भावों का अपलाप करना नास्तिकवाद का लक्षण होने से सज्जन पुरुषों को वह मान्य ही नहीं है। इत्यादि समझाना (अध्याय २-६५)

६३. इस प्रकार आत्मा को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य और शरीर से सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न मानने से हिंसा आदि बंध हेतु अथवा अहिंसा आदि मोक्ष हेतु, बंध या मोक्ष में हेतु रूप ही नहीं बनता- यह बात सिद्ध हुई । इसलिए आत्मा को कथंचित् नित्यानित्य या शरीर से कथंचित् भिन्नाभिन्न मानना ही चाहिए । हिंसा अहिंसादि हेतुओं की यर्थाथता तब ही सिद्ध होती है और हेतुओं की सिद्धि से ही आत्मा के बंध या मोक्ष भी सत्य होते हैं । इसलिए यही सत्य तत्त्व है । इस तत्व को अतत्त्ववादी-मिथ्यावादी समझ नहीं सकते, इत्यादि श्रोताओं को समझाना चाहिए। (अध्याय २-६६)

६४. इस तरह से तत्त्व का उपदेश देने के बाद उपदेश देने वाले ने श्रोता में वह परिणाम प्राप्त किया है अथवा नहीं किया- उसकी परीक्षा करनी चाहिए । श्रोता यदि एकान्तवाद के प्रति अरुचि सूचक बातें-संभाषण आदि करे तो उसके अनेकान्तवाद परिणाम आये हैं - ऐसा मानाना। (अध्याय २-६७)

६५. इस प्रकार से एकान्तवाद असत्य समझने के बाद बंधन के भेद अर्थात् बंधन रूप कर्म का मूल ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों में १- ज्ञानावरणीय के पांच, २- दर्शनावरणीय, के नौ, ३- वेदनीय के दो, ४- मोहनीय के अट्ठाईस, ५- आयुष्य के चार, ६- नाम के बयालीस, ७- गोत्र के दो और ८- अंतराय के पांच - ये कुल मिलाकर सत्तानवे उत्तर भेद बंधशतक गाथा ३६ में कहे हैं । अन्य ग्रन्थों में एक सौ बीस भी कहे हैं, इत्यादि ग्रन्थों के अनुसार उसे समझाना। (अध्याय २-६८)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

६६. एवं वरबोधि लाभ का स्वरूप समझाना । 'वर' अर्थात् 'निकाचित तीर्थंकर नाम कर्म के कारण भूत होने से' अन्य से श्रेष्ठ बोधिलाभ अर्थात् सम्यकत्व की प्राप्ति है, ऐसे वर बोधि की प्राप्ति के कारण, उसका शुद्ध स्वरूप और उसका फल- इन विषयों का ज्ञान कराना चाहिए । जैसे कि -

(अ) वर बोधि की प्राप्ति के पाँच कारण हैं-विशिष्ट सम्यकत्व प्राप्ति रूप जो बोधि लाभ है वे उसके कारणभूत १- तथाभव्यत्व, २- काल, ३. नियति, ४. कर्म और ५- पुरुषार्थ भावों का योग होने से होता है । उन पाँच भावों का स्वरूप इस तरह है - (अध्याय २-६६)

(१) 'तथाभव्यत्व' - भव्यत्व अर्थात् आत्मा में रही मोक्षप्राप्ति की स्वाभाविक योग्यता। यह योग्यता आत्मा का मूल तत्त्व होने से, वह भी आत्मा के समान अनादिकाल से होती है, इस भव्यत्व ही में जब शेष काल, निर्यात आदि चार कारणों का योग मिल जाता है तब भव्यत्व के स्थान पर तथाभव्यत्व कहलाता है। तथाभव्यत्व कहने में कारण यह है कि अन्य सहकारी कारणों के योग से जीव में पूर्वोक्त धर्म बीजों की सिद्धि होती है। प्रभु पूजा, सिद्धान्त भक्ति, धर्म श्रवण, ज्ञान प्राप्त करना आदि धर्म बीजों की प्राप्ति से , काल आदि सहकारी कारणों की विचित्रता के कारण मूल भव्यत्व अनेक भेदवाला बन जाता है। किसी जीव के भव्यत्व के साथ में जब काल, नियति कर्म आदि अमुक प्रकार का मेल होता है, तब किसी अन्य जीव के भव्यत्व के साथ में वे काल आदि इससे अमुक अलग प्रकार के मिलते हैं। इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार के काल, नियति, कर्म और पुरुषार्थ का योग होने से उन-उन जीवों का भव्यत्व भी भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार का बनता है ।इसलिए ही उसे तथाभव्यत्व कहते हैं। जैसे एक ही प्रकार के दूध में शक्कर, बादाम, इलायची आदि कम ज्यादा मिलाने से उसकी पोषक शक्ति में भेद हो जाता है वैसे ही भव्यत्व में भिन्न-भिन्न प्रकार के कालादि मिलने से अलग अलग जीवों के कारण मोक्ष प्राप्ति रूप कार्य सिद्धि में योग्यता रूप भव्यत्व भी भिन्न-भिन्न प्रकार वाला बनता है। एक समान नहीं होने से ही तथाभव्यत्व कहा है।

(२) 'काल'- जैसे बसंत ऋतु आदि काल-समय वनस्पति पर फल आने में कारणभूत बनता है, वैसे ही यहाँ जीव के भव्यत्व रूप वृक्षो पर मोक्ष रूप फल बनाने वाला चरमावर्त काल है। चरमावर्त काल में कोई विशिष्ट उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी रूप काल है अथवा उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के अन्दर मोक्ष प्राप्ति का हेतु रूप दु:षम सुषमादि आरे हैं, उसके बिना काल समझना। जब भव्यत्व में ऐसे मोक्ष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गमन योग्य काल का योग मिलता है, तब वह 'तथाभव्यत्व' बनकर मोक्ष रूपी फल प्राप्त करता है, उस काल में अपना जीवन सफल कर मोक्ष जाता है।

(३) 'नियति'- अर्थात् भवितव्यता- भव्यत्व और काल का योग होने के बाद भी जब कम अधिकता बिना नियत प्रवृत्ति कराने वाला नियति नाम का तीसरा कारण मिलता है तब उस भव्य जीव का तथाभव्यता रूप भवितव्यता के जैसा स्वरूप बनता है। उसके अनुरूप ही आत्मा का प्रयत्न होता है और इससे उस आत्मा का मोक्ष होता है।

(४) 'कर्म'- कर्मों के रस आदि की अशुभता में यदि कमी होती जाती हो, उसके उदय से अलग-अलग शुभाशय-अध्यवसाय का अनुभव होता जाय और उसे भोगते हुए उत्तरोत्तर शुभकर्म का बंधन होता जाये ऐसा कर्म, अर्थात् अशुभ कर्मों का नाश और शुभ कर्मों की वृद्धि हो, ऐसे कर्म का संयोग होता रहे- इससे भी जीव का भव्यत्व तथाभव्यत्व रूप में परिणाम प्राप्त कर मोक्ष फल देता है।

(५) पुरुषार्थ- विशेष पुण्य कर्म वाला, महाशुभ आशय वाला, विशिष्ट तत्त्व को समझने की शक्ति वाला और श्रवण किए जीवादि तत्त्वों के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने में कुशल पुरुष-आत्मा अर्थात् कर्म-कालादि का योग होने से जिसका शुद्ध स्वरूप कई अंशों में प्रकट हुआ हो वह पुरुष कहलाता है। ऐसे जीव से शुद्ध पुरुषार्थ हो सकता है। इस तरह पुरुष अर्थात् इस प्रकार आत्मा का पुरुषार्थ (उद्यम)- उसका संयोग मिलने से तथाभव्यत्व द्वारा उसका मोक्ष होता है।

इस तरह १- तथाभव्यत्व, २- तथा प्रकार का धर्म साधक काल, ३- उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति करने की भवितव्यता-योग्यता, ४- अशुभ कर्मों का विनाश और शुभ कर्म की पुष्टि रूप कर्म का संयोग तथा ५- विशुद्ध पुरुषार्थ करना, ये पाँच वर बोधि लाभ के कारण- हेतु हैं, उसे समझाना। उसके बाद -

(ब) 'वरबोधि का स्वरूप' - वरबोधि का लाभ किसको कहते हैं ? उसे समझाते हैं कि- जीव अजीव आदि दृष्ट अथवा अदृष्ट पदार्थों की यथार्थ श्रद्धा आत्मा में प्रगट हो उसे वरबोधि का लाभ कहते हैं अर्थात् वरबोधि लाभ वाला 'शुद्ध श्रद्धा' युक्त होता है। इस तरह उसका स्वरूप समझाना।

(स) 'वरबोधि का फल' - १- राग द्वेष के परिणाम की मंदता होनी, २- पुनः सात कर्मों की महान स्थिति का बन्धन नहीं करना, ३- दुर्गति का अभाव होना, ४- वरबोधि की शुद्धि होने से सर्व विरति चारित्र की प्राप्ति होती है, ५- रागादि का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्षय होना और ६- मोक्ष प्राप्त करना। ये वर बोधि की उत्तरोत्तर विशुद्धता का फल हैं । उसमें -

१. **'नदीघोल पाषाण न्याय'**– अर्थात् पर्वत की नदी का पत्थर जैसे घिस-घिस कर सुन्दर गोलाकार बनता है वैसे ही जीव के साथ लगे कर्मों की स्थिति संसार में परिभ्रमण करते-करते कम होती है, उसे शास्त्र में 'यथा प्रवृत्ति करण' कहते हैं। सातों कर्मों की स्थिति जब घटते-घटते सत्तर कोड़ा कोड़ी के स्थान पर एक कोटा कोटी सागरोपम से भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी कम शेष रहे तब आत्मा को तीव्रतर राग, द्वेष का उदय होता है- वह अति चिकना होता है । उसे शास्त्र में राग द्वेष की ग्रन्थि-गाँठ कहते हैं। जीव यहाँ तक आकर वापिस गिरता है, इतनी कर्म स्थिति कम होने के बाद रुक जाता है, इससे वह ग्रन्थि का भेदन नहीं कर सकता। इस तरह अनेक बार उपयुक्त न्याय से स्थिति घटती है, उन सबको 'अचरम-यथा प्रवृत्ति करण' कहते हैं । ऐसा अचरम-यथा प्रवृत्ति करण व्यवहार नय से अनंत भी होने संभव हैं, परन्तु जब उपर्युक्त तथाभव्यता की परिपक्व अवस्था होती है तब जीव को आखिरी समय में पूर्व कहे अनुसार कर्मों की घटी हुई स्थिति पुनः बढ़ती नहीं है, इसलिए इसे चरम-यथा प्रवृत्ति करण कहते हैं। उस समय भी पूर्व की तरह तीव्र राग द्वेष की ग्रन्थि का उदय तो होता है परन्तु जीव वापिस गिरता नहीं है अर्थात् पुनः दीर्घकाल की स्थिति वाला कर्मबन्धन नहीं करता । परन्तु 'अपूर्व आत्मवीर्य उल्लास रूप अपूर्वकरण' (आत्म सामर्थ्य) विशेष प्रगट होता है। उस समय वज्र की सुई के बल से राग द्वेष की ग्रन्थि का भेदन कर देता है अर्थात् राग द्वेष के वश नहीं होता, उसे बिखेर देता है। इसे 'अपूर्व करण द्वारा ग्रन्थिभेद' क्रिया कहते हैं। उसके बाद अंतर्मुहूर्त तक आत्म शुद्धि जनित विशुद्ध अध्यवसाय रूप 'अनिवृत्ति करण' के बल से जीव मिथ्यात्व के तीन पुंज कर, उसके समकित मोहनीय पुंज के उदय से क्षायोपशमिक सम्यकत्व रूप वर बोधि को प्राप्त करता है। इस गुण से जीव को शुद्ध तत्त्व में श्रद्धा उत्पन्न होती है और इससे उसे मोक्ष होने तक पूर्व के समान तीव्र राग द्वेप के परिणाम नहीं होते । जैसे मणि को एक बार बींधन करने के बाद संयोगवशात् वह छिद्र बन्द हो जाये फिर भी प्रथम के समान बीधंन जैसी क्रिया नहीं रहती, वैसे ही यहाँ इस श्रद्धा सम्यकत्व का अन्तर्मुहूर्त मात्र भी अनुभव होने के बाद पुनः ग्रन्थि भेद नहीं होता, ऐसे तीव्र राग, द्वेप जीव को नहीं होते । उसके बाद राग, द्वेष की तीव्रता के अभाव रूप मंदता होती है, वह वर बोधि की प्राप्ति का प्रथम फल जानना।

२. यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करता है कि अंतर्मुहूर्त के पश्चात् फिर मिथ्यात्व

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का उदय हो तो भी तीव्र राग द्वेष न हो तो उसका क्या कारण है ? उसे समझाते हैं कि सम्यकत्व प्राप्ति काल में- ग्रन्थि भेद काल में आयुष्य कर्म बिना सात कर्मों की यदि अंत: कोड़ा कोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति शेष रहती है, वह ग्रन्थि भेद करने के बाद प्राप्त किये हुए समकित का वमन कर जाय और मित्थ्यात्व के उदय से श्री तीर्थंकर परमात्मा की अशातना सदृश अति पाप कार्य आचरण करे तो भी ग्रन्थि भेद के समय शेष रही स्थिति से अधिक स्थिति वाले कर्मों का बन्धन नहीं करता है, यह मत सैद्धान्तिक है। कर्मग्रंथ के अभिप्राय से तो सम्यकत्व से गिरने वाले को भी कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बन्धन होता है, रस का तीव्र बन्धन नहीं होता। अधिक से अधिक उत्कृष्ट स्थिति बन्धन करे तो भी अंत: कोड़ा कोड़ी सागरोपम जितना ही कर्म बन्धन करता है, क्योंकि ऐसी स्थिति के बन्धन के कारणरूप पूर्व के समान तीव्रतर राग, द्वेषादि का परिणाम उस जीव में नहीं होता। इस प्रकार वर बोधि की प्राप्ति के बाद तीव्र रागादि के अभाव में पुन: पूर्व सदृश कर्म की लम्बी स्थिति का बन्धन नहीं होता है- यह वर बोधि लाभ का दूसरा फल है।

३. वर बोधि-सम्यकत्व की प्राप्ति होने के बाद वर्तमान में स्थित रहते तथाविध तथाभव्यत्व का परिपाक होने से यदि वह टिका रहे और उसकी प्राप्ति होने से पहले आगामी जन्म का आयुष्य बंधन न किया हो तो तिर्यंच और नरक की दुर्गति का आयुष्य बंधन नहीं होता है। यदि आयुष्य का बन्धन हो भी तो देव या मनुष्य का ही होता है, वह भी व्यंतरादि हल्के देव या हल्के मनुष्य रूप में जन्म नहीं लेता वरन सुदेवत्व-वैमानिक देव आदि तथा कुल,जाति, कर्म से विशिष्ट मनुष्यत्व आयुष्य का ही बंधन होता है। इस तरह वर बोधि गुण की प्राप्ति से जीव को नरक- तिर्यंच सदृश दुर्गति में जाना नहीं होता- यह तीसरा इसका फल है।

४. सम्यकत्व प्राप्ति होने के पश्चात् नि:शंकित, निष्कांक्षित आदि दर्शनाचार के आठ आचारों के पालन रूप पानी के पूर से शंका, कांक्षा आदि दोष साफ होने से उत्तरोत्तर वृद्धि होते वर बोधि की विशुद्धि के बल से जीव के सर्व पाप व्यापार के त्याग रूप और पाप रहित आचार रूप सर्व विरति चारित्र की प्राप्ति होती है। क्योंकि निश्चय नय से सर्व विरति ही शुद्ध सम्यकत्व रूप है सूत्र श्री आचारंग सूत्र १/५/३ सूत्र १५५ में कहा है कि **"जं मोणंति पासहा तं सम्मंति पासहा। जं सम्मंति पासहा तं मोणंति पासहा॥"** अर्थात् जो मुनित्व देखता है वही सम्यकत्व है, वही देखता है और सम्यकत्व रूप देखता है उसे ही मुनित्व रूप में देखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विशुद्धता प्राप्त करने वाला सम्यकत्व ही चारित्र है ओर चारित्र

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ही विशुद्ध सम्यकत्व रूप है अर्थात् इन दो में तात्त्विक भेद नहीं है। इस तरह वर बोधि से चारित्र की प्राप्ति होती है यह उसका चौथा फल है।

५. मोक्षार्थी आत्मा को बार-बार अभ्यास करना चाहिए। चिन्तन करने योग्य भावों को भावना कहते हैं, जैसे विधिपूर्वक अच्छी तरह से औषध उपचार करने से रोग मिट जाता है तथा प्रचंड वायु के बल से बादल तितर बितर हो जाते हैं वैसे ही अनित्य, अशरण आदि भावनाओं का चिन्तन करने से विशुद्ध भावना जागृत होती है। प्रशम रति की गाथा १४६-१५० में कहा है कि १-पदार्थों की अनित्यता भावना, २- संसार में जीव की अशरण भावना, ३- एकत्व भावना, ४- अन्यत्व भावना, ५- शरीर की अशुचि भावना, ६- चार गति में जीव के संसरण परिभ्रमण रूप संसार भावना, ७- कर्मों का आश्रव भावना, ८- कर्मों का संवर भावना, ९- कर्मों की निर्जरा भावना, १०- लोक की स्वरूप भावना, ११- धर्म सुआख्यात भावना और १२- बोधि दुर्लभ भावना। इन बारह भावनाओं द्वारा तत्त्व का विशुद्ध चिन्तन करना चाहिए। इससे आत्मा का राग, द्वेष, मोह आदि मल नाश होता है, क्योंकि विशुद्ध भावनाएं रागादि आत्म शत्रुओं का विनाश करती हैं। इससे रागादि का क्षय होता है। इस तरह रागादि अशुभ भाव-कर्मों का नाश होता है। यह वर बोधि का पांचवां फल-लाभ है।

६. उसको रागादि शत्रुओं का क्षय हो जाने से समस्त लोकालोक प्रकाश रूप केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त होता है और आयुष्य पूर्ण होते ही संसार से पार होता है अर्थात् जीव को सदा के लिए कर्म बन्धन से छुटकारा (मुक्ति) मोक्ष होता है। इस तरह मोक्ष का स्वरूप भी समझाना कि जीव को कर्मों का सर्वथा संयोग मिट जाने से शारीरिक-मानसिक किसी जाति का दुःख अल्पमात्र भी जिसमें नहीं है- ऐसे संसारी आत्मा को अगम्य, असाधारण, शाश्वत- जो कभी भी नाश न हो- ऐसे अखंड आत्मानंद का अनुभव होता है। वही आत्मा का मोक्ष है, इत्यादि श्रोता को समझाना। (अध्याय २-७० से ७७ तक)

इस तरह से धर्म उपदेश की विधि विस्तार पूर्वक बतलाकर उपसंहार करते हुए कहते हैं कि सुनने की इच्छा वाले योग्य जीव को संवेग उत्पन्न होता है। इस तरह उपर्युक्त श्रुत धर्म जिसमें परिणाम को प्राप्त हो ऐसे मुनि महात्मा को धर्म का उपदेश देना चाहिए। यहाँ कोई शंका करता है कि-' विधि पूर्वक धर्म उपदेश देने पर भी यदि श्रोता को तथाविध कर्मदोष से बोध न हो तो धर्म उपदेशक को क्या लाभ' ? वहाँ सर्वज्ञ कहते हैं कि इस प्रकार श्रोताओं के कठोर कर्मों के दोषों के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कारण यदि उन्हें प्रतिबोध न हो फिर भी परोपकार- अनुग्रह- निर्मल चित्त वाले उपदेशक मुनि को तो धर्म उपदेश देने से उसका फल मिलता ही है ।

फिर यहाँ शंका करता है कि- 'उपदेश देने से किसी जीव में उल्टा परिणाम भी आ सकता है, तो ऐसे धर्म का उपदेश देने से क्या लाभ है ? कोई लाभ नहीं है अत: उपदेश नहीं देना चाहिए।' यहाँ इसका समाधान करते हैं कि-इस जगत् में उपकार अनेक प्रकार से होता है परन्तु दु:ख को मूल से छेदन करने वाले धर्म उपदेश से योग्य जीव का जो उपकार होता है, वह उपकार किसी काल में- किसी क्षेत्र में अन्य किसी प्रकार नहीं हो सकता। क्योंकि धर्म उपदेश से वर बोधि की प्राप्ति रूप श्रद्धा गुण प्रगट होता है और इस परम्परा में अल्पमात्र भी जहाँ दु:ख नहीं है ऐसे मोक्ष सुख को प्राप्त करवाता है। इस तरह धर्म उपदेश से जीव परम्परा से मोक्ष सुख प्राप्त करता है इसलिए योग्य जीवों को महा उपकारी का कारण होने से उपदेश अधिकारी को विधिपूर्वक उपदेश देना चाहिए। उस उपदेश की शास्त्र कथित योग्यता धारण करने वाले महामुनि का यह आवश्यक कर्त्तव्य है ।

इस तरह ग्रन्थकार श्री ने उन्नीसवीं गाथा के विवेचन में धर्म बिन्दु ग्रन्थ में पूज्यपाद आचार्य श्री हरिभद्र सूरि जी द्वारा बतलाई गई धर्म उपदेश की विधि विस्तार पूर्वक बतलायी। अब सद्धर्म ग्रहण करने लिए जीव में कैसी योग्यता होनी चाहिए, यह बीसवीं गाथा में कहते हैं:-

संविज्ञस्तच्छ्रुतेरेवं, ज्ञाततत्त्वो नरोऽनघः ।
दृढं स्व शक्त्या, जातेच्छः संग्रहेऽस्थ प्रवर्त्तते ॥२०॥

अर्थ :- इस तरह से उपदेश श्रवण करने से तत्त्व को जानकर संवेगी और पुण्यशाली मनुष्य धर्म की इच्छा वाला बनकर अपनी शक्ति अनुसार दृढ़ विचार करके धर्म को ग्रहण करता है।

भावार्थ :- पूर्वोक्त विधि के अनुसार धर्म उपदेश श्रवण करने से तत्त्व की श्रद्धा में बाधक मिथ्यात्व रूपी मैल दूर होता है। इससे तत्त्वों का ज्ञान अर्थात् हथेली में रहा आंवले, या मोती के समान जीव-अजीव आदि समस्त वस्तु तत्त्व का उसे शास्त्र रूपी चक्षु द्वारा ज्ञान होता है। इससे संवेगी बनता है अर्थात् संवेग गुण उसमें प्रगट होता है। इसे धर्म करने वाले की इच्छा वाला श्रोता दृढ़ बना, अति सूक्ष्म निपुण बुद्धि से विचार कर, धर्म करने में हेतुभूत- सहायक अपनी सामर्थ्य के अनुसार धर्म को सुन्दर भाव से ग्रहण करता है (इसका उल्लेख दूसरे विभाग के प्रारंभ में कहा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जायेगा ।) अर्थात् योग-वदन निमित्त आदि की शुद्धि, सावधानी एवं विधिपूर्वक धर्म स्वीकार करने की प्रवृत्ति करता है।

सूक्ष्म विचार किए बिना, पालन करने के परिणाम बिना, संयोगादि का बल विचार किए बिना, न्यून या अधिक धर्म कर आखिर में भंग होने उल्टा अनर्थ होना, भी संभव हो जाता है । इसलिए दीर्घ दृष्टि से विचार करने पर, उसके पालन करने की शक्ति का माप निकाल कर धर्म प्रवृत्ति करने का सूचन किया है। अर्थापत्ति से धीरे-धीरे स्वीकार किए धर्म का सम्यक् पालन करते, रुचि-शक्ति बढ़ती जाती है और उत्तरोत्तर अधिक धर्माराधना कर सकता है। यह वचन अविचार मय कार्य के निपेध की अपेक्षा वाला समझना अन्यथा साहस गुण निराधार बन जाता है। यहां तक सामान्य धर्म के वर्णन द्वारा गृहस्थ के विशेष धर्म को ग्रहण करने के लिए जीव की योग्यता कैसी होनी चाहिए ? धर्मरत्न प्रकरण, श्राद्धविधि प्रकरण आदि ग्रन्थों में जो इक्कीस गुणों से युक्त हो वह धर्मग्रहण करने के लिये योग्य है, ऐसा बतलाया है । वे इक्कीस गुण निम्न प्रकार हैं:-

धम्मरयणस्य जुग्गो अक्खुदो[१] रूववं[२] पगअसोमो[३] ।
लोगप्पिओ[४] अकूरो[५] भीरू[६] असढो[७] सुदक्खिण्णे[८]॥१॥
लज्जालुओ[९] दयालु[१०] मज्झत्थो सोमदिट्ठी[११] गुणरागी[१२] ।
सक्कह[१३] सुपक्ख जुत्तो[१४] सुदीह दंसी[१५] विसेसन्नू[१६]॥२॥
वुड्ढाणुगो[१७] विणीओ[१८] कयण्णुओ[१९] परिहिअत्थकारी अ[२०] ।
तह चेव लद्धलक्खो[२१] इगवीस गुणेहि संपन्नो (संजुतो) ॥३॥

अर्थात् :- १. अक्षुद्र, २. रूपवान, ३. प्रकृति सौम्य, ४. लोकप्रिय, ५. अक्रूर, ६. भीरु, ७. असठ, ८. सुदाक्षिण्य, ९. लज्जालु, १०. दयालु, ११.मध्यस्थ, १२. गुणरागी, १३. सत्कथक, १४. सुपक्ष युक्त, १५. सुदीर्घदर्शी, १६. विशेषज्ञ, १७. वृद्धानुग, १८. विनीत, १९. कृतज्ञ, २०. पर हितार्थकारी, २१. लब्धलक्ष्य- इस तरह इक्कीस गुणों से जो युक्त हो वही धर्मरत्न को ग्रहण करने में योग्य हो सकता है। यहाँ भी गुण का वर्णन करने के लिए गुणी का निर्देश किया है, वह पूर्व के समान गुण-गुणी का अभेद सम्बन्ध बतलाने के लिये है, ऐसा समझना । ये गुण -

१. अक्षुद्र- चंचल- शीघ्रता वाले छिछले मन से रहित । उदार- अपने स्वार्थ की सिद्धि में भी अन्य का नुकसान या पीड़ा न हो, ऐसी धीरता वाला । तुच्छ स्वभाव से रहित, सुस्थिर मति वाला, गंभीर-गहन एवं पूर्ण भाव वाला।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२. रूपवान- पाँचों इन्द्रियों से सम्पूर्ण, अंगोपांग से परिपूर्ण और शारीरिक रुप से अच्छा समर्थ बल वाला ।

३. प्रकृति सौम्य- दृष्टि से देखते ही भय-शंका से रहित स्वाभाविक सुन्दरता, सरलता, शीतल, शान्त सौम्य प्रकृति- आकृत्ति वाला। स्वभाव से ही पाप कर्म नहीं करने वाला, शान्त स्वभाव से अन्य को भी उपशम का कारणभूत इत्यादि ।

४. लोकप्रिय- निंदा, जुआ, शिकार आदि शास्त्र में कहे लोक विरुद्ध कार्यों को नहीं करने वाला। जो विनय, नम्रता, सेवा, सरलता, दया, सहानुभूति, दान आदि गुणों से युक्त हो- वही प्रिय हो सकता है। वही लोगों में धर्म के प्रति बहुमान जागृत करवा सकता है।

५. अक्रूर- अर्थात् क्रूरता का अभाव । प्रशस्त चित्त वाला, क्रोध आदि दूषित कषाय से रहित । आनंद प्रसन्न चित्त रहना, दया भाव इत्यादि से अक्रूरता गुण पैदा होता है।

६. पापभीरुता – पाप कर्मों से डरने वाला पापभीरु कहलाता है । इसमें दुर्गति, अशुभ संस्कार, धर्म की निंदा, मान हानि, अपयश, कलंक आदि इस लोक परलोक सम्बन्धी दु:खों से डरने वाला।

७. असठ- अर्थात् अमायावी-विश्वासपात्र, अन्य जीव को नहीं ठगने वाला तथा प्रशंसा करने योग्य बनता है । ऐसा जीव भाव पूर्वक धर्म में उद्यमी बन सकता है।

८. सुदाक्षिण्य- अपने से वृद्ध, पूज्य, स्नेही, उपकारी, आत्मिक, सहायक, कल्याणमित्र, धर्मी आदि की प्रार्थना को भंग नहीं करने वाला तथा अपना कार्य छोड़ कर भी उनका कार्य करने वाला होता है तथा किसी को भी पाप दोष आदि से बचाने की श्रेष्ठ दाक्षिण्यता गुण होता है।

९. लज्जालु- बुजुर्ग, पूज्य, गुरुजन के सामने अन्य के साथ बड़ी आवाज से नहीं बोलना, अव्यवस्थित नहीं बैठना, ठट्ठा-मजाक नहीं करना, जो लज्जा का विषय है उसमें शर्म करना। इस गुण से धर्म की प्रवृति होती है । इस गुण के कारण जीव पाप-अकार्य, विषय और कषाय के तीव्र आवेश से रुकता है। लज्जालु होने के कारण जीव सदा सदाचार में प्रवृत्त रहता है, जो कार्य-व्रत आदि स्वीकार किया हो उसे आपत्ति या प्रतिकूलता में भी नहीं छोड़ता है।

१०. दयालु - धर्म का मुख्य कारण दया है । दया की रक्षा के लिए ही अन्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सब व्रत हैं । इससे धर्म के अनुष्ठानों में भी दया संकलित ही होती है । इसलिए धर्म के योग्य जीव को दयालु रूप स्वीकार किया है। दु:खी जीवों का दु:ख दूर करने की अभिलाषा दया है।

११. माध्यस्थता- राग, द्वेष रहित सोम दृष्टि से यथास्थित वस्तु तत्त्व का विचार करने वाला अर्थात् हेय-उपादेय के विवेक वाला, नि:पक्षपाती, सत्य का ग्राहक अर्थात् गुणों का संग्रह करने वाला और दोषों का त्याग करने वाला ।

१२. गुण रागी- धार्मिक जन में रहे गुणों को देख कर ही जो खुश होता है वह गुणरागी कहलाता है। गुणी जन का पक्षपात करने वाला, उसका बहुमान करने वाला, निर्गुणी की उपेक्षा करने वाला, प्राप्त गुणों की रक्षा में तथा नये गुणों की प्राप्ति में उद्यम वाला होता है ।

१३. सत्कथक- अर्थात् सत्कथा को करने वाला। आसक्ति से कलुषित आदि से युक्त विकथा का त्याग करने वाला और आत्मिक लाभ दायक धर्म रूपी सत्कथा करने वाला या रुचि वाला होता है।

१४. सुपक्षयुक्त- पक्ष अर्थात् परिवार । जिसका परिवार अनुकूल धर्म में विघ्न करने वाला न हो, धर्मशील-धार्मिक हो तथा सदाचार वाला हो वह मनुष्य सुपक्षयुक्त कहलाता है। वही विघ्न रहित धर्म के लिए समर्थ हो सकता है। वही अपना धर्म सुरक्षित रख सकता है।

१५. सुदीर्घदर्शी- दूरदर्शी का अर्थ है कि प्रत्येक कार्य पर सूक्ष्म दृष्टि से दूर का सोच विचार करके कार्य करना। जिससे परिणाम सुन्दर, लाभदायक हो, सुहित-कारी हो- ऐसा कार्य करने वाला ।

१६. विशेषज्ञ- सचेतन अचेतन द्रव्य या धर्म, अधर्म के हेतुभूत द्रव्यादि गुण दोष को पक्षपात के बिना जान सके- वह विशेषज्ञ कहलाता है । ऐसा विशेषज्ञ ही उत्तम धर्म योग्य बनता है।

१७. वृद्धानुग- उम्र, ज्ञान और पर्याय से प्रौढ़ता युक्त बुद्धि वाला जो सदाचारी हो वह वृद्ध कहलाता है उनके अनुसार चलने वाला, उनसे पूछकर कार्य करने वाला, प्रत्येक कार्य बड़ों को बताने वाला, उनकी शिक्षा को मानने वाला, तथा सेवा करने वाला। इस तरह वृद्ध उत्तम पुरुषों के अनुसार चलना लोक-लोकोत्तर सर्व शिष्टों का मार्ग है ।

१८. विनीत- मोक्ष प्राप्ति का मूल कारण विनय है । अत: यथायोग्य प्रत्येक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्यक्ति पर सद्व्यवहार रखना चाहिए, परन्तु इसमें भी अपने से अधिक गुणी जन के प्रति बहुमान, भक्ति, प्रशंसा, सेवा आदि की विनय करने वाला होता है ।

१६. कृतज्ञः- अपने पर अन्य के द्वारा किये गये उपकार को जानने वाला और सदा याद रखने वाला जीव कृतज्ञ है । उपकारी की महत्ता जानकर उसका बहुमान, सत्कार, भक्ति, सेवा तथा प्रत्युपकार करने की भावना वाला होता है।

२०. परहितार्थ कारी- निः स्वार्थ भाव से परोपकार करने के स्वभाव वाला होता है दाक्षिण्य गुण वाला, प्रार्थना करने वाले के प्रति उपकार करने वाला होता है जबकि इस गुण वाला पर की प्रार्थना किए बिना स्वभाव से ही अपने स्वार्थ बिना ही परहित करने में सदा अनुरक्त होता है। इतनी विशेषता होती है।

२१. लब्धलक्ष्य- जिसकी प्रवृत्ति सर्व प्रथम धर्म के योग्य या मोक्ष, सद्गति, सद्गुण, प्राप्ति लक्ष्य होता है- उसकी प्राप्ति के लिए जो अनुकूल साधना प्रवृति करे वह जीव लब्धलक्ष्य कहलाता है । इस तरह लब्धलक्ष्य वाला धर्म व्यवहार को जल्दी और सरलता से समझ लेता है, तदनुसार अनुष्ठान सीखता है और शीघ्रता से शिक्षा का पारगामी होता है।

इस प्रकार इक्कीस गुणों से जो परिपूर्ण योग्यता वाला हो वही सार रूप धर्मरत्न को ग्रहण करने में योग्य है। यहां कोई शंका करता है कि - 'क्या इतने गुणों से जो युक्त हो वही एकान्त रूप में धर्म का अधिकारी होता है ? अथवा उसमें कोई अपवाद भी होता है?' इस प्रश्न का जवाब धर्म रत्न प्रकरण गाथा ३० के द्वारा देते हैं-

पायद्धगुणविहीणा, एएसिं मज्झिमाऽवराणेआ ।
इत्तो परेण हीणा, दरिद्दपाया मुणेअव्वा ॥३०॥

अर्थात् - सम्पूर्ण इक्कीस गुण वाला धर्म प्राप्ति के लिए उत्तम पात्र है, चतुर्थांश गुण हीन अर्थात् पौना भाग के गुण वाला धर्म की योग्यता में मध्यम पात्र है और आधे गुण वाला धर्म के लिए जघन्य योग्यता वाला समझना और जिसको आधे से भी कम गुण हों तो धर्मरत्न ग्रहण करने में दरिद्र समान जानना। जैसे दरिद्र पेट भरने की चिन्ता में व्याकुल होने से रत्न लेने का मनोरथ भी नहीं कर सकता वैसे ही यह भी धर्म की अभिलाषा भी नहीं कर सकता है ।

यहां 'श्रावक धर्म और साधु धर्म' दो प्रकार का धर्म कहा है, उसमें श्रावक धर्म के भी दो भेद होते हैं - अविरत श्रावक का सामान्य धर्म और विरति वाले श्रावक का विशेष धर्म । उसमें से अविरत श्रावक धर्म के अधिकारी गृहस्थ के पूज्य आचार्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्री हरिभद्र सूरि जी ने पंचाशक ग्रन्थ के अन्दर श्रावक धर्म विधि प्रकरण में 'अर्थी, समर्थ और शास्त्र अनिषिद्ध' इस तरह तीन लक्षण कहे हैं । वह इस तरह बतलाया है –

१- अर्थी अर्थात् विनीत, अपने आप सामने आना और धर्म का जिज्ञासु बनना, २- समर्थ अर्थात् धर्म में धीर, निर्भय और स्थिर रहना और ३- शास्त्र अनिषिद्ध अर्थात् प्रथम बहुमान, दूसरा विधि तत्पर और तीसरा औचित्यवान। उसमें प्रथम बहुमान युक्त = धर्म कथा सुनने में प्रिय, निंदा का श्रवण नहीं करने वाला, निंदक व्यक्ति पर दया करने वाला, तत्त्व के चिन्तन में मन की एकाग्रता वाला और तत्त्वों को जानने की अत्यन्त इच्छा रखने वाला। दूसरा विधितत्परता वाला गुरु का विनय करने वाला, काल में क्रिया करने वाला, उचित आसन, युक्त स्वर और पाठ में उद्योग- इन सब विधियों के करने में आदर वाला। तीसरा औचित्यवान = लोक प्रिय, अनिंदित क्रिया कारक, संकट में धैर्य रखने वाला, यथाशक्ति त्याग वाला और लब्धलक्ष्य इत्यादि औचित्य का करने वाला होता है। इस तरह योग्यता वाला अविरत श्रावक सामान्य धर्म अधिकारी होता है।

विरति श्रावक का लक्षण आचार्य श्री हरिभद्र सूरि जी ने श्राद्ध धर्म विधि प्रकरण गाथा २ में कहा है कि-' जिसको सम्यग्दर्शनादि गुण प्राप्त हुए हों और जो हमेशा गुरु मुख से उत्तम श्रावक धर्म की समाचारी-कर्त्तव्य को सुनता हो वही सच्चा श्रावक है।' और भी कहा है कि- ' अति तीव्र कर्मों की मंदता होने से उपयोग पूर्वक परलोक हितकारी श्री जिनेश्वर परमात्मा की वाणी को आदर-विधिपूर्वक सुने उसे उत्कृष्ट श्रावक समझना । इस तरह शास्त्रों में ' श्रावक' शब्द के योग्य असाधारण गुण जिसमें हों उसे विरति श्रावक धर्म-विशेष धर्म में अधिकारी रूप कहते हैं ।

साधु-धर्म की योग्यता का स्वरूप जो दूसरे भाग में कहा जायेगा, वह संक्षेप से यहां देते हैं- १. आर्य देश में जन्मा हो, २. उत्तम कुल और उत्तम जाति वाला हो, ३. क्षीण प्राय: कर्म अर्थात् लघु कर्मी, जिससे कि ४. निर्मल बुद्धि वाला और ५. संसार समुद्र में मनुष्य जीवन रूप रत्न प्राप्त करना दुर्लभ है, मृत्यु के बाद मृत्यु अवश्य है, अर्थात् जन्म ही मृत्यु का निमित्त है, संपत्ति चपल है, विषय आपात मधुर और परिणाम से विष रूप होकर दु:ख का हेतु बनता है, जिसका संयोग होता है उसका वियोग अवश्य होता है,समय-समय पर जीव की मृत्यु नजदीक आने से शास्त्र में जिस मृत्यु को आवीचि मृत्यु कहा है वह प्रति समय चालू है और संसार का विपाक महा दारुण है इत्यादि जिसने स्वरूप से ही संसार को निर्गुण-दु:ख रूप और परम्परक समझा हो और इससे ६. संसार से विरागी बना हो, ७. कषाय पतले अल्प हुए हों, ८. हास्यादि नौ कषाय का स्वल्प हो, ९. उपकार किए को नहीं भूलने वाला,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१०. प्रथम से गुण और गुणी की विनय करने वाला, ११. राज्य विरुद्ध, देश विरुद्ध, लोक विरुद्ध, काल विरुद्ध और धर्म विरुद्ध काम नहीं करने वाला, १२. राजा मन्त्री और नगर जनों का माननीय हो, १३. पवित्र परिपूर्ण इन्द्रिय अंगोपांग वाला हो, १४. श्रद्धालु, १५. धीर स्थिर और १६. दीक्षा लेने के लिए स्वयमेव उत्साही-उसकी प्रार्थना करता हो । आदि गुण वाला मनुष्य साधु धर्म के योग्य जानना ।

इस प्रकार श्रावक का सामान्य धर्म एवं विशेष धर्म और साधु धर्म, तीनों की योग्यता अलग अलग बतलाई है। तब इस प्रकार कहे अनुसार ये इक्कीस गुण किस धर्म की योग्यता में समझना ? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है । उसका समाधान करते हैं कि- जो पहले कहा है वह अविरत श्रावक धर्म, विरत श्रावक धर्म अथवा साधु धर्म की योग्यता वाले उस धर्म की प्राप्ति में विशिष्ट गुण रूप आवश्यकता बतलाई है और इक्कीस गुण प्रत्येक योग्यता में भूमिका रूप जानना । जैसे चित्र के लिए भूमि एक ही होती है, फिर भी उसमें रंगों की शुद्धि, अलग-अलग जाति के रंगों का योग, आकार दर्शक बाह्य रेखाएं और सफाई आदि की तारतम्यता के कारण एक ही भूमि में चित्र सामान्य, श्रेष्ठ और अतिश्रेष्ठ आदि अलग-अलग भाव प्राप्त करता है,वैसे ही यहाँ इक्कीस गुण धर्म ग्रहण भी भूमिका रूप हैं अर्थात् इस भूमिका वाला जीवात्मा अविरति और विरति श्रावक धर्म अथवा साधु धर्म की योग्यता वाला जानना। उन विशिष्ट गुणों द्वारा वह धर्म को प्राप्त कर सकता है। क्योंकि इक्कीस गुण बतलाकर धर्म रत्न प्रकरण गाथा १४० में कहा है कि इन इक्कीस गुण रूपी रत्नों की श्रेष्ठ संपत्ति जिसके पास स्थिर है वह मनुष्य श्रावक और साधु इस तरह दोनों के धर्म को ग्रहण करने में शक्तिशाली बन सकता है। इसलिए श्रावक धर्म और साधु धर्म इन दोनों की प्राप्ति में प्रथम इक्कीस गुणों की आवश्यकता है। इन्हीं गुणों को ग्रन्थकार ने बीसवीं गाथा में 'संविज्ञ: ज्ञात तत्त्व जातेच्छ:' आदि शब्द विशेषण संग्रह दिया है, इन विशेषणों में इक्कीस गुण आ जाते हैं। इस प्रकार सद्धर्म की योग्यता वाले जीव का स्वरूप कहा है।

इस प्रकार परम गुरु भट्टारक श्री विजयानंद सूरीश्वर के
शिष्य पंडितवर्य श्री शान्ति विजय गणि चरण सेवी
महोपाध्याय श्रीमान विजयगति विरचित
स्वोपस धर्म संग्रह की टीका सामान्य
गृहस्थ धर्म का वर्णन रूप प्रथम
अधिकार हिन्दी अनुवाद
समाप्त हुआ ।

॥ इति प्रथमो अधिकार ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ॐ अर्हते नमः

अधिकार दूसरा

प्रकरण पहला — सम्यकत्वाधिकार

पहले गृहस्थ का सामान्य धर्म कहा, अब विशेष धर्म का स्वरूप कहा जाता है। इस विशेष धर्म का मूल सम्यकत्व है, अर्थात् सम्यकत्ववान आत्मा में ही यह धर्म वास्तविक स्वरूप में प्रकट होता है। इसलिए ग्रन्थकार श्लोक के पूर्वार्ध में सम्यकत्व की प्रस्तावना कहकर उत्तरार्ध में उसका लक्षण कहते हैं :-

न्याय्यश्च सति सम्यकत्वेऽणुव्रत प्रमुख ग्रहः।
जिनोक्त तत्त्वेषु रुचि, शुद्धा सम्यकत्वमुच्यते ॥२१॥

अर्थ- आत्मा को सम्यकत्व प्राप्त होने के बाद ही वह अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षा व्रत रूप बारह अथवा कम ज्यादा व्रत आदि धर्म ग्रहण करने योगय है। श्री जिनेश्वर परमात्मा ने जीव अजीवादि अथवा देव गुरु और धर्म तत्त्वों में जीव की निर्मल रुचि को सम्यकत्व कहा है।

भावार्थः– सम्यग् दर्शन गुण जिसको प्रगट हुआ हो उसी आत्मा को ही अणुव्रत, गुणव्रत या शिक्षाव्रत ग्रहण करना योग्य है। सम्यकत्व प्रगट हुए बिना व्रत ग्रहण करने पर भी उसका वास्तविक फल नहीं मिलता। इसलिए सम्यकत्व बिना व्रत लेना अयोग्य है। कहा है कि - जैसे ऊसर भूमि में बीज बोने से उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही मिथ्यात्व वासित जीव के व्रत स्वीकार करने पर उसका फल नहीं मिलता। जैसे प्रलय काल की अग्नि द्वारा फलों से नम हुए वृक्ष भी सर्व भस्मीभूत होते हैं, वैसे ही मिथ्यात्व रूपी अग्नि से सर्व पवित्र संयम, व्रत, नियम भी नष्ट होते हैं। इस कारण से विशेष धर्म में सम्यकत्व को मूल कारण बतलाया है। अब सम्यकत्व क्या है? वह कहते हैं:-

श्री जिनेश्वर देव के बतलाए जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि पदार्थों पर अज्ञान, संशय या मिथ्याज्ञान से रहित "आत्मा की निर्मल रुचि को" श्री तीर्थंकर परमात्मा ने सम्यकत्व कहा है। सम्यकत्व गृहस्थ का विशेष धर्म है अर्थात् सम्यकत्व से लेकर पांचवें गुणस्थानक के अन्त तक उत्तरोत्तर जो-जो गुण आत्मा में प्रगट होता है, वह सर्व गृहस्थ का विशेष धर्म है। ऐसा सर्वत्र समझ लेना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहां यह प्रश्न होता है कि - वाचकवर्य श्री उमास्वाति रचित तत्त्वार्थ सूत्र में **''तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यकत्वदर्शनम्''** अर्थात तात्त्विक पदार्थों में श्रद्धा रखना ही सम्यकत्व दर्शन है। इस सूत्र के अनुसार तो आप द्वारा कही हुई सम्यकत्व की व्याख्या करने से आगम के साथ विरोध आयेगा क्योंकि 'श्रद्धा अर्थात् जिन वचन में-तत्त्वों में यथार्थ रूप का विश्वास।' यह विश्वास मन की अभिलाषा रूप होने से मन वाले को ही हो सकता है, अपान्तराल गति में या अपर्याप्त आदि अवस्थाओं में वह नहीं हो सकता इससे आगम में कहे संसारी जीव को सम्यकत्व उत्कृष्ट से छियासठ सागरोपम और सिद्धों का सम्यकत्व का आदि अनंत अखंड काल असत्य होगा, क्योंकि इतने काल में अपर्याप्त आदि अवस्था जीव को अवश्य प्राप्त होती है। और सिद्धों को तो मन नहीं होता, तो उस समय उस जीव में मनोभिलाष रूप श्रद्धा सम्यकत्व किस तरह हो सकती है? और आगम में कहे सम्यकत्व की उत्कृष्ट स्थिति को बताने वाला शास्त्र वचन किस तरह से सत्य हो सकता है?

उसका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं कि - ''तत्त्व श्रद्धा अर्थात् जिन प्रणीत भावों में यथार्थ रूप का विश्वास'' यह तो सम्यकत्व का कार्य है और उसके कारण रूप मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षयोपशम आदि से प्रगट हुआ जो शुद्ध आत्म परिणाम है वह सम्यकत्व है । आवश्यक मूल सूत्र के ६/३६ में सम्यकत्व अधिकार में कहा है कि - **'से अ संमत्ते पसत्थ संपत्त मोहणीय अकम्माणु वेअणोव समखय समुत्थे पस म संवेगाइ लिंगे सुहे आया परिणामे पण्णत्ते।''** अर्थात् 'विशुद्ध सम्यकत्व मोहनीय पुंज (समुदाय) के वेदन से, उपशम भाव या क्षय होने से प्रगट हुआ तथा प्रशम - संवेग आदि लिंग (चिन्ह) से पहिचाने जाते आत्मा के शुभ परिणामों को सम्यकत्व कहा है ।' यह लक्षण जैसे मन रहित सिद्धों में हो सकते हैं वैसे ही अपर्याप्तावस्था वाले संसारी जीवों में हो सकते हैं । इनमें क्षयोपशमादि जन्य आत्मा की शुभ अवस्था रूप सम्यकत्व प्रगट होने से ही 'तत्त्वार्थ श्रद्धा' भाव पैदा होता है, इसलिए श्रद्धा-विश्वास ही यहां सम्यकत्व का कार्य समझना ।

पूर्वोक्त के अनुसार जीव में 'तत्त्वार्थ श्रद्धा' प्रगट हो तब सम्यकत्व - शुभ आत्म परिणाम तो होता ही है, ऐसा बतलाने के लिए यहां कार्य में कारण का उपचार करके अर्थात् तत्त्व श्रद्धा रूप कार्य में ही सम्यकत्व रूप कारण का उपचार करके 'जीवाजीवादि तात्त्विक पदार्थों में श्रद्धा-विश्वास' को सम्यक्त्व कहते हैं । इसलिए- 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यकत्वदर्शनं' कहने में कोई भी दोष नहीं आता। नव तत्त्व प्रकरण गाथा ५१ में कहा भी है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जीवाइ नव पयत्थे, जो जाणइ तस्स होई संमत्तं ।
भावेण सद्दहंते, अयाण माणेवि सम्मत्तं।।१।।

अर्थात् 'जीव-अजीव आदि नौ तत्त्व पदार्थों को जो यथार्थ स्वरूप में जानता है' उसमें समकित है और मंदमति होने से अथवा छद्मस्थ अवस्था से यदि न समझ में आए तो भी वह 'जिनेश्वर परमात्मा ने कहा है इस से सारा सत्य ही है'- ऐसी श्रद्धा से माने उसमें भी सम्यकत्व है।'

इस प्रकार समाधान स्वीकार करने के बाद फिर प्रश्न पैदा होता है कि- अन्य ग्रन्थों में तो 'देव, गुरु, धर्म रूप तीन तत्त्वों में तत्त्व रूप में श्रद्धा रखना- उसे सम्यकत्व कहा है, वह घट सकता है? जैसे कि सम्बोध प्रकरण सम्यकत्वाधिकार गाथा ३४ में कहा है :-

अरिहं देवो गुरुणो, सुसाहुणो जिणमयं पमाणं च ।
इच्चाइ सुहो भावो, सम्मत्तं बिंति जग गुरुणो ।।१।।

अर्थात् - 'अरिहंत यह देव है, सुसाधु-यह गुरु और जिन मत यही प्रामाणिक सत्य है' इत्यादि जो आत्मा का शुभ भाव है उसे श्री जिनेश्वर भगवान ने सम्यकत्व कहा है।' इस शास्त्र कथन के साथ में पूर्व में कही व्याख्या 'तत्त्वार्थ में श्रद्धा ही सम्यकत्व है' का विरोध कैसे नहीं आता? अर्थात् दोनों व्याख्याओं में परस्पर विरोध कैसे हो सकता है? उसका समाधान करते हैं ।

यह प्रश्न अयोग्य है, क्योंकि यहां भी जिन कथित तत्त्वों में रुचि-श्रद्धा ही सम्यकत्व का लक्षण बतलाया है । वह साधु-श्रावक उभय सम्बन्धी साधारण है और जो अन्य 'अरिहंत देव-सुसाधु गुरु' आदि सम्यकत्व की व्याख्या कही है वह मुख्यत: गृहस्थ-श्रावक के उद्देश्य से कही है अर्थात् श्रावक को श्री अरिहंत देव के प्रति पूज्यभाव, गुरु वर्ग के प्रति सेवा भक्ति के परिणाम और धर्म तत्त्व के प्रति अनुष्ठान भाव अर्थात् वह क्रिया करने के परिणाम हैं । उसे देव, गुरु और धर्म तत्त्वों की प्राप्ति रूप सम्यकत्व कहा है। यह एक बात है, दूसरे रूप से उसमें भी देव और गुरु तत्त्व का जीव तत्त्व में और धर्म तत्त्व का शुभ कर्म उपार्जन और अशुभ कर्म को रोकने वाला होने से शुभ आश्रव तत्त्व में और संवर तत्त्व में समावेश होता है इस तरह विचार करने से दोनों की व्याख्याओं में जरा भी विरोध नहीं रहता है ।

इस सम्यकत्व को श्री अरिहंत भगवंत ने धर्म का मूल कहा है क्योंकि आगे इस ग्रन्थ में ही पहले व्रत के अधिकार में द्विविध, त्रिविध आदि विभाग-भेद से ग्रहण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करते श्रावक के बारह व्रत हैं जोकि सम्यकत्व रूप मूल के पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत रूप में दो शाखारूप हैं। ऐसा जानकर उन बारह व्रतों के आश्रित तेरह अरब चौरासी करोड़ बारह लाख सत्तासी हजार दो सौ दो १३८४१२८७२०२ विभाग कहने में आयेंगे। उनमें एक भी विभाग इस समकित के बिना टिक नहीं सकता अर्थात् सम्यकत्व के योग से ही वे विभाग हो सकते हैं। अतः सम्यकत्व ही धर्म का मूल है। यह कथन सत्य है। इस कारण से जो आगे कहा जायेगा-सम्यकत्व धर्म वृक्ष का मूल है, धर्म प्रसाद का द्वार है आदि छह भावना कही जायेंगी- वह भी युक्तियुक्त ही है। इस सम्यकत्व का फल संबोध प्रकरण और नव तत्त्व प्रकरण गाथा ५३ में कहते हैं कि -

अंतो मुहूर्त्त मित्तं पि फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं ।
तेसिं अवड्ढ पुग्गुल परिअट्टो चेव (सेस) संसारो ॥

अर्थात् - 'इस सम्यकत्व का जिसको केवल अंतर्मुहूर्त्त जितना काल भी स्पर्श हो जाये तो उस आत्मा का निश्चय नय से अधिक से अधिक अर्ध पुद्गल परावर्तन काल जितना ही संसार शेष रहता है। इतने काल में निश्चय ही उसका मोक्ष होता है।' इसके आगे संबोध प्रकरण में और कहते हैं -

सम्मदिट्ठि जीवो, गच्छइ नियमा विमाण वासीसु ।
जइ न विगय सम्मतो, अहव न बद्धाउओ पुव्वि ॥२५॥

जं सक्कइ तं कीरइ, ज च न सक्कइ तयमि सद्दहणा ।
सद्दहमाणो जीवो, वच्चइ अयरामरं ठाण॥२६॥

अर्थात् - 'जीव ने यदि सम्यकत्व प्राप्त करने के पहले पर जन्म का आयुष्य बंधन नहीं किया हो और सम्यकत्व प्रगट होने के बाद आयुष्य का बंधन करे तो वह निश्चय ही वैमानिक देव रूप में ही उत्पन्न होता है।' और 'समकित दृष्टि जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रित जब जितना धर्म अनुष्ठान शक्य हो उस समय उतना करे और अशक्य अवस्था में उसमें श्रद्धा-विश्वास करे अर्थात् योग्य समय में सामग्री मिलने से क्रिया करने की भावना रखता हो। ऐसी श्रद्धा रखने वाला जीव अजरामर स्थान-मोक्ष को प्राप्त करता है।' इत्यादि सम्यकत्व का फल जानना।

इस प्रकार धर्म में सम्यकत्व की मौलिकता, उसका लक्षण और फल बतलाकर, अब उसको प्राप्त करने के कितने और कौन से मार्ग-उपाय हैं और किस प्रकार के हैं, वह बाईसवीं गाथा में कहते हैं :-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निर्सर्गाद्वाऽधिगमतो, जायते तच्च पञ्चधा ।
मिथ्यात्व परिहाण्येव, पञ्चलक्षण लक्षितम् ।।२२।।

अर्थ – 'मिथ्यात्व का उदय रोकने से जीव को स्वाभाविक अथवा गुरु के उपदेश से- इस तरह दो प्रकार से, पांच लक्षण युक्त सम्यकत्व प्रगट होता है और वह पाचं प्रकार का है।'

भावार्थ – वह सम्यकत्व किसी जीव को नैसर्गिक रूप से अर्थात् गुरु महाराज के उपदेश आदि निमित्त बिना स्वाभाविक होता है, और किसी को अधिगम से प्रगट होता है । यह्यं इसको अधिगम कहो, गुरु का उपदेश कहो अथवा पदार्थ का यथार्थ ज्ञान कहो – इनका एक ही अर्थ है। योग शास्त्र के पहले प्रकाश की सत्तरहवीं गाथा की टीका के अन्दर श्लोक द्वारा पूज्य आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरि जी कहते हैं कि :–

अनादि अनन्त संसार के भँवर जाल में परिभ्रमण करते हुए जीवों के साथ लगे हुए ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटा कोटि सागरोपम की है । गोत्र और नाम कर्म की बीस कोटा कोटी सागरोपम और मोहनीय कर्म की सत्तर कोड़ा कोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति का बंधन होता है । जिस प्रकार पर्वत पर से बहती नदी में लुढ़कते-टकराते हुए कितने ही बेडौल पत्थर अपने आप गोलाकर बन जाते हैं, उसी प्रकार अनायास ही स्वयमेव प्रत्येक कर्म की स्थिति उसी प्रकार के परिणाम के योग से कम हो जाती है और जब सिर्फ एक कोटा कोटी सागरोपम स्थिति बाकी रह जाती है, तब प्रत्येक संसारी आत्मा यथा प्रवृत्ति करण के योग से ग्रन्थि-प्रदेश के नजदीक आता है । अत्यन्त कठिनाई से भेदन हो सकने योग्य राग, द्वेष के तीव्र परिणामों की दुर्भेद्य गांठ को ग्रन्थि कहते है जो सदा रावण की मूल गांठ के समान अत्यन्त कठिनता से छिन्न, खुल सकती है। ग्रन्थि स्थान तक प्राय: भव्य अभव्य प्रत्येक जीव अनंत बार पहुँचता है परन्तु वह तीव्र राग द्वेष से प्रेरित होकर फिर उन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति खराब अध्यवसाय से बांधता है और उसके फलस्वरूप चार गति रूप संसार में भ्रमण करता रहता है। ग्रन्थि प्रदेश में कई आये, किन्तु जिस जीव में भावी कल्याण की योग्यता हो, कालादि सामग्री के योग से 'तथाभव्यता' प्रगट हुई हो, ऐसा कोई ही भव्य जीव अपूर्व करण करके अर्थात् आत्मवीर्य के महाबल से अपूर्व पराक्रम प्रगट करके कठिनता से राग-द्वेष की ग्रन्थि को एकाएक भेदन कर डालता है। जिस प्रकार कोई पथिक ऊँची-नीची या विषम भूमि से युक्त लम्बे पथ को पार करके झटपट इष्ट स्थान पर पहुँच जाता है वैसे ही कोई जीव इस राग द्वेष के परिणाम रूप मोह की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ग्रन्थि का उल्लंघन करता है। इसे अपूर्व करण कहते हैं। उसके बाद अनिवृत्ति करण में रहा वह अन्तर करण करता है ।

अनिवृत्ति करण भी उत्तरोत्तर आत्मवीर्य के आविर्भाव वाला विशुद्ध अध्यवसाय है। जीव उस समय उस अध्यवसाय के बल से अंत:करण करता है, उन मिथ्यात्व के दलों को छिन्न करता है, उस समय में ही मिथ्यात्व का उदय रुकता है उसे ही मिथ्यात्व का उपशम कहते हैं और वह उपशम जब प्रगट होता है तब वह सम्यकत्व औपशमिक कहलाता है । इसकी स्थिति जीव को अंतर्मुहूर्त्त रहती है । यह सम्यग् दर्शन नैसर्गिक- स्वाभाविक कहलाता है, और आम जीवों को गुरु महाराज के उपदेश आदि बल से अथवा किसी प्रकार के आलम्बन से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है जिसे अधिगम-सम्यकत्व कहा जाता है ।

यह सम्यग्दर्शन यम और प्रशम आदि भावों का प्राणरूप है, ज्ञान और चारित्र दोनों का बीज है, तप एवं श्रुतादि में प्रवृत्ति कराने वाला है। किसी जीव के ज्ञानावरणीय या चारित्र मोहनीयादि कर्मों के उदय से ज्ञान चारित्र के अभाव में सम्यग्दर्शन हो वह प्रशंसनीय है लेकिन मिथ्यात्व रूप विष से दूषित ज्ञान और चारित्र हो वह प्रशंसनीय नहीं है। सुना जाता है कि ज्ञान और चारित्र से रहित होने पर भी श्रेणिक महाराजा को सम्यकत्व के प्रभाव से अनुपम तीर्थंकर पद प्राप्त होगा । संसार समुद्र में डूबते हुए के लिए नौका के समान है, दु:ख रूपी वन को जलाने के लिए दावानल के समान सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को इस लोक में ग्रहण करना चाहिए।

यहां जिज्ञासु प्रश्न करता है कि-यदि इस तरह मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने से समकित प्रगट होता है तो नैसर्गिक रूप से अथवा गुरु उपदेश से होता है- ऐसा क्यों कहा है ? इसका समाधान करते हैं कि - उस मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का क्षयोपशम आदि नैसर्गिक अथवा अधिगम से होता है, उसमें दोष नहीं है। विशेषावश्यक भाष्य गाथा २७३४ में कहा है कि-

ऊसर देसं दड्ढिल्लयं च विज्झाइ वण दवो पप्प। ।
इय मिच्छस्साणुदए, उवसम सम्मं लहइ जीवो।।१।।
जीवादीणमधिगमो, मिच्छत्तस्स उ ख ओव समभावे ।
अधिगमसम्मं जीवो, पावेइ विसुद्ध परिणामो।।२।।

अर्थात् - जैसे वन में दावानल जलते हुए उजड़ तृण रहित भूमि अथवा पहले दावानल से जली भूमि तक पहुँचते और वहां जलने का साधन नहीं होने से स्वयमेव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आग बुझ जाती है, वैसे ही जीव लगातार मिथ्यात्व के परिणाम वाला होने पर जब अंतकरण से जहां अनिवृत्ति करण के बल से मिथ्यात्व के दलों को हटा देने से वह नहीं रहने से अथवा अंतकरण से प्राप्त करे तब मिथ्या परिणाम में कारणभूत दलों के उदय का अभाव होने से वहां 'उपशम' समकित स्वाभाविक (निसर्ग) से प्राप्त करता है॥१॥

दूसरी तरह गुरु महाराज के उपदेश द्वारा मिथ्यात्व का क्षयोपशम होने से उसके परिणाम विशुद्ध बनते हैं। उस आत्मा को जीव अजीव आदि तत्त्वों का अधिगम अर्थात् बोध होने से-अधिगम से सम्यकत्व प्राप्त होता है। ॥२॥

इस तरह समकित प्राप्ति के भेद का वर्णन किया। अब समकित के भेद कहते हैं:- १- औपशमिक, २- क्षायिक, ३- क्षायोपशमिक, ४- वेदक और ५- सारवादन। इस तरह इसके पाँच भेद हैं। उसमें:-

१. औपशमिक – मिथ्यात्व मोहनीय और अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ इन कर्मों का उपशमभाव और उस उपशम के द्वारा सम्यकत्व होता है वह औपशमिक कहलाता है। इस सम्यकत्व के समय में जीव के मिथ्यात्व आदि कर्म सत्ता में होने पर भी राख में ढकी आग के समान उनका विपाक से उदय नहीं होता है अर्थात् वह मिथ्या परिणाम में कारण नहीं बनता है। यह सम्यकत्व अनादि मिथ्या दृष्टि जीव को आखिर यथा प्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति करण-इन तीन करणों द्वारा होता है। उसका काल अंत:मुहूर्त्त का होता है और चार गति के संज्ञि पंचेन्द्रिय पर्याप्ता जीवों को जैसा पूर्व में कहा है उसी तरह ग्रन्थि भेद होने के बाद वह प्रगट होता है, अथवा उपशम श्रेणि में भी जीव को वह होता है। विशेषावश्यक भाष्य गाथा २७३५ में कहा है कि-

उवसम सेठि गयस्सउ, होइ उवसामियं तु सम्मत्तं ।
जो वा अकयति पुंजो, अरव विय मिच्छो लहइ सम्म ॥

अर्थात् - 'उपशम श्रेणी में स्थित जीव को औपशमिक सम्यकत्व होता है, अथवा जिसने मिथ्यात्व के तीन पुंज नहीं किये हों और मिथ्यात्व का विनाश नहीं किया हो, वह जीव औपशमिक समकित को प्राप्त करता है।'

पहले कहा गया है कि ग्रंथि प्रदेश में सातों कर्मों की एक कोड़ा कोड़ी सागरोपम से कम स्थिति वाली दशा के अन्दर तो अभव्य जीव भी संख्याता या असंख्याता काल तक रहता है। और उस स्थिति में रहते हुए वह श्री जिनेश्वर भगवान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का समवसरण आदि ऋद्धि देखकर 'संयम से इस संसार में मान-पूजा और पर लोक में स्वर्ग सुख आदि मिलेगा।' इस बुद्धि से संयम भी ग्रहण करता है। इतना ही नहीं, कुछ कम दस पूर्व तक द्रव्य श्रुत ज्ञान भी पढ़ लेता है। इस तरह अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव भी इतने श्रुत ज्ञान वाला हो सकता है। इसलिए ही कुछ कम दस पूर्व तक का श्रुत ज्ञान मिथ्या दृष्टि को भी होने से वह मिथ्या श्रुत ज्ञान भी होता है। कहा है कि सम्पूर्ण दस पूर्वधर नियम से समकित होने से उनका श्रुत ज्ञान तो सम्यक् श्रुत ज्ञान होता है, इससे कम श्रुत ज्ञान वालों का सम्यक् श्रुत ज्ञान ही होता है, ऐसा एकान्त नहीं है- समकित का सम्यक् श्रुत और मिथ्यात्वी का द्रव्य रूप मिथ्या श्रुत होता है।

यहां प्रसंगोपात कुछ विशेष बतलाते हैं, जैसा कि पूर्व में कहा है वैसे अंतरकरण के पहले समय से ही औपशमिक समकित बना आत्मा औषध समान है। इस समकित के प्रभाव से विकारी स्वभाव वाला अर्थात् कोद्रव (हल्के अनाज) के समान मिथ्या परिणाम रूप विकार करने वाला मिथ्यात्व कर्म कितने प्रदेशों को सम्पूर्ण शुद्ध कर सकता है। कोद्रवा अनाज के विकारी स्वभाव औषध से रोक सकते हैं वैसे ही मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के प्रदेश में रहे आत्मा को विकार कराने वाले स्वभाव को भी समकित रूप औषध के प्रभाव से दूर कर सकते हैं फिर उस प्रदेश का उदय हो फिर भी मिथ्यात्व रूप विकार नहीं होता- इस तरह समकित रूप औषध द्वारा इन प्रदेशों में रहे बाधक रस से रहित शुद्ध करता है, कई प्रदेशों को अर्ध शुद्ध करता है जिसमें कुछ रस विकार नष्ट हो जाता है और कुछ रह जाता है, किसी प्रदेश का तो रस विकार अशुद्ध ही रहता है। इस तरह शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध मिथ्यात्व कर्म के तीन विभाग होते हैं, उन्हें अनुक्रम से समकित मोहनीय, मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय कहते हैं, उन्हें ही तीन पुंज कहा है। कार्म ग्रंथिक मत के अभिप्राय से यह क्रिया आपैशमिक समकित में रहते हुए जीव समकित के प्रथम समय से अवश्य प्रारंभ करता है और जब अंतर करण रूप औपशमिक सम्यकत्व का अंतर्मुहूर्त्त काल पूर्ण होता है तब अनंतर समय में ही उन तीन पुंज में से किसी एक पुंज का उसे उदय अवश्य होता है। यदि शुद्ध समकित मोहनीय पुंज का उदय हो तो जीव क्षायोपशमिक समकित वाला, अर्धशुद्ध - मिश्र मोहनीय पूंज का उदय हो, तो मिश्र समकित वाला और अशुद्ध मिथ्यात्व मोहनीय पुंज का उदय हो तो मिथ्या दृष्टि कहलाता है, अर्थात् औपशमिक समकित के बाद जीव उन तीन में से किसी एक दृष्टि वाला होता है। जैसा कि कहा है -

कम्मगंथेसुधुवं, पढमो वसमी करेइ पुञ्ज तिअं ।
तत्वडिओ पुण गच्छइ, सम्मे मीसंमि मिच्छे वा ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- कार्म ग्रंथिक अभिप्राय से प्रथम औपशमिक समकित प्राप्त करने वाला जीव अवश्य तीन पुंज करता है और अंतर्मुहूर्त्त का वह समकित पूर्ण होते ही क्षायोपशमिक समकित को, मिश्र समकित या मिथ्यात्व को प्राप्त करता है ।

यह मत कर्म ग्रन्थ का समझना। सिद्धान्त के मत में तो कोई अनादि मिथ्यात्वी जीव तथा प्रकार की विशिष्ट अध्यवसाय आदि सामग्री प्राप्त होने से पूर्व कहे गये अपूर्व करण द्वारा ही तीन पुंज करता है और उसमें के सर्वथा शुद्ध समकित मोहनीय पुंज को भोग या अनुभव करता औपशमिक समकित प्राप्त किये बिना ही प्रथम क्षायोपशमिक समकित प्राप्त करता है अथवा कोई अन्य जीव कर्म ग्रन्थ के मत में बतलाया है उस तरह यथा प्रवृत्ति करण, अपूर्व करण और अनिवृत्ति करण के क्रम से अंत:करण के प्रथम समय में ही औपशमिक समकित भी प्राप्त करता है, परन्तु पूर्व में कहे अनुसार तीन पुंज नहीं करता। इससे उसे समकित मोहनीय-मिश्र मोहनीय के पुंज न होने से औपशमिक समकित अंत:करण का काल पूर्ण होने के नियम से मिथ्यात्व मोहनीय का उदय होता है अर्थात् वह मिथ्या दृष्टि ही बनता है । वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि:-

आलंबण मल हती, जह सट्ठाण न मुंचए इलिआ ।
एवं अकयति पुंजी मिच्छ चिअ उवसमी एइ ॥१२०॥

अर्थात्-जैसे इयल चींटी पहले शरीर को लम्बा कर आगे के स्थान पर स्थिर होकर फिर पीछे के स्थान को छोड़ती है, आगे का स्थान पकड़ न सके तो मूल स्थान को नहीं छोड़ती, वापिस मुड़ती है, वैसे ही तीन पुंज रहित उपशम-समकिती जीव भी आगे शुद्ध या अशुद्ध पुंज के अभाव में उसका उदय रूप आलम्बन नहीं मिलने से मिथ्यात्व में ही वापस आता है। अर्थात् मिथ्यात्व का अनुदय काल पूर्ण होने से पुन: उसे मिथ्यात्व का ही उदय होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सिद्धांतिक मत के अनुसार कोई विशिष्ट सामग्री वाला जीव प्रथम से ही क्षायोपशमिक समकित प्राप्त कर कालांतर में मिश्र अथवा मिथ्यात्व के उदय वाला बनता है और ऐसे विशिष्ट अध्यवसाय आदि के बिना कोई प्रथम उपशम-समकित प्राप्त कर फिर नियम से मिथ्यात्वी ही बनता है तथा उपशम सम्यकत्व के प्रारंभ में कोई जीव विशिष्ट अध्यवसाय के बल से समकित में अर्थात् अंतर करण में रहते हुए उसके बाद देश विरति तथा सर्व विरति को भी प्राप्त करता है। शतक की बृहच्चूर्णि में कहा है कि **"उवसम सम्मद्दिट्ठी अंतर करणे ठिओ कोई देस विरइं पि लहेइ, कोई प्रमत्तापमत्त भावंपि"** यह गाथा संबोध प्रकरण सम्यकत्वाधिकार की ११ वीं गाथा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की है । अर्थात् 'उपशम समकित वाला कोई जीव अंतर करण में रहते हुए ही देश विरति को, तो कोई प्रमत्त को या कोई अप्रमत्त गुणस्थानक भी प्राप्त कर सकता है। परन्तु अंतर करण के अंतर्मुहूर्त्त की आखिरी छह आवलिका, जिसको कि उपशम में से गिरते जीव को सास्वदान का काल कहा है और आगे जिसका स्वरूप कहा जायेगा, उसमें वर्तन करता है अर्थात् सास्वदन भाव को प्राप्त किया हो तो अंतर करण में होने पर भी देश विरति आदि किसी गुण को प्राप्त नहीं कर सकता, नियम से मिथ्यात्वी ही बनता है ।

उपर्युक्त तीन पुंज की संक्रम विधि वृहत्कल्प भाष्य पीठिका की गाथा ११२-११३ में कही है कि- जिसके परिणाम विशुद्ध होते जायं, बढ़ते जायं, ऐसे तीन पुंज की सत्ता वाला समकित दृष्टि मिथ्यात्व के पुद्गलों को समकित मोहनीय और मिश्र मोहनीय दोनों में संक्रमण करता है अर्थात् विशुद्ध या अर्ध विशुद्ध बनाता है तथा अर्ध विशुद्ध मिश्र पुद्गलों के पुंज का समकित मोहनीय में संक्रमण-परिवर्तन करता है, अर्थात् विशुद्ध बनाता है । इससे उल्टा जो सम्यकत्व से पतित होकर मिथ्या दृष्टि बना हो, वह पूर्व में किए मिश्र मोहनीय तथा समकित मोहनीय दोनों पुंजों का मिथ्यात्व में ही परिवर्तन करता है अर्थात् शुद्ध और अर्धशुद्ध दोनों को अशुद्ध ही बना देता है। वृहत्कल्प भाष्य गाथा ११७ में कहा है कि -

मिच्छत्तं मि अखीणे, तिपु जिणो सम्मद्दिट्ठिणो नियमा ।
खीणंमि उ मिच्छत्ते, दु एग पुंजी व खवगो वा ॥१॥

अर्थात् 'समकित दृष्टि वाला जीव जब तक उसका मिथ्यात्व पुंज क्षीण नहीं होता तब तक नियम से तीन पुंज वाला है, उसका क्षय हो जाय पर मिश्र पुंज का क्षय नहीं होता तब तक दो पुंज वाला है, मिश्र पुंज का क्षय होने के बाद सम्यकत्व पुंज का क्षय न हो तब तक एक पुंज वाला होता है और आखिर सम्यकत्व पुंज का भी क्षय होने पर क्षपक (क्षायिक समकित) होता है ।'

विशुद्ध बना भी कोद्रवा जैसे तेल आदि के विपरीत योग से पुनः विकारी बनता है वैसे ही विशुद्ध बने सम्यकत्व मोहनीय आदि पुद्गल भी कुतीर्थि के संग, मिथ्या कुशास्त्र के श्रवण आदि करने से तत्काल विकारी-अशुद्ध होकर पुनः मिथ्यात्व रूप बनता है। समकित से गिरा जीव फिर समकित प्राप्त करता है और अनिवृत्ति करण द्वारा सम्यकत्व पुंज के उदय में क्षायोपशमिक समकित को प्राप्त करता है- ऐसा समझना । यहां यह प्रश्न होगा कि 'अपूर्व तो उसे कहते हैं कि जो प्रथम ही हो,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पूर्व में कभी नहीं हुआ हो । पहले अपूर्व करण करने वाला पतित होने के बाद फिर से उसे करे उसे अपूर्व करण कैसे कह सकते हैं ? उसका समाधान पूर्वर्षियों ने कहा है कि-पूर्व में कहा अपूर्वकरण अल्प कालीन होने से और उसकी अपेक्षा से अन्य होने पर विशिष्ट होने से वह अपूर्व ही है, इसलिए अपूर्व करण कहने में बाधक नहीं है ।

सैद्धान्तिक मत ऐसा है कि सम्यकत्व की प्राप्ति के समान देश विरति या सर्व विरति के प्राप्ति समय में भी जीव को यथा प्रवृत्ति और अपूर्व करण में दो करण तो होते हैं परन्तु अपूर्व करण का काल समाप्त होते ही अनंतर समय में ही वह देश विरति अथवा सर्व विरति प्राप्त होने से अनिवृत्ति करण नहीं होता है और देश विरति या सर्व विरति की प्राप्ति के बाद भी एक अंतर्मुहुर्त्त के बाद कोई विशुद्ध परिणामी तो कोई संक्लिष्ट परिणामी भी बनता है। इस विषय में कर्म प्रकृति की टीका के अन्दर बतलाया है कि 'उपयोग बिना ही कभी परिणाम संक्लिष्ट होते प्रमाद से पतन हुआ हो, वह जीव यथाप्रवृत्ति करण अथवा अपूर्व करण किए बिना ही फिर से देश विरति या सर्व विरति प्राप्त करता है और जो उपयोग पूर्वक पतन हुआ हो, मिथ्यात्व में गया हो, वह जीव जघन्य से अंतर्मुहूर्त्त काल और उत्कृष्ट से लम्बे काल में भी पूर्व कहे अनुसार यथा प्रवृत्ति आदि करण करके ही देश विरति या सर्व विरति को प्राप्त करते हैं तथा सिद्धान्त के मतानुसार समकित का विराधक कोई जीव क्षायोपशमिक सम्यकत्व सहित मरकर छठे नरक तक उत्पन्न हो सकता है- इस तरह प्रवचन सारोद्धार में कहा है ।

औपशमिक सम्यकत्व पूर्ण होने पर शुद्ध पुंज का भेदन करते हुए कोई नारक क्षायोपशमिक सम्यकत्व प्राप्त करता है अथवा मनुष्य- तिर्यंच गति में से क्षायोपशमिक समकित वाला कोई नारकी में उत्पन्न हो तब उसे पूर्वजन्म का समकित साथ में होता है, क्योंकि सम्यकत्व की विराधना करने वाला कोई जीव नरक में उत्पन्न हो तो छठे नरक तक सम्यकत्व साथ में भी जाता है, ऐसा सैद्धान्तिक मत है । क्षायिक समकिती नरक में उत्पन्न हो तो सम्यकत्व के साथ में तीसरे नरक तक ही उत्पन्न होता है। इससे नीचे के नरक में नहीं जाता (प्रवचन सारोद्धार गाथा ६६१ की टीका में आया है ।)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समकित प्राप्ति का यंत्र

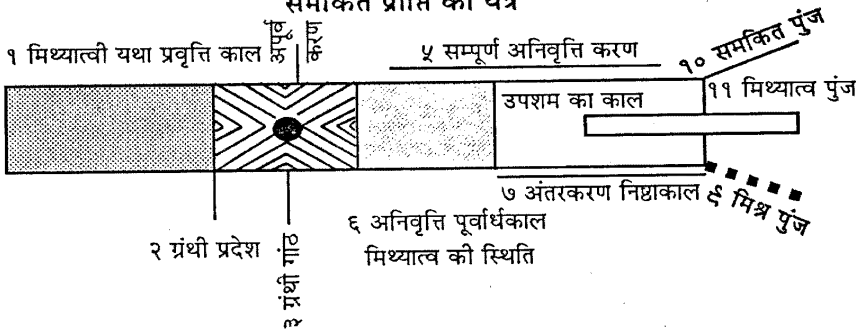

समकित प्राप्ति के यंत्र की जानकारी

१- जीव का अनादि मिथ्यात्व दशा का काल-मिथ्यात्व गुणस्थानक। यहाँ पर रहता हुआ जीव यथा प्रवृत्ति करण द्वारा कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को घटाकर 'नदी घोल पाषाण' न्याय से एक कोड़ा कोड़ी सागरोपम में भी पत्योपम के असंख्यातवें भाग से कम काल तक टिकता है ।

२- राग, द्वेष के तीव्र उदय रूप ग्रंथि प्रदेश के समीप तक जीव बारम्बार आता है, परन्तु ग्रन्थि से भय प्राप्त कर वापिस हो जाता है, वहीं रुक जाता है ।

३- ग्रन्थि अथवा मिथ्यात्व के उदयवाला तीव्र राग, द्वेष का काल ।

४- इसी ही अंतर्मुहूर्त्त काल में किसी जीवात्मा को अपूर्व निर्मल अध्यवसाय से राग-द्वेष का वश नहीं होता, ग्रन्थि का भेदन करता है, वह अपूर्व करण ।

५-६- अनिवृत्ति करण के कारण अंतर्मुहूर्त्त में से प्राथमिक अंतर्मुहूर्त्त क्रिया काल है । यह काल प्रसार करते भविष्यद् अंतर्मुहूर्त्त में उदय होने वाले मिथ्यात्व के दलों में से कितने वर्तमान कालीन अंतर्मुहूर्त्त में भोग लेता है और शेष भविष्यत् स्थिति में डाल देता है- इस तरह से बीच का अंतर्मुहूर्त्त मिथ्यात्व के दलों से रहित बनाता है। यहाँ मिथ्यात्व की लगातार अखंड स्थिति के दो विभाग कर बीच में अन्तर पड़ जाने से इसको अंतर करण कहते हैं । अनिवृत्ति करण के ही क्रिया काल के अन्तर्मुहूर्त्त को अंतर करण मानते हैं। दोनों एकत्रित काल भी अन्तर्मुहूर्त्त ही होते हैं। वह सम्पूर्ण अनिवृत्ति करण है ।

७- अंतर करण- अनिवृत्ति करण के ही इस अंतर करण रूप निष्ठाकाल में मिथ्यात्व दल नहीं रहने से जो यहाँ प्रथम समय में ही प्रगट होता है, उसे उपशम

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समकित-चौथा गुण स्थानक कहते हैं । कोई तो ऊपर के गुण स्थानक भी इस अंतर करण- अंतर्मुहूर्त्त में ही प्राप्त कर सकता है।

८- अंतर करण के अंतर्मुहूर्त्त की ही आखिर छह आवलिका रूप सास्वादन का काल है, किसी मंद परिणामी को अंतर करण में ही अनंतानुबन्धी का उदय होने से परिणाम बिगड़ते हैं तो उत्कृष्ट से आखिरी छह आवलिका शेष रहे तब ही बिगड़ते है, वह पूर्ण होते नियम से मिथ्यात्व का उदय होता है।

९- अंतर करण के समय में रहते भावी मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है, उसमें से अर्धशुद्ध मिश्र पुंज करता है।

१०- सम्पूर्ण शुद्ध समकित पुंज होता है।

११- अशुद्ध- मिथ्यात्व पुंज-मिथ्यात्व के नीचे की स्थिति होती है ।

कार्मग्रन्थिक मत में तो समकित सहित मनुष्य-तिर्यंच, वैमनिक देव के अतिरिक्त अन्य स्थान पर नहीं उत्पन्न होते हैं, अर्थात् आगामी जन्म में नरक, तिर्यंच, मनुष्य या भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष देव होने वाले मनुष्य या तिर्यंच को समकित वेदन काल में उस गति का आयुष्य बन्धन नही करता। इसलिए ही प्रवचन सारोद्धार की टीका में 'गृहितेन' अर्थात् 'प्रगट हुए समकित के साथ में' ऐसा शब्द प्रयोग किया है। कार्मग्रन्थिक मतानुसार जीव का समकित चला जाय और फिर वह मिथ्या दृष्टि बने, तो सात कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति भी वापस बाँध सकता है , परन्तु उत्कृष्ट रस बंधन नहीं करता । सैद्धांन्तिक मत में तो एक बार सम्यकत्व प्राप्त करने वाला अर्थात् ग्रन्थि भेद करने वाला जीव, चाहे वापिस दीर्घ काल तक संसार में परिभ्रमण करे, मिथ्यात्व का उदय हो तो भी पुनः उत्कृष्ट स्थिति बन्धन ही करता है अर्थात् कर्मों की स्थिति कोड़ा कोड़ी सागरोपम से अधिक नहीं बंधन करता। इत्यादि सैद्धान्तिक और कर्मग्रन्थ मन्तान्तर रूप विशेष समझना। यहाँ तक औपशमिक स्म्यकत्व का स्वरूप प्रंसगोपात विशेष सच्चाई के साथ कहा है ।

२- **क्षायिक**= मिथ्यात्व मोहनीय के तीन पुंज एवं अनंतानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, इन सब की सत्ता में से भी क्षय होने के कारण प्रगट होता 'क्षायिक समकित' जानना । धर्म संग्रहणी गाथा ८०१ में कहा है कि:-

खीणे दंसण मोहे, तिवि हंमि वि भवनि आण भूअमि ।
निप्पच्चवाय मडलं सम्मत्त खाइय होइ ।। ८०१।।

अर्थात् - 'संसार का निदान भूत तीन प्रकार का (तीनों पुंज रूप) दर्शन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मोहनीय (मिथ्यात्व) कर्म क्षीण होने से निष्कंटक श्रेष्ठ क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट होता है।' यह सम्यकत्व प्रगट होने के बाद नष्ट नहीं होता इसलिए इसका काल आदि अनंत है।

३- क्षायोपशमिक - पूर्व कहे अनुसार मिथ्यात्व का उदय होते दलों का क्षय अर्थात् सत्ता में से नाश करना और जो उदय नहीं हुए उनका उपशम करना, इस तरह 'क्षय के साथ में उपशम करना' क्षयोपशम कहलाता है। ऐसे क्षयोपशम का जिसमें प्रयोजन हो अर्थात् जो सम्यकत्व ऐसे क्षयोपशम द्वारा प्रगट हो उसे 'क्षायोपशमिक' जानना। विशेषावश्यक सूत्र ५३२ में कहा है कि :-

मिच्छत्तं जमु इन्नं, तं खीणं अणु इयं च उवसंतं ।
मीसी भाव परिणयं, वेइज्जं तं खओव समं ॥ ५३२॥

अर्थात्- जो मिथ्यात्व उदय में आया हो उसका भोगकर क्षय करना और जो उदय में नहीं आया हो सत्ता में रहा हो उसका उपशम करना। यहाँ 'उपशम करना' अर्थात् एक 'उदय को रोकना' और दूसरा 'मिथ्यात्व भाव दूर करना'- इस तरह दो अर्थ समझना। इससे मिथ्यात्व पुंज और मिश्र पुंज इन दोनों के उदय को रोकना और उदित मिथ्यात्व का मिथ्या स्वभाव (रस) दूर करके समकित पुंज बनाना, इस तरह तीनों का उपशम समंझना, अर्थात् समकित मोहनीय रूप से शुद्ध पुद्गल उदय में हो, अत: उपचार से उसे भी मिथ्यात्व रस का उपशम जानना। अथवा दूसरी रीति से 'पूर्व के अन्दर उदय में आए मिथ्यात्व का क्षय करना, सत्ता में रहे मिथ्यात्व पुंज तथा मिश्र पुंज रूप मिथ्यात्व के उदय को रोकना और समकित पुंज रूप में वर्तमान के अन्दर उदित हुए मिथ्यात्व दलों में से मिथ्या स्वभाव रस को दूर करने का उपशम किया है', ऐसा समझना। इस प्रकार क्षय और उपशम द्वारा मिश्र भाव को प्राप्त किए, वर्तमान काल में वेदन करते, रस रहित समकित मोहनीय नामक शुद्ध पुंज रूप मिथ्यात्व के उदय को क्षय-उपशम युक्त होने से क्षयोपशमिक सम्यकत्व कहा है।

इस सम्यकत्व को 'सत्ता में रहे मिथ्यात्व के रस रहित प्रदेशों को भोगने वाला' अर्थात् यह 'सत् कर्म वेदक' भी कहलाता है। औपशमिक में तो सत्ता के अन्दर रहे मिथ्यात्व का प्रदेशोदय भी नहीं होता है। औपशमिक और क्षायोपशमिक में भिन्नता है। विशेषावश्यक सूत्र गाथा १२६३ में कहा है कि-

वेएइ संत कम्मं, खओवसमिएसु नाणुभावं से ।
उवसंत कसाओ उण, वेएइ न संत कम्मं पि ॥ १॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- क्षायोपशम भाव को प्राप्त करने वाला जीव अनंतानुबंधी आदि के (आदि शब्द से मिथ्यात्व को भी) सत्तागत प्रदेश को भोगता है परन्तु उसके रस को नहीं भोगता है और उपशम भाव को प्राप्त करने वाला उपशान्त कषाय वाला जीव सत्तागत प्रदेशों को भी नहीं भोगता है।

४. वेदक = क्षपक श्रेणि को-क्षायिक समकित प्राप्त करते जीव को-अनंतानुबन्धी चार कषाय, मिथ्यात्व मोहनीय, और मिश्र मोहनीय, इन छह का सम्पूर्ण क्षय होने के बाद समकित मोहनीय शुद्ध पुंज को खतम करते, उसके आखिरी पुद्गलों को खतम करते अन्तिम समय में उदय होते आखिर ग्रास भोगता है, तब क्षायोप- शमिक का ही आखिर होते उसके अन्तिम ग्रास का वेदन होने से उसे 'वेदक समकित' कहते हैं। यह आखिर ग्रास खतम होते ही दर्शन सप्तक का क्षय होने से अनंतर समय में जीव क्षायिक समकित वाला बनता है। संबोध प्रकरण सम्यकत्वाधिकार गाथा २१ में कहा है **"वेअगमिअ पुत्वोइअचर मिल्लय पुग्गल गासं"** अर्थात्- पूर्व कहे अनुसार-उदय में रहते समकित मोहनीय के पुद्गलो के आखिरी ग्रास का वेदन होने से उसे वेदक समकित कहते हैं।

५. सास्वादन = पहले कहे अनुसार औपशमिक समकित वाला पतन परिणामी जीव के अंतर करण में रहता है, जघन्य से जब आखिरी समय शेष रहे और उत्कृष्ट से उसकी अन्तिम छह आवलियां शेष रहे तब अनंतानुबन्धी कषाय का उदय होते सम्यकत्व से गिरता जाता है, अर्थात् सम्यकत्व का वमन करता है, जैसे किसी समय खीर का भोजन करने के बाद वमन के समय में भी उसका कुछ स्वाद रह जाता है वैसे ही उस काल में जीव को भी सम्यकत्व का कुछ आस्वाद होता है, इसलिए उसे 'सास्वादन समकित' कहते हैं। उपशम समकित का वमन होते समय मिथ्यात्व के उदय होने से पहले बीच में जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छह आवली प्रमाण यह सम्यकत्व जीव को पतन के समय होता है। विशेषावश्यक गाथा ५३१ में कहा है कि:-

उवसम सम्मत्ताओ, चयओ मिच्छ अपाव माणस्स ।
सासायण सम्मत्तं, तयंतरालं मि छावलिंअ ।। ५३१।।

अर्थात्-'उपशम सम्यकत्व से पतन होते समय मिथ्यात्व के उदय के पहले उपशम समकित और मिथ्यात्व के अन्तर में छह आवली प्रमाण सास्वादन-समकित होता है।' अब पांचों की स्थिति काल मान आदि कहते हैं। यह श्लोक संबोध प्रकरण सम्यकत्वाधिकार गाथा २२ है -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अतं मुहूर्त्त वसमओ, छावली सासण वेअगो समआ ।
साहियति त्तीसायर, खइओ दुगुणी खओवसमो ।। २२।।

अर्थात्- औपशमिक सम्यकत्व का अतंर्मुहूर्त, सास्वादन का छह आवलिका, वेदक का एक समय, क्षायिक साधिक का तैंतीस सागरोपम क्षायोपशमिक का इससे द्विगुणा छियासठ सागरोपम तक उत्कृष्ट से भोगता है। वह इस प्रकार से-

दोवारे विजयाइसुं गायस्स तिन्नच्चुए अहव ताई ।
अइरेग नर भविअं, नाणा जीवाण सव्वद्धं ।। ४३६।।

अर्थात्-विशेषावश्यक में कहा है 'कोई क्षायोपशमिक समकिती जीव दो समय विजयादिचार में, अनुत्तर देवलोक में तीन बार, अच्युत देवलोक में उत्पन्न होता है'। अनुत्तर देवलोक में उत्कृष्ट आयुष्य तैंतीस सागरोपम होने से दो जन्म और अच्युत देवलोक में उत्कृष्ट बाईस सागरोपम होने से तीन जन्म में छियासठ सागरोपम होता है। इसके अतिरिक्त जितने मनुष्य रूप में जन्म लेता है उतना अधिक होता है अर्थात् एक जीव की अपेक्षा से क्षायोपशमिक सम्यकत्व का ६६सागरोपम से अधिक काल मान जानना, और जीवों के आश्रित का तो प्रवाह की अपेक्षा से सर्व काल- अनादि अनंत काल जानना।' इस तरह सम्यकत्व की स्थिति कही, अब वह कितने बार प्राप्त होता है, वह कहते हैं:-

उक्कोसं सासायण-उवसमिआ हुंति पंच वाराओ ।
वेअग खइआ इक्कसि, अंसख वारा खओ वसओ ।।२२।।

अर्थात् 'सम्यकत्व स्तव प्रकरण में कहा है कि एक जीव को पूरे संसार चक्र में औपशमिक और सास्वादन समकित ये दो उत्कृष्ट पांच बार, वेदक और क्षायिक एक एक बार ही और क्षयोपशमिक असंख्यात बार भी प्रगट होता है।' संबोध प्रकरण सम्यकत्वाधिकार गाथा ३१ में कहा है-

तिण्हं सहसपुहुत्तं, सयप्पुहुत्तं च होई विरईए ।
एग भवे आगरि सा, एवइआ हुंति णायव्वा ।।३१।।

अर्थात् 'चार सामायिक में से श्रुत सामायिक, सम्यकत्व सामायिक और देश विरति सामायिक – ये तीन एक जीव को एक ही जन्म में सहस्र पृथकत्व बार अर्थात् दो हजार से नौ हजार बार आती हैं और जाती हैं, तथा सर्व विरति गुण एक ही जन्म में शत पृथक्त्व अर्थात् दो सौ से नौ सौ (अनेक सैंकड़ों) बार आता है और चला जाता है अर्थात् उस गुण के उतनी बार आकर्षण होते हैं अर्थात् आता जाता है। इस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तरह पुनः पुनः आए तो उत्कृष्ट से उतनी बार आती है । जघन्य से तो यह गुण एक जन्म में एक बार जीव को प्राप्त होता है।' और उसी अधिकार में अन्दर गाथा ३२ में कहा है-

तिण्हं सहसमसंखा, सहसपुहुत्तं च होई विरईए ।
णाणभवे आगारिया, एवइआ हुंति णायव्वा ॥२१॥

अर्थात् 'पूर्व कहे अनुसार श्रुत, समकित और देश विरति ये तीन गुण पूरे संसार चक्र में एक जीव को उत्कृष्ट से असंख्यात हजार बार आता है और चला जाता है एवं सर्व विरति गुण सम्पूर्ण संसार चक्र में दो हजार से नौ हजार या अनेक हजार बार आता है और चला जाता है।' जघन्य से तो कोई जीव उस गुण को प्राप्त कर पतन हुए बिना ही उसी जन्म में मोक्ष जाता है। सम्यकत्वस्तव प्र० गाथा २३ में कहा है-

बीअ गुणे सासाणं, तुरि आइसु अट्ठिगार चउ चउसु ।
उवसमगरवइ अवेअगरवा ओव समा कमा हुंति ॥२३॥

अर्थात् सास्वादन दूसरे गुण स्थानक में होता है, औपशमिक चौथे से आठवें (ग्यारहवें में) गुणस्थानक तक, क्षायिक चौथे से ग्यारहवें (चौदहवें) गुणस्थानक तक, तथा वेदक और क्षायोपशमिक चौथे से चार (सातवें) गुण स्थानक तक होता है। विशेषावश्यक गाथा ११२२ में कहा है कि:-

सम्मत्तं मि उ लद्धे, पलिय पुहु त्तेण सावओ हुज्जा ।
चरणो-वसम-खयाण, सागर संखतरा हुंति ॥११२२॥

अर्थात् 'सम्यकत्व प्राप्त होते सात कर्मों की स्थिति जो देश न्यून कोड़ा कोड़ी सागरोपम जितनी होती है उसमें से दो से लेकर नौ पल्योपम कम हो जाती है तब देश विरति धर्म प्राप्त होता है । उसमें से भी संख्याता सागरोपम काल कम होता है तब प्रमत्त, अप्रमत्त चारित्र धर्म मिलता है, उसमें से फिर संख्याता सागरोपम कम होते उपश्रेणि और उसमें से भी संख्याता सागरोपम घटते जाते हैं तब क्षपक श्रेणी की प्राप्ति होती है।' तथा-

इअ (अप्प) परिवडिए सम्मे सुरमणुए इगभवे वि सव्वाणि ।
इगसे ढि वज्जि आइं, सिवं च सत्तट्ठ भव मज्झे ॥१॥

अर्थात् '' ये प्राप्ति, अप्रति, पतित, सम्यकत्व वाला आत्मा जब तक सम्यकत्व हो तब तक देव या मनुष्य जन्म को ही प्राप्त करता है। कोई तो सम्यकत्व प्राप्त कर उसी ही जन्म में देश विरति, सर्व विरति तथा उपशम या क्षपक श्रेणी में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से एक श्रेणी प्राप्त करता है । दो श्रेणी एक ही जन्म में नहीं प्राप्त कर सकता है। इन सभी भावों को एक जन्म में भी प्राप्त करता है और अधिक से अधिक सात-आठ जन्म में उसका मोक्ष भी होता है।''

क्षायिक समकित दृष्टि तो उस ही जन्म में अथवा अधिक से अधिक तीसरे-चौथे जन्म में भी सिद्ध होता है । पंच संग्रह आदि में गाथा ७७८ में कहा है कि:-

तइ अचउत्थे तंमि व, भवंमि सिज्झंति दंसणे खीणे ।
जं देव निरय संखाउ, चरम देहेसु ते हुंति ।।७७८।।

अर्थात् कोई जीव आगामी जन्म के देव या नरक के आयुष्य का बंधन करके फिर क्षायिक समकित प्राप्त करे तो वह मरकर देव या नरक में जाय और वहां से मनुष्य होकर मोक्ष में जाता है । इस तरह उसका तीसरे जन्म में मोक्ष होता है। कोई असंख्यात् वर्ष का तिर्यंच या मनुष्य का आयुष्य बाँध कर क्षायिक समकित प्राप्त करता है तो वह मरकर युगलिक में तिर्यंच या मनुष्य होता है और वहां से देव होकर मनुष्यत्व प्राप्त कर मोक्ष में जाता है । इस तरह चार जन्म में मोक्ष जाता है। जो जीव संख्याता वर्ष का तिर्यंच या मनुष्य जन्म का आयुष्य बन्धन किया हो वह जीव वर्तमान जन्म में क्षायिक समकित नहीं प्राप्त कर सकता और जिसने आगामी आयुष्य बन्धन न किया हो तो वह चरम देह धारी जीव क्षायिक समकित प्राप्त करे तो क्षपक श्रेणी पूर्ण करके उसी जन्म में मोक्ष जाता है ।

श्री दुप्पसह सूरि जी, श्री कृष्ण आदि क्षायिक समकिती पांचवें जन्म में मोक्ष में जायेंगे– यह प्रसिद्ध है। श्री दुप्पसह सूरि जी पूर्व जन्म में क्षायिक समकित पालकर देव लोक गये हैं, वहां से च्यवन कर पांचवें आरे के अन्त में यहां भरत क्षेत्र में मनुष्य होंगे, फिर भी उस काल में मोक्ष के योग्य सामग्री संधयणादि के अभाव में पुनः देवलोक में उत्पन्न होकर फिर मनुष्य जन्म प्राप्त कर मोक्ष जायेंगे। इस तरह पांचवें जन्म में मोक्ष जायेंगे। श्री कृष्ण जी के लिये इसी तरह पांच जन्म मानते हैं ।

एक जीव के आश्रित अथवा अनेक जीवों के आश्रित कर सम्यकत्व का उपयोग जघन्य से और उत्कृष्ट से भी अतंर्मुहूर्त ही होता है और दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम रूप सम्यकत्व की लब्धि तो एक जीव के आश्रित जघन्य से अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट से मनुष्य जन्म अधिक छियासठ सागरोपम तक भी रहता है, उसके बाद सम्यकत्व से नहीं गिरता है एवं अवश्य सिद्ध होता है, अनेक जीवों के आश्रित तो सम्यकत्व की लब्धि सदा काल होती है। एक जीव का समकित प्राप्त करने के बाद

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पतन हो तो फिर शीघ्र से शीघ्र अंतर्मुहूर्त्त में भी सम्यकत्व को प्राप्त करता है अर्थात् उसे जघन्य से अंतर्मुहूर्त्त का अन्तर पड़ता है और उत्कृष्ट से श्री तीर्थंकर-प्रवचन आदि की तीव्र आशातना करने वाले भयंकर कर्म करने वाले को अर्ध पुद्गल परावर्त काल का भी अंतर पड जाता है। इतने काल के बाद तो उसे अवश्य पुनः सम्यकत्व प्राप्त होता है और मोक्ष भी जाता है। उपदेश पद गाथा ४२३ में कहा है कि:-

तित्थयर पवयण सुअं, आयरियं गणहरं महिट्ठीयं ।
आसायतो बहुसो, अणंत संसारिओ होई ।।४२३।।

अर्थात् 'ग्रन्थि भेदन करने के बाद तीर्थंकर, संघ, गणधर, श्रुत, ज्ञान, आचार्य, उपाध्याय अथवा महर्द्धिक लब्धिधारी मुनिराज आदि की बहुत बार आशातना करने वाला जीव भी अनंत संसारी होता है।' वह अर्ध पुद्गल परावर्त काल तक संसार में रहता है। इस तरह जीव के आश्रित पुनः सम्यकत्व प्राप्ति जघन्य से अतंर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट से अर्ध पुद्गल परावर्त काल का अंतर जानना। अनेक जीवों की अपेक्षा से तो हमेशा सम्यकत्व रहता है, उसका अंतर नहीं रहता आदि अधिकार आवश्यक सूत्र टीका में विस्तार सहित बतलाया है, इसलिये विशेष जिज्ञासु उस स्थान से जान लें।

यहाँ तक सम्यकत्व के पांच भेद और उसका स्वरूप कहा है। अब अन्य ग्रन्थों में सम्यकत्व के जो एकविध, द्विविधि आदि क्रम से अलग-अलग रीति से भेद बतलाए हैं, वे इस प्रकार से प्रवचन सारोद्धार आदि में कहे गये हैं -

एग विह दुविह तिविह, चउहा, पंचविह दसविहं सम्म ।
दव्वाइ कारयाई, उवसम भेएहिं वा सम्म ।। ६४२।।

एग विहं सम्यरूई, निसग्ग हि गमेहि भवे तयं दुविहं ।
तिविहं तं खइ आई अहवा वि हु कार गाईअं ।। ६४३।।

खइगाई सासण जुअं, चउहा बेअगजुअं तु पञ्चविहं ।
तं मिच्छ चरम पुग्गल बेअणओ दस विहं एअं ।। ६४७।।

निसग्गु वए सरूई आणरूई, सुत्त बीअरूइ मेव ।
अभिगम वित्थार रूई, किरिआ संखेव धम्मरूई ।। ६५०।।

अर्थात् "द्रव्यादि, कारकादि और उपशम आदि अनेक भेद से सम्यकत्व एक, दो, तीन, चार, पांच और दस प्रकार का भी है, 'उसमें तत्त्व की सम्यक् रुचि' यह उसका एक भेद है। नैसर्गिक और आधिगामिक अथवा द्रव्य भाव और निश्चय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्यवहार – इस तरह दो भेद अनेक रीति से होता है। कारक, रोचक और दीपक अथवा क्षायिक, औपशामिक और क्षायोपशमिक इस तरह उसके तीन भेद भी होते हैं, और उसमें सास्वादन मिलाने से चार प्रकार का और वेदक मिलाने से पांच भेद होते हैं। इन पांचों को नैसर्गिक तथा आधिगमिक से दो दो प्रकार से गिना जाय तो दस भेद होते हैं अथवा निसर्ग रुचि, उपादेय रुचि, आज्ञा रुचि, सूत्र रुचि, बीज रुचि विस्तार रुचि, क्रिया रुचि, संक्षेप रुचि और धर्म रुचि इस तरह भी दस भेद कहे हैं।

यहाँ कहने का भावार्थ यह है कि सम्यकत्व के बन्धन भेद में तथाविध 'तत्त्वश्रद्धा' रूप समानता होने से श्री जिन कथित तत्त्वों में यथार्थ रूप की बुद्धि होने से सब सम्यकत्व एक ही रूप हैं। निसर्ग से और अधिगम से दो तरह से प्राप्त होता है-इस तरह प्राप्ति के दो भेद हैं। इससे सम्यकत्व के भी १-नैसर्गिक-स्वाभाविक, २- आधिगामिक-अधिगम से, इस तरह दो भेद हैं। इनका स्वरूप पहले विस्तार पूर्वक कहा गया है। तदुपरांत द्रव्य समकित और भाव समकित इस तरह भी उसके दो भेद होते हैं। उसमें श्री जिनेश्वर भगवान कथित तत्त्वों में जीव को सामान्य रुचि द्रव्य समकित है और वस्तु तत्त्व को जानने के उपाय रूप 'नय-निक्षेप-प्रमाण आदि से जीव अजीव आदि सभी तत्त्वों को विशुद्ध रूप-यथार्थ रूप में जानने वाले जीव का ज्ञान स्वरूप' – वह भाव समकित जानना। क्योंकि शास्त्रों में नय निक्षेप-प्रमाण आदि तत्त्वों की परीक्षा रूप में प्राप्त हुए मति ज्ञान के तीसरे भेद रूप अपाय ज्ञान को भाव समकित कहते हैं। श्री सिद्ध सेन दिवाकर सूरीश्वर जी ने सन्मति तर्क कारिका २-३२ में कहा है-

एवं जिणपण्णत्ते,सद्दहमाणस्स भावओ भावे ।
पुरिसस्साभिणि बोहे, दंसण सद्दो हवइ वच्चो ॥ ७ ॥

अर्थात् 'इस तरह से दर्शन शब्द श्री जिन कथित भावों को चिन्तन करने से सद्दहता-यथार्थ रूप में जानना, पुरुष को अभिनिबोधिक (मति) ज्ञान का वाचक है, अर्थात् दर्शन शब्द से उस पुरुष का अभिनिबोधिक ज्ञान समझना।' आचार्य श्री हरिभद्र सूरीश्वर जी महाराज भी पंचवस्तु गाथा १०६३ में कहते हैं कि:-

जिण वयण मेव तत्तं, इत्थं रूई होइ दव्व सम्मत्तं ।
जह भावणाण सद्धा परिशुद्धं भाव सम्मत्तं ॥

अर्थात् 'जिनेश्वर भगवान का वचन ही तत्त्व रूप है – ऐसी सामान्य रुचि, वह द्रव्य समकित है और वस्तु को यथा स्थित जानने वाला नय निक्षेप-प्रमाणादि से विशुद्ध ज्ञानपूर्वक श्रद्धा से परिशुद्ध – वह भाव समकित जानना।'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह अर्थ भी पूर्व की व्याख्या के अनुसार ही है क्योंकि पचंवस्तुक ग्रन्थ में 'जिन वचन ही तत्त्व है, इसके बिना अन्य तत्त्व नहीं है' ऐसी सामान्य रुचि को द्रव्य समकित कहा है और 'नय-निक्षेप प्रमाण आदि से संस्कार वाली, विशुद्ध बनी विस्तार पूर्वक रुचि' को भाव समकित बतलाया है। उसमें द्रव्य अर्थात् कारण और भाव अर्थात् कार्य सिद्धि ऐसा कहने से यहाँ 'भाव समकित रूप कार्य का कारण द्रव्य समकित' समझना। इससे निश्चय हुआ कि-जिसकी सामान्य तत्त्व रुचि भी 'इसी तरह ही है' ऐसा एकान्त आग्रह वाली हो और इससे जो औघ से अनेकान्त को नहीं मानता उनका सामान्य रुचि भाव समकित का कारण नहीं होने से उनका द्रव्य समकित का 'द्रव्य' शब्द 'कारण' अर्थ में नहीं है परन्तु 'कुस्सित-अप्रधान' अर्थ में है, अर्थात् तत्त्व की सामान्य रुचि भी एकान्तवाद के दुराग्रह वाली हो तो वह भाव समकित में कारण नहीं है इससे वह द्रव्य समकित नहीं है, परन्तु अशुद्ध अरुचि असदाग्रह है। क्योंकि श्री जिनागम कथित वचन को भी यदि अनेकान्त के बदले में एकान्त रूप में ही स्वीकार करे तो उस जीव का मिथ्यात्व गया- ऐसा नहीं माना जाता अर्थात् मिथ्यात्वी है। श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरीश्वर जी ने सन्मति तर्क का. ३-२८ में कहते हैं कि-

छप्पिअ जीविणिकाए सद्दहमाणो न सद्ददे भावा ।
हंदि अ पज्जवेसु, सद्दहणा होई अविभत्तं ।।

अर्थात् 'जीव छह ही निकाय है' ऐसा मानने वाला परमार्थ से श्रद्धालु नहीं है क्योंकि छह के साथ 'ही' अन्य अपेक्षाओं का बाधक है, इससे सर्व अपेक्षा से 'जीव निकाय छह ही प्रकार से है' ऐसा अर्थ करना वह अनेकान्तता का खंडन और एकान्तता का मंडन होता है, इसलिए 'चैतन्य की अपेक्षा से चैतन्य सर्व जीवों में व्यापक होने से सर्व जीवों का एक प्रकार भी है।' इत्यादि भी मानना चाहिए। 'हिंसा में अधर्म है' यह भी एकान्त से नहीं क्योंकि अप्रमत्त मुनि से हिंसा हुई भी अहिंसा है और प्रमत्त से हिंसा नहीं होने पर भी हिंसा कही है- वह असत्य सिद्ध होगा। इस तरह जिस पदार्थ के अन्दर वर्तमान में अग्नि आदि पर्याय नहीं, उसमें भूत-भविष्य की अपेक्षा से वह पर्याय मानना चाहिए। इस सत्य को छोड़कर द्रव्य सम्यकत्व वाला सामान्य रुचि होने पर यदि अनेकान्त के स्थान पर एकान्तवाद को पकड़ता है तो वह मिथ्या रुचि कहलाती है।

अर्थात् - श्री जिनेश्वर भगवान कथित तत्त्वों का तथाविध नय निक्षेपादि पूर्वक का एकान्तिक ज्ञान न हो तो भी जिसको जिन कथित होने से उसमें यथार्थ रूप की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रुचि हो और ज्ञानी-गीतार्थ उसकी भूल को सुधार सके ऐसी योग्यता-सरलता होने से जो विपरीत अभिनिवेश दुराग्रह वाला न हो, ऐसे जीवों को अपने अज्ञान अथवा गुरु के वचन में श्रद्धा से विपरीत सुनने से बोध हो फिर भी उसकी अंतर शुद्धि - वस्तु के यर्थाथ को स्वीकार करने की शुद्ध बुद्धि होने से उसको द्रव्य सम्यकत्व कह सकते हैं। श्री भद्रबाहु स्वामी ने उत्तराध्ययन निर्युक्ति में कहा है कि –

सम्मदिट्ठि जीवो, उवइट्ठ पव यणं तु सद्द हइ ।
सद्द हइ असब्भाव, अणाभोग गुरु निओगा वा ॥१६३॥

अर्थात्- 'समकित दृष्टि जीव उपदेश से सुने हुए शास्त्र को सत्य रूप मानता है, उसमें कभी अनाभोग से अथवा गुरु पारतन्त्र्य के कारण असत्य को भी सत्य रूप से मानने लग जाता है अर्थात् सत्यता की श्रद्धा होने पर भी अपनी अज्ञानता से या छद्मस्थ गुरु के वचन में विश्वास होने से झूठ को भी सत्य मानना संभव हो जाता है।' इतने मात्र से वह मिथ्यात्वी नहीं होता है।

यहां यह प्रश्न संभावित है कि- श्री भद्रबाहु स्वामी जी के उक्त वचन में द्रव्य या भाव, इन दोनों में से एक भी विशेषण का उल्लेख नहीं है, केवल 'समकित दृष्टि जीव' पाठ है, तो उसका अर्थ 'द्रव्य समकित' किस तरह हो सकता है? सामान्य 'समकित दृष्टि जीव' ऐसे शब्द से 'विशिष्ट द्रव्य समकिती' ऐसा अर्थ करने में प्रमाण क्या है? उसका समाधान करते हैं कि तुम्हारा प्रश्न ठीक है, परन्तु यहाँ 'विस्तार रुचि' भाव समकित' है ऐसा कहा है, यह वचन ही अर्थापत्ति से 'सामान्य रुचि द्रव्य समकित है' ऐसा कहने में प्रमाणभूत है, अर्थात् विस्तार रुचि रूप भाव समकित की अपेक्षा से ही सामान्य रुचि द्रव्य सम्यकत्व रूप में सिद्ध है, और जो नय द्रव्य और भाव दोनों को परस्पर अनुविद्ध-संकलित मानते हैं तो उसके अभिप्राय से द्रव्य सम्यकत्व में भी अपेक्षा से रुचि रूप भाव सम्यकत्व रहता है । इत्यादि अन्य ग्रन्थों में कहा है। इस तरह द्रव्य-भाव से सम्यक्त्व के दो भेद भिन्न-भिन्न नयों से अनेक प्रकार से समझना। जैसे द्रव्य-भाव से द्विविध रूप कहा है वैसे व्यवहार-निश्चय से भी सम्यकत्व दो प्रकार का है। उसके लक्षण सम्यकत्व स्तव प्रकरण गाथा ११ में इस तरह से हैं :-

निच्छयओ सम्मत्तं, नाणाइमयप्प सुद्ध परिणामो ।
इयरं पुण तुह समये, भणियं सम्मत्त हे ऊहिं ॥१॥

अर्थात्- ' ज्ञान-दर्शन चारित्रमय आत्मा का शुद्ध परिणाम, वह निश्चय सम्यकत्व और उसमें हेतुभूत सम्यक्त्व के सड़सठ भेदों का ज्ञान, श्रद्धा और क्रिया

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रूप में यथाशक्य पालन करना वह व्यवहार सम्यकत्व है । ऐसा हे भगवन्त! आपके सिद्धान्त में कहा है।'

यहां यह प्रश्न होता है कि इस गाथा के 'नाणाइमय' पद का 'ज्ञान दर्शन चरित्र तीनों से मिश्रित आत्मपरिणाम' ऐसा अर्थ होता है, तो इससे निश्चय समकित का भी अर्थ भाव चारित्र ही हुआ, भाव चारित्र और निश्चय समकित दोनों का एक ही स्वरूप निश्चय हुआ । वह कैसे हो सकता है? उसका समाधान करते हैं कि बात सत्य है, भाव चारित्र – निश्चय समकित रूप ही है, क्योंकि कार्य के साथ कारण न हो तो उसको कारण नहीं माना जाता, क्रिया काल में ही कारण, कारण कहलाता है– कार्य समाप्त होने के बाद या क्रिया से पहले कारण नहीं गिना जाता। इसलिए यहाँ निश्चय सम्यकत्व रूप कारण के साथ में भाव चारित्र रूप कार्य की साधना रहती है, ऐसा समझना। यहाँ प्रश्न होता है कि–यदि इस तरह चारित्र रूप कार्य के साथ में उसे ही समकित कहा जाय तो चारित्र रहित श्रेणिक राजा आदि सम्यकत्व नहीं घट सकता है, इसका क्या होगा? उसका उत्तर देते हैं कि–चौथे आदि गुण स्थानक में जैसी श्रद्धा–ज्ञान हो वैसा ही आचरण कारण रूप निश्चत समकित नहीं होता, इससे श्रेणिक महाराजा आदि में ज्ञान दर्शन चारित्रमय निश्चय सम्यक्त्व न माना जाय तो इस बात का कौन विरोध कर सकता है? क्योंकि यह निश्चय सम्यकत्व अप्रमत्त के सातवें गुणस्थानक से ही होता है। ऐसा शास्त्र में स्पष्ट बतलाया है। श्री आचारांग सूत्र, अध्य. ५ उ.२ सूत्र १२५ में कहा है कि:-

जं सम्मंति पासहा, तं मोणंति पासहा ।
जं मोणंति पासहा तं सम्मंति पासहा ।।१।।

ण इमं सक्कं सिढि लेहिं अद्दिज्जमाणेहि गुणा साएहिं,
वंक समायारेहिं पमत्तेहि गार माव संतेहि ।
मुणी मोणं समादाय, धुणे कम्म सरीरगं,
पंत लूहं च सेवंति वीरा (धीरा) सम्मत्तदं सिणो ।।२।।

अर्थात् – जो सम्यक्त्व है वही मौन चारित्र है और जो मौन चारित्र है वही सम्यकत्व है। इस निश्चय समकित का पालन अल्प सत्त्व वाले, स्त्री पुत्रादि के प्रति स्नेह से कोमल हृदय वाले, शब्द, रूप रस गंध–स्पर्श आदि विषयों में आस्वाद–गृद्धि वाले, माया आदि से वक्र आचार वाले, विष–कपायादि प्रमाद वाले अथवा 'गार' अर्थात् घर में निवास करने वाले गृहस्थों से शक्य नहीं है । लेकिन मौन–चारित्र

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को अंगीकार करके कर्म रूपी कार्मण शरीर का नाश करने वाले मुनि तथा सम्यग् दर्शन वाले वीर महर्षि जो कि अन्त में निरुपयोगी-उच्छिष्ट और रुक्ष-नीरस-विरस आहार आदि को उपयोग करने वाले हैं – उनसे ही पालन हो सकता है अर्थात् कहने का तात्पर्य है कि निश्चय सम्यकत्व अप्रमत्त संयमी को ही होता है ।

यह समाधान स्वीकार करते हुए दूसरा प्रश्न यह होता है कि-इस तरह निश्चय सम्यकत्व को भाव चारित्र माना जाय तो उसमें और कारक सम्यकत्व में कुछ भी भेद न रहा, क्योंकि कारक-समकित भी कारण रूप क्रिया में साथ होता है और क्रिया चारित्र रूप है। इससे यह अर्थ हुआ कि कारण समकित भी चारित्र रूप और जो ज्ञानादिमय परिणाम रूप निश्चय सम्यकत्व है । वह भी चारित्र रूप, इस तरह दोनों का स्वरूप एक ही हो गया, वह किस तरह हो सकता है? उसका समाधान करते हैं कि-तुम्हारा प्रश्न योग्य नहीं है, क्योंकि कारक समकित और निश्चय समकित इन दोनों में विशेष्य रूप भेद नहीं होने पर भी विशेषण द्वारा वे अलग होते हैं। वस्तुतः इसी कारक सम्यकत्व का स्वरूप दर्शन विशेषण 'क्रियोपहि तत्त्व' क्रिया में साथ रहने का है और निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप दर्शन विशेषण' ज्ञानादिमयत्व' ज्ञान दर्शन चारित्र का एकाकार रूप है। इस प्रकार दोनों के विशेषण भिन्न होने से परस्पर भिन्न हैं।

जैसे एक ही मनुष्य पिता और पुत्र रूप में होने पर भी, जिसका वह पिता है उसका पुत्र नहीं है, वैसे ही जिसका वह पुत्र है उसका पिता नहीं है – इस तरह से पिता-पुत्र धर्म एक ही मनुष्य में होने पर भी अलग हैं वैसे ही निश्चय समकित और कारण समकित दोनों चारित्र परिणाम रूप होने पर भी भिन्न हैं जहाँ कारकत्व है वहाँ ज्ञानादिमयत्व नहीं और जहाँ ज्ञानादिमयत्व है वहाँ कारकत्व नहीं है- ऐसा भेद समझना । सम्यकत्व के जो शम-संवेग-अनुकम्पा और आस्तिकाय' ये पांच लक्षण कहे हैं, वह भी इस निश्चय सम्यकत्व में ही घटते हैं । यदि ऐसा न मानें तो श्रेणिक, कृष्ण महाराज आदि में उक्त लक्षणों का अभाव होने पर उन्हें समकितवान कहने से वे लक्षण ही असत्य हो जायेंगे। इसलिए आचार्य श्री हरिभद्र सूरीश्वर जी विंशिका में भी कहते हैं कि:-

णिच्छय सम्मत्तं वा ऽहि गिच्च सुत्त भणियं निउणरूव तु।
एवं विहो नियोगो, होइ इमो हतं वच्चुं त्तु।।१७।।

अर्थात् - विंशिका में इस श्लोक के पहले सम्यकत्व के लक्षण का वर्णन किया है, फिर १६ वें श्लोक में केवल अनन्तानुबंधी के ही अनुदय से समकित के लक्षण किस तरह हो सकते हैं? ऐसा प्रश्न किया है और उसका समाधान 'विषय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विशेष की अपेक्षा से घट सकता है।' ऐसा कह कर फिर इस सत्तरहवीं गाथा में अन्य प्रकार से भी वे लक्षण निश्चय सम्यक्त्व के हैं।' ऐसा समझाया है। वह इस प्रकार है- 'शास्त्र में जो सम्यकत्व का सुन्दर स्वरूप बतलाया है वह निश्चय सम्यकत्व की अपेक्षा से इस प्रकार के शम-संवेग आदि लक्षणों का नियोग आत्मा में होता है, ऐसा कहा है अर्थात् यह लक्षण निश्चय समकित के आश्रित से समझना चाहिए।

इस तरह एक समाधान किया। अब अन्य रीति से इस प्रश्न का समाधान करते हैं कि-'ज्ञानादिमय' लक्षण भिन्न-भिन्न नय से इस प्रकार समझना- ज्ञान प्रधान नय के अभिप्राय से 'विशिष्ट ज्ञान दशा' को निश्चय सम्यकत्व और क्रिया प्रधान नय के अभिप्राय से 'भाव चारित्र' को निश्चय समयकत्व जानना, और दर्शन प्रधान नय के अभिप्राय से तो 'श्री जिन कथित तत्त्वों में यथार्थ श्रद्धा रूप में' व्यवस्थित है ही। इस तरह भिन्न-भिन्न नयों के अभिप्राय से निश्चय समकित का स्वरूप भिन्न-भिन्न रूप में घटता है, फिर भी आत्मा के शुद्ध परिणाम को ही तत्त्व मानने वाला निश्चय नय की अपेक्षा से है। योग शास्त्र प्रकाश श्लोक एक में कहा है-

आत्मैव दर्शन-ज्ञान चारित्रण्यथवा यतेः ।
यत्तदात्मक एवैष, शरीरमधितिष्ठति ॥१॥

अर्थात्- गुण-गुणी का अभेद मानने की अपेक्षा से साधु का आत्मा ही निरुपाधिक शुद्ध प्रकाश होने से ज्ञान रूप है, आत्मा ही श्रद्धा करने वाला होने से दर्शन रूप है और आत्मा ही स्वभाव का आचरण करने वाला अथवा अपने स्वरूप में रमण करने वाला होने से चारित्र रूप है अर्थात् आत्मा ही ज्ञान दर्शन चारित्र स्वरूप है, ज्ञानादि आत्मा से भिन्न नहीं हैं। यति (मुनि) का आत्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ना, ज्ञान दर्शन चारित्र स्वरूप आत्मा ही यति के शरीर में स्थित है। ज्ञानादि आत्मा से अलग नहीं है आत्मस्वरूप है, इससे वह मुक्ति का कारण रूप बनता है। श्लोक में 'अथवा' शब्द का प्रयोग अभेद नय की अपेक्षा से दूसरा विकल्प बताने के लिये किया है। जो आत्मा से भिन्न हो वह मुक्ति का कारण नहीं बन सकता। देवदत्त के ज्ञानादि से यज्ञदत्त को मुक्ति नहीं मिल सकती - अभेद का समर्थन करते हैं। इसलिए आत्मा और गुणी कथंचिद् भिन्नाभिन्न मान लें तो सभी व्याख्याएँ व्यवस्थित हो जाती हैं।

इस तरह से आत्म ज्ञान पूर्वक शुद्ध आत्म स्वरूप की रमणता में तृप्ति-आनन्द मानना' ही निश्चय सम्यकत्व जानना। इस प्रकार द्रव्य भाव से और व्यवहार-निश्चय से सम्यकत्व को द्विविध दो प्रकार का जानना। अब सम्यकत्व के तीन भेद किस प्रकार से हैं ? वह कहते हैं -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक इस तरह तीन भेद सम्यकत्व के हैं। यहाँ सास्वादन की विवक्षा नहीं होने के कारण और वेदक को क्षायोपशमिक में गिन लेने से पूर्व कहे अनुसार पांच भेदों के ही तीन भेद होते हैं। इन तीन भेदों का स्वरूप पूर्व कहे अनुसार समझ लेना। अथवा कारक, रोचक और दीपक समकित भी तीन प्रकार का है। उसका स्वरूप इस तरह से है:-

१. कारक- सूत्र अर्थात् जिन आज्ञा, उसके अनुसार होने वाली 'शुद्ध क्रिया' वह कारक सम्यकत्व कहलाता है, क्योंकि क्रिया करने वाले की ऐसी क्रिया को देखकर अन्य जीवों को सम्यकत्व प्रगट होता है। इस तरह से अन्य को समकित का कारण होने वाली क्रिया सम्यकत्व है। अथवा दूसरी व्याख्या, ऐसी क्रिया से व्याप्त-अवच्छिन्न रूप सम्यकत्व को कारक कहा है, अर्थात् क्रिया में कारण-प्रेरक रूप से क्रिया के साथ में कर्ता रहता हो तो वह कारक सम्यकत्व कहलाता है। विशुद्ध चारित्र वाले जीव को ही यह सम्यकत्व हो सकता है। ऐसा जानना ।

२. रोचक- सम्यक् क्रिया में रुचि-प्रीति करवा दे, परन्तु क्रिया न कराए-वह रोचक सम्यकत्व कहलाता है। अविरति समकित दृष्टि श्रेणिक राजा, श्रीकृष्ण वासुदेव आदि का रोचक सम्यकत्व समझना ।

३. दीपक- जैसे दीपक पर को प्रकाश करता है वैसे ही अंगार मर्दकाचार्य आदि के समान उपदेश द्वारा अन्य जीवों को जीव अजीवादि पदार्थ- यथार्थ समझाता है । मिथ्यात्वी को शुद्ध उपदेश देकर अन्य को समकित बना देता है, परन्तु जैसे दीपक के नीचे अन्धेरा रहता है वैसे ही उपदेशक स्वयं अभव्य या समकित बिना मिथ्या दृष्टि होता है । इस कारण से ऐसे उपदेशक का दीपक समकित होता है ।

इस तरह सम्यकत्व के तीन भेद दो प्रकार से बतलाकर, अब चार और पांच प्रकार के कहते हैं- पूर्व कहे क्षायिकादि तीन भेद में एक ही सास्वादन को मिलाने से चार होते हैं और वेदक को मिलाने पर सम्यकत्व के पांच भेद होते हैं। सास्वादन और वेदक का स्वरूप पहले अधिकार में कह दिया है। तथा सम्यकत्व के दस भेद कहे हैं, वह उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार कहते हैं -

१. निसर्ग रुचि- निसर्ग अर्थात् किसी के उपदेश बिना ही स्वाभाविक रूप से आत्मा को दर्शन मोहनीय का क्षयोपशम होने से 'केवल व्यवहार नय से नहीं, परन्तु सत्य वस्तु को ही सद्वस्तु मानने वाली, शुद्ध नय के अभिप्राय से जीव, अजीव आदि नौ तत्वों में आत्मा की यथार्थ सार तत्त्व रूप, जो श्रद्धा हो उसे निसर्ग रुचि सम्यकत्व कहते हैं ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२. उपदेश रुचि - पर अर्थात् तीर्थंकर भगवन्त के वचनों को यथार्थ स्वरूप में समझाने वाले छद्मस्थ के उपदेश द्वारा सुने हुए जीवाजीवादि तत्त्वों में सद्भूतार्थ यथार्थ रूप की रुचि – इच्छा, वह 'उपदेश रुचि' सम्यकत्व कहलाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि केवल ज्ञान के बल से कथन किये श्री जिनेश्वर परमात्मा के वचनामृत का पान करने से या ऐसा उपदेश सुनने से बोध की रुचि होती है, वह उपदेश रुचि सम्यकत्व कहलाता है । केवल ज्ञान के बिना सत्य उपदेश नहीं हो सकता, अतः केवल ज्ञान उपदेश का मूल है। श्री सूत्रकृतांग द्वितीय श्रुतस्कंध, अध्ययन ६, गाथा ७१७-७१८ में कहा है कि-

लोगं अयाणि त्तिह केवलेणं, कहंति जे धम्ममयाण माणा ।
णासंति अप्पाण परं च णट्ठा, संसार घोरं मि अणोरपारे ॥७१७॥

लोगं वियाणिं त्तिह केवलेणं , पुन्नेण नाणेण समाहि जुत्ता ।
धम्मं समत्तं च कहंति जेउ, तारंति अप्पाण परं च तिण्णा ॥७१८॥

अर्थात्- ''जो केवल ज्ञान द्वारा लोक-तत्त्व को जाने बिना ही अज्ञानी होने पर भी धर्म को कहता है, वह अपार-घोर संसार समुद्र में डूबा हुआ स्वयं और पर को डुबाता है॥ ७१७॥ और राग द्वेष से मुक्त बने समाधिवान जो केवल ज्ञान से लोक को यथार्थ जानकर धर्म और समता का उपदेश देते हैं वे स्वयं संसार समुद्र को तरते हैं और पर को तारते हैं ॥७१८॥''इस प्रकार ज्ञानी का उपदेश सुनने की और उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा-रुचि अर्थात् वस्तुतः 'संशय मिटाने की इच्छा रूप आत्म धर्म' विशेष भाव रखना, वही उपदेश रुचि समकित है।

३. आज्ञा रुचि - देश से या सर्व से राग, द्वेष मुक्त बने आत्मा की आज्ञा-मात्र से ही अनुष्ठान करने की भावना-रुचि, वह आज्ञा रुचि है । उसमें अनुष्ठान करने की रुचि, मापतुष मुनि आदि की आज्ञापालन की रुचि के समान आत्मा में वह अनुष्ठान करने की इच्छा-रुचि होने से 'आज्ञा रुचि' समकित को प्रगट करवाता है। पंचाशक११/७ में भी कहा है कि-

गुरु पारतंत नाणं, सद्द हणं एय संगयं चेव ।
एत्तो उ चरित्तीणं, मासतुसाईण णि द्दिट्ठं ॥१॥

अर्थात्- 'गुरु परतंत्रता ही ज्ञान और श्रद्धा है, क्योंकि- गुरु आज्ञा का पालन करना ही ज्ञान का फल है, यही ज्ञान की सफलता है । श्रद्धा भी ज्ञान का साथी है, इसीलिए विशिष्ट ज्ञान बिना-अति जड़ मापतुष आदि गुरु को समर्पित हुए थे। इससे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उनमें ज्ञान, श्रद्धा और चारित्र तीनों कहे हैं। वास्तव में गुरु आज्ञा का पालन करने से जीव गुरु के ज्ञान दर्शन का फल प्राप्त करता है।' अर्थात् जो ज्ञान रहित जीव भी गुरु आज्ञा में विश्वास रखकर उनके वचन के अनुसार आचरण करता है तो उसे ज्ञान और दर्शन प्रगट होता है। इसी तरह केवल ज्ञानी की आज्ञा की रुचि से अनुष्ठान करने वाले जीव में भी परिणाम रूप उस विषय में ज्ञान-श्रद्धा प्रगट होती है। इसलिए उसे आज्ञा रुचि सम्यकत्व कहा है। यहां देश से राग-द्वेष मुक्त छद्मस्थ गुरु का वचन भी सर्वथा राग-द्वेष मुक्त बने केवली भगवन्त के वचन अनुसार होने से प्रामाणिक है। उसे वह प्रत्येक विषय में सत्य की रुचि करने वाला होता है। इसलिए गुरु आज्ञा के अनुसार आचरण करने वाले आत्मा में उस अनुष्ठान की जो रुचि होती है, वह आज्ञा रुचि है।

४. सूत्र रुचि- सूत्रों को पढ़ने से पुनः-पुनः अभ्यास करने से ज्ञान द्वारा श्रद्धा प्रगट होती है । जैसे गोविंदाचार्य को जिस प्रकार जीव में जीवाजीवादि पदार्थों का यथार्थ रूप- ज्ञान द्वारा श्रद्धा प्रगट होती है, वह 'सूत्र रुचि समकित' समझना। बारम्बार अध्ययन पठन-पाठन करने से उसके ज्ञान भी संशय रहित दृढ़ बनते हैं। सूत्र ज्ञान से प्रगट हुई ऐसी दृढ़ रुचि 'सूत्र रुचि' कहलाती है ।

५. बीज रुचि- जीवादि किसी एक तत्त्व की श्रद्धा से उसके अनुसंधान रूप में अनेक तत्त्वों में और उसके अर्थों में उत्तरोत्तर श्रद्धा का विस्तार हो अथवा जैसे पानी में तेल बिन्दु गिरने से वह स्वयं फैल जाता है वैसे ही एक पद में रुचि वाले जीव को स्वयं उत्तरोत्तर अनेक पदों की और उसके अर्थों की रुचि बढ़ती जाती है, वह 'बीज रुचि' समकित है।

६. अभिगम रुचि - सकल आगम सूत्रों के अर्थ में रुचि होना, वह 'अभिगम रुचि' कहलाती है अर्थात् सकल आगम सूत्रों के अर्थों के ज्ञाता में ज्ञान द्वारा श्रद्धा हो, उसे अभिगम रुचि सम्यकत्व जानना। प्रवचन सारोद्धार गाथा ६५६ में कहा है कि :-

सो होई अभिगम रूई, सुअनाणं जस्स अत्थओ दिट्ठं ।
इक्कारस अंगाइं पइन्नगं दिट्ठि वाओ अ ।।६५६।।

अर्थात् 'पयन्नादि उत्तराध्ययन सूत्र, दृष्टिवाद, सारे अंग उपांग आदि सकल आगमों के जिसने अर्थ जाने हैं, उसे 'अभिगम रुचि' समकित वाला कहा है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ यह प्रश्न होता है कि पूर्व कहे अनुसार सूत्र रुचि और अभिगम रुचि दोनों का एक ही अर्थ होता है, इतना ही नहीं परन्तु समाधान में कोई यह कहते हैं कि-अभिगम रुचि अर्थात् अर्थ युक्त सूत्र विषयक रुचि और सूत्र रुचि अर्थात् केवल सूत्र विषयक रुचि, इस तरह दोनों अलग हैं तो वह योग्य नहीं है, क्योंकि केवल सूत्र तो मूक-बोलता नहीं है, केवल सूत्र की रुचि तो प्रमाणभूत नहीं माना जाता। उपदेश पद गाथा ८५६ के पद में कहा है कि **'मूअगं केवल सूत्तं'** अर्थात् 'केवल सूत्र गूंगा है- बोलता नहीं है।' अर्थात् अर्थ ज्ञान से ही वस्तु तत्त्व समझ में आता है, केवल सूत्र कोई ज्ञान नहीं करवाता। इसलिए केवल सूत्र रुचि अप्रामाणिक है, इतना ही नहीं अर्थ निरपेक्ष सूत्र रुचि अज्ञान का भी कारण है। उपदेश माला गाथा ४१५ में कहा है कि-

अपरिच्छिय सुयणिह सस्स, केवलमभिन्न सुत्त चारिस्स।
सव्वुज्जमेण वि कयं, अन्नाण तवे वहुं पडइ ॥४१५॥

अर्थात्- "सूत्रों के रहस्य को समझे बिना, निर्युक्ति, टीका भाष्य आदि ग्रन्थ केवल मूल सूत्रों के ही अनुसार जो चलते हैं, उसकी सब प्रकार उद्यम पूर्वक आराधना की हो, परन्तु वह अज्ञान तप (कष्ट) रूप है।"

इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि तुम्हारा कथन सत्य है, सूत्र रुचि में अर्थ का और अर्थ-अभिगम रुचि में सूत्र का समावेश होता है, फिर भी सूत्र अध्ययन से और अर्थ अध्ययन से ज्ञान में भेद पड़ता है और वह भिन्न ज्ञान द्वारा हुई रुचि में भी भेद होता है। इस तरह सूत्र रुचि और अभिगम अर्थ रुचि दोनों में भिन्नता है, इसलिए ही सूत्र से भी अर्थ के अध्ययन में विशेष उद्यम करना चाहिए। उपदेश पद गाथा ८५६ में कहा है कि-

सूत्ता अत्थे जत्तो, अहिगयरो णवरि होइ कायव्वो।
इत्तो उभय विसुद्धिं, त्ति मूअगं केवलं सुत्तं ॥८५६॥

अर्थात्- 'सूत्र ज्ञान से अर्थज्ञान के लिए विशेषतापूर्वक उद्यम करना चाहिए, क्योंकि अर्थज्ञान से सूत्र-अर्थ के बोध की प्राप्ति में शुद्धि होती है। इसीलिए ही अर्थ बिना केवल सूत्र गूंगा है अथवा दूसरी रीति से भी इस तरह समाधान हो सकता है कि-सूत्र ग्रंथ-मूलागम विषयक रुचि, वह सूत्र रुचि है और नियुक्ति आदि अर्थ समझाने वाले ग्रन्थ विषयक रुचि, वह अर्थ रुचि है। इसी कारण से ही स्थानांग सूत्र

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

७५१ की टीका में 'आज्ञा-अभिगम रुचि को, निर्युक्ति आदि अर्थज्ञान ग्रन्थों की रुचि वाला होने से सूत्र रुचि से भिन्न बतलाया है ।'

७. विस्तार रुचि- प्रत्यक्षादि सर्वप्रमाण नय और निक्षेप आदि पूर्वक सर्व द्रव्य और सर्वभाव का अर्थात् गुण-पर्याय के ज्ञान द्वारा प्रगट हुई अति विशुद्ध श्रद्धा हो उसे 'विस्तार रुचि सम्यकत्व' कहते हैं ।

८. क्रिया रुचि- दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार और तपाचार का आचरण करने की तथा विनय, वैया वृत्ति आदि अनुष्ठान करने की रुचि- वह क्रिया रुचि है। यहाँ प्रश्न होता है कि 'आज्ञा रुचि भी अनुष्ठान विषयक है और क्रिया रुचि भी अनुष्ठान विषयक है तो दोनों में भेद क्या है?' उसका समाधान करते हैं- आज्ञा रुचि में मुख्यतया अनुष्ठान की बात नहीं है, परन्तु आज्ञा पालन में रुचि करना है। और क्रिया रुचि में तो आज्ञा के बिना भी अनुष्ठान की रुचि है, आज्ञा की मुख्यता नहीं है। इस तरह दोनों में अन्तर है। इस हेतु से ही उन महर्षियों की क्रिया सर्वथा सात्म्य रूप अर्थात् आत्मसात् बन गई है। किसी की आज्ञा या शास्त्र वचन की अपेक्षा नहीं रही, ऐसे परिणत चारित्र-क्रिया वाले मुनियों को श्री आचार्य हरिभद्र सुरीश्वर जी ने **'इतो उ चरित्त काओ त्ति'** इस वचन से 'चारित्रकाया' ऐसा विशेषण दिया है, अर्थात् उन्होंने काया को चारित्र रूप माना है।

९. संक्षेप रुचि :- जिस जीव को बौद्ध, सांख्य आदि मिथ्या दर्शनों में आग्रह नहीं है तथा वह जैन दर्शन को भी यथार्थ नहीं समझता- ऐसे आत्मा की केवल मोक्ष में रुचि हो, वह संक्षेप रुचि समकित है। जैसे केवल 'उपशम-संवर-विवेक' इन तीन पदों को सुनते ही जैन तत्त्व का ज्ञान न होने पर चिलाती पुत्र को उसमें रुचि हुई , वैसे विशिष्ट ज्ञान बिना भी मोक्ष तत्त्व की रुचि होना, वह संक्षेप रुचि समकित कहलाता है। यहाँ 'मोक्ष तत्व की रुचि' इस अंश को छोड़कर 'अन्य दर्शन में आग्रह रहित रूप और जैन दर्शन में ज्ञान रहित रूप' इन दो विशेषणों को ही लक्षण रूप मानकर मूर्च्छा आदि दशा वाले जीव में भी यह घट जाय और इससे मूर्च्छित आत्मा में भी यह समकित सिद्ध हो सकता है जो कि अघटित है, इसलिए इन दो विशेषणों वाले जीव की मोक्ष तत्त्व की रुचि को संक्षेप रुचि समकित समझना ।

१०. धर्म रुचि :- केवल 'धर्म' शब्द को सुनकर जो उसमें प्रीति हो । इससे उस धर्म शब्द का वाच्य परिचय होता है जिससे यथार्थ धर्म तत्त्व में रुचि-श्रद्धा प्रगट होगी । वह धर्म रुचि समकित कहलाता है। प्रवचन सारोद्धार गाथा ६६० में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जो अत्थिकाय धम्म, सुय धम्मं खलु चरित्त धम्मं च ।
सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्म रूई णायव्वो ॥६६०॥

अर्थात्- जो जीव उस अस्तिकाय को धर्म अर्थात् धर्मास्तिकाय को गति सहायकता, अधर्मास्तिकाय को स्थिति सहायकता आदि उन द्रव्यों को, उन धर्मों को, द्वादशांगी आदि आगम रूप श्रुत धर्म को, तथा सामायिकादि चारित्र धर्म को श्री जिनेश्वर भगवन्त ने धर्म को जिस-जिस तरह से वर्णन किया, उस तरह से सद्दहे- यथार्थ रूप में मानने उसे 'धर्म रुचि' सम्यकत्व वाला समझना ।

उपाख्या- यहाँ ऐसा न समझना कि इस व्याख्या के अनुसार 'ग्राम्य धर्म' आदि शब्दों का वाच्य ग्राम्य तर्क आदि भी धर्म रुचि में गिना जायेगा ? क्योंकि यहाँ उपपद 'धर्म' शब्द के पहले कोई भी विशेषण बिना केवल 'धर्म' सुनने से प्रगट हुए धर्म तत्त्व की श्रद्धा को 'धर्म रुचि' समकित कहा है।

प्रश्न होता है- हमने तो धर्म शब्द के पूर्व जोड़े हुए 'अस्तिकाय, श्रुतचारित्र' आदि पदों से वाच्य अस्तिकाय धर्म, श्रुत धर्म, चारित्र धर्म आदि की श्रद्धा वालों को धर्म रुचि समकित कहा है, वह प्रवचन सारोद्धार का लक्षण ही असत्य हो जायेगा, क्योंकि उसके प्रत्येक में उपपद है ।

उत्तर देते हैं-तुम्हारा कथन युक्ति संगत होने पर भी आशय समझे बिना है। यहां 'उपपद रहित धर्म शब्द का वाच्य' ऐसा जो कहा है, उसमें 'धर्म' शब्द के पहले कोई उपपद नहीं होना चाहिए- ऐसा नहीं है, परन्तु वास्तव में जिसका समावेश न हो- ऐसा धर्म बाधक विशेषण-उपपद नहीं होना चाहिए। ग्राम्य धर्म आदि वास्तव में धर्म रूप नहीं हैं । इसलिए ऐसे उपपद रहित 'धर्म शब्द से वाच्य' समझना । चारित्र धर्म, श्रुत धर्म, दान धर्म, तप धर्म, भाव धर्म आदि सब धर्म वास्तविक धर्म के अंग होने से ऐसे उपपद हों तो उसका विरोध नहीं है। केवल जो वास्तविक धर्म में नहीं घटे ऐसे 'ग्राम्य धर्म' आदि में रहा 'ग्राम्य' आदि उपपदों से रहित 'धर्म शब्द से वाच्य में प्रीति' इस तरह कहने का हमारा आशय है।]

इस तरह दस प्रकार की रुचि कहकर उत्तराध्ययन सूत्र की टीका में तो कहा है कि-अल्पबुद्धि वाले जीवों को सरलता से बोध करने के लिए ये अलग-अलग दस भेद बतलाए हैं, इसलिए इसमें किसी प्रकार दूसरे भेद में एकार्थ जैसा समझ में आए तो भी दोष नहीं मानना चाहिए । यद्यपि हमने यहाँ दसों भेद का एक दूसरे में समावेश न हो- इस तरह से व्याख्या की है, फिर भी सम्यकत्व का **'एतदन्यतरत्व'**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लक्षण है, ऐसा नहीं मानना अर्थात् सम्यकत्व इन दस ही भेद में आ जाता है- अधिक भेद नहीं हैं, ऐसा मत समझना। क्योंकि रुचि भिन्न-भिन्न विषय की अनेक प्रकार की होने से उसकी संख्या का निश्चय करना अशक्य है। अत: मोक्ष के जो असंख्य योग हैं उनमें से किसी भी योग की रुचि को सम्यकत्व कहने में विरोध नहीं है।

अथवा 'रुचि यह प्रीति रूप-राग रुप होने से वीतराग सम्यकत्व में-शुद्ध सम्यकत्व में प्रीति रूप सराग सम्यकत्व का यह लक्षण नहीं घटता। श्री ठाणांग सूत्र के ७५१ वें सूत्र में कहा है 'दसविहे सराग सम्मत्त दंसणे पन्नते' इस पाठ के अभिप्राय से ये दस भेद सराग समकित के कहे हैं। यहां हम भी सराग सम्यकत्व का लक्षण कहते हैं। वीतराग सम्यकत्व तो जिसमें राग न हो उसे कहते हैं और दस भेद उससे भिन्न हैं, इसलिए उसका लक्षण भी भिन्न ही होता है। इससे वीतराग सम्यकत्व में यह लक्षण नहीं घटें तो कोई अघटित नहीं है। यह रुचि प्रशस्त राग रूप होने से वीतरागता का कारण है, इस अपेक्षा से यह रुचि कारण रूप है और वीतराग समकित कार्य रूप है। कार्य के साथ में कारण हो ही ऐसा नियम नहीं है फिर भी लक्षण गलत तो नहीं है क्योंकि वस्तुत: 'लक्षण अर्थात् चिह्न' पदार्थ को पहिचानने वाला प्रतीक दो प्रकार का है- १- अंतरंग और २. बहिरंग। हमने यहां जो समकित का लक्षण 'रुचि-प्रीति' कहा है वह राग रूप बहिरंग लक्षण जानना। अंतरंग लक्षण लक्ष्य के साथ में रहता ही है, बहिरंग लक्षण के लिए ऐसा नियम नहीं है कि लक्ष्य साथ में रहे ही। जैसे कि धुँआ हो वहाँ अग्नि होती है अत: धुँआ अग्नि का चिह्न है, फिर भी जहाँ अग्नि हो वहाँ धुँआ हो ऐसा नियम नहीं है। इस रीति से सम्यकत्व की पहिचान कराने वाला लिंग पूर्व कहे अनुसार उस-उस प्रकार की रुचि जो कि राग रूप है वह भी जहाँ-जहाँ समकित हो वहाँ-वहाँ हो ही ऐसा नियम नहीं है। जैसे हरे लकड़ों की अग्नि के साथ में धुआँ होता है और लोहे के गोले में अग्नि के साथ धुआँ नहीं होता, वैसे ही यहाँ भी सराग समकित में राग होता है और वीतराग समकित में राग नहीं होता- इससे लक्षण में दोष नही माना जाता। जैसे जीव का लक्षण नव तत्त्व की पाँचवी गाथा से कहते हैं कि:-

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो य, एय जीवस्स लक्खणं ।।५।।

अर्थात्- 'ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य तथा उपयोग के यह जीव का लक्षण हैं' ऐसा कहा है, परन्तु प्रत्येक जीव की प्रत्येक अवस्था में यह लक्षण होते ही हैं ऐसा नियम नहीं है। जीव होने पर उसमें कई लक्षण संसार अवस्था में तो कई लक्षण सिद्ध अवस्था में नहीं दिखते। इसलिए बहिरंग लक्षण के अभाव में भी लक्ष्य पदार्थ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हो तो उसमें विरोध नहीं है।' श्रीमद् महामहोपाध्याय श्री यशोविजय जी गणिवर्य ने भी अध्यात्म मत परीक्षा में कहा है कि :-

जं च जीअ लक्खणं तं, उवइट्ठं तत्थं लक्खणं लिंगं ।
तेण विणा सो जुज्जइ, धुमेण विणा हुआ सुव्व ॥१५२॥

अर्थात्- 'जीव का जो लक्षण बताया है, वह वहां लक्षण अर्थात् लिंग समझना । इससे जैसे धुंआ-लिंग बिना भी लोहे के गोले में अग्नि होती है वैसे ही लिंग-चिह्न बिना भी जीव हो सकता है।'

इसी तरह से समकित की पहिचान कराने वाला 'राग-रुचि' रूप लिंग न हो, वहां भी वीतराग सम्यकत्व होने में कुछ भी बाधक नहीं है अर्थात् यह लक्षण वीतराग सम्यक्त्व में नहीं घटता फिर भी लक्षण रूप में असत्य नहीं है। यहाँ 'व्यंग्य' अर्थात् लक्ष्य रूप में जो शुद्ध वीतराग सम्यकत्व कहा है, वह तो निर्मल ज्ञान दर्शन आदि समस्त गुणों में एक ही 'रस स्वरूप आत्मा का शुद्ध परिणाम' है जिसका केवल शुद्ध आत्मा को अपने अनुभव से ही परिचय होता है । वह बोलकर या लिखकर परिचय नहीं हो सकता, इसलिए उसे 'व्यंग्य' कहा है। पूज्य आचार्य श्री हरिभद्र सूरीश्वर जी केवल धर्म बीज के उद्देश्य से उपदेशपद गाथा २३२ में कहते हैं कि :-

पायमणक्खे अमिणं, अणुहवगम्मं तु सुद्ध भावाणं ।
भवक्खयकरं ति गरुअं, वुहेहिं सयमेव विण्णेयं ॥२३२॥

अर्थात्-'प्राय: यह धर्म बीज शब्दों से कहा जाय ऐसा नहीं है, केवल शुद्ध भाव वाले जीवों को अपने अनुभव से ही समझ में आ सकता है । संसार का अंत करने वाला होने से चिन्तामणि आदि से भी महान् और पंडित पुरुषों को ही आत्मानुभव से स्वयं समझ में आ सकता है।'

वस्तुमात्र वर्णन कर सके ऐसा नहीं होता जैसे गन्ने का रस, खीर आदि कई सामान्य वस्तुओं के स्वाद में भिन्नता का अनुभव होने पर भी वह भेद नहीं कहा जा सकता- कहने के लिए ऐसा शब्द नहीं है, वैसे ही इस धर्म बीज का अनुभव होने पर भी उसे नहीं कह सकते। कहा है कि-

इक्षु क्षीर गुडादीनां, माधुर्यस्यान्तरं महत् ।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्याऽपि पार्यते ॥१॥

अर्थात्- 'गन्ना, दूध, गुड़ आदि की मधुरता में महान अंतर का अनुभव होता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है फिर भी वाणी की देवी सरस्वती भी उसके अंतर भेद को कहने में या बताने में समर्थ नहीं है ।"

इसी प्रकार 'धर्मबीज' सदृश तत्त्व भी अवर्णनीय व अनुभव गम्य है । हजारों लाखों जन्म मरण होने पर भी जिसकी प्राप्ति दुर्लभ है, जिसका फल मोक्ष है और जो चारित्र का प्राण रूप है उस सम्यकत्व की तो बात ही क्या करनी ? अर्थात् उसका वर्णन शब्दों से न हो सके, उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। शुद्ध आत्म परिणाम रूप सम्यकत्व की पहिचान के लिए स्वानुभव के अन्य कोई युक्ति या प्रमाण काम नहीं आते । श्री आचारांग सूत्र अध्ययन ५ उद्देश ६ सूत्र १७० में शुद्ध आत्म स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि "**सव्वे सरा निअट्टंति तक्का जत्थ ण विज्जइ, मइ तत्थ ण गाहिआ**" इत्यादि अर्थात् आत्म स्वरूप को पहिचानने में सारे स्वर-शब्द निष्फल हैं' तर्क टिक नहीं सकते और बुद्धि उसे जान नहीं सकती' न बता सकती है। 'इत्यादि

इसलिए ज्ञानादि गुणों के समूह से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न आत्मगुण होने से सम्यकत्व का विवेचन-वर्णन करना अशक्य है । उसे तो अनुभव से ही समझ सकते हैं। उसकी पहिचान कराने वाले दो काव्यपदों को उसके अनुभवी ने कहा है। ये दो पद महोपाध्याय श्री यशोविजय गणि के होने चाहिएं ।

न भिन्नं नाभिन्नं ह्युभयमपि नो नाप्यनुभव,
न वा शाब्द न्यायाद्भवति भजनाभाजनमपि ।
गुणासीनं लीनं निरवधि विधि व्यञ्जन पदे,
यदेतत्सम्यकत्वं तदनुकरुते पान करसम् ॥१॥

न केनाऽप्याख्यातं न च परिचितं नाप्यनुमितं,
न चार्थादापन्नं क्वचिदुमपमितं नापि विबुधैः ।
विशुद्धं सम्यकत्वं न च ह्यदि ननालिङ्गितमपि,
स्फूरत्यन्तर्ज्योतिर्निरूपधिसमाधौ समुदितम् ॥२॥

अर्थात्- 'जैसे किसी मदिरा, भांग आदि स्वादिष्ट पीने की वस्तु का स्वाद उससे भिन्न नहीं, अभिन्न नहीं, भिन्नाभिन्न नहीं है, ऐसा भी नहीं है और अनुभव में आता है इसलिए असत् कल्पना मात्र भी नहीं है। जैसे वह स्वाद उस पानी में मिलायी हुई उत्तम वस्तुओं के गुण में रहा है और वह स्वाद पानी को तैयार करने की सम्पूर्ण विधि-प्रयत्न करने वाला है अर्थात् उस स्वाद का लोलुप पानी को तैयार किए बिना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नहीं रह सकता है वैसे ही यह समकित भी एकान्त आत्मा से भिन्न-अलग नहीं है, अभिन्न-आत्म रूप नहीं है, भिन्नाभिन्न नहीं है ऐसा भी नहीं है, व्याकरण के न्याय से नाम हो तब वह पदार्थ हो इसलिए कल्पना मात्र भी नहीं है- सत् है, तो वह किस प्रकार का है ? वह कहते हैं-ज्ञानादि गुण में आदर रूप रहा है, और सम्पूर्ण विधि-क्रिया-अनुष्ठान कराने में कारण रूप, अर्थात्-आत्मा इस समकित के बल से सर्व अनुष्ठान करने में आदर वाला होता है। गुण होने से वह पानक रस अर्थात् किसी उत्तम पानी के स्वाद समान है, ऐसा होने पर भी उसका वर्णन नहीं हो सकता है ॥१॥ कोई पंडित-ग्रन्थकार समकित को स्वमुख से वर्णन नहीं कर सकता, उसका प्रत्यक्ष परिचय नहीं करा सकता और अनुमान से, अर्थापत्ति से अथवा उपमान से उसे सिद्ध नहीं कर सकता है। फिर भी किसी के हृदय में वह स्पर्श नहीं हुआ, ऐसा भी नहीं है। इस तरह यह सम्यकत्व निर्विकार निष्कंटक शुद्ध समाधि में एक रूप बना आत्मा स्फुरायमान अंतः प्रकाश रूप आत्म ज्योति रूप है ॥२॥'

इस तरह सम्यकत्व का वर्णन किया। अब बाईसवीं मूल गाथा में कहे शेष पद **'मिथ्यात्व परिहाण्यैव'** का वर्णन करते हैं कि-पूर्व में बतलाये गये नैसर्गिक और आधिगमिक, दोनों प्रकार के सम्यकत्व का अंतरंग कारण एक ही 'मिथ्यात्व का परिहार' है अर्थात् श्री जिनेश्वर देव कथित तत्त्वों में अश्रद्धा रूप मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग करने से होता है। अर्थात् विविध प्रकार से पच्चक्खान करने से दोनों प्रकार का समकित प्रगट होता है। कहा है कि **'मिच्छत्त पडिक्कमण, तिविहं तिविहेण नायव्वं।'** (आवश्यक निर्युक्ति गाथा- १२५१) अर्थात् सम्यकत्व का अर्थ है मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण त्रिविध से जानना।

जिस मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण-पच्चक्खान करने से सम्यकत्व प्रगट होता है वह मिथ्यात्व लौकिक और लोकोत्तर दो प्रकार का होता है, और उन दोनों के भी देव विषयक और गुरु विषयक दो-दो मिलकर चार प्रकार होते हैं। अन्य ग्रन्थों में तो देव, गुरु और पर्व ये तीन लौकिक और लोकोत्तर इस तरह दो-दो गिनने से कुल छह प्रकार के भी कहे हैं। उसका स्वरूप इस प्रकार का है :-

१-लौकिक देवगत मिथ्यात्व – विष्णु, महादेव, ब्रह्मा आदि लौकिक देवों को सुदेव मानकर पूजनीय भाव से नमस्कार आदि करने से और उनके मंदिरों में जाने से मिथ्यात्व लगता है। उस देश में प्रसिद्ध अनेक प्रकार की प्रवृत्ति रूप इसे लौकिक देवगत मिथ्यात्व समझना अर्थात् भिन्न-भिन्न देशों में अलग-अलग धर्म वालों के अनेक प्रकार के देव होते हैं तथा उनकी पूजा आदि के भी अनेक भेद होते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हैं। उनके अनुसार अमुक प्रकार की प्रवृत्तियाँ करनी- वे सभी लौकित देवगत मिथ्यात्व के भेद जानना।

२. लौकिक गुरुगत मिथ्यात्व - ब्राह्मण,तापस, संन्यासी आदि लौकिक गुरु को सद्गुरु मानकर नमस्कार करना, उनको दंडवत् नमस्कार करना, उनके सामने 'नमः शिवाय' इत्यादि बोलना, उनकी धर्म कथा सुननी और उसके अनुसार आचरण करना- इस तरह उनकी कथा उपदेश का बहुमान करना इत्यादि लौकिक गुरुगत मिथ्यात्व भी अनेक प्रकार का जानना।

३. लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व - अन्य दर्शनियों द्वारा अपने कब्जे में की हुई अपने देव रूप में मानते हुए श्री जिन प्रतिमा की भी पूजा आदि करने से अथवा इस लोक के सुख के लिए जैन तीर्थों की यात्रार्थ जाना ऐसी मान्यता मानना इत्यादि अनेक प्रकार की प्रवृत्ति करने से लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व लगता है।

४. लोकोत्तर गुरुगत मिथ्यात्व - पासत्था, अवसन्न आदि कुसाधुओं को धर्म गुरु रूप मानकर वंदन नमस्कार आदि करने से और गुरु के स्तूप, चरणपादुका, मूर्ति आदि की इस लोक के सुख के लिए यात्रा, नियम, मान्यता, मानमी इत्यादि अनेक प्रकार प्रवृत्ति करने से लोकोत्तर गुरुगत मिथ्यात्व लगता है।

ये चारों मिथ्यात्व बहुत प्रकार के हो सकते हैं वह स्वंय समझ लें। दर्शन शुद्धि प्रकरण के पाचवें तत्त्व की गाथा ३४-३५ में कहा है-

दुविहं लोइअमिच्छं, देवगयं गुरुगयं मुणेयव्वं ।
लोउत्तरं पि दुविहं, देव गयं गुरु गयं चेव ॥१॥

चउभेयं मिच्छत्तं, तिविहं तिविहेण विवज्जेइ ।
अकलंकं सम्मत्तं, होइ फुडं तस्स जीवस्स ॥२॥

अर्थात्- 'लौकिक मिथ्यात्व देवगत और गुरुगत दो प्रकार का होता है तथा लोकोत्तर मिथ्यात्व भी देवगत और गुरुगत दो प्रकार का जानना ॥१॥ जो आत्मा उन चारों मिथ्यात्व का त्रिविध से त्याग करता है उसे निष्कलंक शुद्ध समकित प्रगट होता है॥२॥

त्रिविध प्रकार से त्याग किस तरह से होता है, वह श्रावक धर्म-विधि प्रकरण की गाथा ३२- ३३- ३४ के द्वारा कहते हैं:-

एअं अणंतरूत्तं, मिच्छं मणसा न चितंइ करोमि ।
सयमेसो व करेउ, अन्नेण कए व सुट्ठु कयं ॥३२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एवं वाया न भणइ, करेमि अन्न न भणइ करेह ।
अन्नकयं न पसंसइ, न कुणइ सयमेव काएणं ॥२॥

करसन्नभमुहखेवा, इएहि न य कारवेइ अन्नेणं ।
अन्नकयं न पसंसइ, अन्नेण कयं च सुट्ठु कयं ॥३॥

अर्थात्– मिथ्यात्व के चार प्रकार में किसी प्रकार का 'मैं सेवन करूं' ऐसा मन से विचार नहीं करूँगा, अन्य मनुष्य 'स्वयमेव मिथ्यात्व सेवन करें' ऐसा स्वयं विचार नहीं करूँगा, अथवा दूसरे करें ऐसा विचार नहीं करना चाहिए, तथा दूसरे ने मिथ्या सेवन किया ऐसा जानकर 'सुन्दर किया' ऐसी मन से अनुमोदना भी नहीं करनी चाहिए । इस तरह स्व- पर के विषय में विचार न करें, विचार न करने का मौका दें, और अनुमोदन नहीं करें– इस तरह मन से तीन प्रकार का त्याग करें ॥१॥ इसी तरह 'मैं मिथ्यात्व सेवन करूँ ' ऐसा मुख से न बोले अर्थात् मिथ्यात्वी देवों की स्तुति-स्तवन तथा गुरु की स्तुति आदि के वचन मिथ्यात्व सेवन रूप होने से 'स्वयं करूँ' ऐसा बोले नहीं अथवा स्तुति आदि स्व मुख से करे नहीं। अन्य को वैसा करने का उपदेश- आदेश करे नहीं और अन्य की मिथ्यात्व की क्रिया की स्वमुख से प्रशंसादि भी नहीं करे । इसके अनुसार स्वयं अन्य को ऐसी प्रवृत्ति कराने को कहे नहीं, दूसरे के द्वारा कहलाये नहीं और कुछ भी कोई स्वयं कहे तो अनुमोदना न करे । इस तरह तीन प्रकार से वचन से त्याग करे॥२॥ काया से स्वयं मिथ्या प्रवृत्ति करे नहीं, दूसरे को हाथ से चेष्टा या आंख के इशारे आदि संज्ञाओं से समझाकर वैसा करने की प्रेरणा नहीं दे, और दूसरे की मिथ्यात्व की प्रवृत्ति की मुख की प्रसन्नता बताकर, आनन्द से मस्तक हिलाकर, हर्ष से ताली बजाकर, उसकी पीठ थपथपाने आदि से अनुमोदन भी नहीं करे अर्थात् काया से सेवन न करे, सेवन करावे नहीं, और अनुमोदन नहीं करे। इस तरह मन वचन काया से सेवन न करे, सेवन करावें नहीं और अनुमोदन न करे– वह त्रिविध से त्याग-पच्चक्खान कहलाता है॥३॥

प्रश्न करते हैं कि-इस तरह से त्रिविध मिथ्यात्व का त्याग करने वाले गृहस्थ को भी मिथ्या दृष्टि का संसर्ग तो होता ही है अतः 'संवास अनुमोदना' रूप मिथ्यात्व की अनुमोदना से उसे मिथ्यात्व तो लगता ही है। क्योंकि अनुमोदना तीन प्रकार की है-१. अनिषेध अनुमोदना, २. उपभोग अनुमोदना और ३. संवास अनुमोदना । जैसे १. स्वयं अधिकारी होने पर अपनी निश्रा में रहे जीवों को यदि उसे नहीं करने योग्य कार्यों को नहीं करने का निषेध न करे और मौन सेवन करे तो **'अनिषिद्धमनु मतम्'** इस न्याय से अनुमोदना होती है। वह अनिषेध अनुमोदना है। २. निषेध करने पर भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वे पाप से नहीं रुकें और पाप करके जो कमाइयाँ तैयार करे उसका स्वयं उपभोग करे-काम में ले तो उपभोग का भी साथ दिया, इसलिए वह उपभोग की अनुमोदना है और ३. निषेध करने पर भी वे पाप से रुके नहीं और उनकी पाप कमाई आदि का स्वयं उपभोग भी न करे, फिर भी जैसे चोरों के समूह में रहने वाला साहूकार भी चोर गिना जाता है और शराब की दुकान पर जाने-आने से भी शराबी कहलाता है वैसे ही पाप करने वालों के साथ में रहने वाला भी पाप में साथ देने वाला माना जाता है – वह संवास अनुमोदना जानना ।

इन तीन प्रकारों में मिथ्यात्व मात्र के सहवास से भी तीसरी संवास अनुमोदना लगती है। गृहस्थ को अपने कुटुम्ब-सम्बन्धी आदि का सहवास अनिवार्य है, इससे उसमें अपना मिथ्यात्व परिणाम न हो तो अनुमोदना न गिना जाय, परन्तु अन्य मिथ्यात्वी के ससंर्ग में रहने से तो मिथ्यात्व का पाप तो लगता ही है ?

उत्तर देते हैं कि- त्रिविध से त्याग करने वाले को मिथ्यात्वी का परिचय, संसर्ग आदि करना अतिचार रूप होने से उस संसर्ग का भी त्याग करने के लिए ही कहा है। फिर प्रश्न करते हैं कि त्रिविध से मिथ्यात्व का त्याग करने वाला गृहस्थ मिथ्यात्व को सेवन करने वाले अपने कुटुम्ब सगे-सम्बन्धी आदि के साथ में रहने से उसका संसर्ग किस तरह त्याग कर सकता है? उत्तर-आरम्भ करने वालों के साथ में रहने से आरंभ क्रिया होते समय जबरदस्ती से भी आता है और इससे मिथ्या क्रिया में 'संवास अनुमोदना' लगती है, फिर भी मिथ्यात्व अध्यवसाय रूप होने से मिथ्या क्रिया करने के साथ में रहने पर भी उसके अध्यवसाय मिथ्यात्व के परिणाम रूप न हों तो मिथ्यात्व नहीं लगता। यदि ऐसा न मानें तो साधुओं को भी मिथ्यात्व सेवन करते गृहस्थों का सहवास आदि होने से वे भी मिथ्यात्वी की संवास-अनुमोदना से बच नहीं सकते । इसमें उन्हें अनुमोदना का दोष क्यों नहीं लगता ? उसका समाधान पूज्य आचार्य श्री हरिभद्र सूरी जी महाराज ने श्रावक धर्म विधि प्रकरण में गाथा ३५ से ४४ तक में किया है, वह वहाँ से समझ लेना ।

यद्यपि तत्त्वदृष्टि से तो कुदेव आदि को सुदेवादि रूप में मानना अथवा अधर्म की धर्म की बुद्धि से आराधना करना आदि को मिथ्यात्व कहा है फिर भी इस लोक के सुख के लिए भी यक्ष यक्षिणी आदि कुदेवों की आराधना का मुख्य रूप से त्याग करना ही हितकर है। क्योंकि सुदेवत्व की बुद्धि बिना भी कुदेवों की उपासना, स्तवन, स्तुति आदि को करते देखकर अन्य जैनादि वैसा करने वाले हो जाते हैं, अर्थात् मिथ्यात्व की बुद्धि होती है और मिथ्या दर्शनियों को भी अपने मिथ्या धर्म में जैनों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को भी साथ देखकर स्थिरता होती है और इससे लोक में मिथ्यात्व की वृद्धि एवं पुष्टि होती है तथा परलोक में बोधि दुर्लभ होता है अर्थात् समकित की प्राप्ति दुर्लभ होती है । संबोध प्रकरण सम्यकत्वाधिकार गाथा ४२ में कहा है -

अन्नेसिं सत्ताणं, मिच्छत्तं जो जणेइ मुढप्पा ।
सो तेण निमित्तेणं, न लहइ बोहिं जिणाभिहियं ॥ ४२ ॥

अर्थात् "जो मूढ़ आत्मा अन्य जीवों के मिथ्यात्व में निमित्त बनता है वह उस कारण से श्री जिन कथित बोधि-समकित को नहीं प्राप्त करता ।" परमात्मा श्री महावीर प्रभु ने भी मरीचि के जन्म में स्वयं त्रिदंडीवेश में धर्म बुद्धि नहीं स्वीकार की फिर भी पंद्रह जन्म तक वह संस्कार चालू रहे। जब-जब उन्होंने मनुष्य जन्म प्राप्त किया तब-तब घर छोड़कर त्रिदंडी ही बने, परन्तु जैन साधु धर्म प्राप्त नहीं किया। अत: मिथ्यात्व का निमित्त देने से संख्याता सागरोपम तक वह संस्कार रहते हैं।

प्रश्न:- रावण या कृष्ण महाराज जैसों ने भी उस काल में मिथ्यात्व का सेवन किया है, तो वर्तमान में उसका निपेध क्यों करते हो ?

उत्तर:- रावण, कृष्ण जी आदि का आलम्बन लेना अनुचित है, क्योंकि- उस काल में जैन धर्म की महिमा अन्य धर्मों से अति विशाल रूप थी, इससे उस काल में उनको देखकर मिथ्यात्व की वृद्धि हो - ऐसा न था । वर्तमान काल में तो स्वभाव से ही जीव प्राय: कर भारी कर्मी होने से, काल की विषमता होने से और बुद्धि आदि क्षीण होने से मिथ्यात्व की प्रवृत्ति रोक नहीं सकते हैं । उसमें और मिथ्यात्व का सेवन देखने से तो उसे बहुत ही बल मिलता है, इसलिए पूर्व कालीन जीवों का आलम्बन लेकर मिथ्यात्व सेवन नहीं करना चाहिए। उत्तम पुरुष हमेशा उत्तम आलम्बन का ही आश्रय, शोध करते हैं, क्योंकि-आलम्बन चढ़ने के लिए लिया जाता है, गिरने के लिये नहीं लेते । लौकिक व्यवहार भी इसी रीति से चलता है।

मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं और उसका स्वरूप इस तरह है। इस विषय पर पंच संग्रह गाथा ८६ और संबोध प्रकरण सम्यकत्वाधिकार गाथा ४७ में कहा है कि:-

आभिग्गहि अमणमिग्गहं च तह अभिनिवेसिअं चेव ।
संसइ अमणाभोगं, मिच्छत्तं पञ्चहा एअं ॥१॥

अर्थात् - मिथ्यात्व के पांच भेद हैं - १. आभिग्रहिक, २. अनाभिग्रहिक ३. आभिनिवेशिक, ४. सांशयिक और ५. अनाभोगक ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१. आभिग्रहिक मिथ्यात्व - स्व शास्त्र के आग्रह से विवेक रूपी दीपक जिसका बुझ गया हो, ऐसे केवल पर दर्शन का प्रतिकार करने में चतुर अविवेकी, जो पाखंडी लोग अपने पक्ष में में दुराग्रही हों उसे आभिग्रहिक मिथ्यात्व कहा है। परन्तु धर्म अधर्म की परीक्षा पूर्वक विवेक करके तत्त्व रूप में स्वीकार किए सत्य पदार्थों में श्रद्धा वाले मध्यस्थ यदि पर दर्शन का प्रतिकार भी करें तो भी उसे मिथात्व नहीं कहते क्योंकि उसके विवेक में जैन शास्त्र का ममत्व-बन्धन नहीं है परन्तु तत्त्व का पक्ष और अतत्त्व का क्षेय है। हाँ, जन्म से जैन होने पर भी जिसको तत्त्वातत्त्व का विवेक नहीं है, नाम मात्र से ही जैन है एवं इससे अपने आचारों से जो आगम का उलटा बाधक होता है अर्थात् जैन आचारों के अनुसार आराधना के बदले जो अज्ञान से असद् आग्रह करके जैनागम के विरूद्ध वर्णन करते हैं वे जैन कुल में जन्मे हुए भी जैनागम के पक्षपाती हों फिर भी आभिग्रहिक मिथ्यात्व वाला जानना क्योंकि समकित दृष्टि वाला जीव वस्तु तत्त्व की परीक्षा किए बिना केवल वस्तु का पक्षपात नहीं करता। पू० आचार्य हरिभद्र सूरी जी म० ने अपने विषय में लोक तत्त्व निर्णय गाथा ३८ में कहा है:-

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥३८॥

अर्थात् 'मुझे श्री वीर भगवान में पक्षपात नहीं है या श्री कपिल ऋषि आदि अन्य दर्शन वालों की ओर द्वेप नहीं है, केवल जिसका वचन युक्ति संगत-सत्य हो उसको स्वीकार करना, यह मेरा मंतव्य है ।'

अर्थात्- कोरा पक्षपात समकित रूप नहीं है, परन्तु तत्त्वातत्त्व का विवेक करके तत्त्व का पक्ष करना ही समकित है । जैन कुल में जन्म लिया हो, देव पूजा आदि करता हो, फिर भी आगम सिद्धान्त में विघ्न पहुँचाता हो, असद् का आग्रह रखता हो तो समकित दृष्टि नहीं कहते । अतः प्रत्येक जीव में स्वयं विवेक करने की शक्ति न हो, इससे मापतुष मुनि के समान बुद्धिबल के बिना कोई जीव तत्त्वातत्त्व का विवेक नहीं कर सके तो भी गीतार्थ की निश्रा में रहता हो और गुणवान पुरुष के वचन को प्रणाम करने वाला हो, वह विवेकी नहीं होने पर भी दुराग्रही नहीं होने से उसको मिथ्यात्व नहीं गिना जाता । यह मिथ्यात्व विकल्प से छः प्रकार का है- १. आत्मा नहीं है, २. परन्तु अनित्य क्षणिक है, ३. कर्त्ता नहीं, ४. भोक्ता नहीं, ५. मोक्ष- यह कल्पना मात्र ही है सत्य नहीं है और ६. आत्मा को मोक्ष जाने के लिए कोई उपाय नहीं है। यह मानना छह प्रकार का आभिग्रहिक मिथ्यात्व है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२. अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व - यह मिथ्यात्व सामान्य मनुष्य को होता है। वह ऐसा मानता है कि-'सारे देव देव रूप है, किसी को गलत नहीं कहना या किसी की निंदा नहीं करनी, समस्त साधु महात्मा गुरु हैं और सर्व धर्म सच्चे हैं' इत्यादि मानने वाले में अपने दर्शन का आग्रह नहीं होता और दूसरे के प्रति द्वेष नहीं करता, फिर भी वह वस्तुतः तत्त्व अतत्त्व दोनों को समान मानने वाला होता है। इस तरह सत्य असत्य दोनों को समान मानने वाले को यह मिथ्यात्व कहा है। इस मिथ्यात्व के भिन्न-भिन्न विषयों की अपेक्षा से अनेक भेद होते हैं।

३. आभिनिवेशिक मिथ्यात्व - यह मिथ्यात्व तत्त्व तत्त्व को यथास्थित जानने पर भी दुराग्रह से विपरीत बुद्धि वाला बनता है। असत्य का पक्ष करने वाले गोष्ठामाहिल आदि के समान जानना। असत्य में सत्य का आग्रह हो तो अज्ञानता से या प्राध्यापक अर्थात् पढ़ाने वाले गुरु में विश्वास होने से असत्य को सत्य समझने वाले समकित दृष्टि को भी यह होता है। शास्त्रों में भी कहा है कि- समकित दृष्टि जीव को अज्ञान के योग से अथवा गुरु की आधीनता के कारण गलत समझाने से असत्य में भी सत्य का आग्रह होता है। पूज्य श्री भद्रबाहु स्वामी जी उत्तराध्ययन निर्युक्ति में कहते हैं -

सम्मद्दिट्ठि जीवो, उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहइ ।
सद्दहइ असब्भावं, अणाभोगा गुरुणियोगा वा ॥१६३॥

अर्थात् -'समकित दृष्टि आत्मा उपदेश द्वारा स्वयं को समझाये शास्त्र या तत्त्व को यथार्थ मानता है, उसमें उसे अज्ञान से या गुरु देव के विश्वास या परतंत्रता से कुछ गलत समझ गया हो तो वह गलत को भी सत्य रूप समझने से सत्य ही मानता है।'

इस तरह समकित दृष्टि जीव में भी आग्रह तो होता है, परन्तु बुद्धि में सत्य समझने से उसे दुराग्रही नहीं कहते, जब यह मिथ्यात्व वाला हो तो दुराग्रही होता है। इस तरह से दोनों में भेद समझना अर्थात् समकित दृष्टि का आग्रह सत्य होने से शुद्ध उपदेशक के वचन को स्वीकार कर लेगा और मिथ्यात्व वालों का आग्रह असत्य के प्रति होता है इससे सत्य उपदेशक से भी वह मानने योग्य नहीं होता, इसीलिए उसे आग्रही नहीं परन्तु दुराग्रही कहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि- अनाभोगादि कारण से स्थूल बुद्धि वाले श्रावक आदि को असत् पदार्थ में सत् रूप का आग्रह होने पर भी, शुद्ध वक्ता के वचन से वह सुधर सकता है। इस कारण से वह मिथ्यात्व रूप नहीं है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ कोई ऐसी शंका करता है कि- श्री जिन भद्र गणि क्षमा श्रमण, श्री सिद्ध सेन दिवाकर जी आदि आगम के रहस्यों को जानने वाले महाज्ञानी भी एक विषय में ही भिन्न-भिन्न मान्यता से परम्परा मतभेद पड़ने से अन्य के मत को शास्त्र बाधित जानकर, अपने मत से ही चिपटकर रहते हैं परन्तु अन्य मत को स्वीकार नहीं करते, तो वे भी इस अभिनिवेशक मिथ्यात्व वाले क्यों नहीं ? इसका उत्तर देते हैं कि- इस मिथ्यात्व के लक्षण में ही 'इस तरह कहने पर भी अर्थात् यह अतत्त्व है गलत है- ऐसा समझने पर भी उसे सत्य मानने का दुष्ट आग्रह होता है' ऐसा कहा है, वह जिनभद्र गणि क्षमा श्रमण या श्री सिद्धसेन दिवाकर जी आदि में घटित नहीं है। इससे वे ऐसे असदाग्रही नहीं होते, अर्थात् अपना मत शास्त्र तात्पर्य का बाधक है-ऐसा जानने पर भी दुराग्रह से उन्होंने उसे सत्य नहीं माना। परन्तु 'स्वयं जो मत स्वीकार किया है वही प्रवचन के मर्म को जानने वाले गीतार्थ की अविच्छिन्न परम्परा से शास्त्र संगत है।' ऐसा समझकर उस अर्थ को उन्होंने सत्य माना-मनाया, ऐसा होने से उनमें अभिनिवेश का मूल भी नहीं है। जब कि गोष्ठा माहिल आदि ने तो अपना मत शास्त्र रहस्य को बाधक है- ऐसा जानने पर भी दुराग्रह से उसे सत्य माना और मनाया है। इससे उसको अभिनिवेशक मिथ्यात्व वाला कहा है। तात्पर्य यह है कि समकित दृष्टि आत्मा अज्ञानादि कारण से झूठ को सत्य मानता है फिर भी उसमें असद् आग्रह नहीं होता, इससे उसे यह मिथ्यात्व रूप दोष नहीं लगता। इस तरह छद्मस्थता के कारण गीतार्थों के भी सूत्रों के अर्थ में मत भेद पड़ते हैं, परन्तु 'वे शास्त्र विरुद्ध हैं, असत्य हैं' ऐसा समझकर असत्य को सत्य मानता नहीं है, केवल 'अपनी व्याख्या शास्त्रानुसारी है' ऐसा ही समझता है, इससे उनमें मतभेद होने पर भी वे मिथ्यात्वी नहीं हैं। इस आभिनिवेशक मिथ्यात्व का मूल कारण जमाली गोष्ठामाहिल आदि की जैसी बुद्धि का भेद अभिनिवेश आदि अनेक होने से उसके भी अनेक भेद होते हैं।

व्यवहार भाष्य में कहा है कि:-

मई भेएण जमाली, पुव्वि वुग्गाहिएण गोविंदो ।
संसग्गीए भिक्खू गोट्ठामाहिल अहिणि वेसे ॥१॥

अर्थात् - "बुद्धि के भ्रम से जमाली मिथ्यात्वी हुआ, पूर्व में भ्रमित होने से गोविंद वाचक ने मिथ्यात्व पूर्वक दीक्षा ली, बौद्ध साधुओं के संसर्ग से सौराष्ट्र देशवासी श्रावक बौद्ध-भिक्षुक बने और कदाग्रह से गोष्ठामाहिल मिथ्यात्वी बना।" ये सारे आभिनिवेशक मिथ्यात्व वाले हुए हैं। इस चारों का चरित्र श्री नवपद वृहद्,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वृत्ति में मिथ्यात्व प्रसंग पर कहा है। इस तरह अनेक कारणों से आभिनिवेशिक मिथ्यात्व के अनेक भेद होते हैं ।

४. सांशयिक मिथ्यात्व - 'देव गुरु और धर्म के सम्बन्ध में संशय की स्थिति बनी रहना कि यह सत्य है या वह सत्य है?' वहां सांशयिक मिथ्यात्व कहलाता है। अति सूक्ष्म आदि तत्त्वों को समझने में साधुओं को भी संशय होता है, परन्तु उनमें **''तमेव सच्चं णी संकं, जं जिणे हिं पवेइअं ।''** अर्थात् 'जो श्री जिनेश्वर परमात्मा ने कहा है वह सत्य ही है- शंका रहित ही है।' इस तरह आगमोक्त श्री जिन वचनों में प्रामाणिकता की श्रद्धा होने से उनका संशय टिक नहीं सकता और जहाँ समझ में नहीं आए वहाँ अपनी बुद्धि मंदता मानता है इससे उन्हें मिथ्यात्व नहीं माना जाता, परन्तु ऐसी श्रद्धा के अभाव में अपने ही अभिप्राय के अनुसार आचरण करने वाला यदि श्री जिन वचन को प्रामाणिक नहीं समझता है और उसका संशय खतम नहीं होता, तो वह वस्तुतः श्री जिन वचन की प्रामाणिकता में ही शंका वाला होने के कारण शास्त्रार्थ में शंका होने से सांशयिका मिथ्यात्व रूप बन कर नियमा मिथ्या प्रवृत्ति में जाता है। ऐसे संशय से ही 'आकांक्षा रूप मिथ्यात्व मोहनीय' का उदय आता है और इससे सम्यकत्व का 'पुनः-पुनः प्राप्ति और पतन रूप' शास्त्र कथित आकर्षण होता है। ऐसा शास्त्र में कहा है। इस मिथ्यात्व के भी सर्व दर्शन विषयक संशय, जैन दर्शन के प्रति संशय, जैन दर्शन के किसी एकाध तत्त्व के प्रति संशय, तथा एक पद में या एक वाक्य में संशय- इस तरह अनेक प्रकार से संशय होने से अनेक प्रकार के भेद हो सकते हैं ।

५. अनाभोगिक मिथ्यात्व - यह मिथ्यात्व अज्ञान अर्थात् ज्ञान के अभाव रूप है। जैसे एकेन्द्रियादि असंज्ञी जीव विचार से शून्य और विशेष ज्ञान से रहित होते हैं वैसे ही व्यक्ति भी जब विचार जड़ होता है तब सम्यकत्व या मिथ्यात्व के बारे में कुछ भी सोचता नहीं है, सर्व पदार्थों के प्रति सर्वथा अज्ञान रूप होता है । किसी एक पदार्थ के अव्यक्त बोध स्वरूप या पदार्थ के एकादि अंश के प्रति अज्ञान रूप होता है। इस तरह अनेक प्रकार का होता है।

इन पांच मिथ्यात्व में से पहला आभिग्रहिक और तीसरा आभिनिवेशिक- ये दोनों मिथ्या-विपरीत आग्रह रूप होने से अनेक जन्मों की दुःख परम्परा का कारण भूत होने से कठोर है, शेष तीन इतने कठोर नहीं हैं क्योंकि वे अपने या उपदेशक गुरु की अज्ञानता के योग से ऐसे मिथ्यात्व वाले होते हैं, परन्तु सत्य समझाने का योग मिलते ही मिथ्यात्व हट जाता है । उनमें मिथ्या दुराग्रह का अभाव होने से उससे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर्मों की परम्परा भी क्रूरता रूप नहीं होती है। अतः उपदेश पद गाथा १६८ में कहा है कि:-

एसो अ एत्थ गुरुओ, णाणञ्झव साय संसया एवं ।
जम्हा असप्प वित्तो, एतो सव्वत्थणत्यफला ॥१॥

अर्थात्- मिथ्यात्व रूप सर्व दोषों में यह विपर्यास अर्थात् असत्य पदार्थ में सत्यता का दुराग्रह महान दोष है । संशय या अध्यवसाय में सुप्त मनुष्य के समान उस विषय में जानकारी का अभाव होता है, परन्तु असद् दुराग्रह नहीं होता । इस लोक और परलोक में अनर्थ कारक जो जो प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे सब असद् दुराग्रह से विपरीत--अभिनिवेश से होती हैं ।

यह मिथ्या आग्रह-विपर्यास का प्रतिकार कर नहीं सकता और वह असत् प्रवृत्ति का हेतु है, इसलिए महान दूषण रूप है। अनध्यवसाय अर्थात् जड़ता-बोध का अभाव तथा संशय- ये दूषण इतने भयंकर नहीं हैं, क्योंकि इनमें इतना दुराग्रह नहीं है अर्थात् अच्छे उपदेशक के योग से वह टल सकता है, इससे वह महा अनर्थकारी प्रवृत्ति भी करने वाला नहीं है । इस तरह पांचों मिथ्यात्व का तात्पर्य जानना।

इस तरह सर्व प्रकार के मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग करना और सम्यक्त्व को स्वीकार करने रूप आलाप-पाठ के उच्चारण पूर्वक प्रतिज्ञा रूप गुरु महाराज के पास समकित स्वीकार करना चाहिए अर्थात् श्री जिनेश्वर भगवान द्वारा आनंद-कामदेवादि महाश्रावकों को बतलायी विधि अनुसार अंगीकार करना चाहिए। क्योंकि इस तरह से स्वीकार करने में औचित्य है, उसकी विधि आवश्यक सूत्र में इस तरह कही है:-

" तत्थ समणो वासओ पुव्वामेव मिच्छात्ताओ पडिक्कमइ, सम्मत्तं उवसंपज्जइ । नो से कप्पइ अज्जप्पभिई अन्न उत्थिए वा अन्न उत्थि अदेवयाणि वा अन्न उत्थिअ परिग्गहि अरिहंत चेइयाइं वा वंदित्तए वा णमं सित्तए वा पुव्विं अणा लित्तएणं आल वित्तए वा संल वित्तए वा। तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउ वा अणुप्प दाउं वा, णण्णत्थ रायाभिओगेणं गणा भिओगेणं बलाभिओगेणं देवयाभिओगेणं-गुरु निग्गहेणं वित्तिकं तारेणं " त्ति ॥

[आवश्यक सूत्रे ६।३६ हरि भद्री वृत्तिः पृ. ८११]

भावार्थ- वह श्रावक धर्म ग्रहण करने की विधि इस तरह है कि श्रावक प्रथम मिथ्यात्व को त्याग कर सम्यकत्व को स्वीकार करे। समकित ग्रहण करने वाले को

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उस दिन से लेकर१. राजा के आदेश-आग्रह बिना, २. अन्य बहुत लोगों के आग्रह-आदेश बिना, ३. चोर-लुटेरे आदि की जबरदस्ती बिना, ४. किसी दुष्ट देवता आदि के उपसर्ग बिना, ५. माता-पितादि गुरुजनों के आदेश बिना और ६. आजीविका की वास्तविक मुसीबत-विपत्ति बिना 'चरक, परिव्राजक' आदि अन्य दर्शनियों के विष्णु, महादेव आदि उनके देव तथा अन्य दर्शनियों द्वारा अपने मन्दिर में माननीय-पूजनीय श्री जिन प्रतिमा को वंदन करना, स्तवन पूर्वक नमस्कार करना, उनके पहले बुलाए बिना ही सत्कार करने रूप में एक बार या बार-बार उनको बुलाना आदि कल्पता नहीं है-औचित्य तो कर सकता है। तथा उन पर तीर्थिकों को पूज्य बुद्धि से अशन, पान खादिम या स्वादिम एक बार या बार-बार देना भी कल्पता नहीं है। उपर्युक्त राजादि की परवशता से करना पड़े तो जयणा ।

योग शास्त्र में प्रकाश दूसरे की १७ वीं गाथा की टीका में कहा है तथा मूल शुद्धि के ४ से ६ तक श्लोक कहते हैं:-

एवं विधं च सम्यकत्वं विशिष्ट द्रव्यादि सामग्रयां सत्यां गुरोः समीपे विधिना प्रतिपद्य श्रावको यथावत् पालयति, यतः-

समणो बासओ तत्त्व, मिच्छत्ताउ पडिक्कमे ।
दव्वो भावओ पुव्विं, सम्मंत्तं पडिवज्जए ।।१।।

न कप्पइ से पर तित्थि आणं तहेव तेसिं चित देव याणं ।
परिग्गहीताण य चेइ आणं पहाव णावं दण पूअ णाइ ।। २।।

लोआण तिन्थेसु सिणाण दाणं पिंडप्प दाण हुणण तवं च।
संकंति सोमग्गहणाइएसुं पभूअ लोआण पहाव किच्चं ।।३।।

अर्थात् - 'यह आवश्यक है कि जिसे विशिष्ट द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव रूप सम्यकत्व सामग्री प्राप्त हुई हो वह उसे टिकाने के लिए और यथार्थ रूप में पालन करने हेतु पूज्य गुरुदेव से विधि पूर्वक सम्यकत्व ग्रहण करे। कहा भी है कि दोष की सम्भावना की स्थिति में श्रमणोपासक मिथ्यात्व से वापिस हटने की दृष्टि से पहले द्रव्य और भाव से पुनः सम्यकत्व अंगीकार करे। तत्पश्चात् उस श्रावक को पर दर्शन के देव या देवालयों में प्रभावना तथा अन्य से मानी हुई श्री जिन प्रतिमा-इन तीनों की वंदन पूजा आदि कार्य नहीं करना चाहिए और न ही लोक प्रवाह में बहकर लौकिक तीर्थों में पूज्य बुद्धि से दान, स्नान, पिडंदान, यज्ञ, व्रत, तप, संक्रान्ति चन्द्र ग्रहण, सूर्य ग्रहण आदि के अनुष्ठान इत्यादि नहीं कल्पते हैं ।'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तरह सम्यकत्व या अणुव्रत आदि सारी क्रियायें गुरुदेव की साक्षी में स्वीकार करने से ही सफल होती हैं, अन्यथा निष्फल होती हैं । श्रावक धर्म रूप में हिंसा का त्याग करने के प्रसंग पर पंचाशक १/६ में कहा है -

गुरु मूले सुयधम्मो, संविग्गो इत्तरं च इयरं वा ।
गिण्हइ वयाइं कोई, पालेइ तहा निइ आइरं ॥१॥

इस गाथा का भावार्थ ग्रंथकार ने स्वयं ही पंचाशक की उस गाथा की टीका के आधार पर यहाँ बतलाया है कि 'जो सम्यग्ज्ञान, क्रियावान हो और धर्मशास्त्र का सत्य उपदेश देने वाला हो वही गुरु कहलाता है।' कहा है कि -

धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मपरायणः ।
सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थं देशको गुरुरुच्यते ॥१॥

अर्थात् 'जो धर्म का जानकार हो, धर्म का आचरण करने वाला हो, हमेशा धर्म रक्षादि के लिए तत्पर हो और प्राणियों को धर्म शास्त्र का उपदेश करने वाला हो वह गुरु कहलाता है।' अथवा

जो जेण सुद्ध धम्मे, नियोजिओ संजएण गिहिणा वा।
सो चेव तस्स भण्णइ, धम्मगुरु धम्मदाणाओ॥१॥

अर्थात्-' गृहस्थ हो अथवा साधु, जो जिसको शुद्ध धर्म में जोड़ता हो, वही उसे धर्म प्राप्त कराने वाला होने से उसे धर्मगुरु कहते हैं।'

'ऐसे गुरु महाराज के अतिरिक्त अन्य के पास में धर्म श्रवण करने से विपरीत बोध होता है, इसलिए दूसरे के पास में धर्म उपदेश नहीं सुनना चाहिए।' ऐसी सूचना के लिए पंचाशक की गाथा में '**गुरु मूले**' शब्द का उपयोग किया है। अब '**सुय–धम्मो**' अर्थात् उपयुक्त गुरु के पास जिसने 'धर्म श्रवण किया हो' अर्थात् व्रतादि जो धर्म अंगीकार करना हो, उसका स्वरूप गुरु महाराज के पास जिसने यथार्थ रूप में सुना हो वह । विशेषण इसके लिए दिया है कि- आगम का श्रवण करके व्रत नियम आदि को जो नहीं समझा हो ऐसे अज्ञानियों का व्रत आदि धर्म अंगीकार करना लाभ दायक नहीं है। कहा है कि:-

'' जस्स नो इमं उवगयं भवइ, इमे जीवा इमे थावरा इमे तसा, तस्स नो सुपच्चक्खायं भवइ, से दुप्पच्चक्खायं भवइ, से दुप्पच्चक्खाई मोसं भासइ, नो सच्चं भासइ'' त्ति ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्– 'जिसने यह जीव है, उसमें भी यह स्थावर, यह त्रस है' आदि ज्ञान प्राप्त नहीं किया, उसका पच्चक्खान शुद्ध नहीं है, परन्तु अशुद्ध है। ऐसा अज्ञानी जो पच्चक्खान करता है वह मृषा भाषण करता है, सत्य बोलता नहीं है।' अर्थात् बोला हुआ पालन न करना मृषावादी है। जैसे अज्ञानी ने जो पच्चक्खान किया हो वह सत्य नहीं होता वैसे ही स्वबुद्धि से स्वयमेव शास्त्र के अर्थों को करने वाला पच्चक्खान भी योग्य नहीं है, क्योंकि गुरुगम बिना शास्त्रों को यथार्थ नहीं जाना जा सकता और उसका पालन भी नहीं हो सकता। अत: कहा है कि:–

न हि भवति निर्विगोपक मनुपासित गुरुकुलस्य विज्ञानम्।
प्रकटितपश्चाद्भागं पश्यत नृत्यं मयूराणाम्।।१।।

अर्थात्– जिसने गुरुकुल वास अर्थात् गुरु की निश्रा में रहकर गुरु सेवा नहीं की उसका विज्ञान निर्विगोपक (बदनाम न हो ऐसा) शुद्ध नहीं होता। नाट्य कला को न समझने वाला नाच करते मयूर के समान होता है जिसने अपने गुह्य भाग को खुला करके नाचने में अज्ञानता के कारण अपनी इज्जत गँवा दी है। इसके अनुसार स्वयमेव ज्ञान प्राप्त करने वाले पंडित की भी गुरुगम के न होने से अपकीर्ति ही होती है।

कहने का सारांश यह है कि जिसने गुरु के पास ज्ञान प्राप्त नहीं किया, ऐसे अज्ञानियों को स्वमति से अपनी समझ अनुसार व्रतादि लेना योग्य नहीं है। इसलिए गुण वाले गुरु के पास जिसने धर्म श्रवण किया हो, व्रतादि का ज्ञान प्राप्त किया हो और (संविग्गो) अर्थात् संसार से भयभीत बना हो– इससे मोक्ष का अर्थी बना हो, ऐसे जीव का 'इतरं च इयर वा' अर्थात् थोड़े काल के लिए या जीवन पर्यन्त के लिए व्रत उच्चरने की विधि है। जिसे संसार का भय जागृत न हुआ हो और इससे मोक्षार्थी न बना हो ऐसे जीव को व्रतादि दे दिया जाय तो भी वह मोक्ष साधक नहीं हो सकता। इसलिए गुरु महाराज के पास धर्म श्रवण करने से जो संवेगी बनता है ऐसी आत्मा द्वारा यावज्जीव अथवा थोड़े काल के लिए यथाशक्ति व्रतादि लिया जाता है और उसे अतिचार रहित पालन किया जाता है तो कल्याण होता है। तात्पर्य यह है कि व्रतादि विधिपूर्वक गुरु के पास उच्चारण करे। इस तरह गुरु मूले वाली गाथा पूर्ण हुई।

तथा सम्यकत्व यह आत्मा का शुभ परिणाम रूप है जो हमें दिखता नहीं है, केवल उसके लिंग-चिह्न से ही उसे जान सकते हैं। इसलिए मूल बाईसवीं गाथा के चौथे पद में जो **"पंच लक्षण लक्षितम्"** कहा है उसकी व्याख्या करते हैं-वह सम्यकत्व 'शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन पांच लक्षणों से जाना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जा सकता है।' अर्थात् अन्य आत्मा में परोक्ष रहा सम्यकत्व भी इन लक्षणों से दिखता है। उसमें -

१. **शम** - अर्थात् प्रशम, अनंतानुबन्धी कषायों के अनुदय को शम कहते हैं। ऐसा शम स्वाभाविक रूप से आत्मा में कषाय मन्द होने से अथवा कषाय आदि के कटु फल-दुःखों को जान-देखकर होता है। छठी विंशिका गाथा १० में कहा है कि:-

पयईए कम्माणं नाउणं वा विवागम सुहं ति ।
अवरद्धे वि न कुप्पई, उवसमओ सव्व कालं पि ॥१०॥

अर्थात्- '' स्वाभाविक रूप से अथवा कर्म प्रकृतियों के अशुभ विपाक- दुष्ट कर्मफल जानकर आत्म के उपशम भाव का अभ्यास हो जाने से अपराधी पर भी कभी क्रोध नहीं करता है उसे प्रशम कहते हैं।'' कई आचार्य क्रोध रूप खुजली और विषय तृष्णा के उपशम को शम कहते है। ऐसे समकित वाले, साधु पुरुष की सेवा संगति करने वाला आत्मा क्रोध की वृत्ति से या विषय तृष्णा से चंचल कैसे बन सकता है? अर्थात् नहीं बन सकता ।

यहाँ सवाल यह होता है कि-सम्यग्दर्शन प्राप्त और साधुओं की सेवा करने वाले जीव के तो क्रोध कंडू (खाज) और विषय तृष्णा हो नहीं सकती तब फिर निरपराधी और अपराधी पर क्रोध करने वाले सम्राट श्रेणिक और श्री कृष्ण जी आदि में विषय-तृष्णा एवं क्रोध कंडू प्रत्यक्ष परिलक्षित होते थे, अतः वे पूर्वोक्त लक्षण वाले थे यह कैसे माना जाय? और शम नहीं था तो उनमें सम्यकत्व का अस्तित्व भी कैसे माना जाय ? इसका समाधान यों करते हैं- ऐसी बात नहीं है कि उनमें शम का अभाव था, इसलिए सम्यकत्व नहीं था । जैसे लुहार की भट्टी में धुँए रहित राख से ढकी हुई आग होती है, उस आग में धुँआ जरा भी नहीं होता। इस सम्बन्ध में न्याय शास्त्रानुसार नियम (व्याप्ति) ऐसा है कि जहाँ-जहाँ धुंआ है वहाँ-वहाँ अग्नि जरूर होती है। क्योंकि जहाँ लिंग-चिह्न होता है वहाँ लिंगी अवश्य होता है । बशर्ते कि लिंग का परीक्षा के द्वारा निश्चय कर लिया गया हो । अतः योगशास्त्र द्वितीय प्रकाश श्लोक १५ वीं टीका में लिखा है कि-

लिंगे लिङ्गी भवत्येव लिङ्गिन्ये वेतरत्पुनः ।
नियमस्य विपर्यासे (सः) सम्बन्धो लिंग लिङ्गिनो ॥१॥

अर्थात्- धुँआ-चिह्न (लिंग) हो, वहाँ चिह्न वाला अग्नि (लिंगी) अवश्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होता है। परन्तु जहाँ-जहाँ चिह्न वाला (लिंगी) हो वहाँ-वहाँ चिह्न-लिंग का होना अनिवार्य नहीं है। जैसे कहीं-कहीं लाल अंगारों वाली अग्नि धुँए से रहित भी होती है, वहाँ लिंगी में धुँए रूप लिंग-चिह्न के होने का नियम नहीं है। लिंग लिंगी का सम्बन्ध नियम के विपर्यास में होता है। [यह श्लोक प्रमाण समुच्चये स्वार्थानुमान परिच्छेद में भी है।]

इस दृष्टि से श्री कृष्ण श्रेणिक राजा दोनों निश्चित रूप से सम्यकत्वी थे, लेकिन सम्यकत्व के चिह्न रूप प्रशम कथंचित् था, कथंचित् नहीं। अनंतानुबन्धी आदि कषाय की तीन चौकड़ी की अपेक्षा से उनका कषाय प्रशम था किन्तु संज्वलन कषाय की चौकड़ी की अपेक्षा से क्रोधादि प्रशमन नहीं हुआ था। इसलिए उस अपेक्षा से श्रेणिक आदि महानुभावों के सम्यकत्वी होते हुए भी उनमें संज्वलन क्रोध कंडु तथा सूक्ष्म विषय-तृष्णा का अस्तित्व था । कभी कभी संज्वलन कषाय भी तीव्रता से अनन्तानुबन्धी के समान विपाक वाला होता है, यह बात भी स्पष्ट है।

२. संवेग- इसका अर्थ है कि-मोक्ष की अभिलाषा। सम्यग्दृष्टि आत्मा राजा चक्रवर्ती या इन्द्र के वैषयिक सुख को भी दुःख मिश्रित होने के कारण दुःखरूप मानते हैं, वे मोक्ष सुख को ही एक मात्र सुखरूप मानते हैं । छट्ठी विंशिका गाथा ११ में कहा है कि-

नर वि वुहेसर सुक्खं, दुक्खं चिअ भावओ अ मन्नंतो ।
संवेगओ न मोक्खं, मोत्तूणं किंचि पत्थेय ।।२।।

अर्थात्- "जो सम्यकत्वी जीव मनुष्य और इन्द्र के सुख को भाव से दुःख मानता है और संवेग से मोक्ष के बिना और किसी वस्तु की प्रार्थना नहीं करता वही संवेगवान होता है।" यह श्लोक धर्म संग्रहणी ८०६ श्रावक प्रज्ञप्ति गाथा ५६ में भी है।

३. निर्वेद- संसार के प्रति वैराग्य होना निर्वेद कहा है। सम्यग्दृष्टि आत्मा दुःख और दुर्गति से गहन बने हुए जन्म-मरण रूपी कैदखाने में कर्म रूपी डंडे (दंडपाशक)के द्वारा उन-उन यातनाओं को सहते हुए उनका प्रतीकार करने में असमर्थ होता है, इसलिए निर्ममत्वभाव को स्वीकार करता हुआ दुःख से व्याकुल होता है। श्रावक प्रज्ञप्ति ५७, विंशितिविंशिका ६/१३ धर्म संग्रहणी ८१० में कहा है-

नारय तिरिअ नरामर भवेसु, निव्वेअओ वसइ दुक्खं ।
अकयपर लोअमग्गो, ममत्तविसवेग रहिओ अ ।।३।।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव जन्म- इन चार गतियों में दु:ख मानकर पारलौकिक सुख की साधना किये बिना ममत्व के विष से रहित होकर संसार वेग रहित निर्वेद-वैराग्य पूर्वक-कब मैं संसार में से निकलूंगा? इस दु:ख का वेदन करता रहता है।'' कई आचार्यों ने संवेग और निर्वेद का अर्थ उक्त अर्थ से विपरीत किया है-संवेग यानी संसार के प्रति वैराग्य और निर्वेद अर्थात् मोक्ष की अभिलाषा। इस तरह संवेग को निर्वेद और निर्वेद को संवेग कहते हैं ।

४. अनुकम्पा- दु:खी जीवों पर दया करने की इच्छा अनुकम्पा है। पक्षपात रहित होकर दु:खी जनों के दु:ख को मिटाने की भावना ही वस्तुत: अनुकम्पा है। पक्षपात पूर्ण करुणा तो बाघ, सिंह आदि को भी अपने बच्चों पर होती है परन्तु वह करुणा नहीं मानी जाती। यह अनुकम्पा द्रव्य और भाव से दो प्रकार की है। अपनी शक्ति के अनुसार दु:खी व्यक्ति के दु:ख का प्रतिकार करके उसका दु:ख दूर करना द्रव्य अनुकम्पा है और दु:खी के प्रति कोमल हृदय रखकर दया से परिपूर्ण होना भाव अनुकम्पा है। अन्यत्र शारीरिक आदि दु:ख वाले के प्रति दया को द्रव्य दया और पापाचरण आदि करने वाले आत्मा के प्रति दया को भाव दया कहते हैं। श्रावक प्रज्ञप्ति ५८, विंशिका ६/१२ धर्म संग्रहणी ८११ में कहा है कि-

दट्ठूण पाणि निवहं, भीमे भवसागरं मि दुक्खत्तं ।
अविसेसओऽणुकंपं, दुहावि सामत्थओ कुणइ ॥४॥

अर्थात्- भयंकर संसार समुद्र में दु:खानुभव करते हुए जीवों को देखकर पक्षपात रहित होकर अपनी शक्ति के अनुसार द्रव्य से और भाव से उन्हें धर्माचरण में जोड़ना ही वस्तुत: उनके दु:खों को निर्मूल करना है ।

५. आस्तिक्यं- श्री जिनेश्वर परमात्मा कथित-आत्मा है, आत्मा को अपनी शुभाशुभ प्रवृत्तियों के फलस्वरूप मिलने वाला देव लोक, नरक गति, परलोक आदि है । संसार में प्राणियों की विभिन्नता का कारण कर्म है, कर्म-फल है, इस प्रकार जो मानता है वह आस्तिक है, उसका भाव या कर्म-क्रिया आस्तिक्य है। अन्यान्य धर्म तत्त्वों का स्वरूप सुनने जानने पर भी जिनोक्त धर्म के प्रति जिसकी दृढ़ श्रद्धा होती है वही सच्चा आस्तिक कहलाता है। विंशिका ६/१४, श्रावक प्रज्ञप्ति ५९, धर्म संग्रहणी ८१२ में कहा है-

मण्णइ तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहि पण्णत्तं ।
सुह परिणामो सम्मं, करंवइ विसुत्ति आरहिओ ॥५॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- 'जो जिनेश्वरों ने कहा है वही सत्य और शंका रहित है, ऐसे शुभ परिणामों से युक्त अपने धर्म में शंका रहित और अन्य धर्मों की अभिलाषा रूप आकांक्षा आदि दोषों से रहित जो हो वह सम्यकत्वी आस्तिक्य माना जाता है।'

ऐसे आस्तिक को भी कभी मोह के आधीन किसी विषय में शंका हो जाये तो उसे दूर करने के लिए श्री जिनभद्र गणि क्षमा श्रमण के वचन सुन्दर मर्यादा स्वरूप हैं। उनके वचन यहाँ कहते हैं:-

कत्थ य मइ दुब्बलेणं, तव्विह आयारि अ विरहओ वापि ।
नेयगहण त्तणेण य, नाणा वरणो दए ण च ॥१॥

हेऊदाहरणा संभवे अ सइ सुट्ठु जं न बुज्झेज्जा ।
सव्वण्णुमय मवितहं तहा वि तं चिंतए मइमं ॥२॥

अणुवकय पराणुग्गह-परायणा जं जिणा जगप्प वरा ।
जिअरागदोस मोहा य, नन्नहा वाइणो तेणं ॥३॥

[सम्बोध प्रकरण ध्यानाधिकार ४८ से ५०, ध्यानशतक ४७ से ४६]

अर्थात्- बुद्धि की न्यूनता के कारण तथाविध समझाने वाले गुरुदेव का अभाव हो, जीव अजीवादि ज्ञेय भावों का स्वरूप गहन होने से, ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से अथवा तथाविध हेतु दृष्टान्त आदि समझने के साधन न होने से किसी विषय का यथार्थ रूप न समझ में आये अथवा कोई वस्तु-वाक्य समझ में न आए तो भी बुद्धिमान आस्तिक जीव 'सर्वज्ञ परमात्मा ने जो अगम में कहा है वह सत्य है।' ऐसा ही माने। मैं अपनी अज्ञानता के योग से समझ नहीं सकता- इस तरह अपनी कमी स्वीकार करे। क्योंकि श्री जिनेश्वर भगवान अनुपकारी के प्रति भी उपकार करने वाले हैं, राग द्वेष मोह से रहित और जगत में सर्व श्रेष्ठ आत्मा होते हैं, इससे वे कभी असत्यवादी नहीं होते। ऐसा जानकर जिन वचन को सत्य ही माने। अथवा कहा है:-

सूत्रोक्त स्यैकस्याप्य रोचना दक्षरस्य भवति नरः ।
मिथ्यादृष्टिः सूत्रं, हि नः प्रमाणं जिनाभिहित ॥१॥

अर्थात्- "सूत्र कथित एक अक्षर मात्र की भी अरुचि से आत्मा श्री जिनेश्वर के सर्वज्ञ रूप में श्रद्धा रहित होने से मिथ्या दृष्टि गिना जाता है। इसलिए श्री जिनेश्वर कथित सूत्र सिद्धान्त हम को सम्पूर्ण प्रामाणिक रूप में मान्य है।" इत्यादि भावना रखे परन्तु आस्तिकता का त्याग न करे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कतिपय आचार्यों ने शम आदि सम्यकत्व के चिन्हों (लिंगों) की व्याख्या और ही रूप से की है। उनके मतानुसार

१. शम का अर्थ-भली भाँति परीक्षा किये हुए वक्ता (आप्त) के द्वारा रचित आगमों के सत्य तत्त्वों में दृढ़ पक्षपात रूप सद् आग्रह रखना। इससे मिथ्याभिनिवेश का दुराग्रह उपशम-शान्त हो जाता है, उसे शम कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन का प्रथम लक्षण है। संक्षेप में कहें तो परीक्षा पूर्वक मिथ्या तत्त्व का त्याग करके तत्त्व-सत्य को ग्रहण करने वाला ही सम्यग् दर्शनी है। इस तरह शम से पहिचाना जाता है।

२. संवेग - इसका अर्थ है- जो नरकादि गतियों में जन्म मरण एवं दुःखों के भय से जिन प्रवचनों के अनुसार धर्माचरण करता है और उनके प्रति श्रद्धा रखता है वह संवेग वान कहलाता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा नरकों में प्राप्त होने वाली शारीरिक, मानसिक यंत्रणाओं के द्वारा शीत, उष्ण क्षेत्र सम्बन्धी वेदनाओं तथा वहाँ के क्लिष्ट परिणामी परमाधार्मिक असुरों द्वारा पूर्व वैर का स्मरण कराकर परस्पर असीम क्लेश की उदीरणा से होने वाली पीड़ाओं, तिर्यंच गति में बोझ उठाने की पराधीनता, लकड़ी चाबुक आदि से मार खाने, भूख प्यास गरमी ठंडी आदि दुःख सहन करते हैं; मनुष्य गति में दरिद्रता, दौर्भाग्य, रोग, शोक, वियोग, दासत्व आदि नाना प्रकार की बिडम्बनाओं के विषय में चिन्ता होती है; देवजन्म में भी ईर्ष्या, विषाद, पराधीनता आदि विविध दुःख होते हैं। इनके विषय में चिन्तन कर आत्मा में भय जागृत होता है। उनके निवारण करने के लिए और उक्त दुःखों से शान्ति प्राप्त करने के लिए उपायभूत सद् धर्म का आचरण करता है तभी उनका संवेग रूप चिन्ह दृष्टि गोचर होता है। इस तरह आत्मा को संसार का भयरूप 'संवेग' रूप सम्यकत्व है।

३. निर्वेद- इसका अर्थ है- विषयों के प्रति अनासक्ति भाव- जैसे निर्वेद-वान आत्मा विचार करता है कि संसार में कठिनता से अन्त हो सकने वाले दुष्ट काम भोगों के प्रति जीवों की जो आसक्ति है वह इस लोक में ही अनेक उपद्रव रूप फल देने वाली है और परलोक में भी अति दुष्ट नरक गति, तिर्यंच गति अथवा अधम कोटि के मनुष्य जन्म रूपी अत्यन्त कटु फल देने वाली है। इसलिए ऐसे विषयों में कोई सार नहीं है, वे अवश्य त्याग करने योग्य हैं- इस तरह विचार करने से विषय का राग उठ जाता है। इस प्रकार के निर्वेद वैराग्य से भी आत्मा के सम्यग्दर्शन को अवश्य पहिचान हो जाती है।

४. अनुकम्पा का अर्थ दया है। 'सर्व जीव सुख के अर्थी हैं और दुःख को

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दूर करने की इच्छा वाले हैं इसलिए उनको मुझे अल्प मात्र भी पीड़ा नहीं देनी चाहिए इत्यादि समझकर अन्य जीवों के प्रति करुणा-दया करना। उनकी सहानुभूति रूप अनुकम्पा से सम्यकत्वी की पहिचान हो जाती है।

५. आस्तिक्य- अर्थात् श्री जिनेश्वर के वचन में आस्था-श्रद्धा और जिनेश्वर देव द्वारा बतलाये हुए जीव, कर्म, कर्मफल, परलोक, पुण्य, पाप इत्यादि भावों के परिणाम रखता हो, इनके अनुसार प्रवृत्ति करने वाला हो तो समझा जा सकता है कि इस आत्मा में आस्तिक्य है। इस आस्तिक्य के कारण भी सम्यकत्वी की पहिचान हो सकती है' इस तरह शम आदि लक्षणों का स्वरूप अन्य आचार्यों के मतानुसार जानना।

यहाँ ग्रन्थकार ने बाईसवीं मूल गाथा में पांच लक्षणों का सूचन किया है। उसके उपलक्षण से लक्षणों के सहचारी समकित के सड़सठ (६७) भेदों का भी सूचन किया है क्योंकि इन भेदों से समकित की विशुद्धि होती है। उस समकित के भेद गिनाते हैं। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

चउ सद्दहण तिलिङ्ग, दस विणय तिसुद्धि पंच गय दोसं।
अट्ठ पभावण भूषण-लक्खण-पंचविह संजुत्त ॥ ६२६॥

छव्विह जयणागारं, छब्भावण भाविअं च छट्ठाणं।
इयं सत्त सट्ठि दंसण भेय विसुद्धं तु सम्मतं ॥ ६२७॥

अर्थात्- "चार सद्दहणा, तीन लिंग, दस प्रकार से विनय, तीन प्रकार की शुद्धि, पांच दोषों का अभाव, आठ प्रकार की प्रभावना, पांच भूषण, पांच लक्षण, छह प्रकार की जयणा, छह आगारा, छह भावना और छह स्थान- इस तरह कुल मिलाकर सड़सठ भेद से जो विशुद्ध हो उसे समकित जानना।" इन भेदों का स्वरूप आगे श्री प्रवचन सारोद्धार के १४८ वें द्वार में कहा है। उसके अनुसार यहां बतला रहे हैं। उसमें सर्व प्रथम चार सद्दहणा का वर्णन कहते हैं:-

परमत्थ संथवो खलु, सुमुणिय परमत्थ जइ जण निसेवा।
वावन्न कुदिट्ठीण य वज्जणाय सम्मत्त सद्दहणा ॥६२८॥

अर्थात्- चार सद्दहणा में **१. परमार्थ संस्तव**- परमार्थ भूत (सत्य) जीवा-जीवादि तत्त्व- पदार्थों का संस्तव अर्थात् परिचय करना अर्थात् बहुमान पूर्वक उस तत्त्व का यथार्थ बोध-अभ्यास करना। **२. परमार्थ ज्ञातृ सेवन** - परमार्थ भूत जीवादि तत्त्वों का सम्यग्ज्ञाता- संवेग रंग में रमण करने वाले शुद्ध धर्म के उपदेशक श्री आचार्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भगवन्त आदि साधु जन की सेवा करना। **३. व्यापन्न वर्जन** - जैन दर्शन प्राप्त करके भी वापस वमन करने से केवल साधु वेष धारण वाले फिर भी विरुद्ध आचरण करने वाले निह्नव, यथाच्छंदक, पासत्था या कुशीलादि का त्याग करना- उनका संसर्ग भी नहीं करना। **४. कुदृष्टि वर्जन**- बौद्ध आदि अन्य दर्शनियों के संसर्ग से समकित में मलिनता आती है इसलिए ऐसे अन्य धर्मियों के संसर्ग का त्याग करना चाहिए।

ये चार प्रकार समकित सद्दहणा के हैं। 'ऐसे गुण वाले जीव में सम्यकत्व है।' ऐसा मान सकते हैं, श्रद्धा हो इसलिए यह सद्दहणा कहलाता है।

प्रश्न- अंगार मर्दकाचार्य स्वयं अभव्य मिथ्यात्वी थे, फिर भी जीवाजीव आदि तत्त्वों का ज्ञान आदि सद्दहणा उनमें थी, इससे वह भी समकित धारी किस तरह हो सकते हैं ?

उत्तर-यहाँ जो श्रद्धा का वर्णन किया है वह तात्त्विक-यथार्थ होनी चाहिए अर्थात् मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षयोपशम आदि द्वारा विलय होने से आत्मगुण का प्रादुर्भाव रूप होना चाहिए। अंगार मर्दकाचार्य आदि तो अभव्य थे, इससे उनमें वह गुण वास्तविक सम्यग्ज्ञान रूप अथवा आत्मगुण रूप न था, केवल दिखावा रूप ही था।

इस गाथा में 'सद्दहणा' नपुंसक लिंग होने पर भी प्राकृत भाषा में लिंग अनियत होने से इस गाथा में स्त्रीलिंग का उपयोग किया है। इस तरह ६७ भेदो में से चार का वर्णन किया। अब तीन लिंग का वर्णन कहते हैं -

सुस्सूस धम्मराओ, गुरुदेवाणं जहा समा हीए ।
वैयावच्चे नियमो, सम्मद्दिट्ठिस्स लिङ्गाइं ।। ६२८।।

भावार्थ- १. शुश्रुषा- जिनसे नियमा तात्त्विक-यथार्थ बोध हो ऐसे धर्मशास्त्रों की विनयादि विधिपूर्वक सुनने की इच्छा होनी, और चतुर गुण वाले निरोगी युवा संगीत कला आदि को जानने वाली को स्व स्त्री के साथ में बैठकर दैविक गीत सुनने की इच्छा तीव्र होती है, इससे भी अधिक इच्छा धर्म शास्त्र को सुनने की होती है। षोडशक प्रकरण ११-३ में कहा है कि -

यूनो वैदग्ध्यवतः कान्तायुक्तस्य कामिनो पि दृढं ।
किन्नर गेय श्रवणा-दधिको धर्म श्रुतौ राग ।।३।।

अर्थात्- 'निरोगी, चतुर, गुण वाले, कामी और स्त्री आदि से घिरे हुए युवा पुरुष में दैविक गीत सुनने का जो राग होता है, इससे भी शुश्रुषा गुण युक्त धर्म श्रवण करने का राग अधिक होता है।'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२. धर्मराग– प्रथम 'शुश्रुषा' गुण श्रुत धर्म का राग रूप होता है। यहाँ धर्म राग अर्थात् 'चारित्र धर्म का राग' समझना चाहिए। यदि कर्म के दोष से चारित्र धर्म का पालन न कर सके तो भी 'जंगल रूप महा अटवी का बहुत मार्ग पार करने से थके हुए दरिद्र और भूख से पीड़ित ब्राह्मण को' घेवर मिठाई आदि खाने में जैसे तीव्र राग होता है, इससे भी अधिक समकित वाले आत्मा को चारित्र की अभिलाषा होती है।

३. नियम– देव गुरु की वैयावच्च के लिए प्रतिज्ञा, धर्म उपदेशक आदि उत्तम गुरु जनों की तथा श्री अरिहंत देवों की अर्थात् जिन मन्दिर मूर्तियों आदि की आशातना न हो– इस तरह सेवा, पूजा, भक्ति आदि अनेक प्रकार से वैयावच्च करने का नियम करना– यह सम्यकत्व का तीसरा लिंग जानना।

यहाँ धर्मी जीव और उसका समकित रूप धर्म दोनों अभिन्न मान लेने से समकिती जीव के ही लिंगों को समकित लिंग कहा है, ऐसा समझना। इन तीनों लिंगों को देखने से इस जीव में सम्यकत्व गुण प्रकट हुआ है– ऐसा निश्चित हो सकता है। इसमें प्रश्न होता है कि वैयावच्च तप का भेद है, तप चारित्र का अंग है, यदि समकित दृष्टि को भी वैयावच्च का नियम अवश्य होता है तो वह चारित्र का ही अंश होने से उसे अविरति समकित दृष्टि क्यों कहा जाता है ? वैया वच्च रूप देश चारित्र होने पर भी देश विरति क्यों नहीं कहलाता ?

उत्तर - वैयावच्च का नियम चारित्र रूप होने पर भी वह चारित्र का केवल अल्पांश होने से उसे यहाँ चारित्र रूप नहीं माना है। जैसे संमूर्च्छिम जीवों को अल्प संज्ञा वाला होने पर भी विशिष्ट संज्ञा नहीं होने से असंज्ञी कहा है, वैसे ही यहाँ भी वैयावच्च चारित्र का अल्प अंश होने से देश विरति नहीं कहा किन्तु अवरिति कहा है। इसी तरह से उपशान्त मोह आदि ऊपर के गुण स्थानक में भी आत्मा कृतकृत्य होने से शुश्रुषादि कार्य सम्पूर्ण होने से यह लिंग प्रवृत्ति रूप प्रत्यक्ष नहीं दिखता फिर भी यथाख्यात चारित्र आदि उसके फल प्रत्यक्ष होने से फलों का मूलभूत शुश्रुषादि लिंग भी वहाँ है ही, ऐसा मानना। वैयावच्च के नियम के विषय में विशेष विवेचन 'श्राद्धविधि' ग्रन्थ के आधार पर आगे साधु धर्म में कहा जायेगा।

दस प्रकार का विनय –

अरिहंत सिद्ध चेइअ सुए अ धम्मे अ साहु वग्गे अ।
आयरिअ उवज्झाए सु पवयणे दंसणे विणओ ॥ ६३०॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भावार्थ- १. अरिहंत- तीर्थंकर भगवन्त तथा सामान्य केवली, २. आठों कर्मों से रहित सिद्ध भगवन्त, ३. चैत्य- जिन मंदिर और जिन प्रतिमा ४. श्रुत- आचारांगादि आगम, ५. धर्म- क्षमादि दस यति धर्म, ६. साधुवर्ग- संयमी तपस्वी आदि सर्व प्रकार के मुनि, ७. आचार्य, ८. उपाध्याय, ९. प्रवचन- यहाँ जीवादि तत्त्वों को जो समझाये वह 'शासन' अथवा उसका आधार भूत श्री संघ, और १०. दर्शन- समकित तथा गुण-गुणी के अभेद उपचार से समकितवान आत्माओं का विनय करना चाहिए। वह कैसे करना चाहिए ? उसे कहते हैं:-

भत्ती पूआवन्नं जणणं नासण मवन्न वायस्स ।
आसायण परिहारो, दंसण विणओ समासेणं ॥ ६३१॥

अर्थात्- उन दसों का १. भक्ति, २. पूजा, ३. प्रशंसा, ४. निंदा का त्याग और ५. आशातना का त्याग इन पाँच प्रकार से विनय करना चाहिए। यह संक्षेप में समकित का विनय समझना।

१. भक्ति – वे दसों सामने आएं तो सामने जाना, आ जायें तब आसन देना, शारीरिक आदि सेवा करना, दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करना, जायें तब पहुँचाने जाना इत्यादि हृदय से बहुमान पूर्वक अनेक प्रकार की यथायोग्य बाह्य सेवा, भक्ति करना। **२. पूजा** – परमात्मा की अष्टप्रकारी पूजा, साधु भगवंत का वस्त्र-पात्र-अन्न-पान आदि से सत्कार करना। **३. प्रशंसा** – स्वमुख से उनके ज्ञानादि गुणों की प्रशंसा करना, कीर्ति बढ़ाना तथा उनका प्रचार करना। **४. निंदा का परिहार** – सामान्य दोष हो अथवा न हो फिर भी दोष अन्य को नहीं कहना, कोई कहता हो तो रोकना। **५. आशातना का त्याग** – जिन मंदिर की चौरासी आशातना तथा गुरु महाराज की तैंतीस आशातना आदि शास्त्रों में कही हैं, उन दसों आशातनाओं का त्याग करना, दूसरा करता हो उसे रोकना।

इस तरह संक्षेप में समकित का विनय कहा है। यह विनय दस प्रकार का समकित के योग से होता है। इसलिए उसे सम्यग्दर्शन का विनय कहा गया है। ये दसों विनय पाँच-पाँच प्रकार की होने से पचास भेद भी होते हैं। अब तीन प्रकार की शुद्धि का वर्णन करते हैं:-

मुत्तूण जिणं मुत्तूण, जिण मयं जिणमयट्ठिए मुत्तूं ।
संसार कत्त वारं, चिंति ज्जंतं जगं सेसं ॥६३२॥

अर्थात् :- १. जिन अर्थात् वीतराग परमात्मा, २. जिनमत अर्थात् उनके द्वारा कथित यथावस्थित स्याद्वादमय जीव-अजीवादि तत्त्व तथा ३. उन तत्त्वों की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आराधना करने वाले साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप श्री संघ। ये सत्य हैं इन तीनों के बिना सारा जगत् एकान्त रूप दुराग्रह में फंसा हुआ है। संसार में सार रहित असार है। इस तरह मंतव्य से समकित की शुद्धि होती है। तीन शुद्धि वाला आत्मा मरणान्त उपसर्ग में भी उन्हें नहीं छोड़ता है। इस तरह मन, वचन और काया की शुद्धि को समकित की तीन शुद्धि कहा है। अब पांच दूषण कहते हैं :-

संका कंख विगिच्छा पसंस तह संथओ कुलिंगीसु ।
सम्मत्तस्स इयारा, परिहरि अव्वा पयत्तेण ॥ ६३३॥

अर्थात्- '१. शंका, २. कांक्षा, ३. वितिगिच्छा-विचिकित्सा, ४. अन्य मिथ्या दृष्टि आदि की प्रशंसा तथा ५. उनका गाढ़ परिचय- संसर्ग; ये पाँच समकित को अति दूषित करते हैं।' इसका विस्तार पूर्वक वर्णन व्रतों के अतिचार समय में मूल गाथा ४१ वीं में होगा। अब आठ प्रकार की प्रभावना- प्रभावक का वर्णन करते हैं :-

पावयणो धम्म कही, वाई ने मित्तिओ तवस्सी य ।
विज्जां सिद्धो अ कई अट्ठेव पभावगा भणिआ ॥ ६३४॥

अर्थात्- जिससे जिन शासन की शोभा, महिमा, प्रभाव बढ़े ऐसी प्रवृत्तियों को 'प्रभावना' कहते हैं और उसके करने वाले महात्माओं को 'प्रभावक' कहते हैं। ऐसे धर्म प्रभावक आठ प्रकार के होते हैं इसलिए प्रभावना भी आठ प्रकार की है।' उनका स्वरूप कहते हैं।

१. प्रावचनी या प्रवचन प्रभावक- जो द्वादशांगी रूप प्रवचन या 'गणि पिटक' अर्थात् आचार्य भगवन्तों के ज्ञान रूपी रत्नों की पेटी कहते हैं अथवा जिस काल में जितना प्रवचन- आगम ज्ञान विद्यमान हो उन सर्व आगमों के मर्म को जानने वाले तथा जनता में आगम ज्ञान के प्रति प्रकर्ष भावना पैदा करने वाले तथा जग जीवन को धर्माचरण के लिए प्रेरणा करने वाले हों उन्हें प्रवचन प्रभावक कहते हैं।

२. धर्म कथा प्रभावक – जिस कथा से श्रोता मोह छोड़कर सत्य तत्त्व की ओर आकर्षित हो उसे आक्षेपणी कथा, जो उन्मार्ग छोड़कर सन्मार्ग से जुड़ जाय उसे विक्षेपणी कथा, जिससे श्रोता में ज्ञानपूर्वक संवेग धर्म वेग आत्म बल प्रगट हो उसे संवेग जननी कथा और जिससे श्रोता को संसार का निर्वेद हो उसे निर्वेदनी कथा कहते हैं। जो चार भेद स्थानक में कहे हैं उस प्रकार की धर्म कथा, उपदेश आदि अपने व्याख्यान से समझाते हैं। जनता को धर्म कथा-उपदेश से प्रभावित करके धर्म

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बोध देते हों, ऐसे धर्म कथा लब्धिवाले नंदिषेण आदि मुनि के समान धर्म कथा प्रभावक कहलाते हैं।

३. वादी प्रभावक- जो वादी प्रतिवादी, सभ्य जन, और सभापति रूप चतुरंगिनी सभा में प्रतिपक्ष की युक्तियों का खण्डन करके स्वपक्ष को सत्य रूप में सिद्ध करने की शक्ति वाला हो, अपनी समर्थ तर्क शक्ति से लोगों को प्रभावित करता हो उसे वाद-प्रभावक कहते हैं जैसे श्री मल्लवादी ने किया था ।

४. निमित्त प्रभावक- जो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल सम्बन्धी लाभालाभ का जानकार हो अथवा अष्टांग निमित्त- १. दायाँ बायाँ आदि अंग फड़कने का फल, २. शुभाशुभ स्वप्न , ३. स्वर विज्ञान, ४. धरती कंपन, ५. शरीर के ऊपर मसा तिल का ज्ञान, ६. हाथ पैर की रेखा आदि लक्षण, ७. उल्का पात और ८. ग्रहों का उदय अस्त आदि ज्योतिष के बल से जानकर निमित्त शास्त्रज्ञ हो और अपने उक्त ज्ञान से जनता को उसके भूत, भविष्य एवं वर्तमान के जीवन से धर्म बोध देकर धर्म साधना की ओर आकर्षित करता हो वह पूज्य श्री भद्रबाहु स्वामी के समान निमित्त-प्रभावक होता है ।

५. तपस्वी प्रभावक- इस लोक परलोक के पौद्गलिक सुख की अभिलाषा बिना समता भाव से जैन दर्शन में प्रसिद्ध-अट्ठम, अट्ठाई आदि विविध कठोर तपस्या करके जनता को आत्मशक्ति का परिचय देने वाला तथा आत्मशुद्धि करने वाला होता है। स्व शरीर में भी निःस्पृह होकर रहने वाले श्री खंधक मुनि आदि जैसों को तपस्वी प्रभावक कहते हैं ।

६. विद्या प्रभावक- प्रज्ञप्ति, रोहिणी आदि विविध विद्या देवियों को सिद्ध करके तदधिष्ठित विधाएं प्राप्त करने वाला विद्या प्रभावक होता है। विद्या प्रभावक अपनी विद्या के प्रयोग द्वारा शासन पर आए हुए विविध उपसर्ग, कष्ट और आफतों को दूर करता है। जैसे पूज्य श्री वज्र स्वामी जी आदि ने किया था ।

७. सिद्धि प्रभावक- वैक्रिय आदि विविध लब्धियों तथा अणिमा आदि सिद्धियों तथा अंजन, पादलेप या कपाल तिलक अथवा मुख में गोली रखकर दुष्कर कार्य करने, भूत आदि का आकर्षण तंत्र प्रयोग आदि जिसे प्राप्त हों और संघ-शासन की प्रभावना के लिए उसका प्रयोग करता हो, उसे श्री कालिकाचार्य जी आदि के समान सिद्धि प्रभावक समझना ।

८. कवि प्रभावक- विशिष्ट गद्य-पद, काव्य रचना, प्रबन्ध या कविता रचना शक्ति के द्वारा धर्माचरण में प्रेरित करना जैसे पूज्य आचार्य श्री सिद्धसेन सूरीश्वर जी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ने अपनी रचना से राजा महाराजा आदि को धर्मी बनाया था वैसे ही धर्म के प्रति काव्य कविता आदि द्वारा प्रभावित करने वाला कवि प्रभावक कहलाता है ।

इस तरह प्रावचनी आदि आठ प्रभावक, जो श्री जैन शासन में स्वयं प्रभावशाली हैं, श्री जिनेश्वर देव ने स्थापित किये हैं इससे निर्दोष हैं, स्वरूप में भी उत्तम ही हैं, उसे निष्कलंक रखना अथवा उसका महत्त्व आदि बढ़ाना । अपनी शक्ति के अनुसार देशकाल आदि के अनुरूप उचित जिन शासन के प्रचार-प्रसार शासन सेवा में योगदान देकर प्रभावना करते हैं उन्हें प्रभावक कहते हैं। जैसे सुवर्ण स्वयं प्रकाश मान है और सोनी-स्वर्णकार प्रकाश करने में निमित्त रूप है, वैसे ही जिन शासन स्वयं प्रकाश वाला है, उसे प्रकाश में लाने का निमित्त रूप बनाने वाले प्रभावक हैं और वह उनकी कर्त्तव्य प्रभावना है। वस्तुतः प्रभावक श्री जैन शासन की समकित के बल पर प्रभावना करता है अर्थात् प्रभावना का बल शास्त्र में अर्थात् समकित में है। इसीलिए प्रवचन सारोद्धार की मूल द्वार गाथा में भी "अट्ठप्रभावण" रूप की व्युत्पत्ति आठ प्रभावना हैं।" जिसमें ऐसा सम्यकत्व विशेष रूप होता है। इस प्रभावना से अपना समकित शुद्ध होता है और अन्य को समकित प्राप्त करवाता है, इसलिए इसे समकित में गिना है ।

पाँच भूषण-

जिण सासणे कुसलया प्रभावणा तित्थ सेवणा थिरया ।
भत्ती अगुणा सम्मत्त दीवया उत्तमा पंच ।।६३५।।

अर्थात्- जिन शासन में १. कुशलता, २. उसकी प्रभावना, ३. तीर्थसेवा, ४. उसमें स्थिरता और ५. भक्ति- ये पाँच उत्तम गुण सम्यकत्व के भूषण-शोभा बढ़ाने वाले कहे हैं। उसमें :-

१. जिन शासन में कुशलता - कुशलता का अर्थ है निपुणता अर्थात् जिन आगम के सिद्धान्तों में भिन्न-भिन्न प्रकार के वचन हैं । जैसे कि कई विधि वचन हैं, कई उद्यम में प्रेरणा देने वाले हैं, कई पदार्थों के वर्णन रूप हैं,कई भय उत्पन्न करने वाले हैं कई, उत्सर्ग वचन हैं, कई तो अपवाद रूप वचन है तो कई उत्सर्ग-अपवाद उभय रूप हैं। इत्यादि अनेक अपेक्षा वाले उन वचनों के अनुसार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अथवा पुरुष के आश्रित वैसा व्यवहार करना, उसे जैन प्रवचन-आगम में-कुशलता या निपुणता कहा है। इस प्रकार जैन शासन में उलझनों को सुलझाने, समस्या हल करने की व्यवस्था में कुशलता, उसमें भी अनेक युक्तियों से धर्म में स्थिर करना-प्रेरित करना जैसे अभय कुमार की कुशलता से अनार्य देश वासी आर्द्रकुमार को प्रतिबोध हुआ था । वैसी ही कुशलता प्राप्त करनी चाहिए ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२. प्रभावना – प्रचार-प्रसार के विभिन्न निमित्तों द्वारा जैन शासन की ओर प्रभावित करना ही प्रभावना है। प्रभावना करने वाले आठ प्रकार के होते हैं। उनका वर्णन पूर्व में कर दिया है। इस तरह शासन की प्रभावना करने से स्व और पर उपकारक होता है और श्री तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन करने का कारण होता है। इससे समकित में उसकी प्रधानता बताने के लिये पुनः भूषण में भी गिना है।

३. तीर्थ सेवा – जैसे नदी आदि में सुखपूर्वक उतरने के लिए घाट (तीर्थ) होता है वैसे ही संसार से सुख पूर्वक पार उतरने के लिए तीर्थ होता है, वह तीर्थ दो प्रकार का होता है। उसमें जिस भूमि पर तीर्थंकरो का जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान और निर्वाण हुआ जैसे श्री शत्रुंजय गिरिराज आदि के स्थान को लोक प्रचलित भाषा में 'तीर्थ' कहा जाता है। इसे जैन परिभाषा में द्रव्यतीर्थ कहते हैं। कहा है कि-

जन्म दिक्खा नाणं, तित्थयराणं महाणुभावाणं ।
तत्थ य किर निव्वाणं, आगाढं दंसणं होई ॥१॥

अर्थात्- 'महा महिमा वाले श्री तीर्थंकर भगवन्तों का जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान या निर्वाण जहाँ-जहाँ हुआ हो वह द्रव्य तीर्थ कहलाता है। यह भी दर्शनीय है। इससे समकित स्थिर होता है।' ज्ञान दर्शन और चारित्र के आधारभूत साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध श्री श्रमण संघ अथवा प्रथम गणधर को भाव तीर्थ कहते हैं। इसके विषय में भगवान महावीर और गणधर गौतम का संवाद मिलता है:-

''तित्थं भंते! तित्थं? तित्थयरे तित्थं? गोयमा ! अरिहा ताव नियमा तित्थयरे, तित्थं पुण चाउव्व वण्णे समण संघे पढम गणहरे वा'' (भगवती सूत्र ६८३)

अर्थात्- 'श्री गणधर गौतम ने पूछा-भगवन्त ! तीर्थंकर तीर्थ है अथवा तीर्थ तीर्थ है?' तब भगवन्त ने उत्तर दिया-गौतम! तीर्थंकर तो तीर्थ के स्थापक हैं ही, परन्तु चार वर्ण-साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका वाला श्रमण संघ तीर्थ है, इस दृष्टि से प्रथम गणधर आदि भी तीर्थ स्वरूप हैं और उनकी द्वादशांगी भी तीर्थ है।' इस प्रकार द्रव्य भाव दोनों तीर्थों की यात्रा, पूजा, विनय, सेवा आदि करना तीर्थ सेवा है।

४. जिन शासन में स्थिरता– किसी का मन आपत्ति शंका आदि कारणों से धर्म से चलायमान हो रहा हो, कोई व्यक्ति धर्म से डिग रहा हो या पतित हो रहा हो, उसे समझा-बुझाकर, उपदेश या प्रेरणा देकर जिनेश्वर के धर्म में स्थिर करना अथवा अन्य दर्शनीय या सम्प्रदायीय की ऋद्धि-समृद्धि- आडम्बर या चमत्कार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

देखकर स्वयं भी जिन शासन के प्रति अस्थिर न हो उसे अपने विचार जिन शासन में स्थिर रखने चाहियें ।

५. भक्ति– जिन प्रवचन-आगम और संघ साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध धर्म 'संघ' शासन कहलाता है । उसका विनय, वैयावच्चादि करना ही भक्ति है। संघ में मुख्य साधु अथवा साध्वी हैं। अतः अपने से ज्ञान और चारित्र में अधिक गुण वाले आए हों तब खड़े होकर सामने स्वागत के लिये जाकर मस्तक पर अंजलि करके अथवा आसन देकर उनका सत्कार करना, गुणाधिक चारित्रात्मा के आसन स्वीकार कर लेने पर स्वयं आसन ग्रहण करे, उनका बहुमान तथा उनकी उपासना करना, वंदन करना , उनके पीछे-पीछे, चलना, यों आठ प्रकार से उपचार विनय करना भक्ति है जो आठ कर्मों को नष्ट करने वाली है। इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, नवदीक्षित साधु, रुग्ण, कुल, गण, संघ, साधु, ज्ञानवान आदि संघस्थ व्यक्तियों की सेवा-वैयावच्च करना । उनको आहार, पानी, पात्र, वस्त्र, उपाश्रय, पट्टे, चौकी, आसन आदि धर्म साधन देना । उनकी औषध आदि द्वारा सेवा-भक्ति करना, कठिन मार्ग में उनके सहायक बनना । श्रावक श्राविका की सेवा भक्ति, स्वामी वात्सल्य, सहायता करना, विघ्न उपसर्ग का निवारण करना– ये सब प्रकार सेवा भक्ति के हैं। इनसे शासन की शोभा बढ़ती है। ये पांच गुण शरीर के भूषणों के समान सम्यकत्व को शोभायमान करने वाले होने से श्रेष्ठ समकित भूषण कहलाते हैं ।

पांच लक्षण-

संवेगो चिय, उवसम, निव्वेओ तह य होइ अनुकंपा ।
अत्थिक्कं चिअ एए, सम्मत्ते लक्खणा पंच ॥६३६॥

अर्थात्- १. संवेग, २. उपशम, ३. निर्वेद, ४. अनुकंपा और ५. आस्तिक्य– ये पाँच सम्यकत्व के लक्षण हैं। इसका वर्णन विस्तार पूर्वक पहले कर दिया है । वहाँ से देख लें । अव छह जयणा का वर्णन करते हैं:-

नो अन्नतित्थि ए अन्न-तित्थि देवे य तह सदेवाइं ।
गहिए कुतित्थि एहि वंदामि न वा नमंसामि ॥ ६३७॥

नेव अणा लत्तो आ लवेमि नो संलवेमि तह तेसिं ।
देमि न असणाईअं, पेसेमि न गंध पुप्फाई ॥ ६३८॥

अर्थात् :- "परिव्राजक, भिक्षुक, संन्यासी आदि अन्य दर्शनीय– उनके देव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तथा दिगम्बर आदि ने अपने देव रूप में स्वीकार की अरिहंत की अपनी प्रतिमा अथवा अन्य अनुयायी ने अपने काबू में जिन प्रतिमा की हो अथवा मंदिर आदि स्थान हो, उन सब को १. वंदन, २. नमस्कार, ३. आलाप, ४. संलाप, ५. दान और ६. प्रदान नहीं करना चाहिए। यह छह जयणा कहलाती हैं।''

उनको वंदन आदि करने से उनके भक्त अपने मार्ग में स्थिर बनते हैं और अन्य जैन समकिती वाले भी ऐसे प्रवृत्ति देखकर वैसा ही करने लग जाते हैं। इससे मिथ्यात्व का प्रभाव बढ़ता है। इसके लिए ये छह जयणा समकितधारी को सावधानी पूर्वक यतना करनी चाहिए। उसमें मस्तक नमाना या हाथ जोड़ना १. वंदन है। स्तुति गुणगान पूर्वक पंचांगादि नमस्कार करना २. नमस्कार है। सम्मान पूर्वक उनको बुलाना, बिना बुलाये उनके साथ बातें करना ३. आलाप है। बुलाने के बाद बोलना औचित्य है। उनके साथ इस तरह बारम्बार बातें करते रहना ४. संलाप है। यह आलाप-संलाप करने से परिचय बढ़ते उनकी प्रत्येक मिथ्या क्रिया देखते सुनते आदि प्रसंग पर समकित चले जाने का प्रसंग भी आ जाता है तथा उस अन्य धर्मी आदि को अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र आदि पूज्य बुद्धि से देना ५. दान है। यह उचित नहीं परन्तु अनुकम्पा बुद्धि से देना निषेध नहीं है। कहा है कि :-

सव्वेहिं पि जिणेहिं, दुज्जय जि अराग दोस मोहेहिं।
सत्ताणु कंपणट्ठा दाणं न कहिं वि पडि सिद्धं ॥१॥

अर्थात् :- दुर्जेय राग, द्वेष और मोह को जीतने वाले सभी वीतराग श्री जिनेश्वर भगवन्त ने किसी अनुकम्पा के पात्र को अनुकम्पा की बुद्धि से दान देने का निषेध नहीं किया है।

अन्य दर्शनी आदि की, उनके देव आदि की मूर्ति की तथा जिन प्रतिमा या मन्दिर की भी पूजा-भक्ति के लिए केसर, चन्दन, पुष्प आदि पूजा सामग्री वगैरा भी देना ६. प्रदान कहलाता है। आदि शब्द से उनका विनय, वैयावच्च, यात्रा, स्नान आदि भी प्रदान रूप में समझना। अन्यत्र प्रदान के स्थान पर विधर्मी धर्म गुरु आदि को बारम्बार दान करना उसे 'अनुप्रदान' कहा है। इस तरह वंदन, नमन, आलाप, संलाप, दान और प्रदान के कार्यों को छोड़ने से समकित की यतना-रक्षा होती है। समकित को निर्मल-सुरक्षित रखने के लिये समकित के आचार रूप में उसका निषेध करने से उसे समकित की जयणा (रक्षा) कही है। अब छह आगारों का वर्णन करते हैं:-

राया भिओगो, अ गणाभि ओगो, बल भिओगो अ सुरभि ओगो।
कंतार वित्ती गुरु निग्गहो अछ छिं आ, ओ जिण सासणं मि ॥६३६॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – यहाँ अभियोग शब्द का 'इच्छा के बिना जबरदस्ती' ऐसा अर्थ समझना उसमें **१. राजाभियोग**– राजा आदि के दुराग्रह जबरदस्ती पराधीनता, **२. गणाभियोग**– स्वजन सम्बन्धी या अन्य नगर जन आदि जन समूह के आग्रह– पराधीनता, **३. बलाभियोग** – हठ का उपयोग अर्थात् किसी दुराग्रही, हठी अथवा चोर, डाकू, लुटेरे आदि दुष्टों के जबरदस्ती आग्रह, **४. देवाभियोग**– कुल देवी या अन्य दुष्ट देव, देवी आदि के जबरदस्ती या शरीर प्रवेशादि के कारण, **५. कान्तार वृत्ति**– जंगल आदि में किसी प्रकार प्राणान्त कष्ट आ जाए अथवा आजीविका का निर्वाह करने की बड़ी मुसीबत आ जाय ऐसे 'विकट प्रसंग' को कान्तार वृत्ति कहते हैं अथवा प्राण के संकट के समय पर, **६. गुरु निग्रह**– गुरु वर्ग का आग्रह होने पर। इस विषय पर योगबन्धु श्लोक ११० में कहा है:–

माता पिता कलाचार्य, एतेषा ज्ञात यस्तना ।
वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गस्सतां मतः ॥१॥

अर्थात्– माता, पिता, विद्या गुरु, सगे सम्बन्धियों, वृद्ध और धर्म उपदेशक– सत्पुरुष को गुरु कहा है, इनमें से किसी का आग्रह हो उसे 'गुरु निग्रह' जानना । श्री जिन शासन में ये छह अपवाद मार्ग हैं। संक्षेप में समकिती आत्मा को उन्मार्ग मार्ग में अन्य धर्मी आदि की वंदना आदि करना निषेध है, फिर भी राजाभियोगादि छह कारणों से गौरव, भक्ति या आराधना की वृद्धि आदि के बिना केवल द्रव्य से– दिखावा रूप में वंदन आदि करना पड़े तो समकित में दोष नहीं माना जाता है। अशक्त आत्माओं से शासन की निंदा न हो इस हेतु से अपवाद सेवन करना हितकारी है । अल्प सत्व वाली आत्मा के लिये ज्ञानियों ने यह मार्ग रखा है। परन्तु शक्तिशाली को अपनी शक्ति का उपयोग कर समय पर जैन शासन की प्रभावना करनी चाहिए ।

छह भावनाओं का स्वरूप–

मूलं दारं परट्ठाणं, आहारो भायण निही ।
दुछक्कस्सावि धम्मस्स सम्मत्तं परिकित्तियं ॥ ६४०॥

अर्थात्– 'द्विषट्क' अर्थात् पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत– ये बारह व्रत रूप श्रावक धर्म का मूल, द्वार, पीठिका, आधार, भोजन और निधि रूप सम्यकत्व हैं। ऐसा भी जिनेश्वर भगवान ने कहा है। वह इस तरह है –

१. मूल – जैसे वृक्ष का मूल दृढ़ हो तो वह फल देता है वैसे ही मूल स्वरूप समकित जहाँ दृढ़ हो तो चारित्र धर्म रूपी वृक्ष उत्पन्न होकर परिणाम से मोक्ष फल देता है। जैसे मूल बिना वृक्ष नहीं टिकता है वैसे ही समकित भी चारित्र धर्म रूपी वृक्ष का मूल है, जहाँ समकित मूल में मजबूत होगा वहाँ चारित्र धर्म टिक सकेगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२. द्वार – का अर्थ दरवाजा । जैसे नगर सुन्दर हो और चारों तरफ किला मजबूत हो, परन्तु दरवाजा न हो तो नगर में जाने-आने अथवा जानने-देखने का कार्य नहीं हो सकता वैसे ही धर्मरूपी नगर में भी सम्यकत्व प्रवेश द्वार है । उसके बिना धर्म नगरी में प्रवेश नहीं कर सकता तथा धर्म का सत्य स्वरूप भी नहीं जान सकता है। अतः समकित ही धर्म नगर का प्रवेश द्वार है ।

३. पीठिका – नींव, जैसे जमीन में गड्ढा खोदकर मजबूती से भर दिया जाय तो महल सुरक्षित- स्थिर रहता है, उसके बिना वह टिक नहीं सकता वैसे ही समकित रूपी नींव बिना, धर्म रूपी महल भी निश्चल-स्थिर नहीं बन सकता । इसलिए 'समकित' धर्म रूपी महल का मजबूत पाया है ।

४. आधार – जैसे जगत् पृथ्वी बिना निराधार नहीं रह सकता वैसे ही धर्म रूपी जगत् भी समकित बिना निराधार नहीं रह सकता। इसलिए समकित धर्म जगत् का आधार है ।

५. भाजन- जैसे पात्र के बिना दूध, घी आदि रसदार वस्तु नष्ट होती हैं, वैसे ही समकित रूप भोजन के बिना धर्म रस भी नष्ट होता है, उसका स्वाद भी नहीं ले सकते । इसलिए 'समकित धर्मरस का भाजन (पात्र) है। उस पात्र में ही धर्म टिक सकता है ।

६. निधि- भंडार, जैसे महामूल्यवान् मणि, मोती, रत्न, सुवर्ण आदि वस्तु तिजोरी या भंडार बिना सुरक्षित नहीं रह सकते, चोरी हो सकते हैं वैसे ही समकित रूपी भंडार बिना चारित्र रत्न (धर्म) सुरक्षित नहीं रहता, मोह राजा के लुटेरे उसे लूट लेते हैं। इसलिए समकित धर्म रूपी ज्ञानादि रत्नों का निधि-खजाना है।

इन छह प्रकार की समकित की भावना से उसकी महिमा का चिन्तन-मनन करने से उस आत्मा का जल्दी से जल्दी मोक्ष साधन बनता है अतः इसे समकित की भावना कहा है। अब छह स्थान कहते हैं –

अत्थि अ निच्चो कुणई, कयं च वेएइ अत्थि निव्वाणं ।
अत्थि अ मुक्खोवाओ, छ सम्मत्तस्स ठाणाइं ।।६४१।।

अर्थात्- १- आत्मा है, २- नित्य है, ३-कर्त्ता है, ४- भोक्ता है, ५-उसका मोक्ष हो सकता है और ६- मोक्ष के उपाय भी हैं। यह मानना वे सम्यक्त्व के छह स्थान हैं। उसमें :-

१. आत्मा है- नास्तिक आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते । वे पृथ्वी पानी, अग्नि, वायु और आकाश- इन पांच भूतों के समूह को चैतन्य स्वरूप मानते हैं ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इससे आत्मा को अलग नहीं मानते हैं । इस मान्यता से वह असत्य सिद्ध होता है। आत्मा सत्रूप में ही है। जीवात्मा को स्मरण, इच्छा आदि होती है– वह पांच भूत समूह मुरदे में नहीं होती । वह चेतना–ज्ञान रूप आत्मा है और सर्व को अनुभव सिद्ध है। ऐसा नियम है कि गुण गुणी बिना नहीं रह सकते, इससे यदि स्मृति इच्छा आदि से चेतना गुण आत्मा सिद्ध होता है तो उसका आधारभूत गुणी आत्मा भी सिद्ध ही है। गुण गुणी बिना नहीं होता। गुणी नहीं है तो गुण किसको हो सकता है ? इसलिए गुण प्रत्यक्ष है तो गुणों का आधार आत्मा भी प्रत्यक्ष है ही । उसे ही मानना चाहिए।

२. आत्मा नित्य है – आत्मा की उत्पत्ति या नाश नहीं होता है । वह नित्य पदार्थ रूप है उसका किसी काल में सर्वथा अभाव–नाश नहीं होता। द्रव्य गुण पर्याय रूप से भी आत्मा सत्पदार्थ है, इससे वह नित्य–शाश्वता है । ज्ञानादि गुणों को धारण करने वाला होने से गुणी है । वे ज्ञानादि गुण भी उसके सहभावी धर्मवाला होने से शाश्वत हैं। गुण गुणी परस्पर सापेक्ष होने से एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते हैं। इसलिए गुणी आत्मा द्रव्य रूप से नित्य है और उसके ज्ञानादि गुण भी सहभावी धर्म रूप में हमेशा साथ में रहने से गुण रूप में नित्य हैं । इस तरह दोनों नित्य शाश्वत तत्त्व हैं। इसके अतिरिक्त केवल पदार्थ मात्र का पर्याय परिवर्तन होता है। इस पदार्थ के धर्म क्रमशः उत्पत्ति–नाश स्वभाव वाले होते हैं, वह एक के बाद एक क्रमशः परिवर्तित होता है अर्थात् एक का नाश होता है तब दूसरे की उत्पत्ति होती है। इस तरह से पदार्थ के पर्याय अनित्य हैं। आत्म पदार्थ की भी पर्याय अनित्य होने से आत्मा द्रव्य तथा गुण से नित्य है और पर्याय से अनित्य है। आत्मा का स्वरूप इस तरह नित्यानित्य होने पर भी, बौद्ध आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने पर भी उसे एकान्त क्षणिक ही मानता है । यह कथन सत्य नहीं है । यदि आत्मा को क्षण विनश्वर ही मान लें तो बंध और मोक्ष– ये दो अवस्था आत्मा में घट नहीं सकतीं क्योंकि बौद्ध के मतानुसार जब कर्म बन्धन होता है उस क्षण में ही उस आत्मा का नाश होता है और दूसरे क्षण में दूसरा आत्मा उत्पन्न होता है, कर्म बंध करने वालों का नाश हुआ तो आत्मा का मोक्ष कैसे हो सकता है ? अर्थात् आत्मा को क्षणिक मानने से क्रमशः होने वाले बंध–मोक्ष आदि विविध पर्याय एक आत्मा में घट नहीं सकते, उलटा ऐसा मानने से तो कभी बंधन अन्य का होगा और मोक्ष अन्य आत्मा का होगा। ऐसा उलटा मानना पड़ेगा जैसे भोजन अन्य करेगा और तृप्ति अन्य की होगी, अनुभव करने वाला अन्य और स्मरण करने वाला कोई अन्य होगा, दवा कोई खायेगा और आराम किसी को होगा इत्यादि विविध विलक्षणतायें खड़ी हो जायेंगी । वह किसी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तरह युक्त नहीं है। इसलिए जैसे सुवर्ण वस्तु रूप तथा उसका वर्ण आदि गुण कायम रहता है – उसके कड़ा, कंठी, अंगूठी आदि अलग-अलग आभूषण के आकार बदलते हैं वैसे ही आत्म तत्त्व नित्य रहता है, उसके चार गति चौरासी लाख जीव योनि रूप शरीर अलग-अलग पर्याय बदलते रहते हैं। आत्मा नित्य है और उसकी अवस्थाएँ, जिसे पर्याय कहते हैं, वे बदलते हैं। इससे अनुसार आत्मा भी द्रव्य और गुण से नित्य हैं, केवल उसकी अवस्था अनित्य है। ऐसा मानना ही सत्य-योग्य है।

३. आत्मा कर्त्ता है – मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि कर्म बंधन के कारण से युक्त आत्मा स्वयं ही कर्मों का बन्धन करता है। इस कथन से विपरीत आत्मा कुछ भी नहीं करता– ऐसा मानने वाले कपिल का सांख्य मत असत्य सिद्ध होता है क्योंकि जगत् में प्रत्येक जीव विविध प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव करते हैं– वह प्रत्यक्ष है। इस सुख दुःख का कारण शुभ अशुभ कर्म हैं। इस कारण के बिना सुख दुःख नहीं होता। यदि कर्म के कारण बिना भी होता हो तो हमेशा एक समान ही सुख या दुःख होना चाहिए और वह भी एक सदृश ही रहना चाहिए, उसमें कमी अधिक आदि भी नहीं होना चाहिए। परन्तु वह ऐसा नहीं दिखता, नाना प्रकार की तारतम्यता दिखती है। इसलिए उसकी उत्पत्ति, नाश अथवा विचित्रता आदि में कोई कारण है ही, यह कारण ही आत्मा के लिए कर्मों का फल है। इस तरह आत्मा विविध नयों से कर्म का कर्त्ता है, यह बात स्पष्ट सिद्ध है।

४. आत्मा भोक्ता है- ''सत्वं एए सतया भुज्जइ कम्माणु भाव तो भइयं'' अर्थात् 'सारा कर्म प्रदेशों द्वारा भोगा जाता है, रस द्वारा वह भोगा भी जाता है परन्तु न भोगा जाता है वह विकल्प है।' आगम के इस वचन से भी जीव भोक्ता है– यह निश्चय होता है और जो जीव को अभोगी ही मानता है उसका मत असत्य है। क्योंकि अनुभव से, लोक व्यवहार से और आगम वचन अनुसार भी सिद्ध है कि स्वयं किए शुभाशुभ कर्मों का फल जीव भोगता है। यदि स्वयं बंधन किए सुख-दुःख के कारणभूत शाता वेदनीय आदि शुभाशुभ कर्मों को आत्मा स्वयं नहीं भोगता तो आकाशादि जड़ को जैसे सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता वैसे ही जीव को भी नहीं होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। प्रत्येक जीव को अपने सुख-दुःख का स्पष्ट अनुभव होता है। इससे 'आत्मा भोक्ता है' यह कथन अनुभव सिद्ध है। लेकिन मान्यता से भी जीव किए कर्मों का फल भोगता है, यह बात सिद्ध है क्योंकि सुखी पुण्यवान को देखकर लोग स्पष्ट कहते हैं 'यह पुण्यवान है कि जिससे ऐसा सुख भोग रहा है।' इसके अतिरिक्त जैन आगम के समान अन्य शास्त्रों में भी कहा है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म, कोटि कल्प शतैरपि ।' अर्थात् 'सैंकड़ों, करोड़ों कल्प जितने लम्बे काल में भी किया हुआ कर्म भोगे बिना क्षय नहीं होता है ।' यह बौद्ध शास्त्र में कहा है। इस तरह अनुभव, लोक व्यवहार और सिद्धान्त तीनों प्रकार से जीव कर्म का भोक्ता है।

५. आत्मा का मोक्ष है- अर्थात् जीव के राग, द्वेष, मद, मोह आदि का और उसके फल स्वरूप जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि दु:खों का आत्यंतिक क्षय होता है, वही उसका मोक्ष है। इस वचन से 'जैसे दीपक बुझ जाने के बाद कुछ भी नहीं रहता, वैसे ही आत्मा के निर्वाण बाद कुछ भी नहीं रहता।' ऐसा निर्वाण-मोक्ष स्वरूप मानने वाले बुद्ध के अनुयायियों का मत भी असत्य होता है। मोक्ष-निर्वाण की व्याख्या बौद्ध शास्त्र में इस तरह है:-

'दीपो यथा निर्वृतिभ्युपेतो, नैवघनीं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित् स्नेह क्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥

अर्थात् 'जैसे तेल खत्म हो जाने से बुझा हुआ दीपक पाताल, आकाश में, किसी दिशा-विदिशा में कहीं नहीं जाता है, केवल शान्त हो जाता है वैसे ही जीव का निर्वाण होने से जीव भी बुझ गये दीपक जैसा शांत होता है ।'

यह उनका मन्तव्य असत्य है, क्योंकि ऐसा मानने से दीक्षा-धर्म आदि जो आत्मा के सुख के लिए करणीय बतलाया है, वह व्यर्थ जायेगा । दीपक का दृष्टांत भी जीव के मोक्ष के साथ में घटता नहीं है। असलियत में जैन सिद्धान्त मानते हैं कि जैसे शान्त हुआ दीपक तेज को छोड़कर अंधकार रूप रूपान्तर को प्राप्त करता है वैसे ही आत्मा भी कर्म रूपी तेल का क्षय होने से शान्त होता है अर्थात् सर्वथा नाश नहीं होता परन्तु अपनी अरूपी शुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है। वस्तुत: दु:खादि के क्षय रूप आत्मा की कर्म मुक्त-सद्-अक्षय-नित्य-अरूपी अवस्था ही मोक्ष है। जैसे रोग शान्त होने से आरोग्यता प्रगट होती है, रोगी का नाश नहीं होता, बंधन से छूट जाने से कैदी मुक्त होता है, उसका अभाव नहीं होता, वैसे ही आत्मा की भी उसके राग, द्वेष, मद, मोह आदि रोगों का नाश होने से आरोग्यता प्रगट होती है और कर्मों के बन्धनों से मुक्त होता है, परन्तु स्वयं आत्मा का नाश नहीं होता । वस्तुत: आत्मा की सम्पूर्ण आरोग्यता ही मोक्ष कहलाता है। इस विषय में विशेष वर्णन अन्य ग्रन्थों से जान लेना ।

६. मोक्ष का उपाय है- मिथ्यात्व, अज्ञान और हिंसादि रूप अविरति आदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर्मों के बन्धन में भूल भूत कारण है और उसके प्रतिपक्ष रूप में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र कर्म मुक्ति के कारण हैं। इनका सतत् अभ्यास-सेवन सकल कर्मों का नाश कर सकता है। जैसे ठंडी का प्रतिपक्षी अग्नि है इसलिए ठंडी का प्रतिकार अग्नि से होता है, वैसे ही मिथ्यात्व का प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन है, अज्ञान का प्रतिपक्षी सम्यग्ज्ञान है और हिंसादि सकल असत् प्रवृत्ति का प्रतिपक्षी सम्यकचरित्र है। जैसे-जैसे इन सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप साधनों का अभ्यास बढ़ता जायेगा वैसे-वैसे ही मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति का मूल में से नाश भी होता जोगा, उसके अभाव में कर्म बंधन रुक जायेगा और परिणाम से मोक्ष भी हो जाता है। इसलिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र मोक्ष का उपाय ही है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र अन्य धर्म के पालन करने वालों में भी होता है, फिर भी वह असत् और हिंसा आदि दोष वाला होने से मोक्ष का साधक नहीं बनता इत्यादि विशेष जानकारी गुरुगम से जाने। यहां जो सम्यग्दर्शनादि तीन मोक्ष के उपाय कहे हैं, वह तीनों साथ में मिलकर मोक्ष करा सकते हैं। अकेला दर्शन, ज्ञान या चारित्र प्राप्त नहीं करा सकता। तीनों में श्रद्धा प्राणरूप है, ज्ञान नेत्र रूप है और चारित्र हाथ पैर आदि अवयव-अंगरूप है। ये तीनों जहाँ हों वहाँ इच्छित मोक्ष सुख प्राप्त हो सकता है। इसलिए मोक्ष के उपाय नहीं हैं, ऐसा कहने वाला असत्यवादी कहलाता है।

समकित के ये छह स्थानक अच्छी तरह से समझने एवं चिन्तन मनन करने आवश्यक हैं क्योंकि ये छह प्रकार की मान्यताएँ जिसमें शुद्ध हों उसी जीव में ही सम्यकत्व रहता है और इससे ही इन छह को सम्यकत्व के स्थान कहा गया है। इस तरह सम्यकत्व के छह भेद पूर्ण हुए। उसमें कई ज्ञान रूप, कई श्रद्धा रूप तथा कई क्रिया रूप हैं। इसलिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप में वे सारे सम्यकत्व के उपयोगी-उपकारक हैं, ऐसा जानना। अर्थात् देवादि तच्चों में श्रद्धा के बिना केवल तथाविध कुलाचार आदि कारण से श्रावक रूप आचार को पालने में द्रव्य श्रावक ही है। भाव श्रावक तो पूर्व कहे अनुसार गुरु महाराज के पास में विधि सम्यकत्व आदि अंगीकार करने वाला और हमेशा धर्म सुनने वाला हो वही हो सकता है। आवश्यक वृत्ति में कहा है कि-

योह्याभ्युपेत सम्यकत्वो, यतिभ्यः प्रत्यहं कथाम्।
शृणोति धर्म सम्बद्धामसौ श्रावक उच्यते ॥१५५६॥

अर्थात्- जिसने समकित अंगीकार किया हो, जो हमेशा साधुओं के मुख से धर्म कथा को सुनता हो और समकित के साथ मेंअणुव्रत उच्चरे (स्वीकार किए)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हों, वह श्रावक कहलाता है अर्थात् जो सम्यकत्व वाला, व्रतधारी और धर्म श्रवण करने वाला हो वही भाव श्रावक कहलाता है ।

धर्म में भाव की मुख्यता होने से यहाँ भाव श्रावक का ही अधिकार समझाते हैं । भाव श्रावक के भी दर्शन श्रावक, मूलगुण श्रावक और उत्तर गुण श्रावक इस तरह तीन प्रकार के होते हैं जिनका वर्णन व्रती के विभाग प्रसंग पर कहेंगे। आगम में अन्य रूप में भी श्रावक के भेद सुने जाते हैं । स्थानांक सूत्र अध्ययन ४, उद्देश ३, सूत्र ३२१ में कहा है कि:-

''चउव्विहा समणो वासगा पण्णत्ता, तंजहा-अम्मापिइ समाणे, भाइ समाणे, मित्र समाणे, सवत्तिमाणे, अहवा चउव्विहा समणो वासगा पण्णत्ता तंजहा आयंस समाणे पडाग समाणे, खाणु समाणे, खरंट (खरकंटय) समाणे।''

अर्थात्-' श्रावक चार प्रकार के होते हैं- १. माता-पिता के समान, २. भाई समान, ३. मित्र समान और ४. सौत समान अथवा अन्य चार प्रकार के भी होते हैं- १. आदर्श-शीश के समान, २. ध्वजा समान, ३. स्तंभ समान और ४. खर कंटक (चिपटने या पीछे पड़ जाने) के सामान ।

ये आठ भेद गुरु महाराज के साथ आचरण के उद्देश्य से उपर्युक्त ' भाव श्रावक से वह भिन्न है ' ऐसी अल्प मात्र भी शंका नहीं करना। क्योंकि इन भेदों का भी जब नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव - इन चार निक्षेपों से विचार किया जाता है, तब उनमें भाव निक्षेप घटता है । इससे व्यवहार नय उन आठों को भाव श्रावक मानता है। क्योंकि व्यवहार नय श्रावक शब्द की व्युत्पत्ति मात्र जिसमें घटती हो उसे भी श्रावक मानता है। निश्चय नय सौत समान और खरकंटक (कलंकित करने वाला) समान- इन दोनों को द्रव्य श्रावक और शेष छह को भाव श्रावक मानता है। इस तरह 'द्रव्य श्रावक और भाव श्रावक' मानने में उनका आत्म स्वरूप कारणभूत है। इसका स्वरूप आगम अनुसार इस प्रकार कहा है। उसमें प्रथम गुरु के प्रति पूज्य भाव की तारतम्यता के योग से चार भेदों का स्वरूप कहते हैं-

चिंतिज्जइ कज्जाइं, न दिट्ठ खलि ओवि होइ निन्नेहो ।
एगंत वच्छलो जइ जणस्स जणणी समो सड्ढो ॥१॥

अर्थात्- साधु मुनि के प्रति एकान्त वात्सल्य रखने वाला, इससे उनकी प्रत्येक प्रकार की चिन्ता करने वाला तथा साधुओं में दूषण दिखते हों तो स्नेह भाव से कहने वाला - समझाने वाला और वह ठीक हो जाने के बाद जरा भी स्नेह भाव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

न तोड़े तो वह श्रावक साधु के माता-पिता समान है ।

हिअए ससिणेहो च्चिअ, मुणीण मंदायरो विणय कम्मे ।
भाइ समो साहूणं, पराभवे होइ सु सहाओ ॥२॥

अर्थात् - हृदय में साधु के प्रति स्नेह वाला हो, परन्तु विनयादि करने में आदर कम हो फिर भी साधु जीवन में कोई संकट आ जाये तो सम्पूर्ण सहायता करे, उसे साधु के भाई समान जानना ।

मित्त समाणो माणा, ईसि रूसइ अपुच्छिओ कज्जे ।
मन्नंतो अप्पाणं, मुणीण सयणाउ अब्यहिअ ॥३॥

अर्थात् - मुनियों को अपने स्वजन से भी अधिक माने, इससे किसी कार्य में साधु उसकी सलाह न ले तो मान के कारण नाराज हो जाय, उस श्रावक को मित्र के समान समझना ।

थद्धो छिद्दप्पे ही, पमाय खलियाणि निच्चमुच्चरइ ।
सड्ढा सवत्ति कप्पो, साहूजणं तृण समं गणइ ॥४॥

अर्थात् - ''स्वयं अभिमानी, साधु के दूषणों को शोधने वाला, हमेशा साधु की प्रमाद जन्य भूलों की निंदा करने वाला और साधुओं को तृण समान समझने वाले श्रावक को सौत तुल्य जानना।''

अब गुरु वचन- आज्ञा के प्रति बहुमान में तारतम्यता की अपेक्षा से श्रावक के अन्य चार भेदों का स्वरूप कहते हैं:-

गुरु भणिओ सुतत्थो, बिंबिज्जइ अवि तहो मणे जस्स ।
सो आयं ससमाणो, सुसावओ वन्निओ समए ॥५॥

अर्थात्- 'दर्पण में जैसे प्रतिबिम्ब पड़ता है वैसे ही गुरु महाराज के कहे सूत्र-अर्थ जिसके हृदय में यथार्थ रूप में परिणाम स्वरूप जागृत हो जायँ, उसे सिद्धान्त में दर्पण के समान उत्तम श्रावक कहा है।'

पवणेण पडागा इव, भामिज्जइ जो जणेण मूढेणं ।
अ विणिच्छि अ गुरु वयणो, सो होइ पडाइआ तुल्लो ॥६॥

अर्थात् - 'गुरु वचन को सुनकर तत्त्व का निश्चय नहीं करता हो और जैसे वायु से ध्वजा भ्रमण करती है वैसे ही मूढ़ पुरुषों के द्वारा बहकाने, से भ्रम में डालने से, व्यर्थ ही इधर उधर घूम जाता हो उस श्रावक को ध्वजा के समान समझना ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पडिवन्नमसग्गहो, न मुणइ गीअत्थ समणु सिट्ठो वि ।
खाणु समाणो एसो, अप ओसी मुणि जणे नबरं ॥७॥

अर्थात् - 'गीतार्थ गुरु के समझाने पर भी नहीं समझे और असत्य में आग्रह रखे – ऐसा श्रावक स्तंभ समान कहलाता है। केवल वह मुनियों के प्रति द्वेषी नहीं होता है।'

उम्मग देसओ णिण्हवोऽसि, मिढोऽसि मन्द धम्मोऽसि ।
इअ सम्मं पि कहंतं, खरंटए सो खरंट समो ॥८॥

जह सिढिल मसुइ दव्वं छुप्पंतं पिहु नरं खरं टेइ ।
एव मणु सासगं पिहु, दूसं तो भन्नइ खरंटो ॥९॥

अर्थात्- 'शुद्ध सत्य धर्म कहने वाले गुरु को भी 'तू झूठा अधर्म का मार्ग बताने वाला है, निह्नव-शास्त्र का द्रोही है, मूढ़ात्मा है, शिथिलाचारी है' इत्यादि हृदय वेधक कठोर- काँटे के समान वचन कहने वाले श्रावक को खरकंटक समान समझना अथवा जैसे नरम विष्ठा आदि अशुचि पदार्थ स्पर्श करने वाले को लिपट जाता है वैसे ही हित की शिक्षा देने वाले उपकारी को भी दूषण देकर बदनाम करे उसे खरकंटक समान जानना।'

इस तरह निश्चय नय के मतानुसार सौत समान और खरंट समान- ये दोनों मिथ्या-दृष्टि होते हैं और व्यवहार नय से तो वे भी श्री जिन मंदिर जिन मूर्ति आदि की सेवा, पूजा, भक्ति आदि करने वाले और सामायिक आदि श्रावक के आचारों को पालन करने वाले होने से श्रावक कहलाते हैं। यहाँ भाव श्रावक के धर्म का वर्णन चल रहा है, इससे उसके लक्षण कहने चाहिएं। अतः पूर्वाचार्यों के कहे अनुसार यहाँ धर्म रत्न प्रकरण ग्रन्थ के आधार पर लक्षण कह रहे हैं:-

कय वय कम्मो तह सीलवं च गुणवंच उज्जु ववहारी ।
गुरु सुस्सूसो पवयन कुसलो खलु सावगो भावे ॥३३॥

अर्थात् - १. कृतव्रत कर्मा, २. शीलवान, ३. गुणवान, ४. ऋजु व्यवहारी, ५ गुरु शुश्रूषक और ६ प्रवचन कुशल- इस तरह भाव श्रावक के मुख्य छह लक्षण हैं। उनके अन्तर भेद पूर्वक उनका स्वरूप वर्णन करते हैं। प्रथम **कृतव्रत कर्मा** अर्थात् 'व्रतधारी' के चार गुण हैं, वह कहते हैं:-

तत्था यन्नण जणाण गिण्हण पडि सेवणेसु उज्जुत्तो ।
कय वय कम्मो चउहा, भावत्था तस्स इमो होई ॥३४॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - 'कृतव्रत कर्मा के धारण वाले के चार गुण होते हैं- **१. धर्म सुनने में उद्यमी**- सम्यकत्व व्रत आदि जो गुण अंगीकार किए हो अथवा करने हो, उनका वर्णन विनय-बहुमान पूर्वक हमेशा गीतार्थ गुरु के पास में सुनने वाला, **२. जानकार** – सुने हुये उस व्रत आदि के भेद, प्रभेद, अतिचार आदि का अच्छी तरह से जानकार हो, **३. व्रत ग्रहण करने वाला** - समझे हुए उस व्रत आदि को विधि पूर्वक देव, गुरु आदि की साक्षी में यावत्जीवन या अमुक काल के लिए स्वीकार करने वाला और **४. पालन करने वाला**- रोगादि आतंक अथवा देवादि उपसर्ग में भी सत्व से चलित न होते हुए स्थिरता पूर्वक अंगीकार किए व्रत आदि को सम्पूर्ण रूप में पालन करने वाला। ये चार गुण प्रथम व्रतधारी के लक्षण जानना।'

अब **२. शीलवान**- 'सदाचारी' भाव श्रावक के दूसरे लक्षण के छह भेद हैं। वे इस प्रकार हैं:-

आयायणं खु निसेवइ वज्जइ परगेह पवि सणम कज्जे ।
निच्च मणुब्भड वेसो न भणइ सवि आख यणाइं ॥३७॥

परि हरइ बाल कीलं साहइ कज्जाइँ महुर नीईए ।
इअ छव्विह सील जुओ, विन्ने ओ सीलवंतोऽत्थ ॥३८॥

अर्थात् - **१. आयतन सेवी**- आयतन अर्थात् धर्मी के मिलन स्थान को कहते हैं, वह बताते हैं **''जत्थ साहम्मिआ बहवे, सीलवंता बहुस्सुआ। चरित्तायार संपन्ना, आययणं तं विआणाहि ॥१॥''** अर्थात् जहाँ शीलवान सदाचारी बहुश्रुत-ज्ञानी पुरुष और देश विरति आदि चारित्र पालन करने वाले बहुत साधर्मिक बन्धु एकत्रित होते हों- ऐसा उपाश्रय, पौषधशाला, सामायिक शाला आदि धर्म स्थान 'आयतन' कहलाता है । ऐसे आयतन में ज्यादा समय व्यतीत करने वाला और धर्म की हानि होती हो ऐसे अनायन को छोड़कर जहाँ श्रेष्ठ साधर्मिकों का योग मिले वहाँ बहुत समय रहने वाला हो, **२. कारण बिना पर घर में नहीं जाता**-सदाचारी को कारण बिना किसी के घर नहीं जाना चाहिए । यह सुदर्शन सेठ के समान कलंक का कारण एवं लघुता करने वाला है। ऐसा समझकर बिना कारण जहाँ तहाँ नहीं फिरने वाला। **३. उद्भूत वेष रहित**-धर्मी आत्मा शान्त प्रकृति वाला होता है, इसलिए उसे उद्भूत वेश धारण करना शोभा नहीं देता। ऐसा समझ कर देशाचार, कुलाचार के अनुसार अपने वैभव के अनुकूल शोभने वाला सादा वेश पहनने वाला । **४. असभ्य वचन नहीं बोलने वाला**- विकारी वचन प्राय: कर काम विकार आदि को उत्पन्न करने वाला है इसलिए असभ्य, तुच्छ विकार जनक बातें, गाली-गलोच शब्द का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उच्चारण नहीं बोलने वाला। **५. बाल क्रीड़ा नहीं करने वाला**- जुआ आदि व्यसन बाल-अज्ञान क्रीड़ा है। वह आत्मा को शोभा दायक नहीं है। अनर्थ दंड का कारणभूत है। इसलिए ऐसी प्रवृत्ति नहीं करने वाला। **६. मधुर वचन से कार्य करने वाला**- शुद्ध धर्मी आत्मा कठोर भाषा का उपयोग नहीं करते, यह धर्म में कलंक रूप है। इसलिए अपने छोटे से छोटे नौकर आदि से भी मीठे शब्दों से काम कराने वाला होता है। इस तरह छह भेद शीलवान, भाव श्रावक के लक्षण जानना।

३. गुणवान अर्थात 'गुणी' भाव श्रावक, यह तीसरा लक्षण है। इसके पाँच भेद हैं। वह इस प्रकार हैं:-

जइ वि गुणा बहु रूवा, तह वि हुं पचंहि गुणेहि गुणवंतो।
इह मुणिवरेहि भणिओ, सरूप मोसं निसामेहि ॥४२॥

सज्झाए करणं मि अ, विणयंमि अ निच्चमेव उज्जुत्तो।
सव्वत्थऽणभिनिवेसो, वहइ रूइं सुट्ठु जिण वयणे ॥४३॥

अर्थात् - यद्यपि गुणवान् के गुण बहुत हैं, फिर भी यहाँ पूर्वाचार्यों ने इन पाँच गुणों वाले को गुणवान कहा है- **१. स्वाध्याय में उद्यमी**- वैराग्य के कारणभूत वाचना-पृच्छना आदि पांच प्रकार के स्वाध्याय में लगातार पठन पाठनादि करने वाला, प्रमाद सेवन नहीं करने वाला। **२. क्रिया में उद्यमी**- तप नियम, वंदन आदि श्रावक की करणी में आदर पूर्वक उद्यम करने वाला। **३. विनय में उद्यमी**- गुणवान या गुरुजन आदि आएँ तब खड़ा होना, सामने जाना, आसन देना, सेवा करना, पहुँचाने जाना इत्यादि अनेक प्रकार से विनय करने वाला विनीत होता है। **४. सर्वत्र अनभिनिवेश**- सर्व कार्यों में दुराग्रह बिना, सत्य वस्तु को समझने वाला, असत्य छोड़ने वाला एवं सत्य का ग्राहक और **५. जिन वचन की रुचि वाला**- जिन वचन का श्रवण करने में रुचि वाला, श्रद्धालु। 'धर्म श्रवण बिना समकित रत्न निर्मल नहीं होता।' ऐसा समझकर हमेशा धर्म श्रवण करने वाला। इस तरह तीसरे गुणवान के लक्षण जानना।

४. 'ऋजु व्यवहारी' लक्षण के चार भेद हैं। वे इस प्रकार हैं:-

उजु ववहारो चउहा, जहत्थभणणं अवंचिगा किरिया।
हुंतावाय पगासण, मित्ती भावो अ सब्भावा ॥४७॥

अर्थात् - **१. यथार्थ बोलने वाला** – कपट रहित एवं विसंवादी नहीं बोलने वाला अर्थात् सरल सत्यवादी। **२. अवंचक क्रिया वाला**- दूसरे को ठगने के या

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दिखाने को उद्देश्य से मन, वचन, क्रिया की झूठी प्रवृत्ति नहीं करने वाला। **३. भाविअ पाप कथक**- 'हे पुण्य शाली! चोरी जुआ आदि पाप कार्य इस लोक और परलोक में दु:ख के कारण भूत हैं, उन्हें छोड़ने में सुख है।' इत्यादि वचनों द्वारा योग्य जीवों को भावी आपत्तियाँ समझाकर पाप प्रवृत्ति से बचाने वाला। **४. निष्कपट मैत्री वाला**- योग्य जीवों के साथ में नि:स्वार्थ भाव से मैत्री करने वाला। असत्य बोलना इत्यादि माया-कपट करने वाला अधिकत: अन्य को भी मिथ्यात्व की बुद्धि करता है और इससे स्व-पर संसार बढ़ाता है, इसलिए भाव श्रावक इन चारों से शुद्ध आचरण करने वाला होता है।

५. गुरु शुश्रूषक – गुरु देव की सेवा करने वाले भाव श्रावक के लक्षण भी चार भेद हैं। वे इस प्रकार हैं:-

सेवाइ कारणेण य, संपायण भावओ गुरु जणस्य।
सुस्सूसणं कुणंतो, गुरु सुस्सूसो हवइ चउहा ॥४६॥

अर्थात्- **१. सेवा कारी**– गुरु के ज्ञान-ध्यान में विघ्न न हो इस तरह उनकी इच्छानुसार अनुकूल बनकर स्वयं सेवा करने वाला, **२. सेवाकारक**– गुरु के उपकारी गुणों की प्रशंसा द्वारा जीवों में भी गुरु के प्रति बहुमान पैदा करके उनके द्वारा गुरु की सेवा करने वाला, **३. औषधादि मिलाकर देने वाला** - स्वयं अथवा दूसरों के द्वारा गुरु महाराज को जिस-जिस वस्तु का प्रयोजन हो वह आहार, औषधादि प्राप्त करके देने वाला और **४. इच्छानुसार आचरण करने वाला** – हमेशा गुरू का बहुमान करने वाला और उनकी इच्छानुसार आचरण करने वाला होता है। ये चार प्रकार पांचवे लक्षण के कहे हैं। यद्यपि सामान्यत: माता, पिता, विद्या गुरु आदि को भी गुरु कहा है, फिर भी यहाँ अधिकार धर्म गुरु का होने से श्री आचार्य भगवन्त आदि धर्म गुरु की इस तरह सेवा करने वाला समझना।

६. प्रवचनकुशल- अर्थात् सिद्धान्त समझने में कुशल। इस लक्षण के छह भेद हैं। वह इस प्रकार हैं:-

सुत्ते अत्थे अ तहा उसग्ग ववाय भाव ववहारे।
जो कुसलत्तं पत्तो, पवयण कुसलो तओ छद्धा ॥५२॥

अर्थात् - सूत्र अर्थ आदि छह विषयों में कुशल भाव श्रावक को प्रवचन कुशल कहा है। उसमें **१. सूत्र कुशल**- जिस काल में श्रावक के उचित जो मूल सूत्र आदि पढ़ने का अधिकार हो उस सूत्रादि को गुरु महाराज के पास में विधिपूर्वक पढ़ा हो, **२. अर्थ कुशल**- संवेगी गीतार्थ गुरु के पास में सूत्रों के अर्थ की व्याख्या

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सुनकर अर्थ के ज्ञान में निपुण बना हो, **३-४. उत्सर्ग अपवाद में कुशल**- यहां अर्थात् सर्व सामान्य मुख्य मार्ग और अपवाद अर्थात् तथाविध द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव, पुरुषादि के उद्देश्य कारणिक मार्ग – इन दोनों मार्गों में प्रवीण, इस तरह उत्सर्ग-अपवाद मार्ग का सेवन करते हुए भी अपने दानादि धर्म या व्रतादि का पालन करे। जैसे कि उत्सर्ग मार्ग में साधु को निर्दोष आहर आदि देने में श्रावक को बहुत लाभ कहा है इसलिए साधु को निर्दोष आहार देना चाहिए, परन्तु बीमारी आदि हो, आहार आदि नहीं मिलता हो तब साधु को आधा कमी आदि दोषित भी आहार लेने का विधान है, ऐसा जानकार होने से ऐसे समय पर दोषित आहार आदि भी देना चाहिए। उस समय ऐसा विचार न करना कि दोषित आहार कैसे दे सकता हूँ ? इत्यादि। **५. भाव कुशल**- विधिपूर्वक धर्म-अनुष्ठान करने में कुशल, विधि का जानकार, स्वयं विधि करने में आदर वाला, अन्य विधि पूर्वक करने वाले का बहुमान करन वाला एवं स्वयं सामग्री के अभाव में न कर सके तो भी विधि पूर्वक करने के मनोरथों को सेवन करने वाला। इस तरह विधि-जिनाज्ञा के पक्षपाती को भाव कुशल जानना। **६. व्यवहार कुशल**- गीतार्थ के प्रारंभ किये धर्म व्यवहार में कुशल अर्थात् देश कालादि की अपेक्षा से लाभ हानि आदि गुरु लाघवता को समझने वाला होता है, ऐसा कुशल श्रावक गीतार्थो के चलाए आत्म हितकर व्यवहार का लोप (नाश) नहीं करता है।

एसो पवयण कुसुलो, छब्भेओ वरेहिं निद्दिट्ठो ।
किरिया गयाइं छच्चिय लिंगाइं भावसड्ढस्स ॥५५॥

अर्थात्- 'जो इन छह प्रकार से क्रिया में प्रवीण हो उसे ज्ञानियों ने प्रवचन कुशल कहा है अर्थात् भा श्रावक के ये छह लक्षण क्रियागत जानना।' अब भाव के-अध्यवसाय के उद्देश्य का लक्षण कहते हैं:-

भावगयाइं सत्तरस मुणिणो एअस्स विंति लिंगाइं ।
जाणिअ जिणमय सारा, पुव्वायरिआ जओ आहु ॥५६॥

इत्थि दि अत्थ संसार विसय आरंभ गेह दंसण ओ ।
गउरि गाइपवाहे, पुरस्सरं आगम पवित्ती ॥५६॥

दाणाई जहासत्ती पवत्तणं विहि अरत्तदुट्ठे अ ।
मज्झत्थ मसं बद्धो परत्थ कामोव भोगी य ॥५७॥

वेसा इव गिहवास पालइ पयसत्तर सनिषद्धं तु ।
भाव गय भाव सावग-लक्खण मेयं समासेणं ॥५६॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - जैनागम के मर्म को जानने वाले पूर्वाचार्य-गीतार्थ ने भाव श्रावक के भावगत लक्षण सतरह प्रकार के कहे हैं । वे इस प्रकार हैं :-

१. स्त्री- सामान्यतया स्त्री जाति को अनर्थ का घर कहा है और चंचल स्व-भाव वाली कहा है इससे उसे दुर्गति का मूल रूप समझना चाहिए। अत: आत्महित के अर्थी भाव श्रावक को स्त्री के अधीन नहीं बनना चाहिए ।

२. इन्द्रिय- कान, आंख, नाक, जीभ और चमड़ी - ये पाचों इन्द्रियां स्वभाव से ही चपल घोड़े के समान हैं । ये आत्मा को उन्मार्ग में खींच कर ले जाने वाली हैं। ऐसा जानकर उनके वश में नहीं होना, परन्तु ज्ञान के बल से इन्द्रियों को विषयों से रोक कर या वश में करके आत्म कल्याण में लगा देना चाहिए ।

३. धन- धन का दूसरा नाम 'अर्थ' कहते हैं, परन्तु वह सारे अनर्थों का मूल है। इसके लिए जितनी मेहनत होती है वह अनेक क्लेशों का कारण है और आखिर सार रहित है। ऐसा समझकर उसमें लोभ या अन्यादि पाप मत कर, संतोषी बन और पुण्य के योग से सहज स्वभाव से मिली लक्ष्मी का भी सदुपयोग दान देने की शुभ भावना का चिन्तन कर ।

४. संसार - संसार का स्वरूप वास्तव में दु:खों की खान है, उसका पक्षपात करना भी दु:खदायी है और परम्परा से भी वह दु:ख का कारण है। इस तरह संसार की विडम्बना जानकर संसारी कार्यों में आनंद नहीं मानकर उदासीनता भाव का सेवन कर।

५. विषय- विषय जहर के समान क्षण मात्र सुख बताकर परिणाम में दीर्घ काल तक दु:ख देने वाला है। जहर जीवन में एक बार मारता है जबकि विषय वासना बार-बार कई जन्मों में मारती है। ऐसा समझकर बुद्धिमान भाव श्रावक उसमें आसक्ति नहीं रखता है।

६. आरम्भ- जीवन निर्वाह न होने से आरंभ करना पड़े तो जितना बने उतना अल्प और दु:खी हृदय से ही करे, परन्तु तीव्र आंरभ बहुत पापकारी वाले कार्य की तो मन से भी इच्छा न करे। आरंभ से मुक्त धर्मी आत्माओं की प्रशंसा करे, उसी प्रकार ही सर्व जीवों के प्रति दयालु होने से आरंभ से दया का पालन न कर सके इसलिए गृहस्थावास में भी आरंभ को छोड़ने की भावना रक्खे।

७. गृहस्थावास- चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से घर वास नहीं छोड़ सके, फिर भी उन कर्मों को तोड़ने के लिए शुद्ध श्रावक धर्म का पालन करते हुए भाव श्रावक घर वास को जेल समान बंधन तुल्य माने।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

८. समकित– जिन वचन में शुद्ध श्रद्धा वाला, जैन शासन की प्रभावना और गुरु आदि की भक्ति करते हुए भाव श्रावक समकित को चिन्तामणि रत्न से भी अधिक समझते हुये उसका अतिचार रहित पालन करे।

९. लोकाचार– गाडरिया प्रवाह से चलते लोगों को गतानुगतिक मानकर लोक संज्ञा को जीतकर प्रत्येक कार्य में धैर्यता प्राप्त कर सूक्ष्म बुद्धि से विचार कर विशेष लाभ हो। इस तरह आचरण करने की इच्छा होनी चाहिए, परन्तु धर्म की निंदा हो – ऐसा नहीं करना चाहिए।

१०. जैनागम– 'परलोक के सुख का मार्ग बतलाने वाला जैनागम के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।' ऐसा समझ कर प्रत्येक धर्म कार्य में जिनाज्ञा का पालन करने की पूर्ण भावना रखे।

११. दानादि धर्म – अपनी आय के अनुसार खर्च और शरीर बल आदि का विचार कर शक्ति को छिपाये बिना– उत्तरोत्तर अधिक आराधना हो सके, इस तरह दान, शील, तप और भाव धर्म की आराधना करे।

१२. धर्म क्रिया– धर्म अनुष्ठान को चिन्तामणि रत्न के समान दुर्लभ, अमूल्य और एकान्त हितकर मानता हुआ, समय प्राप्त कर प्रमाद रहित निरतिचार रूप से उन धर्म क्रियाओं को करे। भोले अज्ञानी मनुष्य हंसा करें फिर भी उनकी उपेक्षा करते हुए क्रिया को महा कल्याण कारी समझकर नहीं छोड़ता, उसे बारम्बार करता है।

१३. राग, द्वेष का त्यागी– केवल शरीर टिकाने की आवश्यकता मानकर धन, स्वजन, आहार, पानी, घर आदि संसारगत पदार्थों में राग द्वेष न करे, अनुकूल हो तो आनंद न माने या प्रतिकूल या कम हो तो क्लेश न करे, अच्छे-बुरे में समता भाव का सेवन करे।

१४. दुराग्रह का त्यागी– उपशम ही धर्म का सार है। यही समझता हुआ आत्मार्थी भाव श्रावक धर्म विषय में राग, द्वेष से दुराग्रह नहीं करता। सर्व विषय में असद् आग्रह को छोड़कर सत्य का आग्रह रखता है। मध्यस्थ रहे, 'अपना माना हुआ ही सच्चा है' ऐसा नहीं माने।

१५. स्वजनादि पर माने – सारे पदार्थ क्षणभंगुर-अनित्य हैं, ऐसा समझता हुआ बाह्य सम्बन्ध रखने पर भी धन, सगे सम्बन्धी आदि को आत्मा से पर (अन्य) मानता है।

१६. विषय– 'संसार सुख से वैरागी बना, इन्द्रियों के विषय को भोगता हुआ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी कभी तृप्ति-संतोष नहीं पाता।' ऐसा समझ कर केवल अन्य की दाक्षिण्यता से भोग करे परन्तु असार मानते हुए उसमें रस-तीव्र आसक्ति न करे। मैथुनादि सेवन करना पड़े फिर भी व्यभिचार से बचने-बचाने के लिए अनासक्त भाव से सेवन करे।

१७. गृहस्थ का पालन– गृहस्थ के कार्य को आज छोड़ूँगा, कल छोड़ूँगा– इस तरह छोड़ने की भावना वाला, पर की मजदूरी के समान इस संसार में अपने को परिवार का सेवक मानता है, वेश्या के समान घर वास को प्रेम रहित मानता है।

इस तरह सामान्य से भाव श्रावक के भावना रूप सतरह लक्षण बतलाये। यहाँ तक सम्यकत्ववान भाव श्रावक का समकित तथा उसका जीवन स्वरूप किस प्रकार होता है – वह कहा है। अब समकित अंगीकार करने वाले को प्रारंभ से ही समकित की शुद्धि और विरति के अभ्यास के लिए कौन-सा धर्म अनुष्ठान करना चाहिए ? वह श्राद्धविधि प्रकरण टीका में पूज्य आचार्य श्री रत्नशेखर सूरि जी के आधार पर यहां कहते हैं।

समकित वाले श्रावक को देश विरति गुण स्थानक की प्राप्ति के पहले भी हमेशा नियम पूर्वक धर्म आराधना का अभ्यास करना चाहिए। सर्वप्रथम आत्मार्थी श्रावक को मिथ्यात्व कार्य का त्याग करना, फिर प्रतिदिन जिन दर्शन- पूजा आदि शक्ति के अनुसार तीन बार, दो बार या एक बार भी करना, और आठ थुई-स्तुति से सम्पूर्ण देव वंदन अथवा मध्यम चैत्य वंदन करना चाहिए। गुरु महाराज का योग हो तब तीन समय, दो समय या कम से कम एक समय भी गुरु को बड़ा द्वादशावर्त वंदन या छोटा वंदन करना और गुरु का योग न हो तो भी गुरु के नाम का उच्चारण पूर्वक हमेशा भाव वंदन करना। आषाढ़ चौमासी में हमेशा और शेष काल में पांच पर्व तिथि के दिन, इतना न हो सके तो चौमास में पांच पर्व तिथि के दिन अपनी संपत्ति अनुसार श्री जिन प्रतिमा की स्थिरता पूर्वक उत्तम द्रव्य से अष्ट प्रकारी पूजा करना। जीवन भर तक प्रतिवर्ष नया अन्न, मिठाई या आम आदि फल इत्यादि पूजा में प्रभु को चढ़ाये बिना पहले स्वयं उपयोग नहीं करना। हमेशा संपत्ति अनुसार नैवेद्य, सुपारी आदि से प्रभु की नैवेद्य तथा फल पूजा करना। प्रतिदिन न हो सके तो तीन चौमासा में और दिवाली आदि वार्षिक पर्वों में प्रभु के आगे अष्ट मंगल की पूजा अर्थात् शक्ति के अनुसार मोती, अक्षत आदि उत्तम द्रव्यों से प्रभु के सम्मुख अष्ट मंगल की रचना करना। प्रतिदिन न बने तो पर्व तिथि या वर्ष में अमुक दिनों में भी उत्तम फलों-मेवा आदि सर्व खादिम-स्वादिम भी देव गुरु को अर्पण करके ही उपयोग करना चाहिए।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रत्येक महीने अथवा वर्ष में महाध्वज चढ़ाकर साधर्मिक बन्धुओं को एकत्रित करके महास्नात्र महोत्सव करना, बड़ी पूजा पढ़ानी और रात्रि जागरण आदि देव गुरु भक्ति के कार्य करना। वर्षा ऋतु में हमेशा या अमुक दिनों में जिन मंदिर, धर्मशाला, पौषधशाला आदि का प्रमार्जन करना, अर्थात् वहाँ के जीवों की रक्षा हो इस तरह साफ करवाना। शक्ति के अभाव में अन्य की सहायता लेकर वह कार्य करना तथा जिन मंदिर की दीवार, दीपक के साधन हांडे, कुंभ, फानूस, झूमर, त्रिगडा, पट्टे, भंडार आदि उपकरण, बर्तन, पूजा के साधन इत्यादि सारी वस्तुएँ साफ करना, करवाना। प्रत्येक महीने में न बने तो प्रतिवर्ष जिन मंदिर में धूप करना, दीपक के लिए रूई और ताजा शुद्ध घी देना तथा चन्दन आदि पूजा की सामग्री भी स्वशक्ति अनुसार देना। पौषधशाला में भी मुँहपत्ती, नवकार वाली माला, दण्डासन, चखला, कपड़े, कांबली या ऊन आदि देना या रखना। वर्षा चौमासा में श्रावक आदि के बैठने के लिए कई पाट चौकी आदि बनाना, प्रति वर्ष शक्ति न हो तो कम से कम सुत्तर का कपड़ा, मुँहपत्ति आदि से श्री श्रमणसंघ की पूजा करना, विशेष न बन सके तो अमुक साधर्मिक भाइयों का भी अपनी शक्ति अनुसार वात्सल्य करना। हमेशा अमुक नौपद के पद का अथवा अन्य पद, कर्मक्षय निमित्त या अन्य अपनी रुचि अनुसार काउस्सग करना, कम से कम तीन सौ या उससे अधिक का स्वाध्याय करना। प्रतिदिन कम से कम 'नमुक्कार सही' आदि और शाम को 'दिवस चरिम' चउ विहार आदि का पच्चक्खान करना, दो समय अथवा न बने तो एक बार भी प्रतिक्रमण-सामायिक आदि अवश्य करना। इस तरह अपनी शक्ति अनुसार नियम लेकर उस का यथार्थ पालन करना इत्यादि विरति का अभ्यास करना।

यहां प्रश्न होता है कि इस तरह से अविरति समकित दृष्टि गुण स्थानक में विरति के परिणाम बिना भी पच्चक्खान, प्रतिक्रमण आदि विरति के काम करने से तो परमार्थ से उस गुणस्थानक की व्यवस्था का ही लोप होगा। चौथे गुणस्थानक में पांचवे गुण स्थानक की क्रिया किस तरह हो सकती है? फिर भी करे तो उसका गुणस्थानक अविरति क्यों कहलाता है ? और कर्म के उपशम, क्षयोपशम या क्षय आदि से प्रगट हुए जीव के अध्यवसाय-भावरूप उस गुणस्थानक का बाह्य औदयिक भाव से की हुई क्रिया को क्या खींचकर बलात्कार से लायेंगे ? चौथे का पाँचवाँ गुणस्थानक बना सकेंगे ? अर्थात् क्रिया मात्र से चौथा गुणस्थानक पाँचवाँ नहीं बन सकता तो चौथे गुणस्थानक में पाँचवे गुणस्थानक के योग्य क्रिया करना कैसे उचित मान सकते हैं ?

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसका उत्तर देते हैं:- ऐसा प्रश्न शास्त्र के रहस्य को नहीं जानने से होता है। वस्तुतः शास्त्र में अविरति गुण स्थानक में विरति धर्म की क्रिया का अभाव नहीं कहा, परन्तु उस गुणस्थानक में जीव को यथार्थ अध्यवसाय रूप विरति के परिणाम न हों, इस तरह कहा है। विरति के परिणाम बिना भी विधिपूर्वक आदरमान से व्रतादि का ग्रहण, पालन आदि करने वाले को इस प्रकार अभ्यास करते हुए अभ्यास की महिमा से व्रतों के उन आवारक कर्मों का क्षयोपशम आदि होता है। इससे विरति के परिणाम प्रगट होते हैं और फिर परिणाम पूर्वक उस क्रिया के बल से उसके परिणाम में वृद्धि-शुद्धि होती है, इस तरह क्रिया से परिणाम और परिणाम से क्रिया, दोनों परस्पर आलंबन से वृद्धि -शुद्धि होती रहती है। किन्तु परिणाम नाश नहीं होते, इसलिए परिणाम बिना औदयिक भाव की क्रिया करने से क्या होगा? केवल कोरी क्रिया से खींचकर क्षायोपशमिक आदि भावरूप गुणस्थानक कहाँ से आ सकता है ? इत्यादि कुतर्क करके सम्यक् क्रिया में प्रमाद करना उचित नहीं है। योग्य प्रयत्न करने से उस गुणस्थानक की प्राप्ति भी सरलता से हो सकती है। वस्तुतः साध्य, साधन और साधना के अधीन होता है। इसलिए योग्य उपाय करने से जिसकी सिद्धि के लिए उपाय करते हो वह कार्य सिद्ध होता है। यह कथन हमारी कल्पना मात्र ही नहीं है। समर्थ श्रुतधर पूज्य आचार्य श्री हरिभद्र सूरीश्वर जी भी स्वरचित प्रथम पंचाशक में सम्यकत्व और व्रतों में स्थिरता या उसके परिणाम की प्राप्ति के लिए क्या-क्या करना चाहिए, उसका उपदेश देते हुए बतला रहे हैं कि:-

गहणा दुवरि पयत्ता, होइ असन्तोऽपि विरइ परिणामो ।
अकुसल कम्मोदय ओ, पडइ अवण्णाइ लिंग मिह ॥३५॥

तम्हा णिच्च सईए, बहुमाणेणं च अहिगय गुणम्मि ।
पडिवक्खदुगुंछाए परिणइ आलोयणेणं च ॥३६॥

तित्थंकर भत्तीए, सुसाहुजण पज्जु वासणाए अ ।
उत्तर गुण सद्धाए य एत्थ सया होइ जइयव्वं ॥३७॥

एवमसंतोऽवि इमो, जायइ जाओ विन पडइ कया वि ।
ता इत्थं बुद्धि मया, अपमाओ होइ कायव्वो ॥३८॥

अर्थात् - 'गुरु के पास में श्रुतधर्म आदि ग्रहण करना' इत्यादि शास्त्र कथित वचनानुसार सम्यकत्व या व्रतादि ग्रहण करने के बाद उत्तर काल में तद्विषयक प्रयत्न करने से ग्रहण करते प्रगट न हुआ हो वह सम्यकत्व या प्राणातिपात विरमणादि विरति के यथार्थ परिणाम प्रगट होते हैं और प्रगट हुआ हो तो वह दृढ़ शुद्ध होता है, क्योंकि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सम्यकत्व या विरति को रोकने वाला वह मोहनीय कर्म सोपक्रमी है अर्थात् प्रयत्न करने से नाश होने वाला है और विधिपूर्वक क्रिया रूप प्रयत्न करने में उन कर्मों को तोड़ने की शक्ति होने से वे कर्म टूट जाते हैं । उल्टा तथाविध प्रयत्न नहीं करने से अशुभ कषायादि बंधन कराने वाले उन कर्मों का उदय होता है, सम्यकत्व या व्रतादि ग्रहण किया हो तो वे परिणाम भी चले जाते हैं ।

प्रश्न- परिणाम अदृश्य होने से, वह चले गये या प्रगट हुए- यह किस तरह समझा जाता है ?

उत्तर- परिणाम चले जाने से आत्मा की बदलती हुई प्रवृत्ति द्वारा समझा जाता है। सम्यकत्व या व्रतादि के परिणाम का अभाव बताने वाला चिन्ह है। जैसे कि- व्रतों की, उनके उपदेशक या व्रतधारी श्रावक की निंदा, अवज्ञा आदि तथा अनादर करे, उसके अवर्णवाद बोले तथा अंगीकार किए व्रतों की भी रक्षा या पालन करने का उद्यम न करे इत्यादि से समझा जाता है कि उसके व्रतादि के परिणाम ढक गये हैं ।

प्रश्न- सम्यकत्व अथवा विरति के परिणाम प्रगट हुए बिना ही उसे ग्रहण किस निमित्त से करता है?

उत्तर- जीव अवरोध से, गुरु आदि के उपदेश के योग से, लज्जा अथवा दाक्षिण्यता के योग से, अन्य व्रतधारी साधर्मिक के अनुकरण करने के योग से इत्यादि बाह्य निमित्त से परिणाम नहीं होने से भी समकित या व्रत आदि को ग्रहण कर सकता है। आगम में भी कहा है कि-प्रत्येक जीव ने भूतकाल में द्रव्य से अनंत बार श्रावक व्रत या साधु व्रत ग्रहण किए हैं। इस तरह परिणाम बिना भी तथाविध कारण मिलते ही सम्यकत्व व्रतादि का ग्रहण हो सकता है और विधिपूर्वक उसका पालन आदि प्रयत्न करते हुए कर्मों का क्षयोपशम आदि होते उसके भाव परिणाम भी प्रगट होते हैं, इसमें विरोध जैसा कुछ भी नहीं है । यह ३५ वीं गाथा का भावार्थ है।

फिर तम्हा आदि गाथा में प्रासंगिक उपदेश किया है । उसका भावार्थ इस प्रकार से है- पूर्व कहे अनुसार प्रयत्न करने से परिणाम न होने पर भी प्रगट होते हैं, और प्रयत्न के अभाव में परिणाम होने पर भी अशुभ कर्मोदय से चले जाते है। इसलिए अंगीकार किए सम्यकत्व व्रतादि गुणों का-मैंने कौन-कौन से व्रत या नियम, कितने-कितने अंश में कितने काल तक अंगीकार किये हैं इत्यादि नित्य स्मरण करना, अंगीकार किए का बहुमान करना तथा उसके प्रतिपक्षी मिथ्यात्व, हिंसा आदि की निंदा करना। सम्यकत्व, अहिंसा, मिथ्यात्व, अविरति आदि के स्वरूप का चिन्तन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहा है कि सम्यकत्व-व्रत आदि मोक्ष के हेतुभूत हैं। मिथ्यात्व, अविरति- इनका परिणाम दुःखदायी है, इत्यादि उसमें लाभ-हानि होने का हमेशा चिन्तन करना ॥३५॥

इसके अतिरिक्त श्री तीर्थंकर भगवन्त की भक्ति-विनयादि में साधुता से युक्त भाव साधु आदि की सेवा करने में, सम्यकत्व आदि स्वीकार किए गुणों से भी विशेष- विशेष गुण प्राप्त करने की श्रद्धा में अर्थात् 'कब मेरे में अधिक से अधिक गुण प्रगट हो' ऐसा मनोरथ करने में इत्यादि आराधना में सम्यकत्व या व्रतादि अंगीकार करने के बाद भी सदा सर्वदा उद्यमशील रहना ॥ ३७॥

इस तरह प्रयत्नशील रहने से व्रत आदि स्वीकार करते ही परिणाम न हों तो वह प्रगट होते हैं और यदि परिणाम प्रगट हो तो वह भी कभी भी ढक नहीं पाते परन्तु अधिक निर्मल और दृढ़ होते हैं। इसलिए उसी तरह बुद्धिमान को सम्यकत्व-व्रतादि स्वीकार करने में प्रमाद नहीं करना चाहिए ॥३८॥

इन चार गाथाओं से पूज्य आचार्य श्री ने परिणाम न प्रगट हों तो भी सम्यकत्व व्रतादि ग्रहण करने के लिए बतलाया है। इससे समझ में आयेगा कि समकिती आत्मा विरति के परिणाम वाला न होगा तो भी विरति के अभ्यास के अविरति की पराजय करके विजयी बनता है। वस्तुतः सर्वत्र अभ्यास से कुशलता प्रगट होती है, सर्वजीवों को अनुभव से भी वह सिद्ध है। लिखना, पढ़ना, गाना, नृत्य आदि समस्त वैज्ञानिक कलाओं में भी अभ्यास करने से प्रवीणता होती है। कहा भी है कि :-

अभ्यासेन क्रियाः सर्वा, अभ्यासात्सकलाः कलाः ।
अभ्यासाद् ध्यान मौनादि, किमभ्यासस्य दुष्करम् ॥१॥

अर्थात्- 'समस्त क्रियाऐं अभ्यास से सिद्ध होती हैं। सारी कलाओं में अभ्यास से कुशलता प्रगट होती है और ध्यान, मौन आदि भी अभ्यास से सिद्ध कर सकता है। अभ्यास करने से क्या दुष्कर है? अर्थात् अभ्यास से सर्वकार्य सिद्ध कर सकता है।'

इतना ही नहीं विरति के अभ्यास से तो निरन्तर दृढ़ बना, उस क्रिया के संस्कारों को परलोक में भी आत्मा के साथ ले जाता है। इससे वहाँ पर भी उस विरति के कार्य में सहज स्वभाव मात्र निमित्त मिलते ही आत्मा को अच्छा लगता है। कहा है कि :-

जं अब्भसेइ जीवो, गुणं च दोसं च एत्थ जम्मंमि ।
तं पावइ परलोए, तेण य अब्भास जोगेणं ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- 'जीव इस जन्म में गुण अथवा दोषों का जो अभ्यास करता है उस अभ्यास के योग से परलोक में उसी प्रकार के गुण या दोषों को वह प्राप्त करता है।'

इसी तरह विरति के अभ्यास से उसके परिणाम प्रगट होते हैं। पूर्व में हों तो वह दृढ़ होते हैं, इससे वह श्रावक के बारह व्रत रूप उत्तम धर्म को प्राप्त करता है। परिणाम से देश विरति के सुन्दर अभ्यास के बल से सर्व विरति गुण भी प्रगट होता है और आखिर इसका महान् फल-मोक्ष भी मिलता है। इसलिए क्रिया के अभ्यास में प्रयत्नशील रहना चाहिए। व्रतादि को छोड़कर भी अन्य कई नियम, यदि वह समकित सहित बारह व्रत या उसके किसी भी एकादि व्रत के साथ में पालन करता हो तो ही देश विरति आदि गुणों को प्रगट कर सकता है अन्यथा उल्टा पासत्था आदि को प्रगट करता है। उपदेश रत्नाकर में पूज्य आचार्य श्री मुनिसुन्दर सूरीश्वर जी महाराज ने कहा है कि:-

"सम्यकत्वाणुव्रतादि श्राद्धधर्म रहिता नमस्कार गुणन जिनार्चन वंदन नाद्यभिग्रह भृतः श्रावकाभासाः श्राद्ध धर्मस्य पार्श्वस्था" इति ॥२१॥

अर्थात् "सम्यक्त्व अथवा अणुव्रत रूप श्रावक धर्म की अपेक्षा बिना केवल 'नवकार मन्त्र का जाप जपना या जिन पूजा-वंदन आदि करना, अभिग्रह धारण करने वाला श्रावक भाव श्रावक तो नहीं है परन्तु श्रावक भास रूप है। वस्तुतः उसे श्राद्ध धर्म के परिणाम नहीं आए, परन्तु श्राद्ध धर्म के पास रहता हुआ वह दूर भ्रमण करता हुआ अश्रावक रूप है।" इस तरह मूल बाइसवीं गाथा का विवेचन पूर्ण हुआ।

॥ इति प्रथम प्रकरण ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्हम्

द्वितीय प्रकरण

श्रावक के व्रतों का अधिकार

बाईसवीं गाथा के अन्दर धर्म का ग्रहण 'विधिपूर्वक करना चाहिए' ऐसा कहा और बीसवीं गाथा में 'संग्रहेऽस्य प्रवर्तते' शब्दों से इस धर्म को स्वीकार करने के लिए 'प्रवृत्ति करना' ऐसा कहा है। इसलिए अब धर्म ग्रहण करने की विधि कहते हैं।

योग वन्दन निमित्त, दिगा ऽऽकार विशुद्धयः ।
योग्योपचर्येति विधिरणुव्रत मुखग्रहे ॥२३॥

अर्थ- योग शुद्धि, वन्दन शुद्धि, निमित्त शुद्धि, दिशा शुद्धि, आगार शुद्धि इन पांच का योग मिलना और देव, गुरु साधर्मिक-दीन-अनाथ आदि का यथायोग्य परिचय करना आदि अणुव्रतादि का ग्रहण करने की विधि है।

भावार्थ- मूलगाथा में 'विशुद्धि' शब्द द्वंद्व समास को अन्त में कहा है इससे वह प्रत्येक के साथ में सम्बन्ध वाला है इससे योग शुद्धि, वंदन शुद्धि, निमित्त शुद्धि, दिशा शुद्धि और आगार शुद्धि, इस प्रकार अर्थ समझना। उसमें -

१. योग शुद्धि-योग- मन वचन और काया की शुद्ध प्रवृत्ति वह योग शुद्धि है। व्रतादि को ग्रहण करते हुए मन के द्वारा उस विषय में उपयोग एकाग्रचित्त वाला बनना-शुभ चिन्तन करना। वचन द्वारा कषायादि युक्त पापकारी-सावद्यकारी नहीं बोलना, तथा उस पाठ का शुद्ध उच्चारण करना और काया से उस क्रिया के करते हुए उपयोग पूर्वक आगे अवग्रह में-जाना-आना इत्यादि कायिक प्रवृत्ति भी शुद्ध जयणा पूर्वक करनी चाहिए।

२. वन्दन शुद्धि- खमासमण को प्रणिपात्त सूत्र, नमोत्थणं अरिहंत चइआणं, लोगस्स, पुक्खरवरदी और सिद्धाणं बुद्धाणं इन पाँचों को दंडक सूत्र और जावंति चेइआइ, जावंत कवि साहू तथा जयवीयराय इन तीन को प्रणिधान सूत्र कहा है (चैत्य वंदन भाष्य) आदि अस्खलित-शुद्ध उच्चारण पूर्वक बोलना, और शान्त चित्त से उपयोग पूर्वक स्थिरता से काउस्सग करना इत्यादि देव वंदन शुद्धि समझना।

३. निमित्त शुद्धि- व्रतादि ग्रहण करते समय शंख, भेरी आदि मांगलिक बाजे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अथवा उत्तम पुरुष के संमति दर्शक या आशीर्वाद रूप शब्दों का श्रवण हो, जल से पूर्ण भरे कुंभ आदि जल पात्र, छत्र, ध्वजा, चमरादि का दर्शन हो, शुद्ध पवन द्वारा किसी सुगन्धित पदार्थ की सुगन्ध आए इत्यादि अनेक प्रकार के उत्तम मांगलिक निमित्त में से किसी एक अथवा अधिक का योग मिले इत्यादि निमित्त शुद्धि जानना।

४. दिशा शुद्धि- पूर्व, उत्तर या श्री जिनेश्वर अथवा मन:पर्याय ज्ञानी, अवधि ज्ञानी या चौदह दस नौ पूर्व के ज्ञानवान श्रुत ज्ञानी जिस दिशा में विराजमान हों, विचरते हो- उस दिशा में अथवा जिन मूर्ति, जिन मंदिर जिस दिशा में नजदीक हो – उस दिशा के सन्मुख रहकर व्रतादि ग्रहण करने की क्रिया करना, इसे दिशा शुद्धि कहते हैं।

५. आकार शुद्धि- राजाभियोग, गणाभियोग, बलाभियोग, देवाभियोग, गुरुनिग्रह और वृत्तिकान्तार – इन छह आगारों को छोड़कर करना चाहिए। इनका स्वरूप समकित ६७ भेद में कहा है। उसको व्रतादि के पालन में खुला रखना जिससे आराधना में विघ्न न आए और शुद्ध आराधना हो सके, वह आकार या आगार शुद्धि समझना।

इन पांच शुद्धि के अतिरिक्त 'योग्य की उपासना' अर्थात् देव, गुरु, साधर्मिक, स्वजन आदि पूज्यजन या बुजुर्ग वर्ग की सेवा, तथा दीन, अनाथ आदि दु:खियों की स्वशक्ति अनुसार यथायोग्य उपचर्या- सेवा करना अर्थात् देव का धूप-पुष्प से, गुरु महाराज को आहार-वस्त्र आदि से, साधर्मिकादि गृहस्थ वर्ग को वस्त्र-आभूषण आसन-उत्तम भोजन आदि देने से पूजा सत्कार सन्मान करना, उनका गौरव-बहुमान करना और दीन, अनाथ आदि को भी यथायोग्य दान भोजनादि देकर प्रसन्न करना, पशु आदि को मृत्यु से छुड़ाना, खेती आदि आरंभ बंध करवाना, जीवों को अभयदान देना, इत्यादि सर्व की प्रसन्नता बढ़े ऐसे कार्य करना। इस तरह जीवों को प्रसन्नता प्रगट कराने से महामंगल रूप होने से अंगीकार करने से व्रतादि का पालन निर्विघ्नता से होता है। इस तरह अणुव्रत और आदि शब्द से सम्यकत्व-महाव्रत आदि को ग्रहण करने की विधि कही है।

यह सद्धर्म ग्रहण करने की सामान्य विधि कही है। देव, गुरु आदि की साक्षी में विशिष्ट क्रिया करने की विधि समाचारी ग्रन्थों में इस तरह बतलाई है:-

चिइ संति सत्तवीसा, बारस सुअ सासणाऽखिल सुराणां।
नवकारो सक्कत्थ ओ, परिमिड्ढि थओ अ वंदणयं ॥१॥
सामन्न मिणं ततो, आरोवणुस्सग्गु दण्ड उच्चारो।
सत्त खमासमणं पुण, वयाइ गहणे विही होइ ॥३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्-१. देववंदन, २. श्री शान्तिनाथ स्वामी आराधनार्थ सत्ताईस श्वासोच्छ्वास के (लोगस्स का सागरवर गंभीरा तक) काउस्सग्ग, ३. द्वादशांगी, ४. श्रुत देवता, ५. शासनदेवता, ६. सर्व देवता- प्रत्येक की आराधना के लिए एक-एक नवकार मन्त्र का अलग-अलग काउस्सग्ग करके उसके बाद प्रत्येक की अलग-अलग स्तुति बोलना, फिर ७. प्रगट नवकार, फिर ८. नमुत्थुणं, जावंति० जावंत आदि बोलकर, ९. परमेष्टिस्तव और जय वीयराय १०. वंदना। इतनी विधि सम्यकत्व, व्रत, तप आदि किसी भी उच्चारण में सर्व सामान्य है। इसके अतिरिक्त ११. आरोवावणिय काउस्सग्ग, १२. उच्चारणार्थ पच्चक्खाण और आखिर में १३. सात खमासमण- यह व्रतादि ग्रहण करने की विशेष विधि है।

इस तरह समाचारी के पाठ से सर्व सामान्य तेरह अधिकारों का उल्लेख किया है। उनका विशेष स्वरूप तो इस प्रकार है।

सर्व प्रथम 'उत्तम क्षेत्र में'-जहाँ श्री जिन मन्दिर आदि हो वहाँ अथवा प्रशस्त रायण-आम वृक्ष, आसोपाल, बड़ आदि उत्तम वृक्षों के नीचे, 'उत्तम मुहूर्त' अर्थात् ज्योतिष की गिनती से तिथि, वार, करण, नक्षत्र, मुहूर्त, योग, चन्द्र बल, लग्न बल आदि उत्तम हों, इसी तरह उत्तम दिन में, उत्तम समय में, 'परीक्षित शिष्य को' अर्थात् उस सम्यकत्व अणुव्रतादि अंगीकार करने वाले आत्मा में विनयादि गुणों द्वारा व्रतादि पालन करने की शास्त्र में कही गई योग्यता दिखती हो उसे आचार्य भगवन्त को आगे करके वसति की शुद्धि देखकर नंदि के चारों दिशा में एक एक नवकार मन्त्र गिन कर नमस्कार पूर्वक तीन प्रदक्षिणा आदि देकर तैयार होने के बाद प्रथम प्रभु जी के सन्मुख खमासमण देकर आदेश मांगना कि-

"इच्छाकारि भगवान्! तुम्हे अम्हं सम्यकत्व सामायिकं श्रुत सामायिकं देश विरति सामायिकं आरोवा वणियं नंदिकरा वणियं देवे वंदावेह।"

गुरु कहे 'वंदोवेमि'। पुनः खमासमण देकर शिष्य आदेश-आज्ञा मांगे कि **"इच्छा कारेण संदिसह भगवन्त चैत्य वंदन करूं।"** गुरु **'करेह'** ऐसा कहकर चैत्यवंदन बोले। फिर "नमोत्थुणं अरिहंत चेइआणं अन्नत्थं" कहकर एक नवकार मन्त्र का काउस्सग्ग कर गुरुमुख से प्रथम अरिहंत की स्तुति सुने -

अर्हस्तनोतु स श्रेयः श्रियं यद्ध्यानतो नरैः।
अप्यैन्दी सकलाऽत्रैहि रंहसा सहसौ च्यतः ॥१॥

अर्थात्- "जिससे ध्यान से मनुष्य इन्द्र की लक्ष्मी को भी कहता है कि हे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इन्द्र की लक्ष्मी! तुम सारी शीघ्रमेव यहाँ आओ अर्थात् जिसके ध्यान से इन्द्र की सारी संपत्तियां भी आ मिलती हैं वे अरिहंत देव मोक्ष लक्ष्मी दें ॥१॥" फिर **'नमो अरिहंताणं'** कहकर ध्यान पूर्ण करे उसके बाद **'लोगस्स० सर्वलोअे०'** आदि कहकर फिर एक नवकार का ध्यान करे। फिर सर्व जिन की स्तुति सुने:-

ओमति मन्ता यच्छासनस्य, नन्ता सदा यदं श्रीश्च ।
आ श्रीयते श्रिया ते भवतो भवतो जिनाः पान्तु ॥२॥

अर्थात्- "जिसके शासन को 'ऊँ' रूप में मानने वाले- स्वीकार करने वाले और जिनके चरणों को नमने वाली लक्ष्मी सदा आश्रय करती है वे श्री जिनेश्वर भगवन्त तुम्हारा रक्षण करें ॥२॥" फिर ध्यान पूर्ण कर **पुक्खश्वर दी०** कहकर **सुअस्स भगवओ करिम काउस्सग्ग** आदि कहकर एक नवकार मन्त्र का ध्यान करे फिर तीसरी जिन वाणी की स्तुति सुने:-

नव तत्त्व युता त्रिपदी श्रिता रुचि ज्ञान पुण्य शक्ति मता ।
वर धर्म कीर्ति विद्याऽऽनन्दाऽऽस्या जैन गीर्जी यात् ॥३॥

अर्थात्- "नव तत्त्वों से युक्त, तीन पद वाली रुचि, ज्ञान और पुण्य की शक्ति वाली आत्मा से आश्रय बनी तथा उत्तम धर्म, कीर्ति, विद्या और आनन्द का मुख अर्थात् आने का द्वार स्वरूप श्री जिन वाणी विजयी बने ॥३॥" फिर ध्यान पूर्ण कर **'सिद्धाणं बद्धाणं'** सूत्र पूर्ण बोले। इस तरह गुरु शिष्य को अपने दाहिनी ओर रखकर **श्री शान्तिनाथ आराधनार्थ करेमि काउस्सग्गं** कहकर **वंदा वत्तिया** आदि कहकर २७ श्वासोच्छ्वास **लोगस्स** का सागरवर गंभीरा तक काउस्सग्ग ध्यान करके गुरु मुख से श्री शान्तिनाथ भगवान की चौथी स्तुति सुने:-

श्रीं शान्तिः श्रुत शान्तिः प्रशान्ति कोऽसाव शान्ति मुप शान्तिम् ।
नयतु सदा यस्य पदाः सुशान्तिदाः संतु सन्ति जने ॥४॥

अर्थात् 'यह प्रसिद्ध है कि शान्ति रूपी मोक्ष लक्ष्मी जिनको और जिनमें अत्यन्त शम है ऐसे श्री शान्ति नाथ प्रभु अशान्ति की उपशान्ति करें कि जिनके चरणों में हमेशा जगत् में सर्वश्रेष्ठ शान्ति मिलने वाली है ॥४॥' फिर ध्यान पूर्ण कर **'श्री द्वादशांगी आराधनार्थ करेमि काउस्सग्गं** कहकर **वंदण वत्तियाए** आदि कहकर एक नवकार का ध्यान कर गुरुमुख से पाँचवीं द्वादशांगी की स्तुति सुने:-

सकलार्थ सिद्धि साधन बीजोपाङ्गा सदा स्फुरदु पाङ्गा ।
भवतादनुपहत महा-तमोऽपहा द्वादशाङ्गा वः ॥५॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- 'जगत के सारे प्रयोजनों की सिद्धि साधना में बीजभूत अंगों वाली तथा सदा स्फुरायमान उपांग जिसमें हैं वह 'द्वादशांगी' सूर्यादि से भी नहीं नाश होने वाली तुम्हारे महा अज्ञान रूप अंधकार का नाश करे ॥५॥' फिर ध्यान पूर्ण कर **'सुअदेवयाए करेमि काउस्सग्गं'** कह अन्नत्व बोलकर एक नवकार मन्त्र का ध्यान कर गुरु मुख से छठी श्रुत देवता की स्तुति सुने:-

वद वदति न वाग्वादिनि! भगवति! कः श्रुत सरस्वति गमेच्छुः।
रंग त्तरंग मतिवर तरणिस्तुभ्यं नमः इतीह॥६॥

अर्थात् - 'श्रुत समुद्र को पार करने की इच्छा वाला और सुन्दर तरंग वाली बुद्धि रूप सुन्दर नौका को धारण करने वाला ऐसा कौन ? हे भगवती श्रुत देवी ! आप कहो कि 'आप को नमस्कार हो' ऐसा नहीं बुला जाता है? अर्थात् श्रुत के अर्थी सर्वबुद्धिमान हे श्रुत देवी ! आपको नमस्कार करते हैं॥६॥' ध्यान पूर्ण कर फिर **'श्री शासन देवता आराधनार्थ करेमि काउस्सग्गं'** कहकर अन्नत्थ बोल कर एक नवकार मंत्र का ध्यान कर गुरुमुख से **''या पाति शासनं जैन सद्य प्रत्युहना नाशिनी। साऽभिप्रेत समृद्धयर्थं, भूयाच्छासन देवता॥''** यह शासन देवता की सातवीं स्तुति सुने। परन्तु हाल में इस स्तुति के स्थान पर दूसरी बोली जाती है । वह इस प्रकार है :-

उपसर्ग वलय विलयन निरता जिनशासनऽवनै करताः ।
तमिह समीहित कृते, स्युः शासन देवता भवताम् ॥७॥

अर्थात-''भव्य जीवों के उपसर्ग चक्रों का नाश करने में तत्पर और जिन शासन की एक रक्षा करने में तत्पर श्री शासन देवियाँ जल्दी तुम्हारे मनोवांछित पूर्ण करने के लिए तत्पर हों अर्थात् पूर्ण करें॥८॥' फिर ध्यान कर **'समस्त वैयावच्चगराणं करेमि काउस्सग्गं'** कह अन्नत्थ बोलकर एक नवकार मन्त्र का ध्यान कर गुरु मुख से आठवीं समस्त समकित दृष्टि देवा की स्तुति सुने:-

संदधेऽत्र ये गुरु गुणौधनिधे सुवैया वृत्यादि कृत्य करणैक निबद्ध कक्षा ।
ते शान्तये सह भवतु सुराः सूरीभिः, सद्दृष्टयोनिखिल विघ्न विधात दक्षाः ॥९॥

अर्थात् सुन्दर वैयावच्य आदि कार्य करने में जिनका अद्वितीय बद्धकक्ष अति तत्पर है और सारे विघ्न को नाश करने में चतुर हैं, उन समकित दृष्टि देव-देवी सहित महागुण से परिपूर्ण इस श्री चतुर्विध संघ में शान्ति के लिए हों या शान्ति करें॥८॥'' फिर ध्यान पूर्ण कर एक नवकार प्रगट रूप में बोले । इस तरह आठ स्तुति से देव वंदन करके फिर **नमुत्थुणं, जावंति, खगा, जावंत, नमोर्हत्,** कहकर परमेष्ठिस्तव गुरु मुख से सुने वह इस प्रकार है :-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ओमिति नमो भगवओ, अरिहंत सिद्धायरिय उवज्झाय।
वर सव्व साहु मुणि संघ धम्म तित्थप्प वयणस्स॥१॥

सप्पणंव नमो तह, भगवई सुय देवयाई सुहयाए।
सिव संति दवयाए, सिव पवयण देव याणं च॥२॥

इन्द्रांऽगणि जय नेर इय वरूण वाऊ कुबेरई साणा।
बंभोना गुत्ति दसण्ह मपि य, सुदिसाण पालाणं॥३॥

सोम यम वरूण वेसमण वासवाणं तहेव पचंण्हं ।
तह य लोगपालयाणं, सूराइ गहाण य नवण्हं॥४॥

साहंतस्स समक्खं, मज्झमिणं चेव धम्मणुट्ठाणं।
सिद्धिमविग्घं गच्छउ, जिणाइ नवकारओ धणियं॥५॥

इसके बाद जय वीयराय सूत्र सम्पूर्ण कहे। यह देव वंदन की विधि व्रतादि उच्चारण करने वाले गुरु महाराज, स्वयं भी समग्र संघ सहित करे। यहाँ तक की विधि सम्यकत्व अणुव्रत महाव्रत या सौभाग्य पंचमी आदि तप इत्यादि सर्व के लिए समान विधि है। उसमें केवल सम्यकत्व आदि जो-जो ग्रहण करना हो उसका नाम उच्चारण करना इतना ही भेद समझना। फिर गुरु को दो द्वादशावर्त वंदन करके शिष्य कहे कि - "**इच्छाकारि भगवन् तुम्हे अम्हं सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक, देश विरति सामायिक आरोवावणियं, नंदि करावणियं काउस्सग्गं कारेह।**" फिर शिष्य गुरु दोनों साथ में "**सम्यकत्व सामायिक, श्रुत सामायिक, देश विरति सामायिक, आरोवावाणियं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थं**" आदि कहकर सत्ताइस श्वासोच्छ्वास का '**सागर वर गंभीरा**' तक काउस्सग्ग ध्यान करके प्रगट रूप **लोगस्ससूत्र** कहे। फिर शिष्य खमासमण देकर "**इच्छाकारि" भगवन् पसायं किच्चा मम नंदी सूत्तं संभलावेह**" ऐसा कहकर दोनों हाथों की आखिरी अंगुलियों में मुहपत्ति रखकर श्री जिन मूर्ति के सन्मुख अंजलि पूर्वक मस्तक नमाकर गुरु मुख से नंदीसूत्र सुने। उस समय गुरु महाराज भी खमासमणा देकर '**इच्छाकरेण संदीसह भगवन ! नंदी सूत्तं कठेमि! इच्छं**' कहकर तीन नवकार मन्त्र रूप नंदी सूत्र सुनाये। फिर खमासमण देकर '**इच्छाकारि भगवन् ! पसायं किच्चा मम सम्मत्त सामाइयं आरोवेह ।**' कहकर नंदी सूत्र के समान मुँहपत्ति अंजलि आदि कर गुरु मुख से सम्यकत्व का पच्चक्खाण सुने-करे-

"**अहन्नं भंते तुम्हाणं समीवे मिच्छत्ताओ पडिक्कामि सम्मचं उवसंपज्जामि तंजहा-दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ दव्व ओणं मिच्छत्त कारणाइं**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पच्चक्खामि, सम्मत्त कारणाइं उपसपज्जमि, नो मे कप्पइ अज्जप्पभिइ अन्नउत्थिए वा अन्न उत्थि अ देवयापि वा अन्न उत्थिअपरिग्गहि आणि वा अरिहंत चेइ आणि वंदित्तए वा नमसित्तए वा पुव्विं अणा लत्तेणं आलवित्तए वा संलपित्तए व तेसिं असणा वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पयाउं वा खित्तओणं इत्थ वा अन्नत्थ वा कालाओणं जाव जीवाए भावओण जाव गहेणं न गहिज्जामि, जाव छलेण न छलिज्जामि जाव सुन्निवाएणं नामि भविज्जामि जाव अन्नेण वा केणइ रोगायं काइणा उस परिणामो न परिवडइ ताव मे एअं सम्मद्दंसणं नन्नत्य रायाभिओगेणं, गणाभिओगेण बलाभिओगेणं, देवयाभिओगेणं, गुरुनिग्गहेणं, वित्ती कंतारेणं वोसिराभि।''

अर्थात्- हे भगवन्त! मैं आप की साक्षी में मिथ्यात्व से वापिस फिरता हूँ अर्थात् उसका त्याग करता हूँ और सम्यकत्व को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से स्वीकार करता हूँ। उसमें द्रव्य से मिथ्यात्व के कारणों का त्याग करता हूँ और सम्यकत्व के कारणों को स्वीकार करता हूँ। वह इस तरह- 'आज से मुझे अन्य दर्शनियों' देव या अपने काबू में की हुई देव रूप स्वीकार की गई जिन प्रतिमा- इन तीन को वंदन नमस्कार करना नहीं कल्पता। उनके बुलाये बिना बोलना अथवा बारम्बार बोलना कल्पता नहीं है और उनको भक्ति भाव से अशन,पान, खादिम या स्वादिम एक-दो बार या बारबार देना अथवा उनकी पूजा-भक्ति के लिए पूजा की सामग्री आदि देना नहीं कल्पता। क्षेत्र से यहां अथवा अन्य किसी स्थान पर करना नहीं कल्पता। काल से जब तक जीव है तब तक मुझे पूर्व के समान करना नहीं कल्पता और भाव से मैं ग्रह आदि के उपद्रव से परवश नहीं बनूँगा, किसी के कपट से नहीं ठगा जाऊंगा। सन्निपात आदि रोग से अचेतन नहीं बनूँगा अथवा अन्य किसी महारोग या अकस्मात् मरणान्तक पीड़ा आदि के कारण मेरे यह अध्यवसाय नहीं चले जायं, ऐसी स्वस्थता में पालन करना तथा इस तरह कारण के अभाव में भी जहाँ तक १. राजा, २. महाराजा आदि जन समुदाय का, ३. देव-देवी का, ४. किसी चोर आदि बलवान के आग्रह या जबरदस्ती आदि का प्रसंग न आए, ५. माता पितादि गुरु वर्ग का आग्रह न हो और ६. आजीविका का या मृत्यु संकट नहीं आए वहाँ तक मुझे इस सम्यकत्व दर्शन का निरतिचार पालन करना है, मिथ्यात्व के कारणों का मैं त्याग करूँगा।''

यह पाठ प्रत्येक समय एक एक नवकार सहित तीन बार गुरुदेव सुनाये और शिष्य एक चित्त से सुने, फिर-

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो ।
जिन पन्नत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - "आज से मेरे जावत्जीव तक श्री अरिहंत ही देव हैं, सुसाधु ही गुरु हैं और केवली भगवंत का वचन तत्त्व रूप धर्म मानता हूँ। इसके अतिरिक्त अन्य किसी देव, गुरु या धर्म को तारक मानकर आदर-सेवा नहीं करुँगा। इस तरह से मैं देव, गुरु संघ आदि की साक्षी में सम्यकत्व को ग्रहण करता हूँ।" फिर गुरु महाराज मंत्रित वास क्षेप करें।

इस तरह समकित उच्चरने के बाद यदि अणुव्रत आदि उच्चरने हो तो उनके उच्चरने का आदेश खमासमण पूर्वक माँग कर समकित उच्चरने के बाद साथ में उच्चरे तो गुरु महाराज उच्चारन करें, फिर सर्व को अन्त में गुरू महाराज मंत्रोच्चार पूर्वक वासक्षेप करें उसके बाद सात खमासमण विधि पूर्वक इस तरह दे।

शिष्य प्रथम खमासमण देकर बोले **'इच्छकारि भगवन् तुम्हे अम्हं सम्यकत्व सामायिकं श्रुत सामायिकं देश विरति समायिकं आरोहे।'** गुरु कहे **'आरोवेमि'** शिष्य दूसरा खमासमण देकर बोले **'संदिसह! किं भणामि!'** गुरु कहे **'वंदित्ता पवेअहं'** शिष्य तीसरा खमासमण देकर बोले कि **'इच्छं भगवन्त तुम्हे अम्ह सम्यकत्व सामायिकं श्रुत सामायिकं, देश विरति सामायिकं आरोविअं इच्छामो अणुसट्ठिं'** गुरु कहे 'आरोविअं **आरोविअं खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तणं अत्थेणं तदुभयेणं सम्मं धारिज्जाहिं (अण्णेसिं च पवज्जाहि) गुरु गुणेहिं वुड्ढाहि (वुड्ढिज्जाहि) नित्थार पारगा होइ।"** शिष्य इच्छं कहकर चौथा खमासमण देकर **' तुम्हाणं पवेइअं , संदिसह साहूणं पवेएमि ?** इस तरह पूछे तब गुरु बोले **'पवेअह'**। शिष्य 'इच्छ' कहकर पांचवा खमासमण देकर नंदी के चारों दिशाओं में प्रतिमा जी के सन्मुख मस्तक नमाकर एक-एक नवकार बोले। समवसरण नंदी को और गुरु को तीन बार प्रदक्षिणा दे, उस समय खड़े होकर प्रथम गुरु और फिर मांगलिक बाजे की गीत के नादपूर्वक चतुर्विध श्री संघ की प्रदक्षिणा देते हुए शिष्य को तीन बार वासक्षेप करना, फिर गुरु पुनः आसन पर बैठे। उसके बाद शिष्य छठा खमासमण देकर **'तुम्हाणं पवेइअं साहूणं पवेइयं संदिसह। काउस्सग्गं करेमि'** इस तरह पूछे तब गुरु कहे **'करेत शिष्य इच्छं'** कहकर सातवाँ खमासमण देकर **'सम्यकत्व सामायिक, श्रुत सामायिक, देश विरति सामायिक'** यहाँ जो व्रत आदि लेना हो उसका भी नाम उच्चारण कर **'स्थिराकरणार्थं करेमि काउस्सग्गं** अन्नत्थं' कहकर २७ श्वासोच्छ्वास का 'सागरवर गभीरा' तक काउस्सग्ग ध्यान करे और उसे पूर्ण कर प्रगट **लोगस्स** बोलना। फिर गुरु महाराज उसे बड़, कठूमर, गुलर, पीपल, लक्ष पीपल - पाँच प्रकार के वृक्ष के फल आदि बाईस अभक्ष्य वस्तु,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बत्तीस अनंत काय तथा रात्रि भोजन आदि के त्याग का यथाशक्ति नियम करवायें। उसका पाठ इस तरह है:-

"अहन्नं भंते! तुम्हाणं समीवे अभिग्गहे गिण्हामि, तंजहा-दव्वओ-खित्तओ-कालओ – भावओ, दव्वओण इमे (जैसा अभिग्रह हो) अभिग्गाहे, खित्तओ णं इत्थ वा अन्नत्थ वा कालाओणं जावज्जीवाए भावओणं अहागहिय भंगेणं (जिस तरह मन में धारण किया है उस तरह) अरिहंत सक्खियं, सिद्ध सक्खियं, साहु सक्खियं, देव सक्खियं, अप्प सक्ख्यं अन्नत्थणा भोगेणं सहसा गारेणं महत्तरा गारेणं सव्व समाहिवत्ति या गारेणं वोसिरामि॥"

अर्थात् - "हे भगवन्त! मैं आपके समक्ष द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अभिग्रह को स्वीकार करता हूँ, उसमें द्रव्य से अमुक अभिग्रह को, क्षेत्र से यहाँ पर या जहाँ जाऊँ वहाँ, काल से जावत्जीव तक और भाव से मेरी धारणा अनुसार अरिहंत, सिद्ध, साधु, देव और आत्मा की साक्षी से अनाभोग, सहसात्काण- महत्तर महत्त्वपूर्ण कारणों को लेकर एवं असमाधि के समय- इन चार अपवादों (छूट) को रखकर त्याग करता हूँ।"

इस तरह शक्ति अनुसार त्याग का नियम करवा करके फिर उसकी शक्ति अनुसार उस दिन के लिए एकासना आदि तप का पच्चक्खान कराना चाहिए। फिर शिष्य स्वयं सम्यकत्वादि जो धर्म अंगीकार किया है' वह कितना दुर्लभ है? उसकी आराधना का क्या फल है ? और उसके निरतिचार पालन करने के लिए किस तरह से सावध-सावधान रहना चाहिए ? इत्यादि उपदेश गुरु महाराज के पास से सुने और अपने आप को महानिधान मिला हो वैसे कृतकृत्य माने, उसी प्रकार ही गुरु महाराज का महान उपकार माने। देश विरति धर्म आरोपण की विधि भी उसी तरह है। केवल उसके पच्चक्खाण का पाठ अतिरिक्त इस प्रकार है:-

"अहन्नं भंते! तुम्हाणं समीवे यूलगं पाणा इ वायं संकप्पओ निरवराहं (निरवेक्खं) पच्चक्खामि, जावज्जीवाए, दुविहं तिविहेणं मणेण वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि तस्स भंते! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥१॥"

अर्थात् - 'हे भगवन्त! मैं आपकी साक्षी में 'संकल्प से निरपेक्षता-निरपराधी-त्रस जीवों की प्राण नाश रूप स्थूल हिंसा का त्याग करता हूँ। वह हिंसा जब तक जीवन है तब तक द्विविध-त्रिविध से अर्थात् मन, वचन, काया से नहीं करूँगा या नहीं करवाऊंगा। हे भगवंत! उस हिंसा से मैं रुकता हूँ, उसकी आपकी साक्षी में निन्दा करता हूँ, मेरी आत्मा की साक्षी में उसे दुष्ट मानता हूँ और अपनी आत्मा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को उससे (हिंसा से) विसर्जन करता हूँ।" अब दूसरे व्रत के पच्चक्खान का पाठ कहते हैं :-

"अहन्नं भंते! तुम्हाणं समीवे थूलगं मूसावायं जीहा छेयाइहेउं कन्नालीया इअं पंचविहं पच्चक्खामि दक्खिण्णाइअविसए जावज्जीवाए दुविहा मिच्चाई।"

अर्थात्- 'हे भगवन्त! मैं आप के पास जिससे जिह्वा छेदन आदि राजदंड हो ऐसे पाँच प्रकार के मोटे झूँठ-असत्य का जब तक जीवन है तब तक खास दाक्षिण्यतादि कारण से अपवाद रख कर त्याग करता हूँ। शेष भावार्थ प्रथम व्रत समान समझना॥२॥' अब तीसरे व्रत का पच्चक्खान का पाठ कहते हैं -

"अहन्नं भंते! तुम्हाणं समीवे थूलगं अदात्तादाणं खत्त खणणाइअं चोरं कार करं राय निग्गहकरं सचित्ता चित्ताइवत्यु विसयं पच्चक्खामि जावज्जीवाए दुविहमित्यादि ॥३॥"

अर्थात्- हे भगवन्त! आपकी साक्षी में मैं घर आदि तोड़कर चोरी करना या डाका डाल कर जिससे चारी का कलंक लगे और राजदण्ड हो, ऐसी सजीव-निर्जीव आदि वस्तुओं की बड़ी चोरी का त्याग करता हूँ। हे भगवन्त! मैं जब तक जीवन है तब तक- इत्यादि पूर्व कहे अनुसार समझना ॥३॥" अब चौथे व्रत का नियम का पाठ कहते हैं -

"अहन्नं भंते! तुम्हाणं समीवे आरोलि अवे उव्विअ भेअं थूलगं मेहुणं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तत्थ दिव्यं दुविहं तिविहेण तेरिच्छं एगविहं तिविहेणं मणुअं अहागहिअ भंग एणं तस्स भंते ! पडिक्कमामि निदामीत्यादि॥४॥"

अर्थात् - "हे भगवन्त! मैं आप के समक्ष औदारिक और वैक्रिय शरीर सम्बन्धी स्थूल मैथुन कर्म (स्त्री पुरुष के सेवन) को जब तक जीवन है तब तक त्याग करता हूँ। उसमें वैक्रियक- देवादि सम्बन्धी मैथुन को मन, वचन, काया से सेवन नहीं करूँगा न ही सेवन कराऊँगा। इसी तरह द्विविध-त्रिविध विभाग से तिर्यंच सम्बन्धी औदारिक मैथुन को मन, वचन, काया से सेवन नहीं करूँगा। इस तरह एक विधि-त्रिविध विभाग से और मनुष्य सम्बन्धी औदारिक मैथुन को यथाशक्य विभाग से मैंने जैसे धारण किया है वैसे सेवन करने का त्याग करता हूँ, निंदा करता हूँ, इत्यादि पूर्व के समान समझना ॥४॥" अब पांचवें व्रत के नियम का पाठ कहते हैं -

"अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे अपरिमिअं परिग्गहं पच्चक्खामि धण धन्नाइ नव विहवत्थुविसयं इच्छापरिमाणं उपसंपज्जमि जावज्जीवाए अहागहिय भंगेणं तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि इच्चाइ॥५॥"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - "हे भगवन्त! मैं आपके समक्ष अपने अपरिमित परिग्रह-मूर्च्छा का त्याग करता हूँ और धन-धान्यादि नवविध पदार्थों में मूर्च्छा का प्रमाण करता हूँ। इतने प्रमाण से अधिक नहीं कल्पता - ऐसी मर्यादा करता हूँ। आज से जीवन के अन्त तक अमुक-अमुक विभाग से अपनी धारणा अनुसार नियम करता हूँ, इत्यादि पूर्व के समान समझना ॥५॥" ये पाचों अणुव्रत अलग-अलग, तीन-तीन बार नवकार बोलने के साथ उच्चारण करना और फिर तीन गुणव्रत एक साथ में उच्चारण करना। उसका पाठ इस तरह है :-

"अहन्नं भन्ते! तुम्हाणं समीवे गुण व्वयतिए उड्ढा हो तिरिअ गमण विसयं दिसि परिमाणं पडिवज्जामि। उवभोग परिभोगवए भोअणओ अणंतकाय बहु वीअराई भोअणाई परिहरामि करम ओणं पनरस कम्मा दाणाइं इंगाल कम्मा इआइं बहु सावज्जाइं, खर कम्माइं राय निओगं च परिहरामि। अणत्थ दण्डे अवज्झाणाइअं चउव्विहं अणत्थदंडं जहा सत्तीए परिहरामि जावज्जीवाए अहागहि अभंग एणं तस्स भंते। पिडक्कमामीत्यादि ६-७-८॥"

अर्थात्- हे भगवन्त! मैं आपके पास में गुणव्रतों को अंगीकार करता हूँ। उसमें छठे दिशि परिमाण व्रत में ऊर्ध्व, अधो और आठ दिशा विदिशा- इस तरह दस दिशा में अमुक सीमा से अधिक जाने आने का त्याग करता हूँ। सातवें **भोगोपभोग विरमण व्रत** में भोजन विषय में अनंत काय बहुबीज भक्षण और रात्रि भोजन आदि भोग का त्याग और कर्म विषय में अंगार कर्म आदि महा भयंकर पाप कर्म रूप पंद्रह कर्मादानों का तथा कोटवाल, जेलर आदि राज्य की क्रूर नौकरी का त्याग करता हूँ। आठवें **अनर्थ दण्ड विरमण व्रत** में आर्त्त-रौद्र-दुर्ध्यान आदि चार प्रकार के अनर्थ दण्ड का त्याग करता हूँ। हे भगवन्त! इन तीनों व्रतों में अपनी धारणा अनुसार मैं जीवन भर तक यथाशक्ति त्याग करता हूँ। इत्यादि पूर्व के समान जानना॥ ६-७-८॥" इन तीनों गुणव्रतों का पाठ भी एक-एक नवकार पूर्वक तीन बार बोलना। इसके बाद चार शिक्षा व्रतों का उच्चारण करने का पाठ इस तरह है :-

"अहन्नं भंते! तुम्हाणं समीवे सामाइअं देसावगासिअं पोषहोववासं-अतिहि संविभाग वयं च जहासत्तीए पडिवज्जामि जावज्जीवाए अहागहिय भंगेणं तस्स भंते! पडिक्कमामि इच्छाइ ॥ ६-१०-११-१२॥"

अर्थात् 'हे भगवन्त! मैं आपके समक्ष ६ सामायिक, १० देसावगासिक, ३ पौषधोपवास और ४ अतिथि संविभाग करने रूप चार शिक्षा व्रतों को जब तक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जीवन है तब तक यथाशक्ति अपनी धारणा अनुसार ग्रहण करता हूँ, आदि शेष अर्थ पहले के समान समझना ।।६ से १२ तक।।'

चारों शिक्षा व्रतों का पाठ एक साथ में एक-एक नवकार गिनकर तीन बार सुनाना। फिर मुहूर्त्त का समय आए तब तीन बार नवकार मन्त्र पूर्वक यह सुनाये:-

''इच्चेइअं सम्मत्त मूल पञ्चाणु व्वइअं सत्त सिक्खा वइअं दुवालस विहं सावग धम्मं अचहि अट्ठाए उवसपज्जिताण विहरमि ।।''

अर्थात् '' इस प्रकार मैं सम्यकत्व मूल पांच अणुव्रत और सात शिक्षा व्रत इस तरह बारह व्रत रूप श्रावक धर्म को ग्रहण करके पालन करता हूँ।'' इस तरह मूल पच्चक्खान का शब्दार्थ कहा ।

इसके अनुसार सम्यकत्व व्रतादि स्वीकार करने की विधि कही । अब उन अणुव्रत-शिक्षाव्रत आदि का स्वरूप क्रमश: विस्तार पूर्वक कहते हैं ।

गृहस्थ के बारह व्रतों का स्वरूप

स्थूल हिंसादि विरतिं, व्रतभङ्गे केन चित् ।
अणुव्रतानि पञ्चाहुर हिंसादीनि सम्भवः ।।२।।

अर्थ - स्थूल हिंसा, झूँठ आदि पापों को यथाशक्ति किसी अंश में त्याग करना अर्थात् उस प्रमाण में उस हिंसादि से रुकना, श्री तीर्थंकर देवों ने वे अहिंसा, सत्य आदि पांच अणुव्रत कहे हैं ।

भावार्थ:- यहाँ (जिसका स्वरूप आगे कहा जायेगा वह) प्रमाद से जीव के प्राणों का वियोग हो ऐसी प्रवृत्ति करना वह हिंसा है। इस हिंसा के सूक्ष्म और स्थूल दो भेद होते हैं । उसमें जैन दर्शन मानता है कि जो पृथ्वी कायादि पाँच स्थावर एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा है, वह सूक्ष्म हिंसा है । मिथ्या दृष्टि भी जिसको हिंसा मानते हैं, वह स्थूल-बादर हिंसा अथवा अन्य रीति से चलते फिरते गिंडोवा, कीड़े, चींटी आदि से लेकर पंचेन्द्रिय तक के त्रस जीवों की हिंसा वह १. स्थूल हिंसा है, इसी न्याय से आदि शब्द से २. स्थूल मृषावद, ३. स्थूल चोरी, ४. स्थूल अर्थात् परदारादि के साथ में अब्रह्म का सेवन और ५. सविशेष परिग्रह-वस्तुओं का संग्रह या मूर्च्छा- ये स्थूल हिंसा आदि पाँच महापाप हैं, उनकी विरति करना, उनसे रुकना, उन पापों से बचना, उसे स्थूल अहिंसा आदि कहते हैं अर्थात् १. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य और ५. अपरिग्रह नामक पांच अणुव्रत कहे हैं । यहाँ अणु का अर्थ छोटा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है। इसका कारण यह है कि साधु धर्म में ये ही पाँच व्रत महान होते हैं। उसकी अपेक्षा से यह छोटा है अथवा साधु के गुण स्थानक से श्रावक का गुण स्थानक छोटा होने से छोटे गुणस्थानक वाले गृहस्थ के व्रत 'अणु' अर्थात् छोटे कहे हैं, अथवा प्राकृत 'अणु' का संस्कृत भाषा में 'अनु' बनता है। इसका अर्थ 'पश्चात् -पीछे' होता है। इस दृष्टि से उपदेशक गुरु महाराज पहले श्रावक के महाव्रतों का और पीछे से असमर्थ के स्थूल व्रतों का उपदेश देते हैं। इस तरह महाव्रतों का 'अनु' अर्थात् बाद में उपदेश देने के कारण से 'अनुव्रत' कहलाते हैं।

कहा है कि **''जइ धम्मस्सऽसमत्थे, जुज्जइ तद्देसणं पि साहूणं।''**

अर्थात्- 'साधु धर्म के लिए असमर्थ आत्मा को साधु द्वारा अणुव्रतों को समझाना- यह भी योग है। ये अणुव्रत पाँच होने पर भी गाथा में 'विरति' पद में एकवचन का प्रयोग इस कारण से किया है कि व्यक्ति रूप में अलग-अलग पाँच होने पर विरति-धर्म रूप जाति से वे सब एक ही हैं अर्थात् ये पाँच अणुव्रत एक देश विरति-धर्मरूप हैं। इनके उपदेशक कोई सामान्य छद्मस्थ नहीं है परन्तु स्वयं श्री तीर्थंकर परमात्मा हैं और ये पाँचों अणुव्रत एक ही प्रकार के महाव्रतों के समान एक ही विभाग वाले नहीं है परन्तु द्विविध-त्रिविध से होने वाले अनेक भंग- प्रकार वाले होते हैं। इससे उनमें से किसी भी भंग से स्वीकार करने योग्य हैं तथापि अधिकत: श्रावक व्रत में द्विविध, त्रिविध आदि छह भंग ही संभव होते हैं। इन छह विभागों से ग्रहण करना योग्य है। यह विभाग इस तरह होते हैं -सामान्य से श्रावक के व्रतधारी और व्रत बिना – ऐसे दो भेद होते हैं तथापि विशेष रूप से उसके आठ भेद होते हैं। आवश्यक नियुक्ति गाथा १५५७ में कहा है-

साभिग्गहा य णिरभिग्गहा य ओहेण साव या दुविहा।
ते पुण विभज्जमाणा, अट्ठविहा हुंतिणायव्वा ॥१५५७॥

अर्थात्- श्रावक १- अभिग्रह वाले अर्थात् आनंद कामदेव आदि के समान व्रतधारी और २- अभिग्रह हीन अर्थात् कृष्ण वासुदेव, श्रेणिक महाराजा आदि के समान व्रत रहित। इस तरह दो प्रकार के होते हैं। उनमें अभिग्रह वाले सात प्रकार के होते हैं, इस अपेक्षा से सात अभिग्रह वाले और एक अभिग्रह हीन इस तरह श्रावक के कुल आठ भेद होते हैं।

उस अभिग्रह वाले के सात भेद इस तरह होते हैं – पाँच भेद होते हैं एक अधिक अणुवत रूप श्रावक के मूल गुण धर्म, छठा भाग अंगीकार करने वाला छह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकार का होता है, उसमें उत्तर गुण और अविरति ये दो मिलाकर कुल आठ विभाग होते हैं। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है-

दुविह तिविहेण पढमो, दुविहं दुविहेण बीअओ होइ।
दुविहं एग विहेणं, एग विहं चेव तिविहेणं ॥१५५८॥
एग विहं दुविहेणं, एगेग विहेण छट्ठुओ होइ ।
उत्तर गुण सत्तमओ, अविरमो चेव अट्ठमओ ॥१५५६॥

अर्थात् - "१- द्विविध-त्रिविध, २- द्विविध-द्विविध, ३- द्विविध-एकविध, ४- एकविध-त्रिविध, ५- एकविध-द्विविध और ६- एकविध-एकविध। इन छह भेदों में से श्रावक जिस विभाग से व्रत लेता है उस विभाग वाला वह कहलाता है। इस तरह मूल गुण वाले के छह भेद हो गये। उसमें तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत- जो सात उत्तर गुण हैं, उस उत्तर गुण धर्म को अंगीकार करने वाले का सातवाँ भेद हुआ, इन सात भेदों वाला विरतिधर अभिग्रह वाला श्रावक हुआ। उसमें किसी विभाग में एक व्रत न हो, उस अवरिति श्रावक का एक मिलाकर, कुल विरतिधर सात और अविरति एक मिलाकर आठ भेद होते हैं।

यह द्विविध-त्रिविध आदि भेद कहे हैं। उनका स्वरूप उनके उत्तर भेदों सहित इस तरह है- यहाँ करना, करवाना और अनुमोदन करना- ये तीन क्रिया रूप होने से करण कहे हैं और उसके साधनभूत मन, वचन, और काया उसके योजक होने से वह योग कहलाता है। अब भेदों का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं।

१. द्विविध-त्रिविध- इसमें स्थूल हिसांदि पाप स्वयं करना और दूसरे से करवाना दो कारणों को मन से, वचन से, काया से - इन तीनों योगों द्वारा त्याग करना होता है। अनुमोदना का त्याग गृहस्थ नहीं कर सकता क्योंकि गृहस्थ का पुत्रादि परिवार भी जो हिंसादि करता है उसकी अनुमोदना व्रतधारी गृहस्थ को भी लगती है। अनुमोदना के भी तीन भेद हैं। इसका वर्णन पीछे कर दिया है। पुत्रादि होने पर यदि परिग्रह न माने तो परिग्रही-अपरिग्रही में भेद नहीं रहता। परिणाम में साधु और व्रतधारी श्रावक दोनों के धर्म त्रिविध-त्रिविध पच्चक्खान वाले समान हो जायेंगे, वह अयोग्य है। पुत्रादि भी जो पाप करता है उसकी अनुमोदना व्रतधारी गृहस्थ को अनिषेध रूप उपभोग रूप या सहवास रूप में भी लगती है। इससे गृहस्थ द्वारा अनुमोदना का त्याग नहीं हो सकता। यद्यपि भगवती सूत्र में श्रावक के लिए त्रिविध-त्रिविध (तीन करण, तीन योग से) प्रत्याव्यान करने का विधान है। शास्त्र में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रतिपादित होने से वह निर्दोष ही है। तब उसका प्रतिपादन यहाँ क्यों नहीं करते ? इसके समाधान में कहते हैं कि-किसी विशेष परिस्थिति में ही श्रावक के लिये यह प्रतिपादन किया गया है । जैसे किसी श्रावक दीक्षार्थी को पुत्र आदि पालन करना आवश्यक हो और घर में रहना पड़े और वह श्रावक की ग्यारहवीं पडिमा नियम विशेष अंगीकार करता है तब उसे, अथवा कोई श्रावक स्वयं भूरमण, समुद्र मछली का माँस, हाथी के दांत या सिंह का चमड़ा आदि स्थूल हिंसा का विशेष परिस्थिति में प्रत्याख्यान करता है, वह पूर्वोक्त त्रिविध-त्रिविध रूप प्रत्याख्यान कर लेता है, उनकी अपेक्षा से भगवती सूत्र आदि में वैसा विधान किया गया है। मगर इस प्रकार के आराधक श्रावक बहुत ही विरल होते हैं इसलिए यहाँ उसका विधान नहीं किया है। आम तौर पर श्रावक के लिये द्विविध-त्रिविध रूप से प्रत्याख्यान कहा गया है।

२. द्विविध- द्विविध – इसमें स्थूल हिंसा-पाप न करे और न कराये । मन और वचन से अथवा मन और काया से या वचन और काया से । यह दूसरा भेद द्विविध- द्विविध कहलाता है । इस विभाग के उत्तर भेद तीन होते हैं । प्रथम-स्थूल हिंसादि करने कराने का मन और वचन से त्याग करे । दूसरे में वही दो- करना, कराना मन से और काया से त्याग करे, और तीसरे में उन दो करण को वचन से और काया से त्याग करे। इसी तरह उत्तर भेद तीन होते हैं । उसका स्वरूप इस तरह है:- १- जब मन से एवं वचन से स्वयं न करे या कराये नहीं, तब मन की प्रेरणा बिना ही केवल काया से असंज्ञी के समान दुष्ट चेतना पाप प्रवृत्ति करे करावे । २- जब मन और काया से स्वयं करे या कराये नहीं, तब मन की प्रेरणा बिना ही काया से भी दुष्ट क्रिया न्याय प्रवृत्ति न करते अज्ञानता अथवा उपयोग शून्य से 'मारूं', 'हनन करूं' या 'मारो-हनन करो', आदि पापकारी वचन उच्चारण करे वह । और ३- वचन और काया से स्वयं करने या दूसरे के पास कराने की केवल इच्छा करे । अनुमोदना तो मन, वचन और काया से सर्व भेद में खुला रहता ही है । इन तीन भेद अनुसार कहे गये शेष भेदों का स्वरूप भी यथाबुद्धि से स्वयं विचार-समझ कर लेना । इस तरह छह-छह भेद अन्य द्विविध-द्विविध भेद का तीन उत्तर भेद के साथ वर्णन किया है ।

३- द्विविध-एकविध - इसके भी तीन उत्तर भेद होते हैं जैसे कि- द्विविध अर्थात् करना और कराना ये दो कारण एक प्रकार से अर्थात् सिर्फ एकला मन से अथवा वचन से या सिर्फ काया से त्याग करना, इस तरह तीन भेद हुये । अर्थात् १- मन से हिंसादि नहीं करना कराना, २- वचन से हिंसादि नहीं करना करवाना और ३- काया से हिंसादि नहीं करना करवाना । इसके अनुसार द्विविध-एकविध यह तीसरा मूल भेद तीन प्रकार से समझना ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. एकविध-त्रिविध – इसके इस तरह उत्तर भेद होते हैं– १. स्वयं हिंसादि करूँ नहीं – मन, वचन और काया से तथा २. स्वयं हिसांदि करवाना – मन, वचन और काया के द्वारा । ये चौथे मूल के दो उत्तर भेद हैं ।

५. एकविध-द्विविध – इसके उत्तर भेद छह होते हैं – १. स्वयं करना नहीं मन और वचन से, २. स्वयं हिसांदि करना नहीं – मन से और काया से तथा ३. स्वयं नहीं करना– वचन से और काया से । जैसे ये तीन भेद स्वयं करने का निषेध रूप एक करण का भेद हुआ, वैसे करवाना नहीं – इस तरह भी तीन भेद होते हैं, १. करवाना नहीं – मन वचन से, २. करवाना नहीं – मन और काया से, ३. करवाना नहीं – वचन और काया से । इस तरह पाँचवे के भेद हुए ।

६. एकविध-एकविध – इसके भी उत्तर भेद पाँचवे के समान छह हैं– १. मन से हिंसादि स्वयं करूं नहीं, २. वचन से स्वयं नहीं करूँगा, ३. काया से स्वयं नहीं करूँगा, ४. मन द्वारा अन्य से नहीं करवाऊँगा, ५. वचन से अन्य के द्वारा नहीं करवाऊँगा और ६. काया से अन्य के द्वारा नही करवाऊँगा । इस तरह छठे के भी छह भेद होते हैं । इनकी सर्व संख्या इक्कीस होती है । प्रवचन सारोद्वार में श्रावक व्रत भंग प्रकरण ६ में कहा है कि –

दुविह तिविहाइ छच्चिय, तेसिं भेया कमेणि मे हुंति ।
पढमिक्को दुन्नि तिआ, दुगेग दो छक्क इगवीसं ॥१३२६॥

अर्थात् 'द्विविध-त्रिविधादि मूल भेद छह ही हैं । उनके उत्तर भेद क्रमशः प्रथम २+३ का एक, दूसरे २+२ के तीन, तीसरे २+१ के तीन, चौथे १+३ के दो, पांचवें १+२ के छह और छठे १+१ के छह हैं । इस तरह कुल मिलाकर १+३+३+२+६+६= २१ होते हैं ।'

इस तरह छह भेद मूलव्रत व्रतधारी श्रावक के छह तथा गुणव्रत और शिक्षा व्रत रूप उत्तर गुण 'व्रत उच्चारण करने वालों का एक, इस तरह व्रतधारी के सात भेदों का स्वरूप कहा है। यहाँ सातवें भेद में सामान्य से उत्तरगुण रूप सात व्रत या सात में से किसी एक या अधिक व्रत लेने वाले का सब को एक भेद में ही गिना जाता है– ऐसा समझना। इन सात में मूल गुण या उत्तर गुण में से एक भी व्रत अंगीकार नहीं किया हो उस अविरति को मिलाकर भी आवश्यक निर्युक्ति में श्रावक के कुल आठ भेद बताये हैं और यही आठ प्रकार के भिन्न एक-एक व्रत की अपेक्षा से बत्तीस भेद भी होते हैं । जैसे कि पाँच अणुव्रतों में प्रत्येक के छह-छह भेद कहे हैं और उसे पाँच अणुव्रतों के साथ गुणा करने से ५×६=३० होते हैं और उसमें उत्तर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गुण का एक तथा अविरति का एक, ये दोनों मिलाकर कुल ३०+२=३२ भेद होते हैं। श्रावक व्रत भंग प्र० ३ प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि :-

दुविहा विरया विरया दुविह ति विहाइणट्ठहा हुंति ।
वयमेगेगं छच्चिय, गुणिअं दुग मिलिअ बत्तीसं ॥१२३॥

अर्थात् - "श्रावक के विरति धर और अविरति वाला दो भेद हैं। उसके द्विविध त्रिविधादि भेद करने पर विरतिधर के सात और अविरति को मिलकर आठ भेद होते हैं और प्रत्येक व्रत के द्विविध-त्रिविधादि छह-छह भेद अलग-अलग गिनने पर पाँच व्रत के तीस तथा उत्तर गुण के एक, अविरति के एक मिलकर बत्तीस भेद भी होते हैं।"

विशेष में यहाँ द्विविध-त्रिविध आदि भेद बतलाते हुए उपलक्षण से श्रावक के योग्य पाँच अणुव्रतादि बारह व्रतों के विभागों की संख्या के अंक से बनती देव कुलिकाओं का सूचन किया है, ऐसा समझना। 'देव कुलिका' पारिभाषिक शब्द है, जिस संख्या को नीचे ऊपर लिखते देवालाय जैसी Δ आकृति बनती है उसे देवकुलिका समझना। पूर्व कहे द्विविध-त्रिविधादि छह विभाग रूप षड्भंगी द्वारा प्रत्येक व्रत के विभागों की देव कुलिका बनती है। इन प्रत्येक देव कुलिकाओं में १- **गुण्यांक**- जिसको गुणा किया जाये वह संख्या, २- **गुणांक**- जिससे गुणा किया जाये वह संख्या, ३- **फलांक**- गुण्य-गुणांक से गुणाकार करते जो संख्या बने वह संख्या है। इस तरह तीन प्रकार की संख्या होती हैं। उसमें अब इस देवकुलिका के लिये उपर्युक्त छह विभागों की विवक्षा से उत्पन्न होते प्रत्येक व्रत के कुल संयोगी भेद की संख्या तथा उन संख्याओं को उत्पन्न करने का उपाय प्रवचन सारोद्धार के श्रावक व्रत भंग में कहते हैं :-

एगवए छब्भंगा, निद्दिट्ठा साव याण जे सूत्ते ।
ते च्चिय पय वुड्ढी, सत्त गुणा छज्जुआ कमओ ॥१३३०॥

अर्थात्- 'श्रावक के एक व्रत का द्विविध-त्रिविध आदि जो छह भेद सूत्र बतलाया है, वह ही एक पद की वृद्धि से अर्थात् छह में एक मिलाने से सात होता है, गुणा उसमें छह मिलाते पहले दूसरे व्रत के असंयोगी-संयोगी कुल भेद की संख्या आती है। इस क्रम में प्रत्येक व्रत के संयोगी-असंयोगी कुल भेद की संख्या होती है। उदाहरण के तौर पर प्रथम व्रत के असंयोगी भेद छह होने से छह के अंक को 'गुण्यांक' समझना तथा पहले व्रत के साथ में मृषावादादि किसी एक का संयोग करते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

छह में एक बढाने से सात का अंक 'गुणांक' जानना इन दोनों का गुणाकार कर संयुक्त मृषावादादि के असंयोगी भेद छह उसमें मिलाना। इस तरह प्रथम-दूसरे आदि किन्हीं दो व्रतों में भेद की संख्या बनती है। उसी तरह पहले दो व्रतों के साथ में तीसरे का भेद निकालना हो तब दो व्रतों के कुल संयोगी भेद की संख्या को सात गुणा छह बढ़ाये। इस तरह यह गणित कितनी बार करना होगा ? वह कहते हैं कि-प्रथम और दूसरे व्रतों के भेद के लिये एक बार करना तीसरे व्रत के साथ संयोगी भेद के लिए फिर एक बार अर्थात् कुल दो बार। इसी तरह चौथे व्रत के साथ के भेद के लिए एक बार, इस तरह पांचवें व्रत से लेकर बारह व्रतों तक साथ के संयोगी-असंयोगी भेद निकालने हों तो कुल ग्यारह बार यह गणित करना। अर्थात् 'जितने व्रतों के असंयोगी-संयोगी भेद निकालने हों उससे एक न्यून बार सात गुणा छः मिलाने के समान करना।

जैसे कि पहले व्रत के छह भंग-भेद को सात से गुणा करने पर ६×७=४२ होते हैं। उसमें छह मिलाने से ४८ होते हैं। वह पहले और दूसरे व्रत में एक संयोगी (असंयोगी) १२ और द्विसंयोगी ३६ मिलाकर कुल ४८ भेद जानना। अब इन दोनों के साथ में तीसरे व्रत सहित के सभी भेद के लिए दूसरे बार गणित करते ४८×७=३३६+६=३४२ होते हैं अर्थात् पहले, दूसरे और तीसरे व्रत के एक असंयोगी, द्विसंयोगी और त्रिसंयोगी मिलकर ३४२ भेद होते हैं। इसी तरह चौथे व्रत साथ के सारे भेद के लिए तीसरी बार गणित करते ३४२×७=२३६४+६=२४०० होते हैं। पांचवें व्रत के साथ का २४००×७=१६८००+६= १६८०६ होते हैं। इस गणित के अनुसार ही जैसे-जैसे व्रत की संख्या बढ़ती जाए वैसे-वैसे गणित भी अधिक करने से उस व्रत के साथ के पहले व्रत से जितने व्रत तक के भेद निकालने हों उन सब व्रतों के असंयोगी, द्विसंयोगी, त्रिकसंयोगी, चतुःसंयोगी आदि द्वादश संयोगी तक भेद निकालने हों तो वह इस तरह- छठे व्रत के साथ के ११७६४८, सातवें व्रत के ८२३५४२, आठवें व्रत के ५७६४८००, नौवें व्रत के ४०३५३६०६ दसवें व्रत के २८२४७५२४८, ग्यारहवें व्रत के १६७७३२६७४२ और बारहवें व्रत के १३८४१२८७२०० भेद होते हैं। यह ६-४८ आदि बारह उत्तरों को ऊपर नीचे लिखने से अर्ध देव कुलिका सदृश

६
४८
३४२
२४००
१६८०६
११७६४८
८२३५४२
५७६४८००
४०३५३६०६
२८२४७५२४८
१६७७३२६७४२
१३८४१२८७२००

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आकृति होती है इसलिए उसकी स्थापना खंड देव कुलिका कहलाती है। पूर्व देव कुलिका तो प्रत्येक व्रत की अलग-अलग छः भंगियों से बारह व्रतों की बारह होती है। उसमें बारहवीं कुलिका में पहली गुण-संख्या ६, ३६, २१६, १२६६, ७७७६, ४६६५६, २७६६३६, १६७८६१६, १००७७६६६, ६०४६६१७६०, ३६२७६७०५६ और २१७६८२३३६ - ये बारह और दूसरी गुण संख्या, १२, ६६, २२०, ४६५, ७६२, ६२४, ७६२, ४६५, २२०, ६६, १२ इस तरह बारह है। इन गुण संख्याओं से ६, ३६ आदि गुण संख्या का गुणाकार करने से जो जबाब आता है वह दूसरी फल संख्या भी बारह होती है। ऐसी तीनों को यथा योग्य ऊपर नीचे लिखने से भी देव कुलिका का आकार बनता है। देखो आगे कोष्ठक नम्बर १ में।

कोष्ठक नं० १
१ - २ - ३ - ४ - ५ व्रतांक
५ - ४ - ३ - २ - १ संयोगांक

उपर्यक्त गुण्य, गुणक और फल राशि उत्पन्न होने की रीति इस तरह है। गुण्यांक के लिए प्रथम व्रत के मूल छह विभाग को उत्तरोत्तर दूसरे तीसरे की तरह प्रति व्रत की षड्भंगी से छह-छह करते गुण राशि अंक आता है जैसे कि-प्रत्येक व्रत के मूल असंयोगी भेद छः हैं, उनके द्विसंयोगी भेद बनाने हों तो दूसरे व्रत के छह भेद से गुणा करने से ३६ बनता है और उससे तीसरे व्रत के साथ में त्रिसंयोगी भेद बनाने हों तो ३६ को तीसरे व्रत के छः भेद द्वारा छह से गुणा करने से २१६ बनता है। इस तरह उत्तरोत्तर छह से गुणा करने से पूर्व कहे अनुसार बारह गुण्य राशियाँ बनती हैं। दूसरी गुणक राशी बनाने के लिए उपाय इस तरह है- जितने व्रतों के भेद निकालने हों उतने व्रतों के १-२-३ आदि अंक अनुक्रम से बायीं ओर से प्रारम्भ करना-लिखना फिर उसके नीचे जितने संयोग के भेद निकालना हो उतने अंक दाहिनी ओर से ३-२-१ आदि उल्टा लिखना। बायीं ओर तक अन्तिम अंक लिखना। जैसे कि पांच अणुव्रतों का संयोगी भेद बनाना हो तो कोष्ठक नम्बर-१ अनुसार अंक रखना, फिर दाहिने ओर के ऊपर के अंक '५' के नीचे अंक '१' से गुणता का जो उत्तर आता है वह गुणांक जानना, जैसे कि ५×१=५। इस तरह एक संयोगी-असंयोगी भेद पांच होते हैं, फिर उस जबाब के पीछे के नम्बर में ऊपर के अंक '४' से गुणा उसके नीचे के अंक '२' से भेद करना, जो जवाब आए वह उसका

कोष्ठक नं० २
१ - २ - ३ - ४ - ५ व्रतांक
५ - ४ - ३ - २ - १ संयोगांक
१ - ५ - १० - १० - ५ संयोगी भेद

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

द्विसंयोगी भेद समझना। जैसे कि -पांच (जवाब) को चार से गुणाकर दो से भाग करने से दस उत्तर आता है, वह 'दस' भेद द्विसंयोगी समझना। पुनः उस दस के अंक को उसके पीछे के ऊपर नीचे के अंक से अनुक्रम से गुणाकार भागाकार करना जैसे कि १०×३०=३ ÷ ३=१० ये दस भेद त्रियोगी होते हैं। उस दस को और उसके बाद के ऊपर नीचे के अंक से अनुक्रम से गुणा भाग का १०×२=२० ÷ ४=५ आता है, ये 'पांच' भेद 'चतुःसंयोगी' हुए और उस पांच के बाद अंक से गुणा -भाग ५×१=५÷ ५=१ यह 'एक भाग पंच संयोगी' बना। इस तरह जितने संयोग तक भेद निकालने हों उतने एक, दो, तीन इस तरह अनुक्रम से ऊपर और इससे उल्टा क्रम से ५-४ आदि नीचे लिखना (देखो कोष्ठक नम्बर २) उस के पीछे पूर्व कहे अनुसार भागाकार-गुणाकार करने से जो फल आता है उतने भाग उस संयोग के समझना। बारह व्रतों के एक संयोगी से लेकर बारह संयोगी तक के भेद भी उसी तरह से निकालना (देखो कोष्ठक नम्बर ३)।

कोष्ठक नं० ३

X	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	व्रतांक
÷	१२	११	१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१	संयोगांक
+	१	१२	६६	२२०	४९५	७९२	९२४	७९२	४९५	२२०	६६	१२	भाग गुणांक

इस तरह उस व्रत तक के जितने जितने संयोगी भेद होते हैं वह गुणक राशि जानना। यह गुणक राशि पूर्व में कही गुण्य राशि को गुणा करने से जो जबाब आता है वह फल राशि-फलांक समझना। इन तीनों संख्याओं को अनुक्रम में रखने पर देव कुलिका बनती है (देखो कोष्ठक ४)

कोष्ठक नं० ४

बारह व्रतों के असंयोग से बारह संयोगी तक के भेदों की देव कुलिका

क्रम	गुण्य	गुणांक	भेद	कुल भेद
१	६	१	६	६
२	६	२	१२	४८
	३६	१	३६	
३	६	३	१८	
	३६	३	१०८	३४२
	२१६	१	२१६	

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्रम	गुण्य	गुणांक	भेद	कुल भेद
४	६	४	२४	
	३६	६	२१६	
	२१६	४	८६४	२४००
	१२६६	१	१२६६	
५	६	५	३०	
	३६	१०	३६०	
	२१६	१०	२१६०	१६८०६
	१२६६	५	६४८०	
	७७७६	१	७७७६	
६	६	६	३६	
	३६	१५	५४०	
	२१६	२०	४३२०	११७६४८
	१२६६	१५	१६४४०	
	७७७६	६	४६६५६	
	४६६५६	१	४६६५६	
७	६	७	४२	
	३६	२१	७५६	
	२१६	३५	७५६०	८२३५४२
	१२६६	३५	४५३६०	
	७७७६	२१	१६३२६६	
	४६६५६	७	३२६५६२	
	२७६६३६	१	२७६६३६	
८	६	८	४८	
	३६	२८	१००८	
	२१६	५६	१२०६६	
	१२६६	७०	६०७२०	५७६४८००
	७७७६	५६	४३५४५६	
	४६६५६	२८	१३०६३६८	
	२७८६३६	८	२२३६४८८	
	१६७६६१६	१	१६७६६१६	

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्रम	गुण्य	गुणांक	भेद	कुल भेद
९	६	९	५४	
	३६	३६	१२९६	
	२१६	८४	१८१४४	
	१२९६	१२६	१६३२९६	
	७७७६	१२६	९७९७७६	४०३५३६०६
	४६६५६	८४	३९१९१०४	
	२७९९३६	३६	१००७७६९६	
	१६७९६१६	९	१५११६५४४	
	१००७७६९६	१	१००७७६९६	
१०	६	१०	६०	
	३६	४५	१६२०	
	२१६	१२०	२५९२०	
	१२९६	२१०	२७२१६०	
	७७७६	२५२	१९५९५५२	२८२४७५२४८
	४६६५६	२१०	२७९७७६०	
	२७९९३६	१२०	३३५९२३२०	
	१६७९६१६	४५	७५५८२७२०	
	१००७७६९६	१०	१००७७६९६०	
	६०४६६१७६	१	६०४६६१७६	
११	६	११	६६	
	३६	५५	१९८०	
	२१६	१६५	३५६४०	
	१२९६	३३०	४२७६८०	
	७७७६	४६२	३५९२५१२	
	४६६५६	४६२	२१५५५०७२	१९७७३२६७४२
	२७९९३६	३३०	९२३७८८८०	
	१६७९६१६	१६५	२७७१३६६४०	
	१००७७६९६	५५	५५४२७३२८०	
	६०४६६१७६	११	६६५१२७९३६	
	३६२७९७०५६	१	३६२७९७०५६	

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्रम	गुण्य	गुणांक	भेद	कुल भेद
१२	६	१२	७२	
	३६	६६	२३७६	
	२१६	२२०	४७५२०	
	१२६६	४६५	६४१५२०	
	७७७६	७६२	६१५८५६२	
	४६६५६	६२४	४३११०१४४	
	२७६६३६	७६२	२२१७०६३१२	१३८४१२८७२००
	१६७६६१६	४६५	८३१४०६६२०	
	१००७७६६६	२२०	२२१७०६३१२०	
	६०४६६१७६	६६	३६६०७६७६१६	
	३६२७६७०५६	१२	४३५३५६४६७२	
	२१७६७८२३३६	१	२१७६७८२३३६	

यहां बारह व्रतों में किसी भी एक ही व्रत को लेने वाले श्रावक के लिए पूर्व में कहा है कि एक व्रत की ही षड्भंगी होने से छह ही भेद होते हैं, दो व्रत लेने वाले श्रावक के समुदाय के अन्दर बारह में किन्हीं भी दो व्रतों को लेने वाला हो सकता है इसलिए उसके द्विसंयोगी १२ और दो में से किसी एक ही व्रत को लेने वाला हो उसके असंयोगी ३६, इस तरह कुल ४८ भेद होते हैं। बारह व्रतों में किन्हीं भी तीन व्रत लेने वाले श्रावकों में कोई एक ही व्रत वाले, कोई दो व्रत वाले और कोई तीन व्रत वाले होते हैं। इनके तीनों मिलकर एक, द्विक, त्रिक संयोगी कुल ३४२ भेद होते हैं। इनके अनुसार चार व्रत वालों की विवक्षा करते २४००, पाँच व्रत वालों की विवक्षा करते १६८०६ और छह व्रत वालों के भेद ११७६८ होते हैं। इस तरह से कोष्ठक नम्बर ४ में बतलाया है। उसके अनुसार बारह व्रत लेने वालों में कोई एक, दो तीन तो कोई चार व्रत उच्चरे-ले, इस तरह बारह व्रत तक लेने - उच्चारण करने वाले के छह भंगी से कुल १३८४१२८७२०२ भेद होते हैं।

इसमें यह रीति है कि जैसे-जैसे एक-एक व्रत का संयोग बढ़ता जाय वैसे-वैसे प्रत्येक व्रत की मूल छह भंगी के योग से छह गुणा बढ़ते जाता है। इस तरह से गुण संख्या बढते-बढ़ते छह गुणी होती जाती है। गुणक संख्या निकालने के लिए तो जितने व्रतों का संयोग भेद निकालना हो उसके व्रतांक १-२ आदि क्रमशः ऊपर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की लकीर-लाइन में और उसके संयोग के अंक २-१ ऐसे उलटे क्रम से उसके नीचे रखना। इस तरह दो लाइन लिखकर दाहिने ओर की ऊपर नीचे की पहली संख्या को गुणाकर उसका जो जबाब हो वह तीसरी संख्या रूप में रखे। फिर उस जबाब को उसके बाद के नीचे लिखे संयोगांक से भागाकार करके उसके ऊपर की लाइन के व्रतांक से गुणाकार करने से जो संख्या आती है उसे तीसरी लाईन में रखना। इस तरह जो-जो संख्या आए, उतनी संख्या संयोग के भेद समझना। इस तरह गणित करने से निकले इच्छित व्रतों के उस संयोग के भेद निकल सकते हैं। पाँच अणुव्रत के संयोगी भेद के लिए पहले कोष्ठक नम्बर दो देखें, उसमें बतलाये अनुसार पाँच अणुव्रत के एक संयोगी असंयोगी पांच, द्विक संयोगी दस, त्रिक संयोगी दस, चतुः संयोगी पांच, पांच संयोगी एक, इस तरह कुल २१ भेद होते हैं। उस भेद से गुण्य संख्या को गुणा करने से जो संख्या आती है वह तीसरी संख्या रूप उतने भेद समझना। इस तरह से देव कुलिकाओं का गणित समझना।

यहाँ देव कुलिकाओं में कुल जो भेद बतलाये हैं, उनमें भी उत्तर गुण वाले का एक और अविरति का एक, इस तरह दो भेद मिलने से कुल १३८४१२८७२०२ भेद होते हैं। एक ही व्रत वाले के छः में दो मिलाने से आठ होते हैं और दो व्रत वाले के अड़तालीस में दो मिलाने से ५० होते हैं, ऐसा सर्वत्र समझना। यहाँ प्रश्न करते हैं कि पाँच अणुव्रत लेने वाले को तो तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत रूप उत्तर गुण के भेद हो सकते हैं, किन्तु बारह व्रत लेने वाले को तो उत्तर गुण व्रत भी बारह हो जाने से उत्तर गुण के भेद किस तरह घट सकते हैं ?

उत्तर- बारह व्रत लेने वाले श्रावक की ग्यारह पत्तिमा आदि विशेष अभिग्रह उत्तर गुण रूप में समझना अर्थात्- ऐसे पडिमाधारी आदि के भेद उत्तर गुण रूप जानना। श्रावक व्रत भंगावचरी में कहा है कि-

तेरस कोडि सयाइं चुलसी जुआइं बारस य लक्खा।
सत्तासी य सहस्सा, दो य सया तह दुरग्गा य ॥४०॥

अर्थात् - ''यहाँ 'दुरग्गा' पद का अर्थ टीका में १. प्रतिमा आदि उत्तर गुण वाला तथा २. अविरति- ये दो मिलाकर कहा है, इससे तेरह अब्ज चौरासी करोड़ बारह लाख सत्तासी हजार दो सौ दो भेद होते हैं।''

यह भेद बारह व्रत की अपेक्षा से बतलाया है। पांच व्रत की अपेक्षा से तो पाँचवीं देव कुलिका में बतलाये अनुसार १६८०६ भेद होते हैं, उनमें उत्तर गुण वाला और अविरति- ये दो मिलाने से १६८०८ भेद होते हैं। उस पाँचवीं देव कुलिका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में असंयोगी पाँच, द्विसंयोगी दस, त्रिसंयोगी दस आदि ५-१०-१० इत्यादि मध्य में रखे भेद, वे गुणक संख्या ६-३६-२१६ आदि पहले लिखी गुण्य संख्या और ३०-३६०-२१६० आदि तीसरे फल भेद की संख्या जाने। सब फल का कुल मिलाकर जोड़, उसे कुल भेद की संख्या समझना। इस तरह प्रत्येक कुलिकाओं में समझना।

पाँच व्रत के संयोगी-असंयोगी भेद की समझ- जब पाँच व्रत किसी एक-एक भेद से ग्रहण करें तब प्रत्येक व्रत का एक-एक मिलकर असंयोगी भेद पाँच होते हैं और प्रत्येक व्रत के छः-छः भेद होने से पाँचों व्रत अलग-अलग भेद से लेने वाले को पाँच को छः से गुणा करने पर तीस भेद असंयोगी होते हैं। द्विक संयोगी ३६ कहा है। वह इस तरह से होता है कि- छः श्रावक पहले व्रत। पहला भेद और दूसरा व्रत अलग-अलग छः भेद व्रत ले तब छः भेद होते हैं। कोई प्रथम दूसरे भेद में और दूसरे अलग-अलग छः भेद व्रत लें तब छः भेद होते हैं। इस तरह पहले व्रत के तीसरे-चौथे-पांचवे और छट्ठे के साथ में भी दूसरे व्रत के छः छः भेद हो सकते है, इससे ६×६=३६ भेद द्विक संयोगी होता है। देखो कोष्ठक नम्बर ५

दो व्रत का द्विसंयोगी भेद का कोष्ठक न० ५
१. प्राणातिपात का द्वि० त्रि० और मृषावाद द्वि०वि० त्रिविध
२. प्राणातिपात का द्वि० त्रि० और मृषावाद द्वि०वि० द्विविध
३. प्राणातिपात का द्वि० त्रि० और मृषावाद द्वि०वि० एकविध
४. प्राणातिपात का द्वि० त्रि० और मृषावाद एक० त्रिविध
५. प्राणातिपात का द्वि० त्रि० और मृषावाद एक० द्विविध
६. प्राणातिपात का द्वि० त्रि० और मृषावाद एक० एकविध
७. से १२. प्राणाति० द्वि वि० द्वि वि० साथ में मृषावाद ऊपर अनुसार छः
१३. से १८. प्राणाति० द्वि वि० एक वि. साथ में मृषावाद ऊपर अनुसार छः
१९. से २४. प्राणाति० एक वि० त्रिवि० साथ में मृषावाद ऊपर अनुसार छः
२५. से ३०. प्राणाति० एक वि० द्विवि० साथ में मृषावाद ऊपर अनुसार छः
३१. से ३६. प्राणाति० एक वि० एकवि० साथ में मृषावाद ऊपर अनुसार छः

जिस तरह पहले-दूसरे के द्विसंयोगी ३६ भेद हुए उसी तरह पहले-तीसरे के ३६ भेद, पहले-चौथे के ३६ और पहले-पाँचवें के भी ३६ भेद होते हैं। इसी तरह दूसरे-तीसरे व्रत के ३६, दूसरे-चौथे व्रत के ३६ और दूसरे-पाँचवे व्रत के ३६ भेद होते हैं। इसी के अनुसार तीसरे-चौथे और तीसरे-पाँचवें के भी ३६, ३६ भेद होते हैं तथा चौथे पाँचवें के ३६ भेद होते हैं। इस तरह पहले व्रत के साथ में शेष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चार व्रतों के ३६×४=१४४ होते हैं । दूसरे व्रत के साथ में शेष तीन व्रत के ३६×३= १०८ भेद होते हैं । तीसरे व्रत के साथ में चौथे, पाँचवें व्रत के ३६×२=७२ भेद होते हैं और चौथे के साथ पाँचवें व्रत के १×३६=३६ होते हैं । इस तरह पाँच व्रतों के द्विक् संयोगी कुल दस छत्तीसी के ३६० भेद होते हैं । वह पाँचवी देव कुलिका देखने से समझ में आयेगा ।

पहले कहे अनुसार दो व्रतों के द्विक् संयोगी ३६ भेद, पुनः तीसरे व्रत की छः भंगी द्वारा गुणा करने से उसके त्रिक् संयोगी भेद होते हैं, (देखो कोष्ठक ६)। जैसे पांच व्रतों का द्विक संयोगी दस प्रकार का होता है

कोष्ठक नं० ६

त्रिकसंयोगी एक षडभंग
३६ द्विक् संयोगी साथ में तीसरा व्रत द्वि वि० त्रिवि०
३६ द्विक् संयोगी साथ में तीसरा व्रत द्वि वि० द्विवि०
३६ द्विक् संयोगी साथ में तीसरा व्रत द्वि वि० एकवि०
३६ द्विक् संयोगी साथ में तीसरा व्रत एक वि० त्रिवि०
३६ द्विक् संयोगी साथ में तीसरा व्रत एक वि० द्विवि०
३६ द्विक् संयोगी साथ में तीसरा व्रत एक वि० एकवि०
२१६

वैसे ही त्रिसंयोगी भी दस प्रकार से होता है (देखो कोष्ठक ७) दो व्रतों के द्विक् संयोगी ३६ भेद को तीसरे व्रत की षड्भंगी से गुणा करने पर २१६ संख्या को दस से गुणा करने पर पांच व्रत के त्रिक् संयोगी भेद २१६० होते हैं ।

कोष्ठक नं० ७

क्रम – व्रत
१. १-२-३
२. १-२-४
३. १-२-५
४. १-३-४
५. १-३-५
६. १-४-५
७. २-३-४
८. २-३-५
९. २-४-५
१०. ३-४-५

इस तरह चतुः संयोगी भेद निकालने के लिए त्रिसंयोगी को पूर्व के समान छः भंगी से गुणा करना चाहिए, इसलिए २१६×६=१२९६ भेद एक चतुःसंयोगी के होते हैं । अब कोष्ठक नम्बर ८ में बताये अनुसार पाँचों व्रत का चतुःसंयोगी कुल पाँच प्रकार से होता है, इसलिए पांच से गुणा करते १२९६×५=६४८० भेद कुल चतुः

कोष्ठक नं० ८

क्रम – व्रत
१. १-२-४
२. १-२-५
३. १-३-५
४. १-३-५
५. २-३-५

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संयोगी होते हैं। इसी तरह से पंच संयोगी निकालने के लिए भी पूर्व के चतु: संयोगी १२६६ को छह से गुणा करने पर १२६६×६=७७७६ भेद कुल पाँचों व्रतों के पंच संयोगी भेद होते हैं। पंच संयोगी में पाँचों व्रत आ जाने से उसके दूसरे प्रकार नहीं होते।

इस तरह पाँच व्रतों के असंयोगी, द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी, चतु:संयोगी और पंच संयोगी मिलकर कुल ३०+३६०+२१६०+६४८०+७७७६=१६८०६ भेद होते हैं। उसमें उत्तर गुण वाले और अविरति वाले इस तरह दो मिलाने से कुल १६८०८ पाँच अणुव्रत धारी श्रावक के भेद होते हैं। यह विधि अनुसार सब देव कुलिकाओं का गणित स्वयमेव समझ लेना।

भगवती सूत्र के आधार पर व्रतों के भेद- यहाँ तक का वर्णन आवश्यक निर्युक्ति के आधार पर किया है। श्री भगवती सूत्र में तो नीचे अनुसार त्रिविध-त्रिविधादि नौ भंगी भी कही है -

व्रत के ४६ भेद :- व्रत लेने के समय में योग और करण के सात-सप्तभंगी होती है। उसमें १- हिंसा मन से नहीं करे। २- हिंसा वचन से नहीं करे। ३- हिंसा काया से नहीं करे। ४- हिंसा मन, वचन से न करे। ५- हिंसा मन, काया से न करे। ६- हिंसा वचन, काया से न करे और ७- हिंसा मन, वचन और काया से न करे- यह प्रथम सप्तभंगी तीन योग से; १. स्वयं नहीं करे, २. कराये नहीं, ३. उसकी अनुमोदना नहीं करे, ४. न करे और कराये नहीं - ये दो करण, ५. करे नहीं-अनुमोदना न करे ६- करावे नहीं, अनुमोदना नहीं करे और ७- करे नहीं-कराये नहीं और अनुमोदना न करे, इस तरह तीन करण। इसके अनुसार सात सप्त भंगी से ७×७=४६ भेद होते हैं।

व्रत के १४७ भेद- भूत, भविष्य और वर्तमान - इस तरह तीनों काल का पच्चक्खान हो सकता है, इसलिए ४६ को तीन से गुणा किया जाय तो ४६×३=१४७ भेद होते हैं। श्रावक व्रत भंगवचरी में कहा है कि

मण-वय-काइय जोगे, करणे कारावणे अणुमई अ।
इक्कग दुग तिगजोगे, सत्ता सत्तेव गुणवन्ना ॥५॥

पढमिक्को तिन्नितिआ, दुन्नि नवा तिन्नि दो नवा चेव।
काल तिगेण य सहिया, सी आलं होइ भंग सयं ॥६॥

सी आलं भंग संय, पच्चक्खाणंमि जस्स उवलद्धं।
सो खलु पच्चक्खाणे, कुसलो सेसा अकुसला उ ॥७॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – 'मन वचन और काया के योग से करना, करवाना और अनुमोदना के त्याग द्वारा एक संयोगी, द्वि संयोगी और त्रिक् संयोगी के सात सप्तभंगी द्वारा उनचास भेद होते हैं। उनमें प्रथम त्रिविध-त्रिविध का एक, फिर त्रिविध-द्विविध, त्रिविध-एकविध और द्विविध-त्रिविध - इन तीन के तीन-तीन मिलकर नौ, फिर द्विविध-द्विविध और द्विविध-एक विध - इन दो के नौ-नौ मिलकर अठारह, फिर एक-विध-त्रिविध के तीन, और एक-विध-द्विविध, एक-विध-एक-विध इन दो के नौ-नौ मिलकर अठारह भेद होते हैं। इस तरह कुल १+६+१८+३+१८ = ४६ भेद होते हैं (इसका स्वरूप कोष्ठक ६ में देखो)। उसे तीन काल के पच्चक्खान की अपेक्षा से तीन गुणा करने से १४७ होते हैं। जिस आत्मा ने पच्चक्खान के इन १४७ भेद का ज्ञान प्राप्त किया हो वह वस्तुत: पच्चक्खान में कुशल माना जाता है, उससे कम भेद वाला अकुशल समझा जाता है।

कोष्ठक नं० ६

योग	३	३	३	२	२	२	१	१	१
करण	३	२	१	३	२	१	३	२	१
भेद	१	३	३	३	६	६	३	६	६

त्रिकालिक पच्चक्खान – यहाँ त्रिकाल विषयक पच्चक्खान इस तरह से होता है कि - अतीतकाल - भूतकाल में जो पाप हुए हों उनकी निंदा करना, वर्तमान काल के पापों का संवर करना (रोकना) और भविष्य काल के पापों का प्रत्याखान करना (नियम करना)। कहा है कि- "**अईयं निंदामि पडुप्पन्नं संवरेमि, अणागयं पच्चक्खामि**" (पाक्षिक सूत्र) अर्थात् 'भूत काल के पापों के लिए पश्चात्तापमय आत्म निंदा करता हूँ। वर्तमान काल में पापों का संवर-निरोध करता हूँ और भविष्य काल में पाप कर्मों को नहीं करने की प्रतिज्ञा-पच्चक्खान करता हूँ।'

इस प्रकार ये भेद एक अहिंसा-अणुव्रत की अपेक्षा से ही त्रिकाल विषयक १४७ कहे हैं। उसके अनुसार दूसरे अणुव्रतों के भी इसी तरह भेद जानना। पाँच अणुव्रतों के भेद १४७×५ = ७३५ होते हैं अर्थात् विविध भेद से व्रत लेने वाले श्रावक के इतने भेद होते हैं, ऐसा समझना। श्रावक व्रतभंग प्र० २ में कहा है कि :-

दुविहा अट्ठ विहा वा बत्तीस विहा व सत्त पण तीसा।
सोलस य सहस्स भवे, अट्ठसयहुत्तरा वइणो ॥२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – ''विरति – अविरति दो प्रकार का होता है। विरति के द्विविध – त्रिविध आदि छः भेद गिनकर उनमें उत्तर गुण वाला और अविरति मिलने से आठ भेद होते हैं। इन छः भेदों को पाँच अणुव्रत से गुणा करने से ६×५ = ३० और उनमें उत्तर गुण वाले और अविरति – दो मिलाने से ३२ भी होते हैं तथा पूर्व कहे अनुसार सात सप्तभंगी से तीन काल के १४७ को पाँच गुणा करके पाँच अणुव्रत के असंयोगी ७३५ होते हैं और जैसा कोष्ठक ४ की पाँचवीं देव कुलिका में बतलाया है उसके अनुसार एकविध-द्विविधादि संयोगी भेद १६८०८ होते हैं।

यहाँ यह समझना है कि जैसे कोष्ठक नं० ४ में छह भेद की बारह देव कुलिका कहा है वैसे ही छह भेद के उत्तर इक्कीस भाग हैं। नौ भेद के उनचास भेद तथा एक सौ सैंतालीस भेदों के भी बारह-बारह देव कुलिका में बनते है वे श्रावक व्रत भंग में कहते हैं –

इगवीसं खलु भंगा, निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते ।
ते च्चिअं बावीस गुणा, इगवीसं पक्खि वे अव्वा ॥११॥

एगवए नव भंगा, निद्दिट्ठा साव याण जे सुत्ते ।
तेच्चिअ दस गुण काउं, नव पक्खेवंमि कायव्वा ॥१२॥

इगुवन्नं खलु भंगा, निद्दिट्ठा साव याण जे सुत्ते ।
ते च्चिअ पंचास गुणा, इगुण वन्नं पक्खि वे अव्वा ॥१३॥

सीआलं भंग सयं, ते च्चिअ अडयाल सय गुणं काउं।
सीयाल सएण जुअं, सव्वग्गं जांण भंगाणं ॥१॥

अर्थात्– ''इक्कीस भंग के संयोगी भेद बनाने के लिए २१ को २२ से गुणा कर २१ मिलाना, नौ भेद के संयोगी भेद बताने के लिए नौ को दस से गुणा कर नौ मिलाना। उनचास भेद के संयोगी भेद निकालने के लिए उसे पचास से गुणा कर उनचास को मिलाना और एक सौ सैंतालीस के संयोगी भेद बनाने के लिए उसे एक सौ सैंतालीस से गुणाकर एक सौ सैंतालीस मिलाना। इस तरह गणित करने से प्रत्येक के संयोगी– असंयोगी कुल भेदों के अंक निकलते हैं और आखिर में बारह व्रतों के कुल भेद निकालने के लिए ग्यारहवें बार इस तरह से गणित करने पर आखिर में सर्व संख्या बनती है जो यहाँ बनायी हुई देव कुलिकाओं से समझ में आयेगा।

नौ भेद का स्वरूप – श्री भगवती सूत्र में तीन योग के साथ में तीन करण के योग से १. त्रिविध -त्रिविध, २. त्रिविध-द्विविध, ३. त्रिविध-एक विध,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. द्विविध-त्रिविध, ५. द्विविध-द्विविध, ६. द्विविध-एक विध, ७. एकविध-त्रिविध, ८. एकविध-द्विविध, ९. एकविध-एकविध- इस तरह नौ भेद से पच्चक्खान बतलाया है । उसके संयोगी-असंयोगी कुल भेद प्रत्येक समय दस गुणा करके नौ मिलाने से होते हैं । (देखो कोष्ठक नम्बर १०) ।

नौ भेद की देव कुलिका (कोष्ठक नं. १०)	
एक व्रत के ९	सात व्रत के ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९
दो व्रत के ९९	आठ व्रत के ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९
तीन व्रत के ९ ९ ९	नौ व्रत के ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९
चार व्रत के ९ ९ ९ ९	दस व्रत के ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९
पांच व्रत के ९ ९ ९ ९ ९	ग्यारह व्रत के ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९
छह व्रत के ९ ९ ९ ९ ९ ९	बारह व्रत के ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९ ९

श्री आवश्यक सूत्र के आधार पर दो करण और तीन योग के द्विविध-त्रिविधादि जो छः भेद पूर्व में कहे हैं, उनके उत्तर भेद २१ होते हैं । उसके लिए आगे कोष्ठक नम्बर ११ देखें –

कोष्ठक नम्बर ११			
१	मन से हिंसा नहीं करना	११	मन-वचन से हिंसा नहीं कराना
२	वचन से हिंसा नहीं करना	१२	मन-काया से हिंसा नहीं कराना
३	काया से हिंसा नहीं करना	१३	वचन-काया से हिंसा नहीं कराना
४	मन-वचन से हिंसा नहीं करना	१४	मन-वचन-काया से हिंसा नहीं कराना
५	मन-काया से हिंसा नहीं करना	१५	मन से हिंसा करूँ कराऊँ नहीं
६	वचन काया से हिंसा नहीं करना	१६	वचन से हिंसा करूँ कराऊँ नहीं
७	मन-वचन-काया से हिंसा नहीं करना	१७	काया से हिंसा करूँ कराऊँ नहीं
८	मन से हिंसा नहीं कराना	१८	मन-वचन से हिंसा करूँ कराऊँ नहीं
९	वचन से हिंसा नहीं कराना	१९	मन-काया से हिंसा करूँ कराऊँ नहीं
१०	काया से हिंसा नहीं कराना	२०	वचन-काया से हिंसा करूँ कराऊँ नहीं
		२१	मन-वचन-काया से हिंसा करूँ कराऊँ नहीं

इक्कीस भेदों के असंयोगी - संयोगी भेदों को प्रत्येक समय २२ से गुणा कर २१ मिलाकर बनता है। (देखो कोष्ठक नं. १२)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२१ भेद की देव कुलिका (कोष्ठक नं. १२)	
एक व्रत के २१	सात व्रत के २४६४३५७८८७
दो व्रत के ४८३	आठ व्रत के ५४८७५८७३५३५
तीन व्रत के १०६४७	नौ व्रत के १२०७२६६२१७७६१
चार व्रत के २३४२५५	दस व्रत के २६५५६६२२७६१४२३
पांच व्रत के ५१५३६३१	ग्यारह व्रत के ५८४३१८३०१४११३२७
छः व्रत के ११३३७६६०३	बारह व्रत के १२८५५००२६३१०४६२१५

श्री भगवती सूत्र के आधार पर श्री श्रावक के त्रिविध-त्रिविध पच्चक्खान से सात सप्तभंगी रूप ४६ भेदों के असंयोग-संयोग भेद प्रत्येक समय ५० से गुणाकर ४६ मिलाने से होते हैं (देखो कोष्ठक नम्बर १३) ।

४६ भेद की देव कुलिका (कोष्ठक नं. १३)	
एक व्रत के ४६	सात व्रत के ७८१२४६६६६६६६
दो व्रत के २४६६	आठ व्रत के ३६०६२४६६६६६६६६
तीन व्रत के १२४६६६	नौ व्रत के १६५३१२४६६६६६६६६६
चार व्रत के ६२४६६६६	दस व्रत के ६७६५६२४६६६६६६६६६६
पांच व्रत के ३१२४६६६६६	ग्यारह व्रत के ४८८२८१२४६६६६६६६६६६६
छह व्रत के १५६२४६६६६६६	बारह व्रत के २४४१४०६२४६६६६६६६६६६६६

इस तरह ४६ भेद के ही तीन काल के निकालने के लिए तीन से गुणा करने पर १४७ भेद होते हैं । उनके असंयोगी-संयोगी कुल भेद प्रत्येक समय १४८ से गुणाकर १४७ मिलाने से होते हैं (देखो कोष्ठक नम्बर १४)।

१४७ भेद की देवकुलिका (कोष्ठक नं १४)	
एक व्रत के १४७	सात व्रत के १५५५३६३८७४६४७०७१
दो व्रत के २१६०३	आठ व्रत के २३०१६३८५३४६२१६६६५५
तीन व्रत के ३२४१७६१	नौ व्रत के ३४०६८६६०३१६८४०६६५०८७
चार व्रत के ४७६७८५२१५	दस व्रत के ५०४२१६६१६६८६२४१८४३३०२३
पांच व्रत के ७१००८२११६६७	ग्यारह व्रत के ७४६२४०५६२७०००७७६२८०८७५५१
छह व्रत के १०५०६२१५३७१२६३	बारह व्रत के ११०४४३६०७०१६६११५३३३५६६५७६६५

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कोष्ठक नम्बर १० में व्रत के भेद हैं, उनसे अलग-अलग रूप में कोष्ठक नम्बर १५ के अनुसार बनता है ।

कोष्ठक नम्बर १५				
क्रम	गुणांक	गुणांक	उत्तर	कुल
१	६	१	६	७
२	६ ८१	२ १	१८ ८१	९९
३	६ ८१ ७२६	३ ३ १	२७ २४३ ७२६	९९९
४	६ ८१ ७२६ ६५६१	४ ६ ४ १	३६ ४८६ २६१६ ६५६१	९९९९
५	६ ८१ ७२६ ६५६१ ५६०४६	५ १० १० ५ १	४५ ८१० ७२६० ३२८०५ ५६०४६	९९९९९
६	६ ८१ ७२६ ६५६१ ५६०४६ ५३१४४१	६ १५ २० १५ ६ १	५४ १२१५ १४५८० ६८४१५ ३५४२६४ ५३१४४१	९९९९९९
७	६ ८१ ७२६ ६५६१ ५६०४६ ५३१४४१ ४७८२६६६	७ २१ ३५ ३५ २१ ७ १	६३ १७०१ २५५१५ २२६६३५ १२४००२६ ३७२००८७ ४७८२६६६	९९९९९९९

For Private and Personal Use Only

८.	६	८	७२	६६६६६६६
	८१	२८	२२६८	
	७२६	५६	४०८२४	
	६५६१	७०	४५६२७०	
	५६०४६	५६	३३०६७४४	
	५३१४४१	२८	१४८८०३४८	
	४७८२६६६	८	३८२६३७५२	
	४३०४६७२१	१	४३०४६७२१	
६	६	६	८१	६६६६६६६६६
	८१	३६	२६१६	
	७२६	८४	६१२३६	
	६५६१	१२६	८२६६८३	
	५६०४६	१२६	७४४०१७४	
	५३१४४१	८४	४४६४१०४४	
	४७८२६६६	३६	१७२१८६८८४	
	४३०४६७२१	६	३८७४२०४८६	
	३८७४२०४८६	१	३८७४२०४८६	
१०	६	१०	६०	६६६६६६६६६
	८१	४५	३६४५	
	७२६	१२०	८७४८०	
	६५६१	२१०	१३७७८१०	
	५६०४६	२५२	१४८८०३४८	
	५३१४४१	२१०	१११६०२६१०	
	४७८२६६६	१२०	५७३६५६२८०	
	४३०४६७२१	४५	१६३७१०२४४५	
	३८७४२०४८६	१०	३८७४२०४८६०	
	३४८६७७४०१	१	३४८६७७४०१	

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

११	६	११	६६	
	८१	५५	४४५५	
	७२६	१६५	१२०२८५	
	६५६१	३३०	२१६५१३०	
	५६०४६	४६२	२७२८०६३८	
	५३१४४१	४६२	२४५५२५७४२	
	४७८२६६६	३३०	१५७८३७६७७०	
	४३०४६७२१	१६५	७१०२७०८६६५	
	३८७४०४८६	५५	२१३०८१२६८६५	
	३४८६७८४४०१	११	३८३५४६२८४११	
	३१३८१०५६६०६	१	३१३८१०५६६०६	
१२	६	१२	१०८	
	८१	६६	५३४६	
	७२६	२२०	१६०३८०	
	६५६१	४६५	३२४७६६५	
	५६०४६	७६२	४६७६६८०८	
	५३१४४१	६२४	४६१०५१४८४	
	४७८२६६६	७६२	३७८८१११४४८	
	४३०४६७२१	४६५	२१३०८१२६८६५	
	३८७४२०४८६	२२०	८५२३२५०७५८०	
	३४८६७८४४०१	६६	२३०१२७७७०४६६	
	३१३८१०५६६०६	१२	३७६५७२७१५३०८	
	२८२४२६५३६४८१	१	२८२४२६५३६४८१	

कोष्ठक १२ में बतलाया था, उसके प्रत्येक व्रत के अलग अलग भेद आगे दे रहे हैं –

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कोष्ठक नम्बर १६				
क्रम	गुण्यांक	गुणांक	उत्तर	कुल
१	२१	१	२१	२१
२	२१	२	४२	४८३
	४४१	१	४४१	
३	२१	३	६३	१०६४७
	४४१	३	१३२३	
	६२६१	१	६२६१	
४	२१	४	८४	२३४२५५
	४४१	६	२६४६	
	६२६१	४	३७०४४	
	१६४४८१	१	१६४४८१	
५	२१	५	१०५	५१५६३३१
	४१०	१०	४४१०	
	६२६१	१०	६२६१०	
	१६४४८१	५	६७२४००५	
	४०८४१०१	१	४०८४१०१	
६	२१	६	१२६	११३७६६०३
	४४१	१५	६६१५	
	६२६१	२०	१८५२२०	
	१६४४८१	१५	२६१७२१५	
	४०८४१०१	६	२४५०४६०६	
	८५७६६१२१	१	८५७६६१२१	

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२४६४३५७८८७	१४७	७	२१	७
	६२६१	२१	४४१	
	३२४१३५	३५	६२६१	
	६८०६८३५	३५	१६४४८१	
	८५७६६१२१	२१	४०८४१०१	
	६००३६२८४७	७	८५७६६१२१	
	१८०१०८८५४१	१	१८०१०८८५४१	
५४८७५८७३५३५	१६८	८	२१	८
	१२३४८	२८	४४१	
	५१८६१६	५६	६२६१	
	१३६१३६७०	७०	१६४४८१	
	२२८७०६६५६	५६	४०८४१०१	
	२४०१४५१३८८	२८	८५७६६१२१	
	१४४०८७०८३२८	८	१८०१०८८५४१	
	३७८२२८५६३६१	१	३७८२२८५६३६१	
१२०७२६६२१७७६१	१८६	६	२१	६
	१५८७६	३६	४४१	
	७७७६२४	८४	६२६१	
	२४५०४६०६	१२६	१६४४८१	
	५१४५६६७२६	१२६	४०८४१०१	
	७२०४३५४१६४	८४	८५७६६१२१	
	६४८३६१८७४७६	३६	१८०१०८८५४१	
	३४०४०५७३४२४६	६	३७८२२८५६३६१	
	७६५४२८००४६५८१	१	७६५४२८००४६५८१	

For Private and Personal Use Only

२६५५६६२२७६१४२३	२१०	२०	२१०	१०
	१६८४५	४५	४४१	
	१११३२०	१२०	६२६१	
	४०८४१०१०	२१०	१६४४८१	
	१०२६१६३४५२	२५२	४०८४१०१	
	१८०१०८८५४१०	२१०	८५७६६१२१	
	२१६१३०६२४६२०	१२०	१८०१०८८५४१	
	१७०२०२८६७१२४५	४५	३७८२२८५६३६१	
	७६४२८००४६५८१०	१०	७६४२८००४६५८१	
	१६६७६८८०६७८२०१	१	१६६७६८८०६७८२०१	
५८४३१८३०१४११३२७	२३१	११	२१	११
	२४२५५	५५	४४१	
	१५२८०६५	१६५	६२६१	
	६४१७८७३०	३३०	१६४४८१	
	१८८६८५४६६२	४६२	४०८४१०१	
	३६६२३६४७६०२	४६२	८५७६६१२१	
	५६४३५६२१८५३०	३३०	१८०१०८८५४१	
	६२४०७७१७६४५६५	१६५	३७८२२८५६३६१	
	४३६८५४०२५६१६५५	५५	७६५६४२८००४६५८१	
	१८३४७८६६०७६०२११	११	१६६७६८८०६७८२०१	
	३५०२७७५००५४२२२१	१	३५०२७७५००५४२२२१	
१२८५५००२६३१०४६२१५	२५२	१२	२१	१२
	२६१०६	६६	४४१	
	२०३७४२०	२२०	६२६१	
	६६२६८०६५	४६५	१६४८१	
	३२३४६०७६६२	७६२	४०८४१०१	
	७६२४७८६५८०४	६२४	८५७६६१२१	
	१४२६४६२१२४४७२	७६२	१८०१०८८५४१	
	१८७२२३१५३८३६६५	४६५	३७८२२८५६३६१	
	१७४७४१६१०२४७८२०	२२०	७६४२८००४६५८१	
	११००७७२१४४५६१२६६	६६	१६६७६८८०६७८२०१	
	४२०३३३०००६५०६६५२	१२	३५०२७७५००५४२२२१	
	७३५५८२७५११३८६६४१	१	७३५५८२७५११३८६४१	

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कोष्ठक नम्बर १३ में बारह व्रत के भेद बताए हैं । उनका गणित इस प्रकार बनता है –

कोष्ठक नम्बर १७				
क्रम	गुण्यांक	गुणांक	उत्तर	कुल
१	४६	१	४६	४६
२	४६	२	६८	२४६६
	२४०१	१	२४०१	
३	४६	३	१४७	१२४६६६
	२४०१	३	७२०३	
	११७६४६	१	११७६४६	
४	४६	४	१६६	६२४६६६६
	२४०१	६	१४४०६	
	११७६४६	४	४७०५६६	
	५७६४८०१	१	५७६४८०१	
५	४६	५	२४५	३१२४६६६६६
	२४०१	१०	२४०१०	
	११७६४६	१०	११७६४६०	
	५७६४८०१	५	२८८२४००५	
	२८२४७५२४६	१	२८२४७५२४६	
६	४६	६	२६४	१५६२४६६६६६६
	२४०१	१५	३६०१५	
	११७६४६	२०	२३५२६८०	
	५७६४८०१	१५	८६४७२०१५	
	२८२४७५२४६	६	१६६४८५१४६४	
	१३८४१२८७२०१	१	१३८४१२८७२०१	

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्रम	गुण्यांक	गुणांक	उत्तर	कुल
७	४६	७	३४३	७८१२४६६६६६६६
	२४०१	२१	५०४२१	
	११७६४६	३५	४११७७१५	
	५७६४८०१	३५	२०१७६८०३५	
	२८२४७५२४६	२१	५६३१६८०२२६	
	१३८४१२८७२०१	७	६६८८६०१०४०७	
	६७८२२३०७२८४६	१	६७८२२३०७२८४६	
८	४६	८	३६२	३६०६२४६६६६६६६
	२४०१	२८	६७२२८	
	११७६४६	५६	६५८८३४४	
	५७६४८०१	७०	४०३५३६०७०	
	२८२४७५२४६	५६	१५८१८६१३६४४	
	१३८४१२८७२०१	२८	३८७५५६०४१६२८	
	६७८२२३०७२८४६	८	५४२५७८४५८२७६२	
	३३२३२६३०५६६६०१	१	३३२३२६३०५६६६०१	
६	४६	६	४४१	१६५२१२४६६६६६६६
	२४०१	३६	८६४३६	
	११७६४६	८४	६८८२५१६	
	५७६४८०१	१२६	७२६३६४६२६	
	२८२४७५२४६	१२६	३५५६१८८१३७४	
	१३८४१२८७२०१	८४	११६२६६८१२४८८४	
	६७८२२३०७२८४६	३६	२४४१६०३०६२२५६४	
	३३२३२६३०५६६६०१	६	२६६०६६३७५१२६४०६	
	१६२८४१३५६७६१०४४६	१	१६२८४१३५६७६१०४४६	

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

९०	४६	१०	४६०	६७६५६२४६६६६६६६६६
	२४०१	४५	१०८०४५	
	११७६४६	१२०	१४११७८८०	
	५७६४८०१	२१०	१२१०६०८२१०	
	२८२४७५२४६	२५२	७११८३७६२७४८	
	१३८४१२८७२०१	२१०	२६०६६७०३१२२१०	
	६७८२२३०७२८४६	१२०	८१३८६७६८७४१८८०	
	३३२३२६३०५६६६०१	४५	१४६५४८१८७५६३२०४५	
	१६२८४१३५६७६१०४४६	१०	१६२८४१३५६७६१०४४६०	
	७६७६२२६६२६७६१२००१	१	७६७६२२६६२६७६१२००१	
११	४६	११	५३६	४८८२८१२४६६६६६६६६६
	२४०१	५५	१३२०५५५	
	११७६४६	१६५	१६४१२०८५	
	५७६४८०१	३३०	१६०२३८४३३०	
	२८२४७५२४६	४६२	१३०५०३५६५०३८	
	१३८४१२८७२०१	४६२	६३६४६७४६८६८६२	
	६७८२२३०७२८४६	३३०	२२३८१३६१४०४०१७०	
	३३२३२६३०५६६६०१	१६५	५४८३४३३५४३६८४१६५	
	१६२८४१३५६७६१०४४६	५५	८६५६२७४७८८५०७४६६५	
	७६७६२२६६२६७६१२००१	११	८७७७१४६२६२७३७३२०११	
	३६०६८२१०४८५८२६८८०४६	१	३६०६८२१०४८५८२६८८०४६	
१२	४६	१२	५८८	२४४१४०६२४६६६६६६६६६
	२४०१	६६	१५८४६६	
	११७६४६	२२०	२५८८२७८०	
	५७६४८०१	४६५	२८५३५७६४६५	
	२८२४७५२४६	७६२	२२३७२०३६७२०८	
	१३८४१२८७२०१	६२४	१२७८६३४६३७३७२४	
	६७८२२३०७२८४६	७६२	५३७१५२६७३६६४०८	
	३३२३२६३०५६६६०१	४६५	१६४५०३००६३१६५२४६५	
	१६२८४१३५६७६१०४४६	२२०	३५८२५०६६१५४०२६८७८०	
	७६७६२२६६२६७६१२००१	६६	५२६६२८६३६४२३६२०६६	
	३६०६८२१०४८५८२६८८०४६	१२	४६६१७८५२४८२६६४८५६५८८	
	१६१५८१२३१८०५६६४१४४०१	१	१६१५८१३१३८०५६६४१४४०१	

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कोष्ठक १४ में बतलाये भेद का गणित इस तरह है : –

कोष्ठक नम्बर १८				
क्रम	गुण्यांक	गुणांक	उत्तर	कुल
१	१४७	१	१४७	१४७
२	१४७ २१६०६	२ १	२६४ २१६०६	२१६०३
३	१४७ २१६०६ ३१७६५२३	३ ३ १	४४१ ६४८२७ ३१७६५२३	३२४१७६१
४	१४७ २१६०६ ३१७६५२३ ४६६६६४८८८१	४ ६ ४ १	५८८ १२६६५४ १२७०६०६२ ४६६६६४८८८१	४७६७८५२१५
५	१४७ २१६०६ ३१७६५२३ ४६६६६४८८८१ ६८६४१४८५५०७	५ १० १० ५ १	७३५ २१६०६० ३१७६५२३० २३३४७४४४०५ ६८६४१४८५५०७	७१००८२११६६७
६	१४७ २१६०६ ३१७६५२३ ४६६६६४८८८१ ६८६४१४८५५०७ १००६०२६८३६६५२६	६ १५ २० १५ ६ १	८८२ ३२४१३५ ६३५३०४६० ७००४२३३२१५ ४११८४८६१३०४२ १००६०२६८३६६५२६	१०१३६२१५३७१२८३
७	१४७ २१६०६ ३१७६५२३ ४६६६६४८८८१ ६८६४१४८५५०७ १००६०२६८३६६५२६ १४८३२७३८६०३२०७६३	७ २१ ३५ ३५ २१ ७ १	१०२६ ४५३७८६ १११११७८३०५ १६३४३२१०८३५ १४४१४७११६५६४७ ७०६३२०८८५८६७०३ १४८३२७३८६०३२०७६३	१५५५३६३८७४६४७०७१

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

८	१४७	८	११७६	३४०६८६९०३१६८४०६६५०८७
	२१६०६	२८	६०५०५२	
	३१७६५२३	५६	१७७८८५२८८	
	४६६६४८८८१	७०	३२६८६४२१६७०	
	६८६४१४८५५०७	५६	३८४३६२३१८८३६२	
	१००६०२६८२६६५२६	२८	२८२५२८३५४३४६८१२	
	१४८३२७३८६०३२०७६३	८	११८६६१६०८८२५६६१०४	
	२१८०४१२५७४६७१५२१६१	१	२१८०४१२५७४६७१५३१६१	
९	१४७	६	१३२३	३४०६८६९०३१६८४०६६५०८७
	२१६०६	३६	७७७६२४	
	३१७६५२३	८४	२६६८२७६३२	
	४६६६४८८८१	१२६	५८८३५५६००६	
	६८६४१४८५५०७	१२६	८६४८८२७१७३८८२	
	१००६०२६८३६६५२६	८४	८४७५८५०६३०४०४३६	
	१४८३२७३८६०३२०७६३	३६	५३३६७८५८६७१५४७४६८	
	२१८०४१२५७४६७१५२१६१	६	१६६२३७१३१७२०४३६६४४६	
	३२०५२०६४८४७६७१३६७६६७	१	३२०५२०६४८४७६७१३६७६६७	
१०	१४७	१०	१४७०	५०४२१६६१६६८६२४१८५३३०२३
	२१६०६	४५	६७२४०५	
	३१७६५२३	१२०	३८११८२७६०	
	४६६६४८८८१	२१०	६८०५६२६५०१०	
	६८६४१४८५५०७	२५२	१७२६७६५४३४७७६४	
	१००६०२६८३६६५२६	२१०	२११८६६२६५७६०१०६०	
	१४८३२७३८६०३२०७६३	१२०	१७७६६६२८६३२३८४६१५६०	
	२१८०४१२५७४६७१५२१६१	४५	२८११८५६५८६०२१८४७२४५	
	३२०५२०६४८४७६७१३६७६६७	१०	३२०५२०६४८४७६७१३६७६६७०	
	४७११६५३५३२२६०७६६१०४७०४६	१	४७११६५३५३२६०७६६१०४७०४६	

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

७४६२४०५६२७००६७६२८०८७५५१	१०१८१४१२११८६११६५६५८३६८१८४१	१	१०१८१४१२११८६११६५६५८३६८१८४१	११
	६६२६१३०६६२६२३३३०५८३६१६२०३		६६२६१३०६६२६२३३३०५८३६१६२०३	
	४७११६५३५३२६०७६६०४७०४६	११	५१८२८१८८८५८६६८४६०१५१७५३६	
	३२०५२०६४८४७६७१३६७६७	५५	१७६२८६३५६६६२१६२५२२१६८५	
	२१८०४१२५७४६७१५२१६१	१६५	३५६७६८०७४८२०८०१०६५६५	
	१४८३२७३८६०३२०७६२	३३०	४८६४८०३७३६०५८५१७६०	
	१००६०२६८३६६५२६	४६२	४६६१७१७८४६७२२३६८	
	६८६४१४८५५०७	४६२	३१७१२३६६३०४२३४	
	४६६६४८८८१	३३०	१५४०६३१३०७३०	
	३१७६५२३	१६५	५२४१२६२६५	
	२१६०६	५५	११८८४६५	
	१४७	११	१६१७	
६६२६१३०६६२६२३३३०५८३६१६२०३	६६२६१३०६६२६२३३३०५८३६१८४१	१	१०१८१४१२११८६११६५६५८३६८१८४१	११
४७११६५३५३२६०७६६०४७०४६	६६	३१०६६१३३१५२१०७६०६१०५२३४		
३२०५२०६४८४७६७१३६७६७	२२०	७०५१४५४२६६४८७७००८८६७४०		
२१८०४१२५७४६७१५२१६१	४६५	१०७६३०४२२४४६२४०३१६६५५		
१४८३२७३८६०३२०७६३	७६२	११७४७५२८६७३७४०४४२६६		
१००६०२६८३६६५२६	६२४	६३२३४५५६६३४४४७६६५		
६८६४१४८५५०७	७६२	४५३६४०५६५२१५४४		
४६६६४८८८१	४६५	२३११३६६६०६५		
३१७६५२३	२२०	६६८८३५०६०		
२१६०६	६६	१४२६१६४		
१४७	१२	१७६४		१२

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तरह कोष्ठक द्वारा सविस्तार सभी भेदों को प्रसंगानुसार बतलाया गया है, फिर भी अधिकत: द्विविध-त्रिविध आदि छह भेद से षड्भंगी ही उपभोग में आती है- ऐसा समझना। इसी प्रकार सामान्य से पाँच अणुव्रतों का वर्णन भेद द्वारा और सामान्य व्याख्या द्वारा कहा गया है। अब प्रत्येक का भिन्न-भिन्न विशेष स्वरूप उसके नाम पूर्वक क्रमश: श्लोक से मूल ग्रन्थ से ही कहा जाता है-

निरोगो द्वीन्द्रियादीनां, संकल्पाच्चानपेक्षया ।
हिंसाया विरतिर्या सा, स्यादणुव्रतमादि मम् ॥२५॥

अर्थ – 'निरपराधी द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की बिना अपेक्षा संकल्प पूर्वक हिंसा करने का निषेध (त्याग) है, उसे प्रथम अणुव्रत कहते हैं ।'

भावार्थ :- निरपराधी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय- इन त्रस जीवों के हड्डी, चमड़ा, दांत, मांस आदि के लिए संकल्पपूर्वक निष्कारण हिंसा (उसके द्रव्य प्राण का वियोग करने की) विरति, हिंसा नहीं करने की प्रतिज्ञा लेना- वह प्रथम अणुवत कहलाता है।

यहाँ १. निरपराधी जीवों की हिंसा का त्याग करने के लिए कहा है। इससे यह स्पष्ट है कि अपराधी जीवों की हिंसा के लिए श्रावक को प्रतिबंध नहीं है । २. त्रस जीवों की हिंसा का त्याग कहने से एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय आदि स्थावर जीवों की अहिंसा के लिए श्रावक असमर्थ है। ३. संकल्प पूर्वक हिंसा नहीं करना- से नियम से अनुबन्ध (इरादा पूर्वक) हिंसा का त्याग होता है, परन्तु आरंभ से होने वाली हिंसा का त्याग नहीं होता। इससे आरंभ जन्य हिंसा में श्रावक को जितना बने उतना अधिक जयणा का उपयोग देना चाहिए और ४. अपेक्षा-कारण बिना हिंसा नहीं करना- ऐसे नियम से निरपराधी होने पर भी काम न करने पर घोड़ा, पाड़ा, बैल आदि निरंकुश पशु अथवा असदाचारी या पढ़ने में प्रमादी पुत्रादि परिवार को ताड़न, तर्जन आदि, वध, बंधनादि हिंसा उनके हित के उद्देश्य से करने का त्याग श्रावक को नहीं हो सकता है- ऐसा निश्चय हुआ । श्रावक का प्रथम स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत का पच्चक्खान-प्रत्याख्यानावश्यक सूत्र श्री हरिभद्री वृत्ति में कहा है:-

"थूलग पाणाइवाय समणो वासओ पच्चक्खाइ, सो पाणाइ वाए दुविहे पण्णत्ते, तंजहा-संकप्पओ आरम्भओ अ, तत्थ समणो वासओ संकप्पओ जावज्जीवाए पच्चक्खाइ, णो आरम्भओत्ति ।"

अर्थात् 'श्रावक स्थूल प्राणातिपात का त्याग करता है, वह प्राणातिपात दो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकार का है– एक तो संकल्प जन्य और दूसरा आरंभजन्य। इन दो में श्रावक संकल्प जन्य प्राणातिपात का त्याग करता है, आरंभ जन्य का त्याग नहीं करता।'

इसके अनुसार यद्यपि आरंभ जन्य हिंसा का त्याग नहीं कर सकता, फिर भी श्रावक को जीवन निर्वाह के प्रत्येक कार्य में सावधानी पूर्वक जीव यतना करनी चाहिए। जैसे कि पानी को छिद्र बिना मोटे कपड़े से छानना। छनने के बाद बचा हुआ (संखारा) पानी जिसमें जलचरादि पोरा आदि त्रस जीव हो सकते हैं, उसकी युक्ति से रक्षा करना, लकड़ी और उप लक्षण से उपले आदि जलाने की वस्तु सूखी तथा जिसमें जीव उत्पन्न न हुए हों परन्तु ताजे, जिसके अन्दर खोखलापन-पोल रहित तथा बबूल की लकड़ी में घुन आदि कीड़े उत्पन्न न हुए हों– ऐसे उपयोग में लेना, ऐसी जीव रहित वस्तु को भी बाहर से चढ़े हुए जीवों की रक्षा के लिए तलाश कर उपयोग में लेना चाहिए। प्रत्येक जाति का अनाज, मिठाई, प्रत्येक जाति की साग सब्जियां, स्वादिम, सोपारी, इलायची आदि मुख में रहने वाली वस्तु-पत्ते वाली सब्जियां, फल, फूल आदि सब वस्तु परिमित, जीव रहित और सड़ी गली हुई देखकर उपयोग करनी चाहिएं। वह भी अच्छी तरह देख कर - तलाश कर उपयोग में लानी चाहिएं क्योंकि यतना के बिना जीव हिंसा होती है। ऐसा करते हुए परिणाम धीरे-धीरे निस्संकोच बनते-बनते निर्दयता आती जाती है और इसके परिणाम से सम्यकत्व के शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य– इन पाँच लक्षणों में से अनुकम्पा नहीं रहती। प्रत्याख्यानावश्यक चूर्णि में कहा है कि:-

परिसुद्ध जलग्गहणं, दारूअधन्नाइ आण य तहेव ।
गहि आण य परिभोगो, विहोर तसरक्खणट्ठाए ॥१॥

अर्थात् – "त्रस जीवों की रक्षा के लिए श्रावक को परिशुद्ध - छना हुआ पानी उपयोग में लेना चाहिए और ईंधन अनाज आदि भी उसी प्रकार ही शुद्ध किया हो उसका ही यतना पूर्वक परिभोग करना चाहिए।"

योग शास्त्र २-२१ में तो कहा है कि 'मोक्ष अभिलषी-अहिंसा धर्म को जानने वाला श्रावक स्थावर जीवों की भी निष्प्रयोजन हिंसा न करे।' तो त्रस जीवों की हिंसा के लिए तो पूछना ही क्या ? अर्थात् वह तो करना ही नहीं। इत्यादि विवेक करना चाहिए। यहाँ चार विशेषणों से श्रावक का प्रथम व्रत प्रायः कर सवा बिसवा दया का पालन होता है-ऐसा सूचन किया है। उसको गणित संबोध प्रकरण में कहा है–

जीव थूला सुहुमा, संकल्पाऽऽरंभओ भवे दुविहा ।
सावराह निरवराहा, साविक्खा चेव निरविक्खा ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – "हिंसा दो प्रकार की होती है, एक स्थूल जीवों की और दूसरी सूक्ष्म जीवों की। उसमें यहाँ स्थूल अर्थात् द्वीन्द्रिय आदि त्रस (चलने-फिरने वाले) जीव और सूक्ष्म अर्थात पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पति– ये पांच प्रकार के बादर एकेन्द्रिय स्थावर जीव समझना। सूक्ष्म नाम कर्म के उदय वाले चौदह राज लोक व्यापी सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव को नहीं समझना। क्योंकि वे तो आयुष्य के क्षय होने से स्वयमेव मरते हैं। उनकी हिंसा किसी तरह नहीं हो सकती है। उनका शरीर इतना सूक्ष्म होता है कि – जिससे वे तो पर्वतादि के मध्य में उनके आर-पार सुखपूर्वक फैलाव कर सकते हैं। उनका शरीर तलवार की धार से भी अधिक सूक्ष्म होने से शस्त्र का आघात-चोट भी नहीं लगती है और अग्निकाय के शरीर के अतीव सूक्ष्म होने से अग्नि की ज्वाला के बीच में भी वह जलता नहीं है अर्थात् अतीव सूक्ष्म शरीर वाला होने से उसके शरीर को किसी बाह्य साधनों से आघात-चोट नहीं लगती है।

१. साधुकर्म में तो स्थूल – सूक्ष्म दोनों जीवों की हिंसा का त्याग होता है, इसलिए उनकी जीव दया संपूर्ण बीस बिसवा कही गयी है। गृहस्थ तो केवल स्थूल-त्रस जीवों की हिंसा का ही पच्चक्खान कर सकता है। सूक्ष्म जीवों की हिंसा में उनको मिट्टी, पानी, अग्नि आदि का कुटुम्ब-परिवार के लिए बारम्बार अनेक कार्यों में उपयोग करना आवश्यक है, अतः उसका त्याग नहीं कर सकते। इस तरह साधु से श्रावक की दया आधी-दस बिसवा होती है।

२. इन स्थूल – त्रस जीवों की हिंसा भी एक संकल्प पूर्वक और दूसरी खेती-रसोई आदि आरंभ से दो प्रकार की है। उसमें गृहस्थ तो 'मैं इसे मारूँगा' ऐसी संकल्पपूर्वक हिंसा का ही पच्चक्खान कर सकता है। खेती आदि कार्यों में त्रस जीवों की हिंसा होने से छोड़ नहीं सकता है। क्योंकि आरंभ के बिना शरीर, कुटुम्ब, आजीविका आदि का निर्वाह नहीं कर सकता। इससे दस बिसवा में से भी आधी जीव दया कम होने से शेष पांच बिसवा ही हो सकती है।

३. संकल्प हिंसा का भी सम्पूर्ण त्याग गृहस्थ नहीं कर सकता क्योंकि संकल्प हिंसा दो प्रकार की है – एक निरपराधी और दूसरी अपराधी। निरपराधी की ही हिंसा का वह त्याग कर सकता है, अपराधी जीव के लिए तो श्रावक को गुरु लाघव का विचार करना पड़ता है अर्थात् सामान्य अपराध है या महान है ? ऐसा विचार कर महा अपराधी को तो संकल्प पूर्वक भी मारना पड़ता है। इस तरह स्थूल जीवों में भी अपराधी को संकल्प पूर्वक मारने का त्याग न होने से पूर्व में कहे पाँच बिसवा में से अढ़ाई बिसवा दया का ही पालन कर सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. निरपराधी की हिंसा सकारण और निष्कारण दो प्रकार से होती है। उसमें गृहस्थ को बैलगाड़ी, मोटर, बैल, घोड़ा आदि पशुओं तथा पढ़ने में प्रमादी अथवा असदाचारी पुत्रादि परिवार को निरपराधी होते हुए भी उद्दंड हो, काम न करता हो, उसका परिवर्तन करना हो, पढ़ाना हो तो उसके कारण ताड़न, तर्जना, मारना, बंधन आदि करना होता है। इसलिए केवल सकारण हिंसा का त्याग नहीं करता है। अतः अढ़ाई बिसवा में से भी आधी केवल (सवा बिसवा) अहिंसा का ही पालन कर सकता है। इसके अनुसार श्रावक देश-अल्प से अर्थात् संपूर्ण की अपेक्षा से अल्पमात्र हिंसा का त्याग कर सकता है।

जीव हिंसा के २४३ भेद संबोध प्रकरण में इस तरह कहे गये हैं :-

भूजल जलणाऽनिल वण विति चउ पंचि दिएहिं नव जीवा।
मण वयण काय गुणिया हवंति ते सत्तवीस त्ति ॥८॥

इक्कासीई ते करण-कारणऽणुम इताडिआ होइ ।
ते तिकाल गुणिया, दुन्नि सया हुंति ते आला ॥९॥

अर्थात्-"पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय- इस तरह जीव के नौ भेद होते हैं। उसके मन, वचन और काया से २७ भेद होते हैं। उसके भी करना, करवाना और अनुमोदना रूप तीन प्रकार से गुणतः ८१ भेद होते हैं तथा भूत, भविष्य और वर्तमान- इस तरह तीनों काल सम्बन्धी गुणतः जीव हिंसा के २४३ भेद होते हैं।"

इन दो सौ तैंतालीस भेदों में से केवल तीन काल में मन, वचन और काया- इन तीन योग द्वारा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय- इतने जीवों की ही, वह भी करण और करावण रूप दो करण की ही हिंसा का त्याग प्रायःकर श्रावक कर सकता है। इस तरह से प्रथम व्रत का स्वरूप बतलाया है। इस स्थूल मात्र जीव दया के पालन करने से भी आत्मा को कैसा उत्तम फल मिलता है? वह संबोध प्रकरण श्रावक व्रताधिकार में कहा है:-

जं आरूग्गमुदग्गमप्पडिहयं आणेसरत्तं फुडं,
रूवं अप्पडिरूवमुज्जलतरा कित्ती धणं जुव्वणं ।
दीहं आउ अवंचणो परियणो पुत्ता सुपुण्णा सया,
तं सव्वं सचराचरं मि वि जए नूणं दयाए फलं ॥१२॥

अर्थात् - इस चराचर-नश्वर जगत् में जीवों को १-स्वतः परम स्वास्थ्य रूप

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निरोगता प्राप्त होती है, २. कोई आज्ञा भंग नहीं कर सके, ऐसा ऐश्वर्य मिलता है, ३. अनुपम रूप मिलता है, ४. कभी नाश न हो, ऐसी निष्कलंक यशः कीर्ति मिलती है, ५. उत्तम निष्पाप न्यायोपार्जित धन मिलता है, ६. विकार रहित यौवन मिलता है, ७. जन्म जन्मांतर में अखंड दीर्घ-आयुष्य मिलता है, ८. कभी भी नहीं ठगने वाला विश्वास पात्र परिवार मिलता है और ९. भक्ति पूज्यभाव धारण करने वाले पवित्र हृदय वाले पुत्र आदि मिलते हैं इत्यादि, जो जो उत्तम समस्त मनोवाञ्छित फल मिलते हैं वे सब एक जीव दया-अहिंसा व्रत का ही साक्षात् फल हैं। उपलक्षण से अहिंसा स्वर्ग और मोक्ष का सुख देने वाली है।

जीव दया का पालन नहीं करने वाले जीव को इसके विपरीत रूप लंगड़ापन, हाथ पैर आदि से रहित लूला, विकल, कुष्ठ रोगवाला कोढ़िया आदि महारोग, स्वजनों आदि का वियोग, शोक, अपूर्ण आयु, अकाल में मृत्यु हो जाना, दुःख, दुर्भाग्य आदि महा दुःखों से भरा हुआ जीवन मिलता है। संबोध प्रकरण श्रावक व्रताधिकार में कहा है कि:-

पाणि वहे वहंता भमंति भीमासु गब्भव सहीसुं ।
संसार मंडल गया, नरय तिरिक्खासु जोणीसु ॥१०॥

अर्थात् - "जीव हिंसा करने से प्राणियों को संसार चक्र में नरक, तिर्यंच आदि योनियों में भंयकर गर्भ रूपी स्थानों में दुःख भोगना और भटकना पड़ता है अर्थात् नरक-तिर्यंच समान अशुभ गति के अति कठोर दुःखों को भोगना पड़ता है तथा अनेक जन्म मरण करने पड़ते हैं।"

इस तरह प्रथम स्थूल अहिंसा व्रत का वर्णन सम्पूर्ण हुआ। अब दूसरे व्रत का वर्णन करते हैं :-

द्वितीयं कन्या गो भूम्यलीकानि न्यास निह्नवः ।
कूट साक्ष्यं चेति पञ्चासत्येभ्यो विरतिर्मतम् ॥२६॥

अर्थ - 'कन्यालीक, गवालीक, भूमिअलीक, न्यासापहरण और कूट साक्षी- इन पांच बड़े असत्यों से रुकना, उसे दूसरा स्थूल मृषावाद विरमण व्रत कहा है।"

भावार्थ - दूसरे व्रत में कन्यालीक आदि पांच असत्य वचन अति क्लिष्ट-दुष्ट - अध्यवसाय से बोला जाता है, इसलिए उसे मोटा-स्थूल असत्य कहा है। उसका त्याग करना। उसे श्री जिनेश्वर भगवान ने दूसरा अणुव्रत कहा है। उसमें:-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१. कन्यालीक – राग, द्वेष आदि से कन्या के सम्बन्ध में असत्य बोलना, जैसे कि विष-कन्या को अच्छी अथवा अच्छी को विष-कन्या कहना, सुशीला-सदाचारिणी को दुराचारिणी या दुराचारिणी को सदाचारिणी कहना– उसे कन्यालीक कहते हैं। यद्यपि कन्या के उद्देश्य से यहाँ व्याख्या होने से इसे कन्यालीक कहा है, फिर भी उपलक्षण से कुमार, युवक, दास, दासी, नौकर, चाकर आदि किसी भी दो पैर वाले मनुष्य का अभिप्राय ग्रहण करना। उसके विषय में दुर्गुणी को गुण वाला या गुण वाले को दुर्गुणी-अयोग्य आदि असत्य बोलना– वह सारा कन्यालीक नामक मृषावाद है।

२. गवालीक – राग, द्वेषादि दुष्ट आशय से गाय के सम्बन्ध में असत्य बोलना, जैसे कि कम दूध देने वाली को बहुत दूध देने वाली या इसके विपरीत बहुत दूध देने वाली को थोड़ा दूध देने वाली इत्यादि झूठ दूषण बोलना या झूठी प्रशंसा करना इत्यादि 'गवालीक जानना। यहाँ भी उपलक्षण से भैंस, घोड़ा, हाथी, बैल, बकरी, सांड, गधा आदि किसी भी चार पैर वाले पशु के विषय में झूठ दूषण बताना या झूठी प्रशंसा करना– इस सारे असत्य को 'गवालीक' मृषावाद जानना।

३. भूम्यलीक – भूमि अर्थात् जमीन के सम्बन्ध में राग, द्वेष आदि के कारण असत्य बोलना– वह भूमि अलीक है। जैसे कि– क्षेत्र, घर, दुकान, आंगण आदि पराई हो– उसे अपना अथवा उसके मालिक को छोड़कर दूसरे की बताना। उपजाऊ जमीन को बंजर और बंजर भूमि को उपजाऊ कहना। जमीन के विषय में लेने-देने की भावना छिपाना इत्यादि सब भूमि अलीक समझना। यहाँ भी केवल भूमि सम्बन्धी ही नहीं परन्तु उपलक्षण से भूमि पर पैदा होने वाले वस्त्र, पात्र, वृक्ष, धन, माल, जायदाद आदि सभी पदार्थ अर्थात् द्विपद -चतुष्पद बिना किसी भी पदार्थ के विषय में अच्छा या खराब, अपना या पराया हो उससे विपरीत बोलना– वह सारा भूमि अलीक मृषावाद है। संबोध प्रकरण श्रावक व्रताधिकार में कहा है कि–

कण्णा गहणं दुपयाण, सुअगं चउपयाण गोवयणं।
अपयाणं दव्वाणं, सव्वाणं भूमि वयणं तु ॥१८॥

अर्थात्– "यहाँ 'कन्या' शब्द ग्रहण किया है– वह सब द्विपद का सूचक है, 'गो' शब्द सारे चतुष्पद का और 'भूमि' शब्द सारे अपद पदार्थों का सूचक है।"

यहाँ प्रश्न होता है कि – यदि इस तरह कन्या शब्द से समस्त द्विपद, गो शब्द से सारे चतुष्पद और भूमि शब्द से सभी अपद को ग्रहण करने के लिए कहा है तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उन कन्यादि शब्दों के बदले द्विपद अलीक, चतुष्पद अलीक या अपद अलीक शब्दों का उपयोग क्यों नहीं किया ?

इसका समाधान करते हैं कि - तुम्हारा प्रश्न सत्य है परन्तु लोक व्यवहार में कन्या, गो और भूमि को बहुत पवित्र माना जाता है। इनके विषय में असत्य बोलना या असत्य बोलने वाले को लोगों में अति निन्दनीय माना जाता है। इसलिए द्विपद, चतुष्पद या निर्जीव अपद पदार्थों को मुख्य रूप से नहीं बतलाया गया। गौण रूप से तो इन तीनों के अन्तर्गत उनका समावेश होता है। अत: जो विशेषत: त्याग करने योग्य है, उसे बतलाने के लिए 'द्विपद' आदि के स्थान पर 'कन्या' आदि नाम रखे हैं। कन्यादि के विषय में इस तरह असत्य बोलने से बोलने वाले को भोगान्तराय कर्म का बंधन होता है, द्वेष बुद्धि होती है इत्यादि उसके अनेक अशुभ फल जगत् में भी प्रसिद्ध है। श्री आवश्यक सूत्र की चूर्णि में भी कहा है कि-

"मुसावाए के दोसा ? अकज्जन्ते वा के गुण ? तत्थ दोसा कण्णगं चेव अकण्णगं भणंतो भोगंतराय दोसा वा दुट्ठा वा आतघातं करज्ज कारवेज्जा वा एवं सेसेसु भाणि अव्वा।"

(पच्चक्खानाव) अर्थात् 'असत्य बोलने में कौन सा दोष और नहीं बोलने में कौन सा गुण है ?' उसमें दोष कहे हैं कि कन्या को अकन्या या व्यभिचारिणी कहने से, बोलने वाले को भोगान्तराय कर्म का बंधन होता है, द्वेष उत्पन्न होता है। अगर कन्या दुष्ट हो तो अपघात करती है या करवाती है, इत्यादि बहुत दुष्ट फल आते हैं। इत्यादि।

४. न्यासापहार - न्यास अर्थात् रक्षा के लिए अन्य को सौंपना। किसी को प्रामाणिक या ईमानदार मानकर सुरक्षा के लिए या संकट काल में अमानत के तौर पर किसी के पास अपना धन, मकान या कोई भी चीज रखी जाती है, उसे न्यास, धरोहर, गिरवी कहते हैं। ऐसे न्यास के विषय में झूठ बोलना या रखने वाले को कमोबेश बताना अथवा अधिक दिन हो जाने पर लोभ वश उसे हड़प जाना अथवा धरोहर रखने वाला अपनी चीज मांगने आए तब मुकर जाना- उलटे उसे ही झूठा बताकर बदनाम करना या डांटना-फटकारना न्यासापहरण असत्य कहलाता है। पूर्व के तीन से इसको भिन्न कहने का कारण यह है कि - इसमें 'अन्य के विश्वास से सौंपी हुई धरोहर के विषय में असत्य बोलना' उस असत्य के साथ में विश्वासघात रूप एक चोरी का भी भेद है, फिर भी इसमें असत्य वचन की मुख्यता मानकर मृषावाद में गिना जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५. कूट साक्षी – लेने-देने आदि में अन्य को प्रामाणिक मानकर विश्वास से साक्षी रखना चाहिए। फिर भी स्वयं लोभ, रिश्वत, द्वेष आदि के वश होकर झूठी गवाही देना या झूठे गवाह तैयार करके झूठी साक्षी दिलाना। यह झूठी साक्षी का वचन अन्य के पाप का पोषण करने रूप कूटसाक्षी मृषावाद है। पूर्व के चार मृषावाद से इसे भिन्न माना गया है।

यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि - क्रोध, मान, माया, लोभ, काम राग, स्नेह राग, दृष्टि राग, द्वेष, हास्य, भय, लज्जा, क्रीड़ारति अरति दाक्षिण्यता, बोलने की चतुरता, विषाद आदि किसी भी दुष्ट आशय से जो बोला जाता है वह सब असत्य है। क्योंकि बुरे इरादे से सत्य भी बोला जाय तब भी वह अन्य को नुकसान के लिए होने से असत्य माना जाता है। तत्त्व से तो '**सताम् हित सत्यम्**' अर्थात् -'सन्तों को, सत् पदार्थों, का और सद्भावों का जो हित करता है वही सत्य कहलाता है।' अर्थात् अर्थापत्ति से सिद्ध होता है कि - जिससे अन्य को पीड़ा हो- ऐसा सत्य वचन भी असत्य ही है। सम्बोध प्रकरण में कहा है कि-

अ लियं न भासि अव्वं, अत्थि हु सच्चंपि जं न वत्तव्यं।
सच्चं पि तं न सच्चं ज पर पीडाकर वयणं ॥१६॥

अर्थात् ''झूठ नहीं बोलना चाहिए, सत्य भी ऐसा नहीं बोलना चाहिए कि जिसके कारण वह पर पीड़ाकारी हो या हृदय को आघात पहुँचाने वाला वचन हो। स्वरूप से सत्य होने पर भी वे वचन सत्य नहीं हैं जो कि दूसरे को पीड़ा देने वाले चुभते वचन हैं। वह वास्तव में असत्य का ही भेद है।

असत्य वचन के दो भेद होते हैं - एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म। उसमें बड़ी-बहुमूल्य वस्तुओं के सम्बन्ध में झूठ बोलना तथा जिसके बोलने से स्व और पर का बहुत बड़ा नुकसान होता हो- इस तरह अति दुष्ट भावना से जो बोला जाय वह स्थूल (मोटा) असत्य है और इससे विपरीत सामान्य मात्र झूठ बोलना सूक्ष्म असत्य कहा जाता है। संबोध प्रकरण में कहा है कि:-

दुविहो अ मुसावाओ, सुहुमो थूलो अतत्थइह सुहमो।
परिहासा इप्प भवो थूलो पुण तिव्व संकेसा ॥१७॥

अर्थात्- ''सूक्ष्म और स्थूल दो प्रकार का मृषावाद है। उसमें यहाँ सूक्ष्म उसे कहना कि जिसे हँसी-मजाक-उपहास आदि से बोला जाय, और जो संक्लेश-दुष्ट आशय से बोला जाय वह स्थूल मृषावाद है।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्रावक को दूसरे व्रत में स्थूल मृषावाद का त्याग करना होता है और सूक्ष्म मृषावाद की यतना करना चाहिए। पच्चक्खाणावश्यक हरिभ्रद वृत्ती में कहा है कि **''थूलगं मुसावायं समणो वासओ पच्चक्खाण, से अ मुसावाए पञ्चविहे पण्णत्ते, तं जहा कण्णालिए १ गवालिए २ भोमालिए ३ णासावहारे ४ कुडसक्खेय ५।''** अर्थात् - 'श्रावक स्थूल मृषावाद का त्याग करे, वह मृषावाद पांच प्रकार का कहा है - १. कन्यालीक, २. गवालीक, ३. भूम्यलीक, ४. न्यासापहार और ५. झूठी साक्षी।' आवश्यक चूर्णी में भी कहा है कि -

''जेण भासिएण अप्पणो परस्स वा अतीव वाधाओ अहिं संकि लेसे अ जायते तं अट्ठाए वा अणट्ठाए वा ण वएज्जत्ति'' अर्थात् - 'जिसके बोलने से अपना अथवा दूसरों का अतिशय आघात-महान नुकसान अथवा मृत्यु होती हो अथवा अति संक्लेश-खेद-उद्वेग उत्पन्न हो ऐसा वचन सकारण या निष्कारण नहीं बोलना चाहिए।' इस स्थूल असत्य के चार भेद हैं-

१. भूत निह्नव, २. अभूतोद् भावना, ३. अर्थान्तर और ४. गर्हा। उसमें १. सत्य को छुपाने के लिए वचन बोलना जैसे कि आत्मा नहीं है, पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, परलोक नहीं है, मोक्ष नहीं है इत्यादि धर्म विपरीत बोलना 'भूत निह्नव असत्य' कहलाता है। २. जो न हो उसे भी ऐसा कहना, अगर हो तो इससे अन्य स्वरूप में कहना जैसे कि 'आत्मा श्यामक, चावल के दाने जितना, सूक्ष्म है अथवा प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञ, विश्वव्यापी, महान है' इत्यादि 'अभूतोद्भावना असत्य' कहलाता है। ३. एक पदार्थ को दूसरा पदार्थ बतानां जैसे गाय को बैल और बैल को घोड़ा कहना, मनुष्य को ईश्वर कहना, पुण्य को पाप कहना, पाप को पुण्य कहना इत्यादि 'अर्थान्तर असत्य' कहलाता है। ४. गर्हा रूप असत्य तीन प्रकार का है- (अ) जिससे पापकारी की प्रेरणा हो ऐसे सावधकारी वचन बोलना जैसे कि खेत में हल आदि चलाओ, घोड़े को खसी करो, सांड को बैल बनाओ, मार डालो, इसे मजा चखा दो, (आ) अप्रीतिकारी वचन बोलना जैसे कि यह काना है, यह ढेढ़ है, यह दरिद्री या मूर्ख शिरोमणि है, यह मरियल है, इत्यादि वचन कहना। और (इ) आक्रोशवश किसी का तिरस्कार हो इस तरह वचन बोलना-जैसे कि पुत्री को असती-दुराचारिणी, अरे यह तो कुलटा का पुत्र है, लुच्चे, बदमाश, बेईमान, नीच, हरामजादे! आदि सम्बोधन वचन बोलना, गर्हा असत्य' जानना।

इस मृषावाद का त्याग करने से जगत् में विश्वास, यशकीर्ति और इष्ट स्वार्थ की सिद्धि इत्यादि बहुत लाभ होता है। अपना बोला हुआ दूसरे को प्रिय लगे- वह स्वीकार करे, कहना निष्फल न हो इत्यादि बहुत उत्तम फल मिलता है। कहा है कि:-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सव्वा उ मंत जोगा, सिज्झंति धम्म अत्थकामा य ।
सच्चेण परिग्गहिआ, रोगा सोगा य नस्संति ॥१॥
सच्चं जसस्स मूलं सच्चं विस्सास कारणं परमं ।
सच्चं सग्गद्वारं, सच्चं सिद्धीइ सोपाणं ॥२॥

अर्थात्– "सत्य बोलने वाले को सर्व मंत्र और योग, भूत, प्रेत, व्यंतर आदि सिद्ध होते हैं। धर्म, अर्थ और काम ये तीनों सत्य के अधीन हैं, अर्थात् जहाँ सत्य हो वहीं ये तीनों स्थिर रहते हैं। रोग, शोक, हैरानी, परेशानी आदि सत्य के प्रभाव से नष्ट होते हैं, और सत्य यश कीर्ति का मूल, विश्वास का परम कारण, स्वर्गलोक का प्रवेश द्वार और सिद्धि सोपान की सीढ़ी है।"

सत्य व्रत नहीं लेने से, उसमें अतिचार लगाने से उलटा-विपरीत फल मिलता है। संबोध प्रकरण श्रद्धाव्रत अधिकार में कहा है कि:-

जं जं वच्चइ जाइं, अप्पिय वाई तहिं तहिं होइ ।
न सुणइ सुहे सुसद्दे, सुणइ असो अव्वए सद्दे ॥२३॥
दुग्गंधो पूइ मुहो, अणि यणो य फरूसवयणो अ ।
जल एऽमूअ मम्मण, अलियवण जंपणे दोसा ॥२४॥
इह लोए च्चिय जीवा, जीहा छेयं वहं च बंधं वा ।
अयसं धणा णासं वा, पाबंति अलिय वयणा ओ ॥२५॥

अर्थात्– "मृषावादी अन्य जन्म जन्मान्तर में जिस-जिस जाति में उत्पन्न होता है, वहाँ पर भी अप्रिय बोलने वाला होता है । उसे हितकारी अच्छे वचन रुचिकर नहीं होते। सुनता नहीं, दूसरे भी उसे बिना कारण से तिरस्कार - अपमान वाचक शब्द सुनाते हैं । अच्छे कार्य करने पर भी उसको यशवाद कोई नहीं बोलता, और शरीर दुर्गन्ध वाला मिलता है । मुख में से दुर्गन्ध निकलती है । उसका बोलना किसी को अच्छा नहीं लगता । उसकी भाषा कठोर-कड़वी होती है, बुद्धि रहित मूर्ख या तोतला, रुक-रुक कर बोलने वाला, गूंगापन आदि वाला होता है। ये सब शरीर, मुख और भाषा के दोष मृषावाद बोलने से होते हैं । अरे! असत्य बोलने वाले इस जन्म में भी जिह्वा छेदन, वध, जेल, फांसी आदि अनेक पीड़ा भोगते हैं। असत्य कथन के प्रताप से अपयश मिलता है, निर्धन होता है, दरिद्री बनता है । इत्यादि मृषावाद बोलने वाले को इस लोक-परलोक के अशुभ फल समझना । इसलिए अपनी मति कल्पना, अथवा अज्ञान रूप बोलना बहुत हानिकारक होता है । अतः मृषा वचन अवश्यमेव त्याग करना चाहिए ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसलिए अपनी आत्मा का कल्याण चाहने वाले को मौन का आश्रय लेना ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। कहा है कि **'मौनं सर्वार्थ साधनम्'** अर्थात् 'समस्त प्रयोजन का साधक मौन है।' मौन से लौकिक जीवन में भी कई पापों-दुःखों से रुक जाता है। इसलिए जितना हो सके उतना मौन सेवन करना चाहिए और आवश्यकता पड़े तो बहुत सोच विचार कर स्व परहितकारी श्री तीर्थंकर परमात्मा के वचन अनुसार ही बोलना चाहिए। इससे विपरीत बोलने में पाप है। इसलिए ही भाषा समिति, वचन गुप्ति, सत्य व्रत के अंकुश को धर्म कहा है।''

इस तरह दूसरे व्रत का स्वरूप कहा। अब तीसरे व्रत का वर्णन करते हैं :-

परस्वग्रहणाच्चौर्य व्यपदेश निबन्धनात् ।
या निवृत्तिस्तृतींय तत्, प्रोचे सावैरणुव्रतम् ॥२७॥

मूलार्थ – ''दूसरे का धन जो लेता है 'इसने चोरी की' ऐसा कलंक चढ़ता है अर्थात् लेने वाले को लोग चोर कहते हैं – ऐसा दूसरे के धन आदि नहीं लेने की प्रतिज्ञा-नियम लेना, उसे श्री तीर्थंकर भगवन्त ने तीसरा अणुव्रत कहा है।''

भावार्थ – अब तीसरे स्थूल अदत्ता दान विरमण नामक व्रत का वर्णन करते हैं। अदत्त का अर्थ है मालिक के दिये बिना ग्रहण करना। उसे चोरी कहते हैं। उसके चार भेद कहे हैं। संबोध प्रकरण श्राद्ध व्रताधिकार में कहा है कि :-

सामी जीवा दत्तं, तित्थ यरेणं तहेव य गुरुहिं ।
एअमदत्तस रूवं परू विअं आगम धरेहि ॥२६॥

अर्थात् – ''१. स्वामी अदत्त, २. जीव अदत्त, ३. तीर्थंकर अदत्त और ४. गुरु अदत्त – इस तरह ४ प्रकार के अदत्त का स्वरूप आगम के रहस्यों को जानने वाले ज्ञानियों ने कहा है। उसमें:-

१. सोना, वस्त्र, पात्र, पैसे आदि कोई भी वस्तु उसके स्वामी-मालिक के दिये बिना लेना, अथवा आज्ञा बिना लेना वह 'स्वामि अदत्त' कहलाता है। २. सचित फल, फूल, अनाज आदि सजीव पदार्थ हैं। उनमें वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीव का शरीर रूप है। उस फलादि को बाह्य मालिक (स्वामी) के अलावा अन्य कोई भी, काटे, छेदन करे, सेके या खाये इत्यादि से उसका नाश करे – उसमें जिसका वह शरीर है, उस जीव की सम्मति नहीं होती, इसलिए वह जीव अदत्त माना जाता है। इस तरह यदि कोई वस्तु सजीव, जीव के शरीरयुक्त हो उसे उस जीव की आज्ञा बिना काटना, छेदन करना, सेकना, खाना आदि 'जीव अदत्त' कहलाता है क्योंकि व्यवहार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में जो मालिक माना जाता है, उस मनुष्य ने और फलादि के उस जीव ने उस फलादि अपने शरीर का नाश करने की सम्मति नहीं दी है । ३. गृहस्थ के पास से साधु को अचित भी आधा कर्मिकादि दोषित आहारादि वस्तु लेना श्री तीर्थंकर भगवन्त ने साधु के लिए निषेध किया है फिर भी तीर्थंकर देव के आज्ञा विरुद्ध यदि लेता है तो 'तीर्थंकर अदत्त' कहलाता है । इसके अनुसार गृहस्थ को भी अचित होने पर भी अनंतकाय, अभक्ष्य, जमीन कंद आदि खाने की आज्ञा नहीं है, फिर भी उपयोग करता है तो गृहस्थ को भी 'तीर्थंकर अदत्त गिना जाता है । ४. पूर्व कहे अनुसार सब दोष से रहित जो वस्तु शुद्ध कल्प्य हो, फिर भी साधु जिसकी निश्रा में रहता हो उस गुरु महाराज को कहे बिना बतलाए बिना- उनकी आज्ञा बिना उपयोग करे तो उसे 'गुरु अदत्त' कहते हैं। ये चारों अदत्त जिस जिस वस्तु में जितना पालन हो सकें उतना स्वयमेव विचार करना और पालन करना ।

इन चार में से श्रावक द्वारा स्वामी अदत्त की ही विरति का पालन हो सकता है- उस स्वामी अदत्त के दो भेद हैं- १. स्थूल और २. सूक्ष्म। उसमें बहु मूल्यवान महान वस्तु लेने से चोरी का कलंक लगता है, इसलिए मालिक की आज्ञा बिना वह नहीं लेनी चाहिए । ऐसा जानता हुआ भी यदि सम्मति बिना ग्रहण करता है तब लेने वाले के अध्यवसाय बहुत दुष्ट होने से उसे 'स्थूल' कहते हैं । इसके अनुसार खेत-खलियान आदि में से भी थोड़ी चोरी की बुद्धि से गुप्त रूप में ग्रहण करता है तो उसमें भी चोरी की भावना होने से स्थूल अदत्तादान कहा है। उससे विपरीत अर्थात् चोरी की बुद्धि बिना सामान्य भाव से घास, मिट्टी, पत्थर, राख आदि वस्तु लेना- वह सूक्ष्म-छोटा अदत्तादान जानना। उसमें सूक्ष्म अदत्तादान की यतना रखना और श्रावक को केवल स्थूल अदत्तादान का त्याग करना चाहिए। प्रत्याख्यानावश्यक सूत्र ३ हरिभद्र वृत्ती में कहा है कि :-

''थूलगादत्ता दाणं समणो वास ओ पच्चक्खाइ, से अ अदत्ता दाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा सचिता दत्ता दाणे अचिता दत्ता दाणे अ।'' त्ति

अर्थात् 'श्रावक स्थूल अदत्ता दान का पच्चक्खान करता है, वह अदत्ता दान दो प्रकार का है १. सचित अदत्तादान और २. अचित वस्तु का अदत्तादान' आदि।

इस व्रत का पालन करने से सर्वत्र विश्वास जमता है, प्रशंसा का पात्र बनता है, धन-धान्यादि समृद्धि अपने आप आती हैं, मन में अति स्थिरता-निर्भयता, ठकुराई और सद्गति आदि उत्तम फल मिलते हैं । संबोध प्रकरण श्रावक व्रताधिकार में कहा है कि:-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

खित्ते खले अरण्णे, दिआ य राओ वसत्थ घाए वा ।
अत्थो से न विणस्सइ, अ चोरि आए फलं ए अं ॥३३॥

गामागर नगराणं दोण मुह मंडव पट्ट णाणं च ।
सु इरं हवंति सामी, अचोरि आए फलं ए अ ॥३४॥

अर्थात् – "क्षेत्र में – खेत में या जंगल में, दिन या रात्रि में और शस्त्र घातादि आपत्ति में भी चोरी बिना न्यास से प्राप्त किया धन कभी नाश नहीं होता है अर्थात् चोरी नहीं करने वाले का धन किसी स्थान पर, किसी समय में या किसी भी संयोग में बिना रक्षक से सुरक्षित रहता है। यह अचौर्यव्रत पालन का फल है। एवं चोरी नहीं करने वाला बहुत काल तक गांव, नगर, अनेक धातुओं की खान, जहाँ जल-स्थल दोनों मार्ग हों ऐसा द्रोणमुख-बन्दरगाह, छोटे छोटे गाँवों से घिरा हुआ मडंवों, पत्तन (शहरों) का स्वामी-विशाल राज्य को भोगने वाला राजा, महाराजा बनता है। यह सब अदत्तादान विरमण व्रत पालन करने का उत्तम फल है।"

इस व्रत का पालन नहीं करने वाला, अथवा व्रत में अतिचार सेवन करने वाला जीव दौर्भाग्य, दासत्व, अंगोपांग के छेदन वाला, दरिद्रता आदि बहुत खराब फल भोगता है। संबोध प्रकरण में कहा है कि:-

इह चेव खरा रोहण गरिहा धिक्कार मरण पज्जंतं ।
दुक्खं तक्कर पुरिसा, लहंति नरयं परभवंमी ॥३५॥

नरयाओ उव्वट्टा, केवट्टा कुंटमंट बहिरंधा ।
चोरिक्कवसण निहया, हुंति नराभव सहस्सेसुं ॥३६॥

अर्थात् – 'चोरी करने वाला जीव इसी जन्म में राजादि की ओर से गधे पर बैठाकर शहर में सर्वत्र घुमाया फिराया जाता है । अनेक मनुष्यों द्वारा निंदा, धिक्कार-तिरस्कार आदि पराभव होता है । देश निकाला या शूली आदि से मृत्यु की सजा भोगता है, इत्यादि महा कष्ट भोगता है एवं अन्य जन्म में नरकादि दुर्गति को प्राप्त करता है। चोरी का व्यसनी नरक में चिर काल तक महा दु:ख भोगता है, फिर मनुष्यत्व में भी मच्छी मार, दूसरे के घर में नौकर का काम करना, गुलामी, शारीरिक पराधीनता हाथ पैर आदि अंगोपांग का छेदन, हीनता वाला, अंधा, बहरा आदि होता है। इस तरह हजारों जन्म जन्मांतर में महाकष्ट भोगता है इत्यादि । पूर्वजन्म में चोरी का यह महादुष्ट फल है।"

इस तरह तीसरे व्रत का स्वरूप कहा। अब चौथे व्रत का वर्णन करते हैं:-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्वीकीय दार सन्तोषो, वर्ज्जनं वाऽन्य योषिताम् ।
श्रमणोपासकानां तच्चातुर्थाणुव्रतं मतम् ॥२८॥

अर्थ – अपनी स्त्री में संतोष रखना और पर स्त्रियों का त्याग करना, उसे श्रावकों का चौथा अणुव्रत कहते हैं ।''

भावार्थ– अपनी एक या अनेक विवाहित स्त्रियों के भोग में संतोष अर्थात् अपनी स्त्री के अतिरिक्त दूसरी स्त्री के साथ में मैथुन का त्याग करना अंथवा परस्त्री अर्थात् अन्य से विवाहित, संगृहीत, देवों की परिग्रहीता या अपरिग्रहीता देवी एवं पशु जाति की स्त्रियाँ– इन सब के साथ मैथुन का त्याग करना, वह श्रावक का चतुर्थ व्रत कहलाता है।''

यद्यपि अपरिग्रहीता देवियाँ और पशु स्त्रियां गाय आदि, विवाहित या रखात स्त्री रूप जिसका कोई मालिक नहीं होता वह अमुक की स्त्री है– ऐसा नहीं माना जाता, केवल वेश्या समान ही होती है। फिर भी परजाति के भोग्य होने से परजाति की स्त्री रूप में–परदारा रूप मानकर उसके साथ मैथुन का भी त्याग करना चाहिए । यहाँ विशेष यह है कि – मैथुन दो प्रकार का है, एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल। उसमें वेद मोहनीय कर्म के उदय से वासना के जोर से जो सहज विकार हो – वह सूक्ष्म, और मन वचन और काया से औदारिक आदि शरीर वाली–स्त्री या स्त्री को वैसे पुरुष का सेवन करना, वह स्थूल मैथुन कहलाता है। अथवा मैथुन के त्याग रूप ब्रह्मचर्य का पालन दो प्रकार का है, एक सम्पूर्ण रूप और दूसरा देश से। उसमें सर्व स्त्रियों के साथ में सर्व प्रकार के संभोग का मन, वचन और काया से त्याग करना–वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य है। उसके अठारह भेद हैं । योग शास्त्र प्रकाश १, श्लोक २३ में कहा है:–

दिव्यौदारिक कामानां कृतानुमति कारितैः ।
मनो वाक् कायातस्त्यागी, ब्रह्माष्टादशधा मतम् ॥२३॥

अर्थात् – 'देवताओं के वैक्रिय तथा मनुष्य जाति और तिर्यंच जाति के औदारिक शरीर से सम्बन्धित काम–भोग का मन, वचन और काया से सेवन करना, करवाना और अनुमोदन का त्याग करना ब्रह्मचर्य है। यह अठारह प्रकार से त्याग होता हैं । देवता सम्बन्धी रति सुख मन, वचन और काया से करना तथा करवाना और अनुमोदन के भेद से त्रिविध त्रिविध ३ × ३ = ९ विरति रूप नौ प्रकार का है तथा औदारिक सम्बन्धी काम सेवन के भी इसी तरह त्रिविध त्रिविध त्याग करने से नौ भेद होते हैं, कुल मिलाकर १८ प्रकार का ब्रह्मचर्य व्रत होता है।'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इससे कम अमुक अंश में पालन करना वह देश ब्रह्मचर्य कहलाता है । उसमें यदि श्रावक सर्वथा ब्रह्मचर्य पालन करने के लिए असमर्थ हो तो देश से अर्थात् स्वदारा में ही संतोष रखना चाहिए और परदारा का त्याग रूप ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करना चाहिए । यह ब्रह्मचर्य का स्थूल मैथुन विरमण व्रत जानना। प्रत्याख्यानावश्यक सूत्र ४ हरिभद्री वृत्ति में कहा है कि:-

''परदारागमणं समणो वासओ पच्चक्खाइ सदार संतोष वा पडिवज्ज इ, से अ परदार गमणे दुविहे पन्नत्ते, ओरालिय परदारागमणे-वेउव्विअ परदारा गमणं ॥''

अर्थात् 'श्रावक परदारा गमन का त्याग या स्वदारा संतोषव्रत धारण करता है, वह परदारा गमन दो प्रकार का है- औदारिक परदारागमन और वैक्रिय परदारा गमन इत्यादि।'

यहाँ परदारा गमन का त्याग करने का विधान है कि 'यह स्त्री अन्य की है' ऐसा शब्द व्यवहार जिसके विषय में हो सकता है, उस पर स्त्री के संगम का त्याग होता है परन्तु सर्व साधारण वेश्या अथवा कन्या आदि जो अमुक की स्त्री रूप में निर्णीत नहीं है, उसका त्याग नहीं होता है। इसका उत्तर - स्वदारा संतोष व्रत वाले को एक या अनेक अपनी विवाहित पत्नियों के अलावा अन्य कुमारी आदि सब का त्याग होता है । इतना भेद समझना । इस समय में यह व्रत लेने की विधि में वृद्ध परम्परा से प्राय: कर अन्य अणुव्रतों के समान द्विविध, त्रिविध आदि भेद बतलाया नहीं है। परन्तु मनुष्य स्त्री को एकविध-एकविध काया से सेवन नहीं करना । तिर्यंच पशु की स्त्री का एकविध-त्रिविध = मन, वचन और काया से सेवन नहीं करूँ तथा देवी को द्विविध-त्रिविध = मन, वचन और काया से सेवन नहीं करूँ, सेवन करवाऊँगा नहीं, इस तरह से त्याग होता है । धर्म में पुरुष की प्रधानता होने से पुरुष के विषय में वर्णन किया है । फिर भी उपलक्षण से परदारा शब्द से पर पुरुष को भी समझना, अर्थात् स्त्रियों को भी स्वपति के अतिरिक्त अन्य सर्व पुरुषों का त्याग करना है। यह चौथा व्रत है। स्त्री को 'स्वपति संतोष' केवल एक ही प्रकार का है।

मानव जाति की विवाह व्यवस्था वस्तुत: व्यभिचार दूर हटाकर शील के रक्षण करने के लिए है, न कि विषय वासना पोषण के लिए है। पुरुष को व्यभिचार से बचने के लिए स्त्री और स्त्री को व्यभिचार से बचने के लिए पुरुष सहायक है। वेद विकार जागृत होने पर रोक नहीं सकता हो तभी स्त्री को केवल अपने विवाहित पति के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साथ में या पति को अपनी विवाहित स्त्री के साथ में उस विकार को शान्त करने का अधिकार होता है। यह तत्त्व अध्यात्म दृष्टि है। स्वपति संतोष स्त्री जीवन में बहुत अधिक मिलता है– वह वैधव्य–विधवा जीवन आदि में भी उत्तम कुलाचार का सहर्ष पालन करती है। पूर्व जन्म में शील भंगादि दुराचार का ही यह फल है– ऐसा समझकर समतापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई वह कर्म को खतम करती हैं। उनका जीवन आदरणीय माननीय है। जबकि पुरुष जीवन में ऐसा कम पाया जाता है। उन्हें भी सदा एक पत्नी व्रत का पालन करना चाहिए। वह हितकर है। उत्तम पुरुष कभी भोग के पराधीन नहीं होते। वस्तुतः विषय विष तुल्य होता है। इससे सब मुक्त बनें– यह श्रेष्ठ दृष्टि है। इस व्रत को पालन करने से बहुत उत्तम फल मिलते हैं। संबोध प्रकरण गुरुस्वरूपाधिकार में कहा है कि:–

दो देई कणय कोडिं, अहवा कारेइ कणय जिण भवणं।
तस्स न तत्तिअ पुण्णं, जतिअं बंभव्वए धरिए ॥६६॥

अर्थात् – ''यदि करोड़ों सोना मोहर का दान करो, अथवा सोने की ईंटों से श्री जिनेश्वर भगवान का मंदिर तैयार करवाओ – उससे उतना फल नहीं मिलता जितना फल केवल एक निर्मल ब्रह्मचर्य पालन करने से होता है।''

उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १६, गाथा १६ में कहा है –

देव दाणव गंधव्वा, जक्खस किन्नरा।
बंभयारिं नमं संति, दुक्करं जं करिंति ते ॥१६॥

अर्थात् – ''देव, दानव, गांधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर देव भी ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले को नमस्कार करते हैं। क्योंकि वे देवों को भी दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं।''

सम्बोध–प्रकरण में कहा है कि–

आणाई सरियं वा, इड्ढी रज्जं च कामा भोगा य।
कित्ती बलं च सग्गो, आसन्ना सिद्धि बंभाओ ॥४२॥

कलि कारओ वि जण मार ओवि सावज्ज जोग निरओवि।
जं नार ओवि सिज्झइ, तं खलु सीलस्स माहप्पं ॥४३॥

अर्थात् – उत्तम स्वामीत्व, अखूट धन–धान्यादि खजाना, ऋद्धि, राज्य सुख, काम भोग के साधन, निर्मल कीर्ति, निर्विकारी शरीर आदि, स्वर्ग के सुख और अन्त

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में अल्प काल में मोक्ष की प्राप्ति - ये सब कुछ निर्मल ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने से मिलते हैं ॥४२॥ हमेशा कलह लड़ाई आदि कराने वाले, मनुष्यों को मरवाने वाले और पाप कार्यों में तन्मय रहने वाले भी 'नारद' का मोक्ष होता है, केवल यह उसके निर्मल ब्रह्मचर्य पालन करने की महिमा है॥४३॥''

इसलिए स्वदारा संतोषी गृहस्थ को भी सुदर्शन सेठ के समान ब्रह्मचर्य पालन करना श्रेष्ठकर ही होता है और पर स्त्री गमन करने से जग प्रसिद्ध बध, बंधन आदि कड़वे भयंकर फल भोगने पड़ते हैं । संबोध प्रकरण में कहा है कि:-

वह बंधण उब्बंधण नासिं दिअच्छेअ धण खयाइआ।
पर दारओ हु बहुआ, कयत्थ णाओ इह भवे वि ॥४४॥

पर लोए सिंबलि तिक्खकंटगा लिंगणाइ बहु रूवं ।
नरयं मि दुह दुसहं, परदार रया लहंति नरा ॥४५॥

छिन्निं दिया नपुंसा दुरूव दोहग्गिणो भंग दरिणो ।
रंड कुरंडा वंझा, निंदुअ विसकन्न हुंति दुस्सीला ॥४६॥

अर्थात् - ''वध, बंधन, कैद, गले में फांसी, नाक छेदन, गुप्तेन्द्रिय का (पुरुष चिन्ह) छेदन, धन का नाश इत्यादि परदारा सेवन से अनेक कदर्थना घबड़ाहट इस जन्म में भी सहन करनी पड़ती हैं ॥४४॥ पर स्त्री सेवन करने वाले को मर कर अन्य जन्म के अन्दर घोर नरक में तीक्ष्ण कांटों वाले शाल्मली वृक्ष का आलिंगन करना पड़ता है, इत्यादि अनेक जाति के भयंकर दु:सह दु:खों को भोगना पड़ता है ॥४५॥ पर स्त्री में आसक्त दुराचारी मनुष्य जन्म-जन्मान्तर में शरीर के अंगोपांग या गुप्तेन्द्रिय आदि अंग रहित, नपुंसक, पूर्ण कुरूप वाला, दौर्भाग्यत्व, भगंदर आदि रोग वाला होता है तथा दुराचारिणी स्त्री अन्य जन्मों में विधवा, विवाह के समय में ही रंडापा, बांझनी, मरे हुए बच्चों को जन्म देने वाली, विष कन्या, जिसके स्पर्श से जहर चढ़ जाएं- ऐसे शरीर वाली, दुष्ट भाग्य वाली स्त्री रूप बनती है। और भी कहा है:-

भक्खणे देव दव्वस्स, परित्थी गमणेण य ।
सत्तमं नरयं जंति, सत्त वारा उ गोयमा ॥१॥

अर्थात् - ''श्रमण भगवान महावीर प्रभु कहते हैं - हे गौतम ! देव द्रव्य का भक्षण करने से और पर स्त्री सेवन करने से जीव सातवें नरक में सात बार उत्पन्न होता है।'' मैथुन में हिंसा दोष बहुत होता है। कहा है कि:-

''मेहुण सन्ना रूढी, हणेइ नव लक्ख सुहुम जीवाणं'' इत्यादि अर्थात् 'मैथुन सेवन करने वाला नौ लाख सूक्ष्म जीवों को मारता है।' अन्य शास्त्रों में जो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहा है वह वहाँ देख लें। "**जन्तु सद्भाव इति वात्स्यायनोऽव्याह**" अर्थात् काम शास्त्र रचियता वात्स्यायन ने कहा है कि योनि में जन्तुओं का सद्भाव है। कहने का तात्पर्य यह है कि काम को प्रधानता देने वाले वात्स्यायन ने भी योनि में जन्तुओं का होना स्वीकार किया है, छिपाया नहीं है। तब दूसरों का तो कहना ही क्या? इसी विषय में उसके द्वारा समर्थित श्लोक दे रहे हैं–

रक्ताजाः कृमयः सूक्ष्मा मृदु मध्याधि शक्तयः ।
जन्म वर्त्मसु कण्डूति, जनयन्ति तथा विधाम् ॥१॥

अर्थात् – स्त्री के रुधिर में से उत्पन्न हुए सूक्ष्म, मृदु, मध्यम और अधिक शक्ति वाले, चक्षु से न दिख सकें– इतने सूक्ष्म, कृमि–कीड़े अपनी शक्ति के अनुसार स्त्री के योनि मार्ग में नाना प्रकार की विषय की खुजली उत्पन्न करते हैं।"

पूज्य आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरीश्वर जी ने योग शास्त्र प्रकाश २ – श्लोक ७६ में कहा है कि

योनियन्त्रसमुत्पन्नाः, सुसूक्ष्मा जन्तु राशयः ।
पीडयमाना विपद्यन्ते यत्र तन्मैथुनं त्यजेत् ॥७६॥

अर्थात् – "प्राणी को जन्म देने का मार्ग या उत्पत्ति स्थान योनि कहलाता है। वह यंत्राकार होने से उसे योनि यन्त्र कहते हैं। उसमें स्वभावतः उत्पन्न होने वाले समूर्च्छिम जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि आंखों से नहीं दिखाई देते हैं। इसका ही स्पष्टीकरण करने के लिए उदाहरण देते हैं कि जिस तरह रुई से भरी हुई नली में तपी हुई लोहे की सलाई रुई को जला देती है, उसी तरह गर्भ योनि में रुई के समान रहे हुए जीव समूह पुरुष चिह्न के मर्दन से मैथुन करने पर नष्ट हो जाते हैं। इसलिए मैथुन सेवन अनेक जीवों की हिंसा का जनक होने से त्याज्य समझना चाहिए। सम्बोध प्रकरण में तीसरे अधिकार में पूज्य श्री हरिभद्र सूरीश्वर जी ने भी कहा है –

'स्त्रियों की योनि में गर्भज मनुष्य उत्कृष्ट से नौ लाख उत्पन्न होते हैं, अर्थात् एक–दो–तीन से लेकर उत्कृष्ट लाख अलग उत्पन्न होते हैं, उसके साथ द्वीन्द्रिय जीव असंख्याता उत्पन्न होते और संमूर्च्छित मनुष्य भी असंख्याता उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। स्त्री सेवन करते समय उन सब जीवों का एक साथ नाश हो जाता है इत्यादि। पच्चक्खान आवश्यक चूर्णि में भी चौथे व्रत के अधिकार में मैथुन के दोष और ब्रह्मचर्य के गुणों को इस तरह बतलाया है–

"चउत्थे अणुव्वए सामाण्णेण अणिअतस्स दोसा–मातर मवि गच्छेज्जा विदियं धूयाएवि समं वसेज्जा। इत्यादि तथा णिअ तस्स इह लोए, पर लोए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गुणा इहोलए कत्थे कुल पुत्त गाणि सड्ढाणि० इत्यादि तथा **पर लोए पहाण पुरिसत्तं देवत्ते पहाणाउ अच्छाराओ मणु अत्ते पहाणाओ माणुसीओ विउला य पंच लक्खणा भोगापि असंप ओगा य आसण्ण सिद्धि गमणं च ॥''**

अर्थात् – ''सामान्य रूप से चौथे अणुव्रत रूप विरति नहीं करने वाले मनुष्य को दोष लगता है । जैसे कि- माता को भोगने का और अपनी पुत्री को भी सेवन करने का प्रसंग आता है । इन दोनों का दृष्टान्त चूर्णि में आया है । विरति वालों को इस लोक परलोक में गुण क्या होता है ? तो इस लोक में कच्छ देश में श्रद्धालु कुल पुत्र का चूर्णि में दृष्टान्त दिया है–

कच्छ देश के अन्दर किसी कुलपति का पुत्र और अन्य सेठ की पुत्री-दोनों ने बचपन में एकान्तर में ब्रह्मचर्य पालन करने का नियम लिया। भवितव्या के योग होने पर यौवन वय प्राप्त करने बाद उन दोनों का परस्पर विवाह हो गया। उसमें ब्रह्मचर्य पालन करने में जिस दिन पति का नियम आता उसी दिन पत्नी का नियम खुला होता और जिस दिन पत्नी का नियम आता उस दिन पति का नियम खुला होता था– ऐसा प्रसंग बना इससे दोनों ने जिन्दगी भर ब्रह्मचर्य का पालन किया। इससे देवता प्रसन्न होकर उनकी सहायता करने लगे। यह दृष्टान्त सुप्रसिद्ध श्री विजय सेठ और विजया सेठानी के अनुसार है, वे भी कच्छ प्रदेश में ही हुए हैं ।

इनके समान ब्रह्मचारी की देवता भी सेवा करते हैं और परलोक के अन्दर सर्व में श्रेष्ठता मिलती है । देव जन्म में उत्तम अप्सराएँ, मनुष्य जीवन में सती, रूपवती-गुणवती पत्नियां मिलती हैं । पाँचों इन्द्रियों के विषयों के विपुल साधन मिलते हैं । प्रिय मनुष्यों का संयोग और थोड़े काल में हीं मोक्ष भी होता है । इत्यादि ब्रह्मचर्य से बहुत गुणों की प्राप्ति होती है।'

'इस तरह चौथे व्रत का स्वरूप कहा । अब पाँचवें अणुव्रत का वर्णन करते हैं –

परिग्रहस्य कृत्स्नस्यामितस्थ परिवर्जनात् ।
इच्छा परिमाण कृतिं, जगदुः पञ्चमं व्रतम् ॥२६॥

अर्थ – ''समस्त पदार्थों की मूर्च्छा रूप अपरिमित परिग्रह का त्याग करके इच्छाओं को मर्यादित करना– उसे पाँचवा अणुव्रत कहते हैं ।''

भावार्थ – जो चारों तरह से ग्रहण किया जाय उसे परिग्रह कहते हैं अथवा मिले या न मिले किसी भी पदार्थ पर ममत्व-मूर्च्छा रखना उसे परिग्रह कहा है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गृहस्थ के परिग्रह के विषयभूत सर्व बाह्य पदार्थों की सामान्य रूप से नौ प्रकार में गिनती की गई है। वह इस प्रकार:- १. धन, २. धान्य, ३. क्षेत्र, ४. वास्तु, ५. चांदी, ६. सोना, ७. कुप्य, ८. द्विपद और ९. चतुष्पद। इसका विशेष स्वरूप आगे व्रत के अतिचार के वर्णन में कहा जायेगा। श्री दश वैकालिक के छठे अध्ययन की पाँचवीं गाथा की पूज्य श्री भद्रबाहु स्वामी जी ने निर्युक्ति की रचना की है। उसमें तो गृहस्थ के परिग्रह के १. धान्य, २. रत्न, ३. स्थावर, ४. द्विपद, ५. चतुष्पद और ६. कुप्य- इस तरह मूल छह भेद माने हैं। उसके अंतरभेद कुल ६४ - चौंसठ माने हैं। उनकी इस प्रकार गिनती है:-

(१) धान्य - १. जौं, २. गेहूँ, ३. चावल, ४. कमोद चावल, ५. साठी चावल, ६. कोदो, ७. जुआर, ८. कांग, ९. छोटे पीले चने, १०. तिल, ११. मूंग, १२. उड़द, १३. अलसी, १४. बड़ा चना, १५. रोंगी, १६. बाल, १७. मोठ, १८. चौला-राजमा, १९. बरंटी, २०. मसूर, २१. अरहर, २२. कुलथ, २३. धाणा और २४. मटर- इस तरह चौबीस प्रकार का अनाज कहा है।

(२) रत्न - १. सोना, २. त्रपुय, ३. ताम्बा, ४. चांदी, ५. लोहा, ६. सीसा - कलई, ७. रुपया पैसे, ८. उत्तम जाति के पत्थर अकीक आदि, ९. वज्ररत्न, १०. जात्यरत्न, ११. मोती, १२. प्रवाल, १३. शंख, १४. तिनीश नामक वृक्ष (बेंत), १५. अगुरु, १६. चन्दन, १७. सुतर के वस्त्र, १८. ऊन के वस्त्र, १९. काष्ट (अग्निमंथ वृक्ष आदि का तख्ता), २०. चमड़ा - मृग चर्म, सिंह चर्म, व्याघ्र चर्म आदि, २१. दांत-हाथी दांत आदि, २२. बाल-चमरी गाय के चमर आदि, २३. सुगन्धमय चूर्ण आदि, २४ द्रव्यौषधि (सोंठ, काली मिर्च, पीपर आदि औषधियाँ) - इस तरह चौबीस प्रकार के रत्न कहे हैं।

(३) स्थावर - १. क्षेत्र - खेत आदि जमीन, २. घर, दुकान, हवेली, नोहरा आदि मकान, ३. वृक्ष समूह, नारियल, खजूर आदि का वन-जंगल। इस तरह तीन प्रकार का स्थावर जानना।

(४) द्विपद - १. गाड़ी, रथ आदि, २. दास, दासी आदि दो पैरवालों को दो प्रकार का द्विपद कहा है।

(५) चतुष्पद - १. गाय, २. भैंस, ३. ऊँट, ४. बकरी, ५. मेढ़ा, ६. बाल्हीक आदि देश के जातिवत घोड़े, ७. खच्चर, ८. कुजात घोड़ा, ९. गधा और १०. हाथी। यहाँ गाय शब्द से बैल, भैंस, पाडा आदि सजातीय एक में गिनना। इस तरह चतुष्पद के दस भेद समझना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(६) कुप्य – इसका अर्थ है सोना चांदी के सिवाय हल्की किस्म की धातुएँ-कांसा, तांबा, लोहा, शीशा, जस्ता, गिलट आदि धातुओं के बर्तन, चारपाई, पलंग, कुर्सी, सोफा सेट, अलमारी, मोटर गाड़ी आदि गृह उपयोगी सामान-फर्नीचर आदि सब का एक ही भेद गिना है। रत्न के भेद में वस्त्रादि को संपत्ति रूप में गिना है और यहाँ घर सामग्री रूप में गिना है। इस तरह भेद समझना। श्री दशवैकालिक सूत्र की निर्युक्ति की गाथा २५८ में कहा है कि:-

नाणा वि होव गरणं णेग विहं कुप्पलक्खणं होइ ।
एसो अत्थो भणिओ, छव्विह चउसट्ठि भेओ उ ॥२५८॥

अर्थात् - "अलग अलग जाति के अनेक प्रकार के उपकरणों को एक ही कुप्य रूप में गिनना चाहिए। इस तरह अर्थ-परिग्रह के मूल छह भेद हैं और भेद चौंसठ कहे जाते हैं।"

इस तरह २४ धान्य, २४ रत्न, ३ स्थावर, २ द्विपद, १० चतुष्पद और १ कुप्य मिलाकर ६४ प्रकार का परिग्रह या नौ विषय कहा है। ये चौंसठ भी पूर्व कहे धन धान्यादि नौ प्रकार में ही अंतर्गत होने से इन नौ के भी ये चौंसठ प्रकार हो सकते हैं। इस तरह दोनों व्याख्याओं में समानता समझना। ये नौ प्रकार के अमित परिग्रह (जिनका कोई प्रमाण नहीं है) उसे प्रमाण युक्त करें अथवा अमुक वस्तु अमुक प्रमाण से अधिक नहीं रखना, इस तरह इच्छा-मूर्च्छा को मर्यादित करे। उसे सर्वज्ञों ने स्थूल परिग्रह विरमण नाम का पाँचवाँ अणुव्रत कहा है।

यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि - परिग्रह का त्याग दो प्रकार का होता है, एक सर्वथा-सम्पूर्ण रूप में और दूसरा देश से अमुक प्रमाण में। सर्व वस्तुओं का, सर्व प्रकार से मूर्च्छा का त्याग करना सर्व त्याग है और अमुक वस्तुओं की अमुक प्रमाण में मूर्च्छा छोड़ना देश त्याग कहलाता है। इन दोनों में श्रावक को सर्वथा त्याग करना अशक्य है अत: देश से त्याग करके वह इच्छा का परिमाण कर सकता है। पच्चक्खान आवश्यक सूत्र हरिभद्री वृत्ति में कहा है कि:-

"अपरिमिअ परिग्रहं समणो वासओ पच्चक्खाइ, इच्छा परिमाणं उव संपज्जइ, से अ परिग्गहे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा-सचित परिग्गहे अचित परिग्गहे अ।"

अर्थात् - 'श्रावक अपरिमित परिग्रह का त्याग करे और इच्छा परिमाण को ग्रहण करे। वह परिग्रह दो प्रकार का है। वह इस प्रकार से - १. सचित (जीव सहित)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वस्तुपरिग्रह और २. अचित अर्थात् जीव रहित पदार्थों का परिग्रह इत्यादि ।'

प्रश्न होता है कि–घर में धन आदि अल्प मात्रा में हों और परिग्रह परिमाण के अन्दर हजारों–लाखों का अथवा इससे भी अधिक परिग्रह की मर्यादा करता है जितना उसके पास मूल धन–दौलत हो तो उससे भी इच्छा बढ़ने की भावना जागृत होती है– वह स्पष्ट है । इसलिए ऐसी रीति से परिग्रह की मर्यादा करने वाले को क्या लाभ ?

उत्तर – इच्छा की वृद्धि तो संसारी लोभी जीव को सर्वदा होती ही है । उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ६, गाथा ४८ में श्री नमिराजर्षि ने इन्द्र महाराज को लक्ष्य लेकर कहा है कि–

सुवण्ण रूप्पस्स य पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छाहु आगाससमा अणं तया ॥१॥

अर्थात् – ''लोभी मनुष्य को कभी सोना चांदी के कैलास समान बड़े–बड़े असंख्यात पर्वत मिल जायें फिर भी उसे कोई संतोष नहीं होता, क्योंकि इच्छा आकाश सदृश अनंती होती है। जैसे आकाश का अन्त नहीं है वैसे ही इच्छा का अन्त नहीं है।'' इस प्रकार यदि इच्छा का अन्त ही नहीं है तो उसे मर्यादित करना क्या महान लाभ नहीं है ? उसमें अवश्य लाभ है। सम्बोध प्रकरण श्राद्ध व्रताधिकार गाथा ६२ में कहा है कि–

जह जह अप्पो लोहो, जह जह अप्पोपरिग्गहारं भो ।
तह तह सुहं पवड्ढइ, धम्मस्स य होइ संसिद्धी ॥६२॥

अर्थात् – ''जैसे–जैसे लोभ दशा अल्प होती जाय और जैसे–जैसे परिग्रह का आरंभ घटता जाय वैसे–वैसे संतोष का सुख बढ़ते जाता है एवं आत्मधर्म की सिद्धि होती है ।''

इसके अनुसार इच्छा का वेग रोक कर संतोष की तालीम–शिक्षा देने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि सच्चा सुख संतोष में ही है। संबोध प्रकरण में आगे कहा है कि:–

आरोग्ग सारिअं माणु सत्तणं सच्च सारिओ धम्मो ।
विज्जा निच्छय सारा, सुहाइ संतोष साराइं ॥६३॥

अर्थात् ''मनुष्य जीवन का सार आरोग्यता है, धर्म का सार सत्य है, विद्या

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का सार तत्त्व का निश्चय करना और सुख का सार संतोष है, अर्थात् सुख का मूलभूत संतोष ही है ।''

इस तरह से परिग्रह परिमाण व्रत से इस जन्म में संतोष का निष्कंटक सुख, लक्ष्मी की स्थिरता, दरिद्रता का अभाव, लोगों में प्रशंसा आदि अनेक प्रकार के फल मिलते हैं और पर लोक के अन्दर उत्तम ऋद्धिवान मनुष्य जीवन अथवा श्रेष्ठ देव लोक में जन्म और परम्परा से सिद्धि गति की भी प्राप्ति होती है । इससे विपरीत अति लोभ के आधीन होकर यदि इच्छा परिणाम रूप इस व्रत को स्वीकार नहीं करता अथवा स्वीकार करके विराधना करता है तो दरिद्रता, दुर्भाग्य, दासत्व, दुर्गति आदि महाकष्ट कई काल तक भोगता रहता है। कहा है कि-**''महारंभाए महापरिग्गहाए कुणि माहारेणं पंचिदिय अ वहेण जीवा नरयाउअं अज्जेइ'' त्ति।** अर्थात् महा आरंभ करने से, महा परिग्रह एकत्रित करने से, मांसादि अभक्ष्य आहार करने से और पंचेन्द्रिय जीवों का वध करने से जीव नरक का आयुष्य बांधता है।

मूर्च्छा-आसक्ति-लोभ के योग से उत्तरोत्तर बढ़ती आशाओं में बैचेनी महसूस करता है, दूसरे की अधिक सम्पत्ति देखकर दुःखी होता है । इस तरह कदर्थनाओं से उलझन में पड़ता हुआ दुःख को ही भोगता है अर्थात् आसक्ति- आशाओं के इष्ट संयोग दुःख रूप ही हैं कहीं सुख नहीं दिखता । जो सुख दिखता है वह सुख का भ्रम है। योग शास्त्र प्रकाश श्लोक १०६ टीका में कहा है कि-

उक्खणइ खणइ निहणइ, रतिं न सुअइ दिआपि अ ससंका।
लिंपइ ढएइ सयंय, लंछिय पडिलं छियं कुणइ ॥१०६॥

अर्थात् - ''लोभी धन के लिए जमीन खोदता है, उखाड़ता है, सेंध पाड़ता है, रात को नहीं सोता है, दिन को भी सशंक सोता है, गोबर से लीपता है, सदा निशान करता है, विपरीत निशान लगाता है मूर्च्छा-आसक्ति के कारण मनुष्य या किसी भी प्राणी को शंकावश मार डालता है। जहाँ धन हो उसके ऊपर कोई वस्तु ढककर रखता है तथा उस स्थान को जाने के लिए चिह्न करता है, प्रति चिह्न करता है। इत्यादि अनेक दुःख भोगता है।'' वस्तुः परिग्रह रूप मूर्च्छा से ही है क्योंकि धन-धान्य आदि वस्तु में मूर्च्छा न हो तो वह परिग्रह रूप नहीं है। योगशास्त्र में आगे कहा है कि-

अपरिग्रह ए (ह्ये) व भवेद्वस्त्रऽभरणाद्यलंकृतोपि पुमान् ।
ममकार विरहितः सति, ममकारे संगवान् नग्न ॥१०६॥

अर्थात् ''ममकार या ममत्व के बिना अगर कोई पुरुष वस्त्र, आभूषण आदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से अलंकृत हो तो वह परिग्रह से रहित है और नग्न-अति दरिद्री या सर्व पदार्थो का त्यागी हो परन्तु पदार्थो में ममत्व-मूर्च्छा वाला हो तो वह अपग्रिही है।'' तत्त्वार्थ सूत्र में '**मूर्च्छा परिग्रहः**' आया है। इस प्रकार सूत्रकार के वचनानुसार मूर्च्छा ही परिग्रह है। यह कथन निश्चय नय की दृष्टि से है और परिग्रह मूर्च्छा का कारण होने से परिग्रह भी एक प्रकार से मूर्च्छा ही है। दशवैकालिक अ० ६, गाथा २०-२१ मे कहा है कि:-

जंपि वत्थं च पायं वा, कंबल पायपुंछणं ।
तपि संजम लज्जट्ठा, धरंति परिहरंति अ ॥२०॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नाय पुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥२१॥

अर्थात् - ''इसलिए साधु जो-जो वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद प्रोच्छन, रजोहरण, ओधा आदि रखते हैं वह संयम के लिए, जीव रक्षा के लिए या लज्जा के कारण रखते हैं और धारण करते हैं। मूर्च्छा या परिग्रह के लिए नहीं रखते ॥२०॥ जगत् त्राता श्री महावीर स्वामी ने वस्तु को परिग्रह नहीं कहा परन्तु मूर्च्छा ही परिग्रह है ऐसा महर्षि श्री गणधर भगवन्त से कहा है ॥२१॥'' इसलिए मूर्च्छा की मर्यादा के लिए यदि सर्वथा मूर्च्छा का त्याग न कर सके तो उस श्रावक को अमुक प्रमाण में भी मूर्च्छा का त्याग करना यह पंचम अणुव्रत रूप है।

इस तरह पांच अणुव्रत कहे गये। अब उसके शुद्ध पालन करने के लिए भावना रूप-आवश्यक रूप गुणव्रत कहते हैं। इसमें मुख्यतः अहिंसा रूप प्रथम व्रत मूल धर्म रूप है जबकि शेष चार अणुव्रत अहिंसा व्रत की बाड़ रूप रक्षा करने वाले हैं। जैसे बाड़ रहित खेत का अनाज आदि सुरक्षित नहीं रहता वैसे ही झूठ, चोरी, मैथुन, मूर्च्छा- इन चार त्याग रूप बाड़ बिना अहिंसा धर्म की रक्षा नहीं होती। इस तरह शेष चार व्रत पहले व्रत का उपकार करने वाले हैं। अब अणुव्रत के विषय में कहा जायेगा। वह अहिंसा धर्म में भी वृद्धि रूप गुण करने वाला होने से गुण व्रत कहलाता है। और उसके बाद चार शिक्षा व्रत कहे जायेंगे। वे आत्मा को अपना शुद्ध स्वरूप प्रगट कराने में अभ्यास-शिक्षण रूप होने से शिक्षा व्रत कहलाते हैं। गुणव्रत तीन प्रकार का है- १. दिग् विरमण व्रत, २. उपभोग परिभोग परिमाण व्रत और ३. अनर्थ दंड विरमण व्रत। उसमें दिग् विरमण नामक प्रथम गुण व्रत इस तरह है:-

ऊर्ध्वाऽधस्तिर्यगाशासु, नियमो गमन स्य यः ।
आद्यं गुण व्रतं प्राहु स्तद्दिग् विरमणाभिधम् ॥३०॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् "ऊपर, नीचे और तिरछी दिशाओं में जाने आने सम्बन्धी जो अमुक सीमा का नियम करना वह दिग्विरति नामक पहला गुणव्रत कहलाता है ।

भावार्थ– ऊर्ध्व दिशा का नाम 'ब्राह्मी' और अधो दिशा का नाम 'नागी' है तथा तिरछी आठ– १. पूर्व, २. आग्नेय, ३. दक्षिण, ४. नैर्ऋत्य, ५. पश्चिम, ६. वायव्य, ७. उत्तर, ८. ईशान, इस तरह कुल दस दिशाएं हैं। उनमें जिस दिशा में सूर्य उदय हो वह पूर्व दिशा है और पूर्व दिशा के सन्मुख खड़े होने पर दाहिने सृष्टि क्रम से अनुक्रम से आग्नेय आदि सात, इस तरह ऊर्ध्व १, अधो १ और तिरछी ८ मिलाकर दस दिशाओं में गमनागमन की सीमा निश्चित करना अर्थात् अमुक-अमुक दिशा में अमुक हद तक मुझे जाना आना आदि करना है, इससे आगे दूर नहीं जाना या कोई कार्य नहीं करना, ऊर्ध्व दिशा में पर्वत के ऊपर चढ़ना आदि प्रसंग पर अमुक प्रमाण से अधिक ऊंचे नहीं जाना, और अधो दिशा में भी कुएं, गुफा, खान आदि नीचे प्रदेश मे अमुक हद से अधिक नीचे नहीं जाना इसी तरह पूर्व आदि आठ दिशाओं में नियम करना, उसे श्री जिनेश्वर भगवान ने अहिंसादि धर्म की रक्षा, वृद्धि आदि गुणों को करने वाला-अणु व्रत को गुण कारक होने से प्रथम 'गुण व्रत' कहा है, गुण व्रतों की सहायता के बिना अकेले अणु व्रतों का विशुद्ध पालन करना शक्य नहीं है। इस व्रत का नाम 'दिग् विरमण व्रत' है। उसके पालन से मर्यादित भूमि से बाहर रहे सर्व जीवों को अभय दान दिया जाता है और लोभ रूपी समुद्र मर्यादित होता है क्योंकि मर्यादित क्षेत्र के बाहर नहीं जाने से वहाँ के जीवों की हिंसा या वध से धन आदि कमाने का लाभ रुकता है, संतोष बढ़ता है, इत्यादि अनेक लाभ होते हैं।" कहा है कि–

फारफुलिंगयासुर अयगोल गसन्निहो इमो निच्चं ।
अविरइ पावो जीवो, दहइ समंता समत्थ जिए ॥१॥

जइवि न जाइ सव्वत्थ, कोइ देहेण माणवो एत्थ ।
अविरइ पच्चय बंधो, तहा वि निच्चो भवे तस्स ॥२॥

अर्थात् – "धधकते अंगारों के समान जाज्वल्यमान तपे हुए लोहे का बड़ा गोला जहाँ भी जायेगा, वहाँ जीवों को जलाए बिना नहीं रहेगा ॥१॥ वैसे ही प्रमादी गुण व्रत रहित गृहस्थ भी तपे हुए गोले के समान सर्वत्र पाप कर सकता है। सभी जीवों को मारने आदि पाप से नहीं रुक सकता ॥२॥" यद्यपि कोई मनुष्य शरीर से सर्वत्र जा नहीं संकता, तो भी अविरति के कारण से हमेशा तीन लोक का आरंभ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जन्य कर्म बन्धन होता है। योग शास्त्र प्रकाश तीसरा श्लोक २ की टीका में भी कहा है कि:-

तत्ताय गोल कप्पो, पमत्त जीवोऽणिवारि अप्प सरो
सव्वत्थ किं न कुज्जा, पावं तक्कारणाणु गओ ? ॥२॥ टीका

अर्थात् – "आग में तपे हुए लोहे के गोले के समान प्रमादी जीव, जिसने दिग्विरमण व्रत से गमनागमन का प्रसार रोका नहीं है, वह जहाँ जायेगा वहाँ सर्वत्र पाप का कारण मिलते ही क्या पाप नहीं करेगा ? अर्थात् तपे गोले के समान सर्वत्र सर्व प्रकार के पाप करता है ।"

गृहस्थ आरंभ-परिग्रह वाला होने से जहाँ-जहाँ जाता है जो-जो खाता है, उपभोग, शयन, व्यापार आदि प्रवृति करता है, वहाँ-वहाँ वह तपे हुए लोहे के गोले के समान, जो कि अपने स्पर्श से वस्तु मात्र को जला देता है वैसे ही वह भी सर्व जीव की हिंसा करता है। इससे उस हिंसादि से बचाने वाला यह व्रत गृहस्थ के लिए अति उपयोगी ही कहा है। साधु की प्रवृति तो पाँच समिति, तीन गुप्ति रूप अष्ट प्रवचन माता से युक्त निष्पाप जीवन होने से किसी भी कार्य में उससे हिंसादि नहीं होती। इसलिए उनके लिए यह व्रत नहीं होता । आचार्य श्री हेम चन्द्रसूरीश्वर जी महाराज ने योग शास्त्र के तीसरे प्रकाश, तीसरे श्लोक की टीका में आंतरश्लोक द्वारा कहा है:-

तदेतद्यावज्जीवं वा, सद्व्रतं गृहमेधिनाम् ।
चतुर्मासादि नियमादथवा स्वल्पकालिकम् ॥१॥
सदा सामायिकस्थनां, यतीनां तु यतात्मनाम् ।
न दिशि क्वचन स्यातां विख्य विरती इमे ॥२॥
चारणानां हि गमं यदूर्ध्व मेरु मर्द्धनि ।
तिर्यग् रुचक शैले च, नैषा दिग्विरतिस्ततः ॥३॥

अर्थात्- "अणुव्रती सद्गृहस्थ को यह व्रत जीवन पर्यन्त के लिए होता है अथवा कम से कम चौमासा आदि के लिए भी यह व्रत लिया जाता है॥१॥ निरन्तर सामायिक में रहने वाले आत्मा को वश में करने वाले जितेन्द्रिय पुरुष अथवा साधु साध्वियों के लिए किसी भी दिशा में गमनागमन से विरति या अविरति नहीं होती॥२॥ चारणमुनि ऊर्ध्वा दिशा में मेरु पर्वत के शिखर पर भी एवं तिरछी दिशा में रुचक पर्वत – श्री नंदीश्वर द्वीप आदि स्थानों पर भी गमनादि क्रियाएँ करते हैं। इससे यह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सिद्ध होता है कि उनके लिए दिग्विरति व्रत नहीं होता ॥३॥" परन्तु गृहस्थ के लिए यह आवश्यक है। अतः जो बुद्धिमान व्यक्ति प्रत्येक दिशा में जाने आने की मर्यादा कर लेते हैं, वे स्वर्ग आदि में अपार सुख सम्पत्ति के स्वामी बनते हैं ।

इस तरह पहला गुण व्रत कहा । अब दूसरे गुण व्रत के सम्बन्ध में कहते हैं–

भोगोपभोगयोः संख्या विधानं यत् स्व शक्तितः ।
भोगोपभोग मानाख्यं तद् द्वितीयं गुण व्रतम् ॥३१॥

अर्थ – "जिस व्रत में अपनी शक्ति के अनुसार भोग और उपभोग वस्तुओं की संख्या के रूप में सीमा निर्धारित कर ली जाती है उसे 'भोगोपभोग परिमाण' नामक दूसरा गुण व्रत कहा जाता है।"

भावार्थ – जो पदार्थ एक ही बार भोगा जाय वह भोग कहलाता है । जैसे अन्न, जल, फूल माला, ताम्बूल, शरीर का विलेपन, धूप, पान, स्नान आदि, और जिसका अनेक बार उपयोग किया जा सके, उसे उपभोग कहते हैं। उदाहरण के तौर पर–स्त्री, वस्त्र, आभूषण, घर, पलंग, बिछौना, कुर्सी, खाट, आदि आसन, ऊंट, हाथी, घोड़ा, गाड़ी मोटर आदि वाहन इत्यादि। कहा भी है कि:–

सइ भुज्जइ त्ति भोगो, सो पुण आहार पुप्फ माईओ ।
उवभोगो उपुणोपुण उवभुज्जइ भवण वणि आइ ॥१॥

अर्थात्– "जो वस्तु एक बार भोगी जाय वह भोग कहलाता है जैसे आहार, फूल आदि और जो पुनः–पुनः भोगा जाय, जैसे घर, स्त्री आदि उसे उपभोग जानना।" इन भोग और उपभोग पदार्थों का अमुक संख्या से अधिक भोग–उपभोग नहीं करना। ऐसी वस्तुओं से जिस संख्या तक अपनी शारीरिक–मानसिक शक्ति हो उसे परिमाण अनुसार ही करना, उसे 'भोगोपभोग परिमाण' नामक दूसरा गुण व्रत जानना ।

श्री आवश्यक सूत्र में इस व्रत को 'उपभोग परिभोग व्रत' कहा है। वहाँ यह सूत्र है – **"उपभोग-परिभोग वए दुविहे पन्नते तंजहा–भोयण ओ, कम्मओ अ त्ति॥"** अर्थात् उपभोग परिभोग व्रत दो प्रकार का कहा है– एक भोजन से और दूसरा कर्म से । उसकी व्याख्या में वहाँ कहा है कि– उपभोग में 'उप' पद एक बार अर्थ का सूचक है, इसलिए 'उप' अर्थात् 'एक बार ही भोगा जाय' वह अशन आदि उपभोग जानना अथवा दूसरा अर्थ 'उप' अर्थात् 'अन्दर' किया है, इससे जो शरीर के अन्दर भोगा जाय वह उपभोग समझना परिभोग में 'परि' पद बारम्बार अर्थ का सूचक है, इसलिए जो 'परि' अर्थात् – बार–बार भोगा जाय वह वस्त्रादि परिभोग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जानना। अथवा 'परि' का दूसरा अर्थ 'बाहर' किया है, इस अर्थ से 'परि' अर्थात् 'बाहर भोगा जाय' वह वस्त्र, अलंकार आदि परिभोग समझना। इस उपभोग परिभोग के विषय में जो व्रत है उसका नाम भी 'उपभोग परिभोग व्रत' इस तरह आवश्यक सूत्र की टीका में बताया गया है।

अव्ययों के अनेक अर्थ होते हैं, इससे आवश्यक सूत्र की व्याख्या में बतलाया है कि 'परिभोग' पद का और यहाँ 'उपभोग' पद का अर्थ एक ही हुआ जिससे आवश्यक सूत्र में 'उपभोग परिभोग' ऐसा इस व्रत का नाम दिया है। इससे 'उपभोग और परिभोग' दोनों शब्दों का 'पुनः-पुनः भोगा जाय' ऐसा पदार्थ ऐसा समान अर्थ हुआ, इस दूषण को रोकने के लिए ऐसा समझना कि-यहाँ कहा 'उपभोग' शब्द आवश्यक सूत्र में बतलाये 'परिभोग' का वाचक है और 'भोग' शब्द उपभोग शब्द के साथ में कहा हुआ उसके सम्बन्ध वाला है। कहने का भावार्थ यह है कि यहाँ 'भोग' शब्द का मुख्य अर्थ 'एक बार भोगना' है, फिर भी आवश्यक सूत्र में 'उपभोग' शब्द का अर्थ 'एक बार भोगना' है, इससे उसके अनुसार यहाँ रूढ़ि अर्थ से घटित 'भोग' पद का अर्थ वहाँ कहे अनुसार 'उपभोग' पद के समान करना। वह 'निरूढ़ लक्षणा' (रूढ़ि) जानना। इससे वह आवश्यक सूत्र में कहे 'उपभोग' शब्दार्थ का वाचक है।

यह व्रत दो प्रकार का है - एक भोजन से और दूसरा कर्म से, उसमें उपभोग-परिभोग रूप उस पदार्थ के भोग का नियम-परिमाण करना उसे भोजन से, उन पदार्थों को प्राप्त करने के उपाय रूप क्रिया-व्यापारादि उद्योग को भी साधना में साध्य के उपचार द्वारा कर्म से 'उपभोग परिभोग व्रत' कहते हैं अर्थात् भोगोपभोग को भोगने के परिमाण से वह भोजन से, और मिलने के उपाय रूप प्रवृत्ति-क्रिया के परिमाण से उसे कर्म से 'उपभोग परिभोग व्रत' जानना।

उसमें भोजन से इस व्रत वाले को खान-पान आदि पाँच इन्द्रियों के भोगादि आहार, पानी आदि पदार्थ निष्पाप उपयोग करने चाहिएं और कर्म से प्रायः निष्पाप व्यापारादि से आजीविका प्राप्त करनी चाहिए अर्थात् श्रावक को उत्सर्ग मार्ग से जितना हो सके उतना तो निर्जीव-जीव रहित अचित और आरम्भ-पाप रहित आहार आदि प्राप्त करना चाहिए, वह न बने तो उपयोग करने में सचित-सजीव का त्याग करना और सचित का त्याग भी न हो सके तो महा हिंसा जन्य मांस, मदिरा, अनंतकाय-कंदमूल आदि अभक्ष्य आदि का त्याग करते हुए शेष भक्ष्य- एक शरीर में एक ही जीव वाले पदार्थ में भी मिश्र (कुछ भाग निर्जीव, कुछ भाग सजीव) या

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सचित्त पदार्थों का भी उपयोग करने के विषय में प्रमाण-संख्या, वजन आदि का निश्चित करना चाहिए। सम्बोध प्रकरण में श्रावक व्रताधिकार में कहा है -

निरवज्जा हारेणं, निज्जीवेणं परित्तमिसेणं ।
अत्ताणुसंधाणपरा, सुसावगा एरिसा हुंति ।।७०।।

अर्थात् " आत्म चिंतन में तत्पर जो श्रावक होता है वह निरवध जीव से रहित और ऐसा न मिले तो अनंताकायादि का त्याग करके केवल प्रत्येक सजीव या मिश्र पदार्थ से आजीविका का निर्वाह करे।" पर्व के दिन या बड़े महोत्सवादि प्रसंग के बिना आभूषणादि जिन का उपयोग करने से चित्त में अत्यंत आसक्ति- उन्माद हो अथवा मनुष्यों में अपवाद-निंदा हो- ऐसा उद्‌भट वेष, वाहन या अलंकार, आभूषण आदि भी उपयोग नहीं करना चाहिए। कहा भी है कि:-

अइरोसो अइतोसो, अइहासो, दुज्जणे हिं संवासो ।
अइउब्भडो अ वेसो, पञ्च वि गुरुअंपि लहुअंति ।।६१।।

अर्थात् " अति रोष, अति खुशी होना, बहुत ज्यादा हँसना, दुर्जनों के साथ में बैठना-रहना और अति उद्‌भट वेश धारण करना- ये पाँचों कार्य महापुरुष को भी हलका बना देते हैं।"

इस तरह अति मैला, बहुत मोटा, बहुत छोटा, या बहुत छिद्र वाला, फटा हुआ वस्त्र आदि उपयोग में लेना, सर्वथा सामान्य वेश धारी, खराब वस्त्र धारी, कृपणता आदि भी लोकापवाद (निंदा) तथा हंसी आदि का कारण होता है। इसलिए अपनी सम्पत्ति, उम्र, अवस्था, निवास, देश, कुल, काल आदि के अनुरूप वेश रखना चाहिए, और ऐसे उचित वेश आदि का भी प्रमाण निश्चित करना चाहिए। इसी तरह दूसरा दंत काष्ठ-दातून, अभ्यंग-शरीर तेल मर्दन आदि क्रिया, उद्वर्तन- मलने का पदार्थ, स्नान, वस्त्र, विलेपन के लिए चंदनादि, आभूषण, पुष्प मालादि, फल, धूप, आसन पाट, पट्टे, कुर्सी, टेबुल, गद्दी, तकिया आदि, शयन, पलंग, बिछौना आदि, मकान-घर, दुकान, कोठी, इत्यादि का प्रमाण निश्चित करना चाहिए। इसके साथ ही पकाया चावल, दाल, चुपड़ना घी आदि, शाक, दूध, रबड़ी, खांड आदि अशन-खाद्य पदार्थ, पीने का पानी आदि, सेंकला अनाज, मेवा, फल आदि खादिम पदार्थ तथा ताम्बूल, सोपारी, इलायची आदि मुख में रखने वाले पदार्थ- इन सब का सम्पूर्ण त्याग करना अशक्य हो तो वे वस्तु भी अमुक संख्या में अमुक नाम वाली वस्तु अमुक प्रमाण में ही उपयोग करना- इस तरह से स्पष्ट प्रमाण निश्चय करना और श्री आनन्द

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जी कामदेव आदि महा श्रावक के समान भोग का त्याग करना चाहिए।

'कर्म से' इस व्रत की विरति में मुख्यतया गृहस्थ को अपने कुल के योग्य पाप रहित व्यापार की आजीविका प्राप्त करनी चाहिए। इस तरह करने पर यदि जीवन निर्वाह मुश्किल होता हो तो भी जिससे अति तीव्र कर्म बन्धन होता हो और व्यवहार में विवेकी मनुष्यों की निंदा का कारण बनते हों- ऐसा अयोग्य लेना-देना आदि व्यवहार तो अवश्य त्याग करना चाहिए। अल्प आरंभ वाले आजीविका के उपाय कर्मों का भी प्रमाण निश्चित करना चाहिए। सम्बोध प्रकरण श्रावक व्रताधिकार में कहा है कि-

रंधण खंडण पीसण, दलणं पयणं च एवमाईणं ।
नित्त्यपरिमाणकरणं, अविरइ बंधो जओ गरुओ ॥७१॥

अर्थात् "पकाना, कूटना, पीसना, दलना और सेकना आदि आरंभ का हमेशा प्रमाण करना चाहिए क्योंकि प्रमाण नहीं करने से अविरति का महान कर्म बन्धन बिना कारण से भी आत्मा को होता जाता है।" आवश्यक चूर्णि में पच्चक्खान आवश्यक में भी सातवें व्रत के अधिकार में बतलाया गया है कि:-

"इह चेयं समाचारी-भोयणओ सावगो उस्सग्गेणं फासुगं आहारं अहारेज्जा, तस्सासति अफासुगमपि सचित वज्जं, तस्स असति अणंत काय, बहु बीय गणि परि हरि अव्वाणि। इमं च अण्णं भोयणओ परिहर (इ), असणे अणंत कायं- अल्लगमुल गाइ मंसं च पाणे मंसर सग- मज्जाइ- खादिमे उदुंबर-काउंबर वड पिप्पल पिलंखुमादि सादिमे मधुमादि, अचितं आहारे यव्वं। जदा किर ण होज्ज अचितो तो उस्सग्गे भत्तं पच्चक्खाइ, ण तरह ताहे अववाएण सच्चितं- अणंय काय- बहु बीय गवंज्जं। कम्मओ वि अकम्मा न तरइ जीविठं ताहे उच्चंत सावज्जणि परिहरिज्ज त्ति ॥"

अर्थात्- "दूसरे गुण व्रत में इस तरह समाचारी है:- उत्सर्ग मार्ग में श्रावक भोजन के आश्रित आरंभ रहित अचित आहार का उपयोग करे। वैसा न बने तो अपने निमित्त आरंभ से बना भी सचित रहित अचित का उपयोग करे। वैसा भी न कर सके तो सचित में भी अनंत काय, बहु बीज आदि अभक्ष्य का त्याग करे और उसके अतिरिक्त भी भोजन के विषय में कम से कम इस तरह त्याग करे- १. अशन में- अनंत काय अदरक, मूली, गाजर, आलू, रतालू, शंकर कंद, सूरण, जमीकंद और मांस का त्याग करे, २. पेय पदार्थों में मांस का रस, शराब आदि, ३. खादिम में बड़,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उदुम्बर (गुल्लर), काकोदुम्बर (कठुमर), पीपल, पीलु वृक्ष आदि के फल का त्याग करना चाहिए, ४. स्वादिम में- महुडे आदि त्याग कर अचित-जीव रहित वस्तु का उपयोग करे। फिर भी किसी समय में जंगल, मार्ग, दुष्काल आदि प्रसंग पर अचित पदार्थ न मिले तब भी उत्सर्ग मार्ग में तो भोजन का ही त्याग करे और यदि भोजन बिना निर्वाह करने की शक्ति न हो तो अपवाद से अनंत काय, बहु बीज आदि अभक्ष्यों को छोड़ कर अन्य सचित का उपयोग करे। इस तरह भोजन के विषय में समाचारी कही है। कर्म से तो जहाँ तक व्यापारादि बिना निर्वाह हो वहाँ तक कोई प्रवृत्ति ही न करे और निर्वाह न हो तो अत्यन्त पापमय कार्यों का त्याग कर आजीविका के लिए केवल उद्यम करे।

इस तरह से भोगोपभोग व्रत 'आवश्यक पदार्थों के प्रमाण को निश्चित करके शेष वस्तुओं का त्याग करने से' हो सकता है। यहाँ यह तात्पर्य जानना।

अब मूल ग्रन्थकार स्वयं ही तीन श्लोकों से त्याग करने योग्य अभक्ष्य वस्तुओं का स्वरूप कहते हैं:-

चतुर्बि कृतया निन्द्या उदुम्बरक पञ्चकम् ।
हिमं विषं च कारका, मृज्जाती रात्रि भोजनम् ॥३२॥
बहुबीजाऽज्ञातफले, सन्धानाऽनन्त कायिके ।
वृन्ताकं चलितरसं तुच्छं पुष्पफलादि च ॥३४॥
आम गोरस सम्पृक्तं द्विदलं चेति वर्ज्जजेत् ।
द्वाविंशतिमभक्ष्याणि, जैन धर्माधिवासितः ॥३४॥

अर्थ - "जैन धर्म से भावितात्मा को चार महा विगइ, उदुम्बर आदि पाँच प्रकार के फल, १०. हिम, बरफ, ११. विष, १२. ओले, १३. प्रत्येक जाति की मिट्टी, १४. रात्रि भोजन, १५. बहु बीज, १६. अजाने फल; १७. अचार (अथाणा), १८. बत्तीस अनंतकाय, १९. बैंगन, २०. चलित रस, २१. तुच्छ फलादि तथा २२. कच्चे दूध, दही, छाद के साथ में द्विदल (अनाज), इन बाईस अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग करना चाहिए ।

भावार्थ - श्री जिनेश्वर भगवन्त द्वारा कहे धर्म में जो आत्मा समर्पित हो वह आत्मा बाईस अभक्ष्य वस्तुओं का भोजन रूप में उपयोग नहीं करे, त्याग करे। बाईस अभक्ष्य का स्वरूप इस प्रकार से है- शराब, मांस, मधु और मक्खन- इन चारों को अति विकारी के कारण होने से 'महाविगइ' कहा है और सारे शिष्ट- सदाचारी पुरुषों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ने उसे वर्जनीय- त्याग करने योग्य माना है क्योंकि उन प्रत्येक में अपने समान वर्ण वाले अनेक त्रसादि जीव उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। संबोध प्रकरण श्रावक व्रताधिकार में कहा है कि:-

मज्जे महुंमि मंसंमि नवनीए चउत्थए ।
उप्पज्जंति चयंति अ तव्वण्णा तत्थ जंतुणो ।।७६।।

अर्थात्- "शराब, मधु, मांस और मक्खन- इन चारों में उसी वर्ण वाले जीव स्वयं उत्पन्न होते हैं और मरते हैं अर्थात् वे चारों असंख्य (जिनकी हम गिनती न कर सकें इतने) जीवमय हैं।" अन्य दर्शन वालों ने भी कहा है:-

मद्ये मांसे मधुनि च, नवनीते चतुर्थके।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते, सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः ।।१।।

अर्थात्- "शराब, मांस, मधु और मक्खन- इन चारों में समूहबद्ध अति सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते हैं एव नाश होते हैं।" अब उन सब का विवरण प्रस्तुत करते हैं:-

१. **मदिरा**- अर्थात् शराब दो प्रकार की होती है, एक ताड़ आदि वृक्षों के रस -ताड़ी के रूप में होता है और दूसरा आटा, महुआ आदि पदार्थ को सड़ा कर बनाई जाती है। ये दोनों प्रकार की शराब बहुत दोषों का घर और महाअनर्थकारी होने से त्याग करने योग्य हैं। संबोध प्रकरण में उसके आगे कहा है कि

'गुरुमोह कलह-निंदा परिभव उवहास रोस मयहेऊ ।
मज्जं दुग्गइ मूलं, हिरि सिरि मइ धम्मनास करं ।।७३।।

अर्थात् - "मदिरा पान करने से अति मूढ़ता आती है, कलह- क्लेश बढ़ता है। निंदा, पराभव, हँसी, रोष, मद का कारण है और मनुष्य को दुर्गति में ले जाने का मूल कारण है तथा लज्जा, लक्ष्मी, बुद्धि एवं धर्म का नाश करने वाला है।" श्री योग शास्त्र प्रकाश ३, श्लोक १७ की टीका में भी कहा है कि-

रसोद्भवाश्च भूयांसो, भवन्ति किल जन्तवः ।
तस्मान्मद्यं न पातव्यं हिंसापातक भीरूणा ।।१।।
दत्तं न दत्तमात्तं च, नात्तं कृतं च नो कृतम् ।
मूषोद्यराज्यदिव हा! स्वैर वदति मद्यपः ।।२।।
गृहे बहिर्वा मार्गे वा परद्रव्याणि मूढधीः ।
वध-बन्धादि निर्भीको, गृह्णात्याच्छिद्य मद्यपः ।।३।।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बालिकां युवतिं वृद्धां ब्राह्मणीं श्वपचीमपि ।
भुंवते परस्त्रियं सद्यो, मद्योन्मादकदर्थितः ॥४॥
विवेकः संयमो, ज्ञानं सत्यं शौचं दया क्षमा ।
मद्यात्प्रलीयते सर्व तृण्या वह्निकणादिव (दपि) ॥५॥
श्रूयते किल शाम्बेन, मद्यादन्धक वृष्णिना ।
हतं वृष्णि कुलं सर्व, प्लोषिता च पुरी पितुः ॥६॥

अर्थात् - "शराब के रस में अनेक जन्तु पैदा हो जाते हैं। इसलिए हिंसा के पाप से डरने वाले को पाप से बचने के लिए मदिरा पान का त्याग करना चाहिए॥१॥ मदिरा पान करने वाले को राज्य दे दिया हो फिर भी वह असत्यवादी की तरह कहता है 'नहीं दिया।' कोई चीज ले ली हो फिर भी कहता है- 'नहीं ली।' इस प्रकार गलत या अंट-संट बोलता है॥२॥ मूढ़-बेवकूफ शराबी मारपीट-गिरफ्तारी आदि का भय छोड़कर निडर होकर, घर या बाहर रास्ते में सर्वत्र पराये धन को बेधड़क झपट कर छीन लेता है॥३॥ शराबी नशे में चूर होकर, बालिका हो, युवती हो, बूढ़ी हो, ब्राह्मणी हो, चांडाली हो- किसी भी पर स्त्री के साथ तत्काल दुराचार सेवन कर बैठता है॥४॥ जैसे अग्नि की चिंगारी घास के बड़े ढेर को क्षणभर में नाश कर देती है वैसे ही शराब पीते ही विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, शौच, दया आदि सर्व गुण नष्ट हो जाते हैं॥५॥ सुनते हैं- अन्धक वृष्णि कुल में जन्मे हुए शाम्ब कुमार (श्री कृष्ण का पुत्र) ने शराब के नशे में अन्धे होकर यदु वंश का नाश कर डाला और अपने पिता की बसाई हुई द्वारिका नगरी जलाकर भस्म करवा दी अर्थात् मदिरा पान से दुष्ट परिणाम आते हैं ॥६॥"

इस तरह मदिरा का सेवन इस जन्म में अनेक अनर्थों- पापों का मूल है और पर भव में नरक मार्ग रूप दुर्गति का कारण होने से श्रावक को सदैव इसका त्याग करना चाहिए। अन्य धर्म-सम्प्रदायों के धर्म ग्रन्थ, पुराण एवं लौकिक ग्रन्थों में भी मद्यपान से अनेक दुर्गुण बताए हैं और उसे त्याज्य भी बतलाया है।

२. **मांस** - मांस तीन प्रकार का होता है- १. जलचर- मछली आदि जल में रहने वाले जीव, २. स्थलचर- मृग, बकरी, हाथी आदि भूमि पर चलने वाले जीव, और ३. खेचर-मुर्गा, कबूतर, तीतर आदि आकाश में उड़ने वाले जीव। इन तीन प्रकार के जीवों का मांस भी तीन प्रकार का होता है अथवा चमड़ी, खून और मांस इस तरह भी उसके तीन भेद होते हैं। मांस भक्षण करना भी महा भयंकर पाप का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मूल है। इसलिए इसका त्याग करना चाहिए। संबोध प्रकरण में कहा है:-

पंचिंदिअ वह भूअं, मंसं दुग्गंधमसुइ बीभच्छं ।
रक्ख सपरितुलि अभक्खग-माम यजणगं कुगइ मूलं ॥७४॥

आमासु अ पक्कासु अ, विपच्चमाणासु मंसपेसीसुं ।
सययं चिय उववाओ, भणिओ अ निगोअ जीवाणं ॥७५॥

अर्थात्- ''पंचेन्द्रिय जीवों का वध करने से दुर्गन्धमय सूंघ-नफरत कराने वाला और अपवित्र होने से मांस का भक्षण तो राक्षस की परितुलना करने वाला है अर्थात् मांसाहारी तो राक्षस होते हैं- उनके समान वह मनुष्य भी है। मांस भक्षण रूपी कार्य इस लोक में रोग का कारण है अर्थात् मांस वाले जीव में जो रोग होता है वह खाने वाले में भी आता है तथा पर लोक में दुर्गति का मूल है ॥७४॥ कच्चा मांस, पका हुआ , या पकाते हुए मांस पेशी के टुकड़ों में निगोद-जीव हमेशा उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। ऐसा शास्त्र में कहा है॥२॥'' योग शास्त्र तृतीय प्रकाश में भी कहा है कि:-

सद्यः सम्मूर्च्छितानन्त जन्तु सन्तान दूषितम् ।
नरकाध्वनि पाथेयं कोऽश्नीयात् पिशितं सुधीः ।३३॥

अर्थात्- ''जीव का वध करते ही, तुरन्त उसमें निगोद रूप अनन्त सम्मूर्च्छिम जीव उत्पन्न हो जाते हैं और उनकी बारम्बार उत्पन्न होने की परम्परा चालू ही रहती है। आगमों में बताया हैं कि- कच्चे या पकाये हुए या पकाते हुए मांस पेशियों में निगोद के समूर्च्छिम जीवों की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है।' इसलिए इतनी जीव हिंसा से दूषित मांस नरक के पथ का पाथेय (भाता) है। इस कारण कौन सुबुद्धिशाली व्यक्ति मांस को खा सकता है ।''

जैसे पानी की काई-सिवार तथा पापड़ आदि पर फूलन हो जाती है वैसे ही जीव के मांस में तुरन्त उसी वर्ण वाले निगोद अनन्त काय जीव उत्पन्न हो जाते हैं। वह चाहे पका हो या किसी भी अवस्था में हो उसमें, निगोद की उत्पत्ति चालू रहती है । इसके सिवाय भी अन्य त्रस जीव और मांस के रस से उत्पन्न होने वाले जीव भी मांस में होते हैं। इस तरह मांस अनंत काय जीवों से तथा सूक्ष्म त्रस जीवों से भरपूर होते हैं। इस श्लोक की टीका में बहुत विस्तार पूर्वक दिया है:-

मांस भक्षण करने की बात वही करता है जो मर्यादाओं को तिलांजलि दे बैठा हो, अल्पज्ञ हो, नास्तिक हो, कुशास्त्र रचयिता हो, मांस लोलुप हो या ढीठ हो। वास्तव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में उसके समान कोई निर्लज्ज नहीं है। जो नरक की आग के ईंधन बनने वाले अपने मांस को दूसरों के मांस से पुष्ट करना चाहता है। घर का वह सुअर अच्छा है जो मनुष्य की फेंकने योग्य विष्टा को खाकर अपनी काया का पोषण करता है मगर प्राणिघात करके दूसरे के मांस से जो अपने अंगों को बढ़ाना चाहता है, वह निर्दय अच्छा नहीं है। जो मनुष्य को छोड़कर शेष सभी जीवों के मांस को भक्ष्य बताते हैं, उसके बारे में मुझे ऐसी शंका होती है कि उसे अपने वध का भय लगा है। जो मनुष्य मांस और पशु मांस में कोई अन्तर नहीं मानता उससे बढ़कर कोई अधार्मिक नहीं है, न उनके जैसा कोई महा पापी है जो पशु का मांस खाता है। नर के वीर्य से और मादा के रुधिर (रज) से उत्पन्न, विष्ठा के रस से संबंधित, जमे हुए रक्त युक्त मांस को कृमि के सिवाय और कौन खा सकता है? आश्चर्य है द्विज- ब्राह्मण शौच मूल धर्म बताते हैं, फिर भी वे अधर्म मूलक सप्तधातुओं से उत्पन्न गंदे मांस को खाते हैं। जो घास खाने वाले पशुओं के मांस और अन्न को एक सरीखा मानते हैं उनके लिए मृत्यु देने वाला विष और जीवन दायी अमृत दोनों बराबर हैं। जो जड़ात्मा- अज्ञानी यह मानते हैं कि जैसे चावल भी एकेन्द्रिय जीव का अंग है वैसे ही मांस भी जीव का अंग है इसलिए सत्पुरुषों को चावल की तरह मांस खा लेना चाहिए, तो फिर वे जड़ बुद्धि अज्ञ गाय से उत्पन्न हुए दूध के समान गाय के मूत्र को क्यों नहीं पीते ? चावल आदि में प्राणियों के अंग के समान मांस, रक्त, चर्बी आदि अभक्ष्य पदार्थ नहीं हैं, जब कि मांस में ये सब अभक्ष्य पदार्थ हैं। इसलिए ओदन आदि भक्ष्य हैं जब कि मांसादि अभक्ष्य हैं। जैसे पवित्र शंख और जीव के अंग की हड्डी आदि एक समान नहीं माने जाते वैसे ही ओदन आदि अभक्ष्य नहीं माने जाते। जो पापी अंग-अंग सभी समान हैं, यह कहकर मांस और ओदन को समान मानता है वह स्त्री-स्त्री सभी समान है, ऐसा मान कर अपनी माता और पत्नी में समान व्यवहार की कल्पना क्यों नहीं करता ? एक भी पंचेन्द्रिय जीव का वध करने से या उसका मांस भक्षण से जैसे नरक गति बताई है वैसे अनाज आदि एकेन्द्रिय के भोजन करने वाले को नरक गति नहीं बताई है। रस और रक्त को विकृत करने वाला मांस अन्न नहीं हो सकता है। इसलिए मांस नहीं खाने वाला अन्नभोजी पापी नहीं हो सकता। अन्न पकाने में एकेन्द्रिय जीव का ही वध होता है। जो देश विरति श्रावक के व्रत में इतना बाधक नहीं है। मांसाहारी की गति का विचार करते हुए अन्नाहार में संतोष मानने वाला जैन शासन प्रेमी गृहस्थ भी उच्च कोटि की दिव्य सम्पतियों को प्राप्त करता है।" वस्तुत: मांसाहार करने वाला स्वयं हिंसक है- यह बात योग शास्त्र तृतीय प्रकाश में कहते हैं:-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हन्ता पलस्य विक्रेता संस्कर्ता भक्षकस्तथा ।
क्रेताऽनुमन्ता दाता च घातका एव यन्मनुः ॥२०॥

अर्थात्- "शस्त्रादि से जीव का घात करने वाला, मांस बेचने वाला, मांस पकाने वाला, मांस खाने वाला, मांस का खरीददार, उसका अनुमोदन करने वाला और मांस का दाता अथवा यजमान- ये संभी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप (परम्परा) से जीव के घातक-हिंसक ही हैं।"

मनु ने मनुस्मृति के पाँचवें अध्याय के श्लोक ५१-४८ में तथा योग शास्त्र प्रकाश तृतीय २१-२२ श्लोक में कहा है कि मांस खाने का अनुमोदन करने वाला, प्राणी का वध करने वाला, अंग-अंग काटकर विभाग करने वाला, मांस का ग्राहक और विक्रेता, मांस पकाने वाला, परोसने वाला या भेंट देने वाला और खाने वाला- ये सभी एक ही कोटि के घातक (हिंसक) हैं॥५१॥ प्राणियों का वध किये बिना मांस कहीं प्राप्त या उत्पन्न नहीं होता और न ही प्राणि वध जीवों को अत्यन्त दुःख देने वाला होने के कारण स्वर्ग सुख दिलाने वाला ही होता है, अपितु वह नरक के दुःख का कारण रूप है। ऐसा सोचकर मांस का सर्वथा त्याग करना चाहिए।" अरे इतना ही नहीं, हिंसक या बेचने वाला आदि अन्य तो बाद में, वास्तविक रूप में मुख्य घातक तो मांसाहारी ही है। क्योंकि योग शास्त्र तृतीय प्रकाश में कहा है कि:-

ये भक्षयन्त्यन्यपलं, स्वकीयपल पुष्टये ।
त एव घातका यन्न घातको भक्षकं बिना ॥२३॥

अर्थात् "जो मनुष्य अपने मांस की पुष्टि के लिए अन्य जीवों का मांस भक्षण करता है वही जीव का घातक है। क्योंकि -यदि मांसाहारी नहीं हो तो जीव का वध करेगा किसके लिए ? " मांसाहारी ही सर्व में वह पाप प्रवृत्ति करवाता है, इसलिए वास्तव में घातक तो वही है। इस तरह मांसाहार अत्यन्त बड़े अनर्थों का मूल है। ऐसा समझकर इसका अवश्य त्याग करना चाहिए ।

३. मधु- यह भी तीन प्रकार का है- १- मक्खी, २- भ्रमरी, और ३- कृतिका- इन तीनों का मधु होने से तीन प्रकार का मधु होता है। यह मधु भी बहुत जीवों का नाश होने से होता है। इस लिए इसका त्याग करना चाहिए । योग शास्त्र तृतीय प्रकाश में कहा है कि-

अनेक जन्तु संघात निद्यातात् समुद्भवम् ।
जुगुप्सनीयं लालावत् कः स्वादयति माक्षिकम् ? ॥३६॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - ''अनेक जन्तु-समूह के विनाश से तैयार हुए और मुँह से टपकने वाली लार के समान दुर्गन्ध युक्त मक्खी के मुख की लार (थूक) से बने हुए शहद को कौन विवेकी पुरुष चाटेगा ?'' उपलक्षण से यहां भौंरें आदि का शहद भी समझ लेना।

जिसकी हड्डियां न हो वह जीव क्षुद्र जन्तु कहलाता है अथवा तुच्छ-हीन जीव भी क्षुद्र माने जाते हैं। ऐसे लाखों क्षुद्र जन्तुओं के धुंआ करने से होने वाले विनाश से उत्पन्न हुए मधु का सेवन करने वाला आदमी थोड़े से पशुओं को मारने वाले कसाई से बढ़कर पापात्मा है। भक्षण करने वाला भी उत्पादक की तरह घातक है। झूठा भोजन त्याज्य है- यह बात लौकिक शास्त्र में भी कही है। इस दृष्टि से मधु भी मक्खियों का उच्छिष्ट होने से वमन के समान त्याज्य है। क्योंकि एक-एक फूल पर बैठ कर उसके मकरन्द रस को पीकर मधु मक्खियाँ उसका वमन करती हैं, उस वमन किए हुए उच्छिष्ट मधु (शहद) का सेवन धार्मिक पुरुष नहीं करते। लौकिक व्यवहार में भी पवित्र भोजन ही धार्मिक पुरुष के लिए सेवनीय बतलाया है।

यहाँ शंका प्रस्तुत की जाती है- 'मधु तो त्रिदोष शान्त करता है। रोग-निवारण के लिए इससे बढ़कर और कोई औषधि नहीं है, तब फिर इसके सेवन में कौन-सा दोष है?' इसके उत्तर में कहते हैं कि 'रसलोलपता की बात तो दूर रही, औषध के रूप में भी रोग निवारणार्थ मधु भक्षण से वह अनेक जीवों के नाश का कारण बना हुआ होने से पतन का कारण है। क्योंकि प्रमादवश या जीने की इच्छा से काल-कूट विष का जरा सा कण भी खाने पर प्राणनाशक ही होता है।' यहाँ पुनः प्रश्न करते हैं कि- 'खजूर किशमिश आदि के रस के समान मधु, मधुर, स्वादिष्ट और समस्त इन्द्रियों को आनंददायी होने पर भी उसका क्यों त्याग किया जाता है?' इसका उत्तर देते हैं कि- 'यह सच है कि मधु व्यवहार से प्रत्यक्ष में मधुर लगता है परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से नरक सी वेदना का कारण होने से अत्यन्त कड़वा है। खेद है, परमार्थ से अनभिज्ञ- अबोध जन ही परिणाम में कटु मधु को मधुर कहते हैं। मधु का आस्वादन करने वाले को चिर काल तक नरक की वेदना भोगनी पड़ती है। इस मधु को पवित्र मान कर के देवों के अभिषेक के लिए उपयोगी मानना उचित नहीं है क्योंकि अहो! आश्चर्य की बात है कि मधुमक्खी के मुंह से वमन किए हुए एवं अनेक जन्तुओं की हत्या से निष्पन्न मधु को पवित्र मानने वाले लोग शंकर आदि देवों के अभिषेक में इसका उपयोग करते हैं जो कि उचित नहीं है, इत्यादि मधु के अनेक दोषों का विचार कर आत्मार्थी को इसका अवश्य त्याग करना चाहिए।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. मक्खन- यह चार प्रकार का होता है- १. गाय, २. भैंस ३. बकरी और ४. भेड़ इन चारों के दूध से मक्खन तैयार होता है। यह भी अति सूक्ष्म-त्रस जीवों के समूह की खान रूप है इसलिए इसका त्याग करना चाहिए। योग शास्त्र तृतीय प्रकरण में कहा है कि:-

अन्त मुहूर्त्तात् परतः सुसूक्ष्म जन्तु राशयः ।
यत्र मूर्च्छन्ति तन्नाद्यं नवनीतं विवेकिभिः ॥३४॥

अर्थात्- "जिस मक्खन में अंत मुहूर्त्त के बाद तुरन्त अत्यन्त सूक्ष्म जीवों का समूह समूर्च्छिम रूप से उत्पन्न होता है उसको विवेकी पुरुषों को नहीं खाना चाहिए।" धर्म रत्न प्रकरण १६ वें श्लोक में श्री आचार्य देवेन्द्र सूरि कृत टीका में कहा है कि 'मद्य, मांस, मधु और छाछ में से अलग किये मक्खन में तुरन्त उसी वर्ण वाले अति सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते हैं और मरते हैं।'

एक भी जीव का वध करने में कितना अधिक पाप लगता है ? उसका वर्णन करना अशक्य है तो फिर अनेक जन्तुओं के पिंडमय नवनीत- मक्खन का सेवन कौन विवेकी पुरुष कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं सेवन करता। अतः उसका भी त्याग करना चाहिए। मक्खन अधिक समय तक रखना नहीं चाहिए। जल्दी ही उसको गरम कर घी बना देना चाहिए। जिससे जीव उत्पन्न न हो, नहीं दोष लगे।

५. से ९. तक **उदुम्बर पंचक** - यहाँ उदुम्बर शब्द से १- बड़, २- पीपल तथा पारस पीपल, ३- उदुम्बर- गूलर वृक्ष, ४- प्लक्ष-पीपल जाति का वृक्ष और ५- काको-दुम्बर (कठूमर) ये पाँच वृक्ष समझना। इन पाँच प्रकार के वृक्षों के फलों के अन्दर मच्छर की आकृति के अति सूक्ष्म-बहुत त्रस जीव होते हैं। इसलिए उसका भक्षण करने से महा हिंसा होती है। अतः उसका अवश्य त्याग करना चाहिए। योग शास्त्र तृतीय प्रकरण में कहा है कि:-

उदुम्बर-वट-प्लक्ष काकोदुम्बर शाखिनाम् ।
पिप्पलस्य च नाश्नी यात् फलं कृमि कुलाकुलम् ॥४२॥

अर्थात्- "उदुम्बर, बड़, प्लक्ष, काकोदुम्बर और पीपल- इन पाँच जाति के वृक्षों के फल नहीं खाने चाहिएं क्योंकि एक फल में ही इतने कीट होते हैं जिनकी गिनती नहीं की जा सकती।" लौकिक शास्त्रों में कहा है कि:-

कोपि क्वापि कृतोपि कस्यचिदहो चेतस्य कस्माज्जनः
केनापि प्रविशत्युदुम्बर फल प्राणि क्रमेण क्षणात् ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

येनाऽस्मिन्नपि पाटिते विणिटिते विस्फोटिते त्रोटिते,
निष्पिष्टे परगालते च गलिते निर्यात्यसौ वा न वा ॥१॥

अर्थात्- 'उदुम्बर के फल में न जाने कितने जीव स्थित होते हैं और पता नहीं वे कहाँ से कैसे प्रवेश कर जाते हैं ? यह कहना कठिन है कि फल को काटने पर, टुकड़े-टुकड़े करने पर, चूर-चूर करने पर या पीसने पर अथवा छन्ने से भली भांति छान लेने पर या अलग-अलग कर लेने पर भी उसमें रहे हुए जीव हैं या नहीं है। वह किसी भी प्रयत्न से निकलते नहीं दिखते- इतने सूक्ष्म होते हैं।' योग शास्त्र में प्रकाश ३ श्लोक 42 की टीका में इसका उत्तरार्ध इसी प्रकार का श्लोक है।

येनास्मिन्नपि पाटिते विधटिते वित्रासते स्फोटिते ।
निष्पिष्टे परि गालिते विदलिते, निर्यात्यसौ वा न वा ॥

इसका अर्थ पूर्व श्लोक के समान है। अत: जो पुण्यशाली आत्मा हैं वे सुलभ अनाज, फल आदि से समृद्ध देश- काल में पाँच उदुम्बर फलों को खाना तो दूर रहा, परन्तु विषम (दुर्भिक्ष पड़ा हो) ऐसे देश और काल में जब भक्ष्य अन्न, फल आदि नहीं मिलते हों, कड़ाके की भूख लगी हो, भूख के मारे शरीर कृश हो रहा हो तब भी पंच उदुम्बर फल नहीं खाते। ऐसे त्याग रूप नियम लेने वाले प्रशंसनीय हैं।

१०. बरफ- असंख्य अपकाय-पानी जीव रूप होने से बरफ का भी त्याग करना चाहिए, अर्थात् हिम-ठंडी पड़ने से कुदरती रूप से पानी जम जाने से बरफ बनता है और आज कल यन्त्र द्वारा-फ्रिज आदि से भी कृत्रिम बरफ तैयार होता है- ये दोनों जाति के बरफ असंख्यात जीवमय होने से अभक्ष्य हैं। आईस पानी, आइस्क्रीम आदि अति ठंडे पेय पदार्थ वास्तव में शीतल नहीं है। इन्हें पीने के बाद प्यास बुझती नहीं है अपितु बढ़ती है, जबकि घड़ों का शीतल जल पीने के बाद प्यास बुझ जाती है। जिस प्रदेश में बरफ गिरता है वहाँ के पेड़ आदि पत्ते भी जल जाते हैं। अत: यह शरीर को भी नुकसान कारक है।

११. विष- प्रत्येक जाति का जहर- जैसे कि अफीम, सोमल, वच्छ, नाग, आदि - मन्त्रादि के योग से उसका मारन किया हो- जहर शक्ति नाश की हो, फिर भी वह पेट में जाते ही अन्दर रहे कृमि-कीड़े आदि त्रस जीवों का घात करता है। विशेष में अफीम आदि का व्यसनी मरण काल में प्राय: महा मूढ़ता को प्राप्त करता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है, अपनी चेतना गवाँ देता है । इसलिए जहरी नशे की वस्तुओं का त्याग करना चाहिए ।

१२. ओले- बरसात के समय ठंडी हवा चलने के कारण किसी वक्त ओले पड़ते हैं । वह असंख्यात् अपकाय रूप जीवों का समूह रूप होने से त्याग करने योग्य हैं। यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि-यदि बरफ-ओले आदि में असंख्यात अपकाय जीव रूप होने से अभक्ष्य माना है, तो पानी भी असंख्यात अपकायमय है ही तो वह अभक्ष्य क्यों नहीं ? इसका उत्तर देते हैं ।

पानी असंख्यात अपकाय जीवमय होने पर भी उसके बिना जीवन निर्वाह नहीं हो सकता, इसलिए इसे अभक्ष्य नहीं कहा। ओले-बरफ के बिना जीवन निर्वाह हो सकता है। फिर भी जल की हिंसा से बचने के लिए उसमें भी विवेक रखना आवश्यक है। विवेकी श्रावक को घी की अपेक्षा भी पानी का, बहुत हिचकिचाहट के साथ उपयोग करना चाहिए। कारण के बिना इधर-उधर, जितना चाहे उतना पानी नहीं गिराना चाहिए । इससे श्रावक धर्म का रक्षण और पानी के जीवों की रक्षा होती है। जितने शरीर सुख के साधन हैं वे उतने ही आत्मा के महादु:ख के साधन हैं। थोड़े शारीरिक सुख के लिए पाप किए जाते हैं । उसका परिणाम अन्य जन्मों में कैसा विषम विपाक भोगना पड़ता है, वह श्री वीतराग देव के वचन से समझकर मनुष्य कम से कम आरंभ-पाप बंधन वाला कार्य नहीं करे, यही सुख का मार्ग है।

१३. सर्व जाति की मिट्टी- मिट्टी को मेंढक आदि जीवों की योनि रूप माना है । अत: वह मिट्टी पेट में जाने के बाद मेंढक आदि जीवों की उत्पत्ति का कारण बन सकती है, तो मरण आदि महा अनर्थ भी हो सकता है। यहाँ प्रत्येक जाति की मिट्टी का त्याग कहा है। इससे खड़िया आदि का त्याग करे। इसको खाने से भी आमवात-पित्त आदि रोग होते हैं। उपलक्षण से चूना आदि भी वर्जनीय है, उसके खाने से भी अंतड़ी की सड़न आदि रोग होते हैं। किसी भी जाति की मिट्टी का भक्षण करने से असंख्यात पृथ्वीकाय जीवों की हिंसा होती है। नमक में भी असंख्यात पृथ्वीकाय जीव होने से सचित कच्चा नमक त्याग करना और कारण पड़े तो अचित नमक का उपयोग करना चाहिए । लवण को अचित्त बनाने के लिए अग्नि आदि बलिष्ठ शस्त्रों का उपयोग करना चाहिए। उसके बिना वह अचित नहीं होता क्योंकि-उसमें असंख्यात पृथ्वीकाय जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि उसे कितना भी खांडा जाय या घिसा जाय फिर भी वह अचित नहीं होता । श्री भगवती सूत्र के उन्नीसवें शतक के तीसरे उद्देश्य में कहा है कि:-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

"वज्रमय्यां शिलायां स्वल्प पृथ्वीकायस्व वज्र लोष्टकेनैक विंशति वारान् पेषणऽपि सन्त्येके केचन जीवा ये स्पृष्टा अपि न, इति ।"

अर्थात्- 'वज्रमय शिला पर अल्प मात्र पृथ्वीकाय नमक को रखकर उसको वज्रमय पत्थर से इक्कीस बार पीसा जाय तो भी उसके बीच में कई जीव रह जाते हैं कि जिन्हें पत्थर का स्पर्श भी नहीं होता है।'

नमक के जीव बहुत सूक्ष्म होने से दलना पीसना आदि करने पर भी वह अचित नहीं होता। इसलिए कुम्हार के मिट्टी की ईंट पकाने के भट्टे में मिट्टी के बर्तन में नमक की सील करके रखना चाहिए, उससे अग्नि के ताप से वह अचित होता है। वह नमक दो चार साल तक तो अचित्त रहता है उसके बाद वह सचित्त हो जाता है इसलिए वह बहुत वर्षो तक उपयोग करने योग्य नहीं होता। श्रावक अपने घर में पीसे हुए नमक में उससे दुगना पानी डालकर, उसे उबाल कर जैसे खांड की चाशनी कर शक्कर बनाते हैं वैसे ही एक रस बना कर और फिर उसे जमा कर अचित बनाते हैं। यह नमक तत्काल अचित होता है, परन्तु पानी के संयोग से उबाला होने से दो चार महीने के बाद सचित्त होना संभव है। बिना पानी के स्वयमेव नमक का रस बनाकर भट्टी से जो नमक पकाया होता है, उसका जितना काल होता है उतना अन्य काल नहीं माना जाता। वह भी बहुत सेकने पर लाल वर्ण वाला बन जाये तभी अचित समझना। थोड़ा सेकने से तो सचि रहता है। प्रवचन सारोद्धार में भट्टे में पकाया नमक दो चार वर्ष तक प्रयोग के लिए बतलाया है। इससे ज्यादा भी बतलाया है। श्रावक और न छोड़ सके तो भी सचित नमक का तो त्याग ही करना चाहिए।

१४. रात्रि भोजन- रात्रि भोजन का अवश्य त्याग करना चाहिए। रात्रि भोजन तैयार करते अथवा खाते समय बहुत जाति के उड़ने वाले छोटे जीव उस में पड़कर मर जाते हैं तथा रात्रि भोजन इस लोक और पर लोक में अनेक दोषों का कारण है। सम्बोध प्रकरण श्राद्धव्रत में रात्रि भोजन से प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले दोषों का दो श्लोकों द्वारा करते हैं:-

मेहं पि बीलि आउ, हणति वमणं च मच्छिआ कुणइ ।
जुआ जलोदर त्तं कोलिअओ कोट्ठरोगं च ॥८०॥
वालो सरस्स भंगं, कटो लग्गइ गलं मि दाऊं च ।
तालुं मि विंधइ अली, वंजण मज्झं मि भुज्जंतो ॥८१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - ''रात को भोजन करते समय भोजन में अगर चींटी आ जाए तो उसके खाने पर बुद्धि का नाश होता है। जूं खाने में आ जाये तो जलोदर रोग (पानी भरने से पेट फूल जाना) होता है और टट्टी पेशाब रुक जाता है। मक्खी खाने में आ जाये तो उल्टी होती है। कान खजूरा खाने में आ जाए तो कोढ़ रोग हो जाता है ॥८०॥

यदि खाने में बाल आ जाय और वह गले में चिपक जाय तो स्वर-आवांज खराब हो जाती है। कांटा या लकड़ी का टुकडा गले में फंस जाता है और पीड़ा करता है। अगर साग-भाजी में बिच्छु पड़ जाये तो वह तालु को फाड़ देता है ॥८१॥''

यहाँ प्रश्न होता है कि-''चींटी आदि तो बारीक होने से दिखाई नहीं देतीं, मगर बिच्छू तो बड़ा होने से दिखाई देता है।, वह भोजन में कैसे निगला जा सकता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'बैंगन या इस प्रकार के किसी साग में जो, बिच्छू के से आकार का होता है बिच्छू को साग समझकर कदाचित् खा लिया जाय तो उसका नतीजा भयंकर होता है। निशीथ चूर्णि में भी कहा है कि- **''गिह कोइल अवयव सम्मिस्सेण भुत्तेण पोट्टे किल गिह कोइला संमुच्छंति।''** अर्थात् छिपकली के शरीर के अवयव-अंग से मिश्रित भोजन खाने में आए तो पेट में छिपकलियाँ उत्पन्न होती है और रात्रि भोजन में सर्प आदि का जहर या मल मूत्रादि खाने पर मृत्यु भी संभव हो सकती है। और भी आगे संबोध प्रकरण में कहा है-

मालिंति महियलं, जामिणीसु रमणी यरा संमतोऽवि ।
ते विच्छलंति हु फुडं, रयणीए भुंज माणं तु ॥८२॥

अर्थात्-''रात में स्वच्छन्द सर्वत्र घूमने वाले राक्षस, प्रेत, व्यंतर आदि अपने स्पर्श से खाद्य पदार्थों को झूठे कर देते हैं तथा रात्रि भोजन करने वालों पर उपद्रव भी करते हैं। इसलिए रात में भोजन नहीं करना चाहिए।''

इसके अलावा रात्रि में भोजन बनाने में भी छह जीव निकाय का वध होता है। रात्रि को बर्तन साफ करते समय और धोते समय पानी में रहे हुए जीवों का विनाश होता है। उस पानी को जमीन पर फैंकने से जमीन पर केंचुआ, चींटी आदि बारीक अनेक जन्तुओं का नाश होता है तथा त्रस काय का भी नाश होता है। इस कारण जीव रक्षा की दृष्टि से भी रात्रि भोजन का अवश्य त्याग करना चाहिए। संबोध प्रकरण के श्राद्ध व्रताधिकार में कहा है कि :-

जीवाणं कुथु माईणं, घायणं भोण धोअणाई सुं ।
एमाइ रयणी भोयण दोसे को साहिउं तरइ? ॥ ८३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - ''रात को बर्तन मलने, उन्हें धोने और उस पानी को फैंकने आदि में बहुत से कुन्थूआ आदि बारीक जन्तु मर जाते हैं इत्यादि, रात्रि भोजन के बहुत दोषों को कौन कह सकता है? अर्थात् उसके दोष को मुख से वर्णन नहीं कर सकते हैं।''

यहाँ शंका होती है कि - 'तैयार की हुई लड्डू आदि मिठाइयां या सूखी चीजें अथवा पके फल या सूखे मेवे आदि जिनमें रात को पकाने, बर्तन धोने आदि की झंझट नहीं है, उन्हें अगर रात को सेवन कर लिया जाय तो क्या दोष है ?' इस के उत्तर में कहते हैं - 'उसमें केंचुआ आदि जीव चढ़े रहते हैं या उसमें काई - फूलन आदि होने पर भी नहीं दिखने से हिंसा हो सकती है, इसलिए उसका भी त्याग करना चाहिए। निशीथ भाष्य में कहा गया है कि -

जइ वि हु फासुग दव्वं कुंथु पणगा तहा वि दुप्पस्सा ।
पच्चक्खनाणिणोऽविहु, राइ भत्तं परिहरंति ॥३३६६॥

जइ वि हु पिवी लिगाई, दीसंति पई व माइ उज्जोए ।
तह वि खलु अणा इन्नं, मुलवय विराहणा जणणं ॥३४००॥

अर्थात् - ''यद्यपि लड्डू आदि सूखे और पासुक पदार्थ रात में तैयार न करके दिन में ही बनाए हुए हो, फिर भी केंचुआ, काई (पनक) आदि बारीक जन्तु रात में नहीं दिखाई देते, इसलिए उन्हें न खाए। प्रत्यक्ष ज्ञानी, केवल ज्ञानी सर्वत्र अपने ज्ञान बल से उन सूक्ष्म जीवों को जान या देख सकते हैं, फिर भी वे रात्रि भोजन नहीं करते ॥ ३३६६ ॥ यद्यपि दीपक आदि के प्रकाश में चींटी आदि जीव दिखाई देते हैं, लेकिन कई बार रात्रि में भोजन करते समय बारीक उड़ने वाले जन्तु दीपक के प्रकाश में पड़कर या भोजन में गिरकर मर जाते हैं। इसलिए विशिष्ट ज्ञानियों ने मूल व्रत-अहिंसा के भंग होने की सम्भावना से रात्रि भोजन स्वीकार नही किया।'' अब रात्रि भोजन का फल योग शास्यत्र के तृतीय प्रकाश के आधार पर कहते हैं :-

उलूक काक मार्जार गृद्ध शम्बर शूकरा ।
अहि वृश्चिक गोधाश्च जायन्ते रात्रि भोजनात् ॥६७॥

अर्थात् - ''रात्रि भोजन करने वाले मनुष्य अगले जन्म में उल्लू, कौए, बिल्ली, गीध, राक्षस, सूअर, सर्प, बिच्छू और गोह या मगरमच्छ आदि अधम जातीय तिर्यंच योनियों में जन्म लेते हैं।'' क्योंकि प्राय:कर जीव को इस जन्म में जैसी प्रवृति अच्छी लगती हो वही अन्य जन्म में जीवन में मिलती है। अन्य धर्म वाले भी कहते हैं कि:-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मृते स्वजनमात्रेऽपि सूतकं जायते किल ।
अस्तं गते दिवानाथे, भोजनं क्रियते कथम् ? ॥१॥

रक्ती भवन्ति तोयानि, अन्नानि पिशितानि च ।
रात्रौ भोजन सक्तस्य ग्रासे तन्मांस भक्षणम् ॥२॥

अर्थात् - '' एक अपने स्वजन का भी अस्त हो जाए अर्थात् मर जाए तो उस का सूतक लगता है, उस समय खान-पान नहीं कर सकता है तो फिर दिवानाथ - सूर्य अस्त हो जाए तब भोजन कैसे हो सकता है ? अर्थात् कभी भी नहीं हो सकता॥१॥ रात्रि में पानी पीना खून बराबर है और अन्न आदि खाना मांस रूप होता है, इससे रात्रि भोजन में आसक्त मनुष्य को रात्रि में पानी या खाना खाने से मांस भक्षण के समान दोष लगता है । '' स्कन्द पुराण में भी रूद्र के बतलाए हुए सूर्य की स्तुति रूप स्तोत्र में कहा है कि :-

एक भक्ताऽशनान्नित्यमग्निहोत्र फलं लभेत् ।
अनस्त भोजनो नित्यं तीर्थ यात्रा फलं लभेत् ॥१॥

अर्थात् - '' हमेशा एक ही समय भोजन करने वाला मनुष्य अग्निहोत्र-यज्ञ का फल प्राप्त करता है और सूर्यास्त से पहले दिन में भोजन करने वाला हमेशा तीर्थ यात्रा का फल प्राप्त करता है ।'' योग शास्त्र के तृतीय प्रकाश में अन्यमतीय शास्त्र का उदाहरण दिया है कि :-

नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनं ।
दानं वा विहितं रात्रौ, भोजनं तु विशेषणः ॥५६॥

अर्थात् - '' रात्रि में आहुति अर्थात् अग्नि में काष्ठ आदि ईन्धन डालना, स्नान, अंग प्रक्षालन, श्राद्ध कर्म - पितर आदि देवों की पूजा, देव पूजा, दान देना, यज्ञ आदि शुभ कार्य का विधान निपेध है । उसमें भी रात्रि भोजन विशेषतः अविहित, अकरणीय है । अब आयुर्वेद से इस कथन की पुष्टि करते हैं कि :-

हृन्नाभिपद्म संकोचः चण्डरो चिरपायतः ।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं सूक्ष्म जीवादनादपि ॥

अर्थात् - ''सूर्य के अस्त हो जाने पर शरीर स्थित हृदय कमल और नाभि कमल सिकुड़ जाते हैं और उस भोजन के साथ सूक्ष्म जीव भी खाने में आ जाते हैं, इसलिए भी रात्रि भोजन नहीं करना चाहिए । '' यह श्लोक योग शास्त्र, प्रकाश ३, श्लोक ६० में दिया है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहा है कि - "दिन के प्रथम पहर में देव भोजन करते हैं। मध्याह्न (दोपहर) में ऋषि आहार करते हैं। अपराह्न (तृतीय पहर) में पितर भोजन करते हैं और सायं काल (त्रिकाल) में दैत्य दानव खाते हैं। दिन और रात के सन्धिकाल में यक्ष और राक्षस खाते हैं। इसलिए हे कुल निर्वाहक युधिष्ठिर! देवादि के भोजन के इन सभी समयों का उल्लंघन करके रात्रि को भोजन करना निषिद्ध है।" जो धर्मात्मा रात्रि भोजन का त्याग करता है, उस पुरुष की आधी आयु तो उपवास में व्यतीत होती है। इस तरह जैन शास्त्र और लौकिक शास्त्रों में भी अनेक प्रकार से रात्रि भोजन का त्याग करना बतलाया है, इसलिए विवेकी मनुष्य को रात्रि में चारों आहार का त्याग करना चाहिए। यदि ऐसा अशक्य हो तो भी अशन और खादिम- इन दोनों का त्याग तो अवश्य करना चाहिए। यदि उपयोग करना हो तो बड़ी यतना पूर्वक करना जिससे कम से कम दोष लगे। उत्सर्ग मार्ग में तो रात्रि के नजदीक सूर्योदय से बाद और सूर्यास्त से पहले दो-दो घड़ी अधिक त्याग करना चाहिए। योग शास्त्र प्रकरण तृतीय में कहा है कि :-

अह्नो मुखेऽवसाने च, यो द्वे द्वे घटिके त्यजन्।
निशा भोजन दोषां ज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनः ॥६३॥

अर्थात्- 'रात्रि भोजन के दोषों को जानकार जो मनुष्य दिन के प्रारम्भ और दिन के अन्त की दो घड़ियां छोड़कर भोजन करता है वही आत्मा पुण्यशाली है।'

इसी सिद्धान्त से सुबह कम से कम दो घड़ी का नमुक्कार सहित का पच्चक्खाण कहा है और शाम को भी दो घड़ी पहले ही भोजन समाप्त कर चउ विहार आदि पच्चक्खान करने को कहा है- आगम में यही विहित है और वही पुण्यात्मा है, उसी महानुभाव ने रात्रि-भोजन के दोष भली भांति समझे हैं। यदि किसी समय व्यग्रता के कारण वैसा न कर सके तो भी प्रकाश आदि सूर्योदय और सूर्यास्त का ख्याल तो रखना ही चाहिए, नहीं तो रात्रि भोजन का दोष लगता है। अंधकार होने पर भी कोई देख लेगा- इस लज्जा से दीपक आदि प्रकाश किए बिना ही भोजन करने से त्रस जीवों की हिंसा, नियम का भंग और मायामृषावाद आदि दोष लगते हैं। कहा है कि -

न करेमि त्ति भणित्ता, तं चेव निसेवए पुणो पावं।
पच्चक्खमुसावाई, मायानियडीपसंगो अ ॥१॥
पावं काऊण सयं अप्पाणं सुद्धमेव वाहरइ।
दुगणं करेइ पावं, बीअं बालस्स मंदत्तं ॥२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – ''मैं अमुक पाप नहीं करूँगा– ऐसा निश्चय करके फिर उसी पाप को जो करता है, वह प्रत्यक्ष मृषावादी है और माया–कपट को भी सेवन करने वाला है ॥१॥ स्वयं पाप करके भी जो अपने आप को शुद्ध–निर्दोष मानता है वह दो गुणा पाप करता है, यह अज्ञानी की दुहरी मूर्खता है कि एक तो पाप करना और दूसरा अपने को शुद्ध मानना ॥२॥''

इसका मतलब यह नहीं कि पच्चक्खान करने से मृषावादी–मायावी कहा जायेगा तो इसलिए पच्चक्खान ही न करे। ऐसे व्यक्ति को तो अविरति का पोषक, प्रशंसक और पक्षपाती होने से श्री जिनेश्वर देव की आज्ञा का उत्थापक कहा है क्योंकि श्री जिनेश्वर देवों ने शक्य विरति पालन करने का विधान किया है। यदि कभी भूल हो जाए तो गुरु महाराज के सन्मुख सत्य कहकर प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाना चाहिए। नियम लेने में लाभ अधिक है और अविरति में महादोष है।

पूज्य महा महापोध्याय श्रीमद्यशोविजय गणिवर्य ने तो स्वरचित **'निशाभक्ते स्वरूपतो दूषितत्त्व विचार प्रकरण'** में कहा है कि – ''रात्रि भोजन में हिंसा हो या न हो, प्रकाश में देखकर भोजन किया जाय, फल–मेवा–मिठाई आदि पदार्थ खाया जाये अथवा उड़ते आदि जीव अन्दर न पड़ें इत्यादि किसी प्रकार से जीव हिंसा न हो फिर भी हिंसादि पापों के समान रात्रि भोजन भी स्वयं ही स्वरूप से दुष्ट है।'' इस तरह योग शास्त्र आदि ग्रन्थों में भी जानें। रात्रि भोजन के अनेक महापाप समझकर आत्म हितार्थी को उसका अवश्य त्याग करना चाहिए।

१५. बहु बीज – जिन फलों में बीज बहुत हों वह बहु बीज कहलाते हैं जैसे कि – पंपोटा–कोठी बड़ा, बैंगन, खच–खच आदि जिसमें अन्तर पट बिना बहुत बीज एकत्रित हों और उसे खाने से उन प्रत्येक बीजों का नाश होता है इसलिए बहु बीज फलों को खाने योग्य नहीं कहा है। अनार आदि अनेक जाति की सब्जी आदि में बहुत बीज होने पर भी अंतर पट होते हैं, इससे परस्पर स्पर्श रहित होते हैं, इसलिए वे बहु बीज नहीं हैं। ये खाने के योग्य माने हैं।

१६. अनजाने फल – स्वयं को या दूसरे को जिस फल की पहिचान नहीं है, जिसे कभी देखा, सुना या जाना नहीं है तथा उसके गुण दोष आदि को नहीं जानता हो– ऐसा अज्ञात फल न खाए। अजान फल को अभयक्ष्य कहा है। बुद्धिशाली व्यक्ति वही फल खाये जो उसे ज्ञात है। चतुर आदमी अनजाने में अज्ञानता वश अगर अज्ञात फल खा लेता है तो निषिद्ध फल खाने से उसका व्रत भंग होगा। कदाचित् कोई

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जहरीला फल खाने में आ जाय तो उससे प्राण नाश हो जायेगा। इसी दृष्टि से अज्ञात फल भक्षण में प्रवृत्त होने का निपेध किया गया है। उपलक्षण से फूल पत्र आदि भी गुण दोष जाने बिना न खाए। वह भी अभक्ष्य माना जाता है।

१७. संधान :– नीम्बू, मिरच, आम, केर गुदे, ककड़ी आदि का अचार (अथाणा) अनेक जीवों की उत्पत्ति का हेतु है। वह यदि नीलण, फूलन या अन्य जीवों से संयुक्त हो तो उसका त्याग कर देना चाहिए क्योंकि जीव दया पालन करने वाले श्रावक, जिससे जीव हिंसा हो ऐसा अभक्ष्य भोजन नहीं करते। अचार व्यवहार से तीन दिन के बाद अभक्ष्य होता है क्योंकि उसमें नियमत: द्वीन्द्रिय आदि जीव उत्पन्न होते हैं। पूर्ण रूप में सुखाये हुए अचार हों– उसमें पानी अंश जरा भी न हो, गीली चम्मच या गीले हाथ का स्पर्श नहीं होना चाहिए, नहीं तो उसमें संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है। इसलिए इसमें पूरी सावधानी रखनी चाहिए। नहीं तो त्रस या अनन्त काय की विराधना हो सकती है।

१८. अनंत काय – जमीन में होने वाले कन्द-मूल आदि अनंत कायिक पदार्थों में एक शरीर में अनंतानंत जीव होते हैं। कहा है कि:–

नृभ्यो नैरयिकाः सुराश्च निखिलाः पञ्चाक्षतिर्यग्गणो,
द्वयक्षाद्या ज्वलनो यथोत्तर ममी संख्यातिगा भाषिताः ।
तेभ्यो भूजलवायवः समधिकाः प्रोक्ता यथानुक्रमम्,
सर्वेभ्यः शिवगा अनन्त गुणितास्तेभ्यो प्यनन्तांशगा ॥१॥

अर्थात् – "सब से थोड़े मनुष्य होते हैं, उससे सातों नरक जीव, उससे चार निकाय के देव, उससे पंचेन्द्रिय तिर्यंच, उससे द्वीन्द्रिय विकलेन्द्रिय जीव और उससे अग्निकाय जीव–ये प्रत्येक यथाक्रम असंख्यात गुण हैं। अग्नि काय से पृथ्वी काय विशेषाधिक, इससे अप काय विशेषाधिक और इससे वायु काय विशेषाधिक हैं, ये जीव सब मिलकर भी असंख्याता होते हैं। इससे सिद्ध के जीव अनंत गुणा और सिद्धों से भी निगोद के एक शरीर में जीव अनन्त गुणा हैं। एक अनंत काय शरीर में अनंतानंत जीव होते हैं। ऐसी अंनत काय वस्तुएँ बहुत हैं, फिर भी शास्त्र में आर्य देश में प्रसिद्ध बत्तीस नाम हैं। संबोध प्रकरण श्राद्धाधिकार में इस तरह कहा है :–

सव्वा य कंदजाई, सूरण कंदो अ वज्ज कंदो अ ।
अल्ल हलिद्दा य तहा, अल्लं तह अल्ल कच्चूरो ॥६०॥
सतावरी विराली कुँआरी तह थाहरी गलोई अ ।
लसूण वंस करिल्ला, गज्जरं, लुणो अ तह लोढा ॥६१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गिरिकण्णि किसलियत्ता, खरिसुआ थेग अल्ल मुत्था य।
तह लूण रूक्ख छल्ली, खिल्ल हडो अमयवली अ ॥६२॥

मूला तह भूमि रूहा, विरूआ तह ढंक वत्थुलो पढमो ।
सूअर वल्लो अ तहा, पल्लंको कोमलं बिलि आ ॥६३॥

आलू तह पिंडालू, हवंति एए अणंत नामेणं ।
अन्नमणंतं ने अं लक्खण जुत्तीइ समया ओ ॥६५॥

अर्थात् – 'सभी जाति के कन्द अनंत कायिक होते हैं। कन्द का आम तौर पर अर्थ है – वृक्ष की जड़ के नीचे जमीन में रहा गांठ रूप विभाग। वह सब हरा कन्द अनन्त काय होता है। सूख जाने पर निर्जीव होने से अनन्त काय रूप नहीं होते। आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरीश्वर रचित योग शास्त्र प्रकाश ३, श्लोक ४४ की टीका में भी बतलाया है कि "**आर्द्रः कन्दः समग्रोऽपि**" आर्द्र अर्थात् नहीं सूखे हुए– हरे सर्व जाति कंद अनंत काय हैं और सूखे हुए तो निर्जीव होने से अनन्त काय नहीं हैं। उनके कुछ नाम यहाँ गिनाये जाते हैं –

(१) सूरण का कंद – जिसकी सब्जी बनती है। (२) वज्रकंद – एक विशेष कन्द है, योग शास्त्र की टीका में इसका नाम 'वज्रतरु' कहा है। (३) हरी हल्दी प्रसिद्ध है सब्जी में पड़ती है। (४) हरी अदरक यह भी प्रसिद्ध है। (५) हरा करचुरा –स्वाद में तीखा होता है। (६) शतावरी नाम की औषध। (७) विराली लता विशेष, उसे कोई 'सोफाली' भी कहते हैं। (८) कुंआरपाठा भी प्रसिद्ध है जिसके पत्ते की दोनों धार पर कांटे होते हैं। (६) थूहर– जो खेतादि की बाड़ बनती है। (१०) गडूची – गिलोय जो नीम आदि पेड़ पर लगी रहती है। (११) लहसुन प्रसिद्ध है। (१२) वंश कारेल–कोमल नये बांस का अवयव विशेष है। (१३) गाजर– प्रसिद्ध है। (१४) लवणक –लूणी नाम की वनस्पति विशेष, जिसके जलने से साजीखार होता है। (१५) लोढक – पद्मिनी नामक वनस्पति कंद। (१६) गिरि कर्णिका – एककजाति की लता (१७) किसलय से प्रत्येक वनस्पति के कोमल पत्ते और बीज में से फूटा हुआ प्रथम अंकुर है। ये सब अनंत काय हैं। (१८) खरसइ – कंद विशेष जिसको कसेरू भी कहते हैं। (१६) थेगा की भाजी जो चौमासे में होती है और प्रसिद्ध है। (२०) हरा मूथा प्रसिद्ध है जो जलाशय के किनारे पर होती है और पक जाये तब काली होती है। (२१) लवण नामक वृक्ष की सिर्फ छाल ही अनन्त काय है। उसके दूसरे अवयव अनन्त काय नहीं हैं– प्रत्येक वनस्पति है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(२२) खिल्ल हड - खिल्लुड नामक कंद लोगों में प्रसिद्ध है। (२३) अमर बेल नामक बेल २४ मूला का कंद प्रसिद्ध है। मूला के कंद बिना फूल पत्र आदि सब अंग प्रत्येक होने पर भी खाने योग्य नहीं हैं। (२५) भूमि फोडा, जो चौमासे में होता है और उसे बिल्ली टोप भी कहते हैं जो छतरी के आकार वाला होता है। (२६) विरूद्ध - अनाज में अंकुर फूटे हुए हों तब चना, मूंग आदि अनन्त कहलाते हैं। (२७) वत्थुला - साग होता है। (२८) शूकर वाल - एक प्रकार की जंगल में बड़ी बेल होती है। (२९) पल्यंक - पालक की भाजी प्रसिद्ध है। (३०) कोमल इम्ली - जिसमें बीज आदि उत्पन्न न हुए हों। (३१) आलू कंद - रतालू कंद प्रसिद्ध हैं। (३२) पिंडालू - प्याज भी कन्द हैं।

ये सभी आर्य देश में प्रसिद्ध हैं। वर्तमान काल में अन्य देशों में कहीं-कहीं प्रसिद्ध हैं, कहीं नाम बदल गये हैं। इन बत्तीस के अतिरिक्त और भी कई अनंत काय हैं। जीवाभिगम आदि विभिन्न सूत्रों में इस तरह लक्षण बतलाया है- 'घोसात और करीर (केर)- इन दोनों के अंकुर, तिन्दू वृक्ष, आम वृक्ष के अति कोमल फल तथा वरुण, बड़ नीम आदि वृक्ष के ताजे-कोमल अंकुर अनंत काय हैं। अब अनन्त काय को पहिचानने के लिये शास्त्र प्रसिद्ध लक्षण को श्री जीवाभिगम सूत्र में इस तरह कहा है -

गूढ सिर संधि पव्वं, सम भंग महीरुगं च छिन्न रुहं।
साहारणं शरीरं, तव्विरीअं च पत्तेयं ॥१॥

अर्थात्- "जिस पत्ते आदि में नसें, जोड़-संधि स्थान, पर्व - गांठ प्रगट रूप न हों तथा तोड़ने पर समान विभाग होता हो तथा तोड़ने पर जिस में तंतु-तांत न हों, उसको छेदन करने पर जो उग जाये - उत्पन्न हो जाये, उस प्रत्येक वनस्पति को अनन्त काय कहते हैं और इससे विपरीत लक्षण हों अर्थात् जिसमें एक भी लक्षण न हो वह प्रत्येक वनस्पति समझना। दयावान सुश्रावक को इसका त्याग करना चाहिए। कहा है कि :-

चत्वारो नरक द्वाराः प्रथमं रात्रि भोजनम्।
परस्त्री सङ्गमश्चैव, संधानानन्त कायिके ॥१॥

अर्थात् - "नरक जाने के चार द्वार हैं- प्रथम रात्रि भोजन, दूसरा पर स्त्री सेवन, तीसरा संधान जो पहले कहे गये हैं और चौथा अनन्त काय का भक्षण करना।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अत: अनंत काय के भक्षण से भी नरक आदि दुर्गति के भयंकर दु:ख सहन करने पड़ते हैं । इसलिए उसका त्याग करना चाहिए । अनंत काय या दूसरे अभक्ष्य द्रव्य अचित-निर्जीव हो गये हों तो भी उनका त्याग करना चाहिए, क्योंकि वह अचित खाने से भी दया के परिणाम नहीं रहते, आसक्ति बढ़ती है, इत्यादि परिणाम से बहुत कर्म बन्धन होता है और परम्परा से सचित या अभक्ष्य-अनंत काय का भक्षण होने का समय भी आ जाता है । पंच वस्तु में कहा है कि –

इक्केणं कयम कज्जं करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो ।
साया बहुल परंपर, वुच्छेओ संजमत वाणं ।।५६१।।

अर्थात् – ''किसी एक मनुष्य ने अकार्य किया हो, उसे देखकर उसके विश्वास से दूसरा करता है, इसी तरह से जीव के अधिकत: सुखशील होने से परम्परा से संयम, तप आदि का विच्छेद होने का समय आता है ।'

इसलिए गरम की हुई रसोई में डाले हरा अदरक, सूरण कंद, बैंगन आदि के साग इत्यादि अचित होने पर भी त्याग करना चाहिए । मूली के तो पांच अंग त्याग करने चाहिएं । शिव पुराण में कहा है कि-''जिस घर में हमेशा भोजन के लिए मूली को पकाया जाता है वह घर पित्रों से वर्जित श्मशान के समान है ।।१।। जो अधम मनुष्य मूली के साथ अन्न खाता है, उसकी सैंकड़ों चन्द्रायण तप करने से भी शुद्धि नहीं होती है ।।२।। जिसने मूली का भक्षण किया, उसने हलाहल जहर खाया है- अभक्ष्य का भक्षण किया है और कच्चे मांस का भक्षण किया है, ऐसा समझना ।।३।। जो खेत में नील रस को बोता है और जो मूली का भक्षण करता है, वे यावच्चन्द्र दिवाकर नरक में से नहीं निकल सकते हैं ।।४।।'' प्रभास पुराण में भी कहा है कि ''श्री विष्णु कहते हैं कि - हे युधिष्ठिर ! पुत्र का मांस खाना अच्छा है, परन्तु मूली का भक्षण करना अच्छा नहीं है, मूली के भक्षण से जीव नरक में जाता है और उसका त्याग करने से स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है ।।१।। युधिष्ठिर कहता है कि - हे देव! अज्ञानता से मैंने मूली का भक्षण किया है, वह मेरा पाप गोविन्द ! गोविन्द ! इस तरह आप के नाम कीर्तन से नाश होगा ।।२।।'' सौंठ, हलदी आदि कई सूखी वस्तुएँ स्वाद, गुण धर्म आदि बदल जाने से कल्पती है ऐसा व्यवहार है । यह श्राद्धविधि के दिन कृत्य अधिकार में कहा है ।

१६. वृन्ताक - बैंगन-निद्रा को बढ़ाने वाला है और विषय विकार को उद्दीपन करने वाला है इत्यादि, अनेक पोषक होने से अभक्ष्य है । शिव पुराण में भी कहा है कि:-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यस्तु वृन्ताक कालिंग मूलकानां च भक्षकः ।
अन्त काले स मूढात्मा न स्मरिष्यति मां प्रिये ।।१।।

अर्थात् - ''पार्वती को उद्देश्य से महादेव कहते हैं-हे प्रिये ! जो मनुष्य बैंगन, तरबूज और मूली का भक्षण करता है, वह अन्त समय मूढ़ात्मा बन जाता है- इससे मृत्यु के समय मेरा स्मरण नहीं कर सकता है।''

२०. चलित रस - जिसका रस-स्वाद बदल गया हो और उपलक्षण से जिसका वर्ण, गंध, स्पर्श आदि बदल गया हो, वह पदार्थ चलित रस कहलाता है। सड़ा हुआ अन्न, रसोई, पहले दिन के बासी पानी वाला भोजन, अनाज, गोरस के साथ में द्विदल अनाज, बासी, नरम पूरी, पानी में पकाया बासी चावल, कोदरा आदि में अनेक जीवों की उत्पत्ति हो जाती है । इसलिए उस सम्बन्ध में बहुत सावधानी रखनी चाहिए मिठाई आदि के विषय में कहा है कि -

वासासु पन्नर दिवसं, सि उण्ह कालेसु मास दिण वीसं ।
उग्गाहिमं जईणं, कप्पइ आरब्भ पढम दिया ।।१।।

अर्थात् - ''मिठाई, तली हुई वस्तु आदि जिस दिन बनी हो उस दिन को भी साथ गिनकर वर्षा काल में पंद्रह दिन, शीत काल में एक महीना और उष्णकाल में बीस दिन तक ही साधु को कल्पता है ।'' कई आचार्य 'यह गाथा किस ग्रंथ में रची है?' उसका निर्णय नहीं होने से इसे प्रमाणभूत नहीं मानते । अत: जब तक वह मिठाई आदि का गंध, रस आदि बदल न जाय तब तक ही शुद्ध मानना चाहिए । ऐसा कहा है ।

इसी प्रकार जो भी चलित रस हो गया हो उसका त्याग करना चाहिए जैसे कि जलेबी का आधी रात बासी होता है, दूसरे दिन का हलवा, उसमें पानी का अंश होता है । मावा-खोआ, दिन बने उसी दिन भक्ष्य है, दूसरे दिन नहीं कल्पता । यदि चीनी-खांड मिलाकर फिर सेका जाय अथवा उस खोये में घी डालकर पूर्ण रूप से सेका जाय तो अन्य दिनों में भी खाने योग्य है- उसके पेड़े, बरफी आदि खा सकते हैं । डेरी का बासी मावा और दूध नहीं खा सकते । उसे चलित रस मानते हैं। आम, आंवला आदि के मुरब्बे की चाशनी कच्ची हो- बराबर पकी न हो तो वह अभक्ष्य माना जाता है। सेन प्रश्न में कहा है सेव, बड़ी, पापड़ खीचीयां आदि खास गरमी में जल्दी सूख जायँ उन दिनों में बनाना चाहिएं और सूर्य अस्त से पहले सम्पूर्ण सूख जाना चाहिए जिससे बासी भक्ष्य का दोष नहीं लगता । इन सब वस्तुओं में चौमासे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के अन्दर सील-फूलन होने के कारण उसके पहले ही समाप्त कर देना चाहिए और उतने प्रमाण में बनाना चाहिए। सेका हुआ पापड़ दूसरे दिन बासी माना जाता है और तला हुआ दूसरे दिन खाया जाता है। दूध पाक - खीर, वासुदी, श्रीखंड, मलाई आदि जिस दिन बनी हो उसी दिन खा सकते हैं, दूसरे दिन बासी हो जाती है। आम आर्द्रा नक्षत्र में सूर्य संक्रम हो तब से खाने योग्य नहीं है। कभी तो आर्द्रा नक्षत्र के पहले भी उसमें इयल (छोटे कीड़े) हो जाते हैं इत्यादि ख्याल रखना चाहिए। चटनी बनाने में पानी या चने की दाल आदि नहीं डाला हो तो तीन दिन काम आती है और पानी आदि डाला हो तो उसी दिन खाने के काम आती है।

सेव, गांठिया, चवाणा, चने, दाल आदि सर्व, बाजार का, कालातीत समय व्यतीत हो जाने से खाने योग्य नहीं है। घर में विवेक पूर्ण ढंग से बनाने से तथा विश्वास पात्र होने से खाने योग्य होता है परन्तु व्यापारी के बनाने का काल निश्चित नहीं होता तथा प्याज, आलू आदि के पकौड़े जिस तेल में तले हों उसी तेल में सेव, गांठिया आदि तैयार किये जाते हैं। इसलिये व्यापारी द्वारा बनाये गये ये सब काम नहीं आते। चूरमे के लड्डू आदि में यदि चूरमा अच्छी तरह सेका न हो तो बासी माना जाता है। गरमी के दिनों में विशेष गरमी पड़ने से साग दाल आदि बेस्वाद-स्वाद रहित, चलित रस होने से खाने योग्य नहीं होते हैं। दही बनाने के लिए दूध में खटास डाली जाती है। लघु प्रवचन सारोद्धार की गाथा ६६ में बतलाया है कि- 'दूध को जमाने के लिये खटास आदि डालने के बाद चार पहर पूर्ण होने के बाद कल्पता है और उसे सोलह पहर तक खा सकते हैं। बासी दूध भी अभक्ष्य है घी का स्वाद बदल जाय तो उसे भी अभक्ष्य जानना। मक्खन में भी थोड़ी छाछ रखकर घी बनाना चाहिए, नहीं तो मक्खन अभक्ष्य बन जाता है। प्रसूति गाय का दस दिन, भैंस का पंद्रह दिन, बकरी का आठ दिन दूध नहीं कल्पता। सेके अनाज, चने, मक्का, खील आदि का काल मिठाई के समान होता है। इस विषय में विशेष श्री गुरु महाराज से पूछकर अथवा 'अभक्ष्य' -अनन्त काय विचार, नामक पुस्तक पढ़कर शक्य पालन करना चाहिए। आगे दही सम्बन्धी बात कहते हैं:-

जह मुग्ग मासा माई, विदलं कच्चं मि गोरसे पडइ ।
ता तस जीवुप्पतिं भंणति दहिए दुदिणु वरि।।१।।

अर्थात्- 'मूंगी, उड़द, आदि अनाज जिसमें दो दल होते हों वे यदि कच्चे दूध, दही, छाछ, श्री खंड आदि गोरस में मिल जाय तो तुरन्त ही उसमें असंख्य त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है और केवल दही में भी दो दिन-रात पूर्ण होते ही तुरन्त त्रस जीव उत्पन्न होते हैं।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्री दशवैकालिक सूत्र की टीका में पूज्य श्री हरिभद्र सूरि जी महाराज लिखते हैं कि **"रसजाः- तकार नालदधिती यनादिषु पायु कृम्वा कृतयोऽति सूक्ष्मा भवन्ति॥"** अर्थात्-छाछ, कांजी, दही, ओसामण आदि रसों में विष्टा के कृमि-कीड़े के समान आकृति वाले अति सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते हैं। योग शास्त्र प्रकाश ३, श्लोक सातवें में कहा है कि:-

"दध्यहद्वितयातीतं" अर्थात् दो दिन-दो रात्रि व्यतीत होने के बाद दही का त्याग करना चाहिए।

२१. तुच्छ फल- तुच्छ का अर्थ होता है असार- जिससे भूख न मिटे और शक्ति न बने। ऐसे फल, फूल, मूल, पत्ते आदि अभक्ष्य हैं। अरणी, केरडा, मुनगा, महुआ आदि वृक्ष के फूल और महुआ, जामुन, टिम्बरू, पीलआ, पक्के करमदो, गुंदा, पीचुफल, बोर-सली फल, वाकोल, वडबोर, काचर, कोठी, भड़ा, खच-खच आदि फल तुच्छ हैं। सरसों आदि की भाजी-पत्ते वाली साग बहुत जीव युक्त होने से चौमासे में त्याग करने योग्य है। अन्य भी मूली आदि का तथा आधा पके चोले-मूंग की कोमल फली आदि तुच्छ हैं। ऐसे पदार्थों में खाने का पदार्थ थोड़ा होता है और फैंकने का बहुत होता है, क्षुधा भी शान्त नहीं होती और हिंसा बहुत जीवों की होती है। इसलिये श्रावक इनका त्याग करें।

२२. कच्चा गोरस- कच्चा दूध, दही, छाछ आदि गोरस कहलाते हैं। गरम किए बिना उस गोरस में द्विदल (दो फाड़ वाला अनाज) मिलाने से श्री केवली भगवन्तों ने अति सूक्ष्म त्रस जीव की उत्पत्ति होते देखी है इसलिए वह अभक्ष्य है, त्याज्य है। संबोध प्रकरण, श्रावक व्रताधिकार में कहा है कि:-

सव्वेसु वि देसेसु, सव्वे वि चेव तह य काले सु।
कुसिणेसु आमगोरस जत्तेसु निगो अपं चिंदी ॥८४॥

अर्थात्- सर्व देश में और सर्व काल में कच्चे गोरस युक्त सारे दो दल अनाजों में निगोद तथा पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं।" महाभारत में भी कहा है कि **"गोरसं माष मध्ये तु मुदगादिषु तथैव च। भुज्यमानं भवेन्नूनं मांस तुल्यं युधिष्ठिर।"** अर्थात्- जो कच्चे गोरस में उड़द और मूंग आदि मिलाकर भोजन करता है, हे ! युधिष्ठिर वह निश्चय से मांस बराबर भोजन करता है।' अब द्विदल का लक्षण संबोध प्रकरण, श्रावक व्रताधिकार के अनुसार कहते हैं-

जंमि उ पीलिज्जंते, नेहो न हु होइ बिंति तं विदलं।
विदले वि हु उप्पन्नं, नेह जुअं होइ नो विदलं ॥८५॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् '' दो फाड़ दाल हो वह अनाज और पेलने से जिसमें तेल न निकले वह द्विदल कहलाता है, परन्तु द्विदल- दो फाड़ दाल हो फिर भी उसे पेलने से तेल निकलता है वह द्विदल नहीं कहलाता।। ''

इस विषय में यह विवेक है कि इसमें कई बातें हेतु गम्य और कई बातें आगम-आप्त वचन गम्य होती हैं। जो बातें तर्क, युक्ति, अनुभव आदि हेतु से जानी जाती हैं उनका प्रतिपादन हेतु द्वारा करता है और जो बातें हेतु द्वारा न जानी जा सके या सिद्ध न हो सकें उनका प्रतिपादन आगम-आप्त वचनों द्वारा करता है, वही आज्ञा आराधक होता है। इसके विपरीत जो हेुत गम्य बातों का आगम द्वारा प्रतिपादन करता है और आगम गम्य बातों का हेतु द्वारा प्रतिपादन करने का प्रयत्न करता है, वह आज्ञा विराधक होता है। पंचवस्तु में कहा है कि:-

जो हेऊ वाय पक्खं मि, हेउओ आगमे अ आगमिओ ।
सो ससमय पन्नवओ, सिद्धेत विराह ओ अन्नो ।।६६३।।

अर्थात् ''हेतु वाद पक्ष को जो हेतु से मानता है और आगम पक्ष को आगम से मानता है तथा स्व तथा श्री जिन सिद्धान्त का यथार्थ प्रतिपादन करता है, वह आज्ञा आराधक है और इसके विपरीत कथन करने वाला सिद्धान्त विरुद्ध प्ररूपक होने से आज्ञा विरोधक है।''

इस न्याय के अनुसार कच्चे गोरस के साथ द्विदल आदि में जीवों का अस्तित्व हेतु (युक्ति, तर्क या प्रत्यक्ष) से सिद्ध करना या जानना संगत नहीं है, अपितु उन जीवों का अस्तित्व आगम के द्वारा जानकर उक्त वचन पर श्रद्धा करना उचित है। केवली भगवन्तों ने गोरस के साथ मिश्रित द्विदल अन्न में जीव देखे हैं। इसी प्रकार बासी भोजन आदि में, दो दिन से अधिक दिनों के दही में, सड़े हुए खाद्य पदार्थ में भी जीव देखे हैं। इस दृष्टि से उन जीवों सहित भोजन का त्याग करना चाहिए अन्यथा ऐसे भोजन करने से हिंसा नामक प्रथम आश्रव का दोष लगता है। केवलियों के वचन निर्दोष होते हैं, इसलिए आप्त-प्रामाणिक पुरुषों के वचन होने से श्रद्धा योग्य मान कर शिरोधार्य करने चाहिएं और उपर्युक्त चीजों का त्याग करना चाहिए।

इस तरह से अभक्ष्य पदार्थों के बाईस भेद कहे हैं- उनका त्याग करना चाहिए। योग शास्त्र प्रकाश ३, श्लोक ६-७ में सोलह वस्तु त्याग करने योग्य कहीं हैं। उसके बाद शेष अभक्ष्यों को तृतीय प्रकाश के श्लोक ७२ से त्याग करने योग्य बतलाया है। वह इस प्रकार है-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जन्तु मिश्रंकी फलं पुष्प, पत्रं चान्यदपि त्यजेत् ।
संधान नपि संसक्तं, जिन धर्म परायणः ।।७२।।

अर्थात्- "जिन धर्म की आराधक आत्मा को जो-जो फल (बेर आदि), फूल, पत्ते, भाजी आदि जीवों से मिश्रित हो अथवा जीव संयुक्त नीलंण, फूलन युक्त अचार या और भी ऐसे पदार्थ हों उनका त्याग करना चाहिए।" क्योंकि जीव दया पालन करने वाले श्रावक जिससे जीव हिंसा हो ऐसा अभक्ष्य भोजन नहीं करते हैं।

इस भोगोपभोग विरमण व्रत में चौदह नियम आदि अतिचार रहित रूप में पालन करने के लिए श्राद्धविधि ग्रन्थ में बतलाया है कि-सचित, अचित और मिश्रित वस्तुओं को अच्छी तरह से समझना चाहिए। वहाँ कहा है- प्रायः सारे अनाज , धनिया, जीरा, अजवायन, सौंफ, सवां, राई, खचखच आदि तथा सर्व जाति के फल, पत्ते लवण-खारी-खारो सिंधवा नमक, संचल आदि, तथा अकृत्रिम क्षार पदार्थ , मिटटी, खड़िया, गेरू और हरा दातुन- ये सर्व वस्तुयें व्यवहार से सचित कही हैं ।

पानी में भिगोये अखण्ड चावल , चना, गेहूँ आदि के दाने, चने, मूंग आदि दालें भिगोयी हों तब किसी दाल में योनि संभव होने से मिश्र गिना जाता है। और पहले खार दिये बिना, उबाले बिना या रेती आदि में डाले बिना सेके हुये चने, गेहूं, ज्वार आदि की खील, खार आदि बिना कूटे हुए तिल, सेके रोंगी, पोंख, सेके मूंग आदि, सींग तथा सेके पापड़ी आदि, मिर्च, राई आदि से केवल बघारे हुए ककड़ी, फूट, खीरा आदि के कच्चे पक्के साग , उसके अन्दर दूसरे सचित हों, ऐसे सारे पक्के फल- ये सभी वस्तुयें मिश्रित हैं । तिल पापड़ी भी जिस दिन बनायी हो उस दिन में मिश्रित गिनी जायें, परन्तु किसी ने खाने में रोटी आदि के पड़ में तिल डाला हो वह दो घड़ी के बाद अचित गिना जाता है। मूंगा, रेवड़ी में गुड़ आदि बहुत पड़ा हो तो उस दिन अचित मानने का व्यवहार है। वृक्ष के ऊपर से तत्काल ग्रहण किया गोंद, लाख, छिलका आदि, तत्काल निकाले नारियल , नींबू, नीम, आम, गन्ना आदि के रस, तत्काल पिला हुआ तिल, सरसों आदि का तेल, तत्काल तोड़ कर बीज निकाले हुए पक्के फल, तत्काल पीसा हुआ जीरा, अजवायन आदि प्रत्येक पदार्थ दो घड़ी, अड़तालीस मिनट तक मिश्र और उसके बाद अचित्त होते हैं, ऐसा व्यवहार है। अन्य भी जो पदार्थ प्रबल अग्नि शस्त्र के योग बिना ही अचित किया हो उसका भी दो घड़ी तक मिश्र और उसके बाद अचित का व्यवहार है। जैसे चीनी, खांड, राख या क्षार यथा योग्य, आवश्यकता अनुसार डाल कर अचित बनाना हो तो वह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पानी पहले दो घड़ी तक मिश्र और बाद में अचित गिना जाता है। इसी तरह कच्चे फल, कच्चे अनाज तथा कच्चा नमक आदि को बहुत बारीक पीसा हो तो भी प्रायः कर अग्नि आदि प्रबल शस्त्र लगे बिना वह अचित नहीं होते, इस तरह प्रत्येक विषय में समझना ।

सौ योजन से अधिक दूर प्रदेश से आये हुए हरड़े, छुहारा, किशमिश, अंगूर-काली सफेद, द्राक्ष, खजूर, काली मिर्च, पीपर, जायफल, बादाम, अखरोट, पिस्ता, स्फटिक के समान सफेद सिन्धवा नमक आदि तथा साजीखार, बीड लवण आदि खार, कृत्रिम खार पदार्थ, कुम्हार आदि की लगायी गई मिटटी, इलायची, लौंग, कोंकण देश के केले, उबाले सिंघाड़े, सुपारी आदि पदार्थ व्यवहार से अचित माने जाते हैं। वृहत्कल्प उद्देश्य प्रथम में कहा है कि:-

जोयण सयं तु गंतुं, अणाहारेणं तु भंड संकंती ।
वाया गणी धूमेण य, विद्धत्थं होइ लोणाई ।।६७३।।

अर्थात्-''लवण आदि वस्तु अपने उत्पत्ति स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए पहले दिन थोड़ा, फिर उससे अधिक, फिर उससे भी अधिक-इस तरह प्रतिदिन अचित होते हैं। आखिर सौ योजन आने पर सर्वथा अचित होते हैं।'' भगवती सूत्र में 'नमक तो प्रबल अग्नि शस्त्र के बिना अचित्त नहीं होता' कहा है। इसलिए यहाँ नमक से अन्य साजी खार, बीड नमक आदि जानना ।

यहाँ प्रश्न करते हैं कि - शस्त्र बिना केवल सौ योजन जाने से अचित कैसे हो सकता है? इसका उत्तर देते हैं कि वह आहार के अभाव में अचित होता है। क्योंकि जिस वस्तु का जो उत्पत्ति स्थान है, वहाँ की हवा, जमीन आदि उसके पोषक होने से उसका वह आहार गिना जाता है। उस आहार से वह सजीव रह सकता है, परन्तु उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र जाते समय अपने पोषक हवा, जमीन आदि के अभाव में वह अचित होता है एवं पूर्व के पात्र से दूसरे पात्र में बार-बार परिवर्तन होने से टकराते-चोट खाते तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर, वहाँ से और अन्य स्थान पर-इस तरह बारम्बार स्थानांतरित होने से भी अचित होता है, वायु से, अग्नि से या रसोई आदि के घुएं से भी अचित होता है। यहाँ आदि शब्द से नमक के साथ में अन्य वस्तु भी समझना।' बृहत्कल्प की आगे की गाथा में कहा है:-

हरियाल, मणोसिल-पिप्पली अखन्जूर मुद्दिया-अभया ।
आइन्न मणाइन्ना ते बिहु एमेव नायव्वा ।।६७४।।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- '' हड़ताल, मनशिल, पीपर, खजरू और किशमिश तथा हरड़े- ये वस्तुएं भी पूर्व कहे अनुसार सौ योजन दूर जाते हुए अचित हो जाती हैं, ऐसा समझना।'' इसमें भी कई वस्तुएं आचीर्ण -व्यवहार में उपयोग होती हैं और कई अनाचीर्ण- निषद्ध हैं। उनका विभाग इस तरह है- पीपर, हरड़े आदि आचीर्ण होने से उपयोग में ले सकते हैं और खजूर द्राक्ष आदि अन्य वस्तु अनाचीर्ण होने से उपयोग नहीं होती, साधु साध्वी नहीं स्वीकार करते ।

श्राद्धविधि प्रकरण में किशमिश और द्राक्ष दो शब्द हैं, दोनों सौ योजन से अधिक दूरी से आती हैं । इत्यादि कारण से अचित बतलाया है, फिर भी बृहत्कल्प की गाथा में खर्जुर और द्राक्ष दोनों अनाचीर्ण में गिनकर वह साधु को ग्रहण करने योग्य नहीं कही हैं। इससे यह समझा जाता है कि किशमिश आदि अचित रूप होने पर भी अनाचीर्ण होने के कारण खाने का अधिकार नहीं है। आजकल व्यवहार में भी उसी तरह चल रहा है। तत्त्व तो जो गीतार्थ गुरु महाराज कहें वही मानना चाहिए। अब सब वस्तुओं को सामान्य से अचित होने का कारण वृहत्कल्प में आगे कहते हैं:-

आरूहणे ओरूहणे, निसिअण गोणाइणं च गाउम्हा ।
भूम्माहारोच्छेए उवक्कमेणं च परिणामो ।। ६७५।।

अर्थात् 'उन वस्तुओं को बारम्बार गाड़ी, ऊंट, बैल, खच्चर आदि पर चढ़ाते-उतारते और गाड़ी आदि में भी उसके ऊपर मनुष्य के बैठने से उसकी गरमी लगनी, बैल, भैंसा, ऊंट आदि की पीठ पर हो तब उसकी गरमी लगने इत्यादि कारणों से वह सचित वस्तु भी अचित हो जाती है और वह उत्पत्ति स्थान के वायु, पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि आहार मिलने का बंध होने से भी अचित होती है तथा शस्त्र से भी अचित बनती है। उस शस्त्र की तीन प्रकार हैं- एक स्वकाय शस्त्र, दूसरा परकाय शस्त्र और तीसरा उभयकाय शस्त्र । उसमें खार, मधुर आदि पानी या काली-लाल-सफेद आदि जमीन की मिट्टी एकत्रित मिलाने से परस्पर एक दूसरे के उपक्रम से अचित बनाता है । इस तरह पानी का शस्त्र पानी और जमीन का शस्त्र जमीन आदि स्वकाय शस्त्र, दूसरा अग्नि से पानी अचित्त होता है, पानी से अग्नि बुझ जाती है इत्यादि परकाया रुप शस्त्र, और पानी में मिली मिट्टी अर्थात् मिट्टी सहित पानी-कीचड़ शुद्ध निर्मल पानी को अचित करता है वह उभयकाय शस्त्र कहलाता है, क्योंकि उसमें पानी और मिट्टी दोनों मिलकर सचित पानी को अचित करते हैं इत्यादि अचित होने के कारण हैं, और भी बृहत्कल्प में कहा है कि -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उप्पलपउमाई पुण, उण्हे दिण्णाइं जाम न धरिं ति ।
मोग्गरगजूहि आओ, उण्हे छूढा चिरं हुंति ॥६७८॥

मगदंतिअ पुप्फाइं, उदग छूढाइं जाम न धरिं त ।
उप्पलपउमाई पुणो, उदए छुढा चिरं हुंति ॥६७६॥

अर्थात्- ''उप्पल अर्थात् नीलकमल- चन्द्र विकासी कमल तथा पद्म अर्थात् सूर्य विकासी कमल- ये प्रत्येक जल-शीत योनि वाले होने से सूर्य आदि के ताप से, एक पहर पहले ही अचित हो जाते हैं, और मोगरा तथा जूही आदि उष्ण योनि वाले ताप में बहुत काल तक सचित रहते हैं । यही उष्ण योनि वाले मोगरे, जूही आदि पानी में एक पहर पहले अचित्त हो जाते हैं और पद्म कमल तथा उत्पलादि शीत योनि वाले पानी में लम्बे काल तक सचित रहते हैं ।'' और भी कहा है-

पत्ताणं पुप्फणं, सरडु फलाणं तहेव हरि याणं ।
बिटंमि मिलाणंमि णायव्वं जीव्व विप्प जढं ॥६८१॥

अर्थात् - ''पत्र, पुप्प, बीज - गुठली न हो वहाँ तक प्रत्येक कच्चे फल और सामान्य से वत्थूल आदि सर्व कोमल वनस्पति, प्रत्येक का बींट, मूल या नाल कुम्हला जाय तब अचित होता है । ऐसा समझना ।'' इस तरह वृहत्कल्प की टीका में कहा है । चावल-धान आदि अनाज का सचित-अचितत्व का श्री भगवती सूत्र छठ्ठे शतक, सातवें उद्देश में इस तरह बतलाया गया है :-

अह णं भंते ! सालीणं वीहीणं गोहुमाणं जवाणं जव जवाणं एएसि णं धण्णाणं कोट्ठा उत्ताणं पल्ला उत्ताणं मंचा उत्ताणं माला उत्ताणं, उल्लित्ताणं, पिहि आणं, मुद्दिआणं लंछिआणं केवइअं कालं जोणी संचिट्ठइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहूत्तं उक्को सेणं तिण्णि संवच्छराइं, तेण परं जोणी पमिलाइ पविद्धं सेइ, बीए अबीए भवइ । अह णं भन्ते ! कलाय मसूर तिल मूग मास निष्फाव कुलत्थ अलिसं दगं सईण पलि मंथ गमाईणं एएसि णं धन्नाणं ? जहा सालीणं तहा ए आण वि णवरं पचं संवच्छराइं, सेस तं चेव । अह णं भंते ! अवसि कुसुं-भगकोइव कंगु वरट्ट रालगं कोडूसगं सण सरिसव मूल बीअ माईणं धण्णाणं? गो० सत्तं संवच्छराइं ॥'' (सूत्र २४५)

अर्थात्- ''हे भगवन्त ! जो कोलम जाति के चावल, व्रीही-सामान्य जाति के चावल, गेहूँ, जौं, विशेष जाति के जौं, अनाज को कोठार में, बांस आदि के ऊंचे लटकते मंच पर , या मंजिल-माले में भरकर ऊपर ढंका हो उसे निकालने के लिए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कोठार आदि के मुँह को गोबर, मिट्टी आदि से बंद किया हो और उस कोठार आदि की चारों तरफ से लिपाई की हो तथा उसके ऊपर हवा आदि न लगे इस तरह सील करके रखा हो तो उस अनाज की योनि कितने समय तक सचित रहती है ?' इस तरह गौतम स्वामी ने पूछा तब भगवान ने कहा- 'हे गौतम! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट से तीन वर्ष वह योनि सचित्त रहती है उसके बाद योनि सूख जाती है, नष्ट हो जाती है, इससे वे बीज सचित मिटकर अचित हो जाते हैं।' फिर गौतम स्वामी ने पूछा कि 'हे भगवन्त ! मटर, मसूर, तिल, मूंग, उड़द, वाल, कलथी, चोला-राजमा, अरहर और चने ये प्रत्येक अनाज पहले के समान संग्रह करके रखा हो तो कितने समय तक उसकी योनि सचित रहती है ?' तब भगवन्त ने कहा - 'हे गौतम! जघन्य से अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट से पांच वर्ष तक सचित रह सकती है। उसके बाद सूख जाती है, नष्ट हो जाती है, इससे वह सचित मिटकर अचित बनती है।' पुनः श्री गौतम ने पूछा - 'हे भगवन्त ! अलसी, कुसुंव, कोदरा, कांग, बरंटी, राई, कोडुसंग (कोदरा की जाति का पीला छोटा चना जैसा), शण के बीज, सरसों तथा मूल बीज- ये अनाज पहले के समान संग्रह किये हों तो कितने काल तक उनकी योनि सचित रहती है ?' भगवन्त ने कहा- 'हे गौतम ! जघन्य से एक अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट से सात वर्ष तक वह योनि सचित रहती है और फिर योनि नष्ट होने से अचित होती है।' इस विषय पर पूर्वाचार्य रचित तीन गाथा कहते हैं:-

जव जवजव गोहूम, सालि, बीहि धण्णाण कुट्ठयाईसु ।
खि वियाणं उक्कोसं, वरिस तिगं होइ सजीअत्तं ॥१॥

तिल मुग्ग मसूर, कलाय, मास चवलन कुलत्थ तुवरीणं ।
तह वट्ट चणाय वल्लाण, वरिस पणगं सजीअत्तं ॥२॥

अयसी, लट्ठा कंगू कोडूसग सण वरट्ठ सिद्धत्था ।
कुद्दव रालग मूलग बीआणं सत्त, वारिसाणि ॥३॥

अर्थात्- 'जौ, अन्य जाति के जौ, गेहूँ, शाली और व्रीही धान- ये कोठार में भरकर रखा हो तो अनाज का सजीव रूप उत्कृष्ट से तीन वर्ष तक रहता है ॥१॥ तिल, मूंग, मसूर, मटर, उड़द, चोला-लोबीया, कलथी, अरहर, चने और वाल-राजमा- इन दस अनाजों का जीव सहित रुप उप्कृष्ट से पांच वर्ष तक रहता है ॥२॥ अलसी, कसुंब, कांग, कोडुसंग, शण, वरंटी, सरसों कोद्रवा, राई तथा मूला के बीज- इन प्रत्येक का जीव सहित रुप उत्कृष्ट से सात वर्ष तक रहता है, फिर अचित हो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाता है ॥३॥' श्री भगवती सूत्र का और पूर्वाचार्यों की गाथाओं का अर्थ एक समान है ।

श्री वृहत्कल्प भाष्य में लिखा है कि **'सेडूगं तिवरि साई गिण्हंति'** अर्थात् ''सेडूक अर्थात् कपास - रुई वह तीन वर्ष के बाद अचित होती है, इससे उसके बाद साधु को कल्प सकती है ।'' अब आटे के विषय में पूर्वाचार्यों के मिश्रित आदि के प्रमाण को कहते हैं :-

पण दिण मीसो लुट्टो, अचालिओ सावणे अ भद्दवए ।
चउ आसाए कत्तिअ, मिगसिर पोसेसु तिन्नि दिणा ॥१॥

पण पहर माह फग्गुणि, पहरा चत्तारि चित्त वइसाहे ।
जिट्ठा साढे ति पहरा, तेण परं होइ अच्चित्तो ॥२॥

अर्थात्- अनाज को पीसने के बाद यदि आटा नहीं छाना हो तो वह श्रावण और भादों महीने में पांच दिन, आसोज और कार्तिक महीने में चार दिन, मृगसिर और पौष में तीन दिन, माघ और फागुन में पांच पहर, चैत्र और वैशाख में चार पहर तथा जेठ और आषाढ़ में तीन प्रहर मिश्र गिना जाता है । उसके बाद वह छाना न हो तो भी अचित होता है और छानने के बाद तो दो घड़ी में ही अचित हो जाता है ।''

आटा कहाँ तक अचित रहता है ? उस काल का कोई प्रमाण शास्त्र में नहीं दिखता है, फिर भी जब तक द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव विशेष्य से उसका वर्ण, गंध, रस, स्पर्श बदल न जाये अथावा ईयल आदि जीवों की उत्पत्ति न हो तब तक वह कल्प्य गिना जाता है । अब गरम पानी के विषय में कहते हैं:- 'जब तक पानी में पूर्ण रूप से तीन उबाल नहीं आते तब तक उस पानी को मिश्र जानना ।' पिण्ड निर्युक्ति में कहा है कि :-

उसिणोदगमणुवत्ते दंडे वासे अ पडिअमित्तंमि ।
मुत्तूणादेस तिगं, चाउलउदगं बहु पसन्नं ॥१८॥

अर्थात्- '' जब तक तीन उबालों से पूर्ण-अति गरम नहीं होता तब तक गरम पानी भी मिश्र है । तीन उबाल आने के बाद ही वह अचित होता है । बरसात का पानी वर्षा होने के समय तत्काल तो गांव शहर आदि स्थान में, जहाँ बहुत मनुष्यों का आना होता हो, उस स्थान में जब तक अचित न हो तब तक मिश्र रहता है । जंगल में पड़ता हुआ बरसात का पहली वर्षा का पानी मिश्र और बाद में वह पानी सचित गिना जाता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चावल के धोवण के पानी के विषय में शास्त्र में तीन मत मिलते हैं - कई आचार्यों का कहना है कि - चावल धोने के बाद वह धोवण का पानी दूसरे बर्तन में डालते हुए उसमें से जो छींटे-बिन्दु उड़कर दूसरे बर्तन में लगें वे सूखे नहीं तब तक वह धोवण मिश्र गिना जाता है । यह मत उचित नहीं है क्योंकि यदि बर्तन धातु का या मिट्टी का पुराना हो तो वे छींटे बहुत काल तक नहीं सूखते और मिट्टी का बर्तन नया हो तो अल्पकाल में ही सूख जाता है, इसलिए काल का निर्णय नहीं हो सकता। कई आचार्यों का कहना है कि चावल के धोवन- पानी को दूसरे बर्तन में डालते समय जो बुलबुला उत्पन्न होता है वह जब तक शम-शान्त न हो तब तक मिश्र गिना जाता है। यह मत भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि पवन अधिक हो तो बुलबुला जल्दी शान्त हो जाता है और वैसा न हो तो अधिक समय तक भी रह सकता है । इससे भी काल का निर्णय नहीं होता । तीसरा मत यह है कि चावल धोने के बाद पकाते हुए जब तक वे चावल पके नहीं तब तक उसका धोवन मिश्र होता है। यह भी उचित नहीं है-क्योंकि अग्नि का ताप अधिक हो तो चावल थोड़े समय में पक जाते हैं और कम अग्नि हो तो ज्यादा समय लगता है । इससे तीनों विकल्प अयोग्य हैं । वास्तविक रूप में चावल का धोवण जिस पात्र में हो उसमें बराबर नितर न जाय- गंदापन शान्त होकर निर्मल नहीं बने, तब तक मिश्र और पूर्ण स्वच्छ हो जाने के बाद अचित होना जानना ।

नीव्वोदगस्स गहणं केई भाणेसु असुर पडिसेहो ।
गिहि भायणेसु गहणं, ठिअवासे मीसगं छोरो ॥३२॥

अर्थात्- पिण्ड निर्युक्ति में कहा है कि- बरसात के छप्पर के ऊपर से गिरता पानी, वह यदि छप्पर में धुआँ लगा हो तो धुँआ वाला होने से अथवा बरसात पड़ने के पहले छप्पर सूर्य की किरणों से तप गया हो तो ताप के स्पर्श से भी अचित होता है। इसलिए ऐसा पानी साधु को लेने का निपेध नहीं है।'' कईयों का कहना है कि साधुओं को वह पानी अपने पात्र में ग्रहण करना है। परन्तु आचार्य कहते हैं कि वह पानी अशुद्धि वाला होने से साधु को अपने पात्र में वैसा पानी लेना निषेध है, इसलिए पहले तो गृहस्थ के किसी बर्तन में वह पानी लेना और बरसात में पड़ता पानी तो मिश्र भी होता है, इसलिए साधु को बरसात बन्द हो जाए फिर अंतमूर्हूत्त के बाद वह नितर जाए- गंदापन शान्त हो जाय और अचित हो तब लेना चाहिए और शुद्ध पानी तो अचित होने के बाद भी तीन पहर के बाद सचित हो जाता है इसलिए उस समय के पहले उसमें खार, अचित चूना आदि डालना चाहिए कि जिससे वह सचित न हो और स्वच्छता भी रहे। इस प्रकार पिंड निर्युक्ति की टीका में बतलाया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चावल का धोवन भी पहले समय का दूसरी बार या तीसरी बार का धोया हुआ हो और यदि वह अल्पकाल का हो तो मिश्र समझना। जब वह लम्बे काल रहे तब ही अचित होता है। अर्थात् चावल के धोवन से उसमें रहे पानी को अचित बनाने की शक्ति घटती जाती है। इसलिए पहले से दूसरी बार का, तीसरी बार का उत्तरोतर विलम्ब से अचित होता है और चौथी- पाँचवी बार का धोवन तो बहुत समय तक भी अचित नहीं होता, सचित ही रहता है। प्रवचन सारोद्धार आदि में अचित आदि पानी का काल इस तरह बतलाया है :-

उसिणोदगं तिदंडु क्कालिअं पासअजलं जइ कप्पं ।
नवरि गिलाणा इक ए, पहर तिगोवरि वि धरिअव्व ॥८८१॥

जायइ सचित्तया से, गिम्हासुं पहरपंचगस्सुवरिं ।
चउपहरूवरिं सिसिरे, वासासु जलं तिपहरूवरिं ॥८८२॥

अर्थात् - तीन उबालों से पूर्ण उबाला हुआ शुद्ध पानी अचित होने से साधु को कल्पता है। केवल वृद्ध, रोगी, आदि के लिए आवश्यक हो तो तीन पहर के बाद भी रख सकता है। क्योंकि साधु के उत्सर्ग मार्ग में आहार-पानी प्रथम पहर बहोरा हुआ शाम तक, इस तरह तीन पहर तक ही रखना कल्पता है । इस हेतु से यहां ऐसा कहा है। वृद्ध, रोगी आदि के कारण अपवाद मार्ग से तीन पहर से ज्यादा भी रख सकता है। वस्तुत: यह अचित पानी केवल चौमासे काल में नहीं रख सकते, शेष कालों में (शीतल काल और गरमी में) रख सकते हैं। गरम अचित पानी अग्नि से अलग करके गरमी में पाँच पहर, ठंडी काल में चार पहर और चौमासे में तीन पहर तक अचित रहता है फिर सचित हो जाता है। उसके बाद भी रखना हो तो उसके पहले उसमें चूना आदि मिला देना चाहिए जिससे अचित ज्यादा समय रहे। पानी गरम करते प्रथम उबाल आये तब थोड़ा अचित और ज्यादा सचित । दूसरे उबाल में बहुत अचित होता है और थोड़ा सचित मिश्र रहता है और तीसरे उबाल में सारा पानी अचित होता है। वही पानी कल्पता है।

कोकुडु, मूंगी, हरड़, कुलिका-वनस्पति विशेष आदि अचित होने पर भी उसकी योनि अखंड होने पर पानी आदि का योग मिलते ही वह सचित हो सकता है। इसलिए उसकी योनि की रक्षा हो और परिणाम निर्दय न बने, इसके लिए दाँतों से कुचलना नहीं चाहिए । ओधनिर्युक्ति की इकतालीसवीं गाथा की टीका में कहा है कि अचित भी गलो की बेल, कोकड़ा, मूंग आदि किसी भी वनस्पति की योनि अखंड होती है। जैसे कि सूख गई गलो की बेल पानी के सिंचन से पुन: नरम बनती

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाती है। इसी तरह कोकुडु, मूंग आदि में भी वैसी ही प्रवृत्ति होती है। ऐसी वस्तु अचित होने पर जीव-दया के परिणाम की रक्षा के लिए उसको खाने में यतना रखना हितकारी है ।

इस तरह अचित सचित मिश्र का विभाग समझकर आवश्यक पदार्थ के नामादि का निर्णय करके यह सातवां व्रत उसी तरह स्वीकार करना चाहिए कि जिस तरह पूर्व काल में महाश्रावक श्री आनंद जी कामदेव जी आदि ने ग्रहण किया था, वर्तमान काल में यदि उसी तरह से यह व्रत नहीं ले सकता तो भी सामान्य रूप से 'सचित आदि के त्याग' का नियम तो अवश्य लेना चाहिए। सम्बोध प्रकरण श्रावक व्रताधिकार में इस तरह कहा है-

सच्चित्त द्रव्य विगइ वाणह तंबोल वत्थ कुसुमेसु ।
वाहण सयण विलेपन बंभ दिसि न्हाण भत्तेसु ॥११॥

अर्थात् "१. सचित, २. द्रव्य, ३. विगई, ४. उपानह, ५. ताम्बूल, ६. वस्त्र, ७. कुसुम, ८. वाहन, ९. शयन, १०. विलेपन, ११.अब्रह्म, १२. दिग्परिमाण, १३. स्नान और १४. भक्त- ये चौदह नियम श्रावक को धारण करने चाहिएं । उनकी जानकारी इस प्रकार से है-

१. सचित का त्याग- उत्सर्ग मार्ग से श्रावक को सर्वसचित वस्तु का त्याग करना चाहिए। ऐसी शक्यता न हो तो नाम-निर्णय पूर्वक अमुक-अमुक वस्तु के अतिरिक्त अन्य सचित वस्तुओं का त्याग करना चाहिए । नाम का निर्णय भी नहीं कर सके तो, एक-दो, या इतनी संख्या से अधिक वस्तु का त्याग करना चाहिए। क्योंकि इस व्रत के आरंभ में संबोध प्रकरण की ७० वीं गाथा में **'निरवज्जा हारेण'** कहा है अर्थात् जितना शक्य हो उतना निरवध आहार से ही निर्वाह करना उत्तम श्रावक का कर्तव्य कहा है । हमेशा एक-एक भिन्न-भिन्न सचित वस्तु उपयोग करने वाले को हमेशा अलग अलग वस्तुओं को उपयोग से लम्बे काल में सर्वसचित का उपयोग हो जाता है, इससे नाम निर्णय बिना के सचित्त के त्याग में विशिष्टता नहीं है, वस्तुतः प्रत्येक सचित उपयोग करने की छूट रहती है, इसीलिए ही नाम निर्णय करने से अमुक बिना के अन्य प्रत्येक सचित पदार्थ का जावज्जीव तक त्याग से स्पष्ट रूप से विशेष फल मिलता है। कहा है कि -

पुप्फ फलाणं च रसं, सुराइ मंसाण महिलिआणं च ।
जाणंता जे विरया, ते दुक्कर कारए वंदे ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- "जिसने पुष्प, फल, मदिरा, मधु, मक्खन और मांस आदि का स्वाद तथा स्त्री सेवन का रस आस्वादन लिया है और इससे उसके रसास्वाद को जानते हैं, फिर भी उसका त्याग करते हैं वे महासमर्थ दुष्कर कारक हैं। उनको मैं वंदन करता हूँ। अर्थात् विषय सुख जानने के बाद छोड़ना दुष्कर है। अतः उत्तम श्रावक को भोगे पहले विषयों का त्याग करना ही हितकारक है।"

सचित में भी पान का त्याग मुश्किल है, अन्य सचित वस्तुएँ प्रायः थोड़े काल में अचित हो जाती हैं, परन्तु पान पानी से हमेशा भीगे रहने से सचित ही रहता है और कुंथु आदि त्रस जीवों की भी बहुत विराधना होती है, इसलिए पाप से डरने वाले श्रावक को पान का त्याग करना हितकारी है परन्तु रात में तो वह बिल्कुल नहीं खाना चाहिए। फिर भी यदि किसी को रात में आवश्यकता पड़े तो उसे दिन में देख तलाश कर रखना चाहिए- इस तरह यातना की मुख्यता रखनी चाहिए। ब्रह्मचारी को तो पान कामोद्दीपक होने से त्याग ही करना चाहिए। वस्तुतः सचित के भक्षण से अनेक जीवों की हिंसा होती है।' यह महापाप है, क्योंकि प्रत्येक वनस्पति काय भी सचित हो तब तक उसके एक भी पत्रफल या बीज आदि के उपयोग से भी असंख्याता जीवों की हिंसा होती है। सिद्धान्त में कहा है कि -

जं भणिअं पंज्जत्तग निस्साए वुक्कमंत अपजत्ता ।
जत्थेगो पज्जतो, तत्थ असंखा अज्जत्ता ।।१।।

अर्थात्-"कारण कहा है कि अपर्याप्ता जीव पर्याप्त की निश्रा में उत्पन्न होता है, उसमे भी जहाँ एकजीव पर्याप्ता हो वहाँ असंख्याता अन्य अपर्याप्ता होते हैं।"

इस सिद्धान्त में भी बादर एकेन्द्रिय जीवों का विषय है, सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों में तो उससे विपरीत जहाँ अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव एक हों वहां उसकी निश्रा में निश्चय से असंख्याता पर्याप्ता सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव होते हैं इस तरह आचारांग सूत्र की टीका आदि में कहा है। इस कारण से एक-एक पत्र, फल आदि उपयोग करने में भी असंख्यात अपर्याप्त जीवों की विराधना होती है और उसके आश्रय में पानी या नील फूलण आदि जो रहे हों, उसमें तो अनंत जीवों का भी नाश होता है। पानी, नमक आदि भी असंख्याता जीवों के समूह रूप ही हैं। सिद्धान्त में कहा है कि :-

एगंमि उदग बिन्दुमि, जे जीवा जिण वरे हिं पन्नत्त ।
जे जई सरिस व मित्ता, जंबूद्दीवे न मायंति ।।१।।
अद्दामल गप्प मामणे पुढवी काए हवंति जे जीवा ।
ते पारेवय मित्ता, जम्बुद्दीवे न मायंति ।।२।।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''पानी के एक अति अल्प बिन्दु में भी इतने जीव श्री जिनेश्वर देव ने कहे हैं कि उनके शरीर यदि सरसों के दाने जितने हो जायं तो सम्पूर्ण जम्बूद्वीप में भी उनका समावेश नहीं होगा ॥१॥ हरे आंवले जितनी प्रमाण पृथ्वी काय मिट्टी या नमक आदि में जो जीव होते हैं उनके शरीर यदि कबूतर जितने हों जाये तो समग्र जम्बू द्वीप में भी उनका समावेश नहीं हो सकता ॥२॥'' अतः सर्व सचित के त्याग विषय में अबंड परिव्राजक के सात सौ शिष्यों का उदाहरण शास्त्र में कहा है ।

अवंड परिव्राजक के सात सौ शिष्य थे । उन्होंने बाद में श्रावक धर्म को स्वीकार किया था। उसमें उन्होने सजीव तथा दूसरे के दिये बिना आहार पानी नहीं खाने का नियम लिया था, इससे वे हमेशा अचित और वह भी अन्य से दिये हुए आहारादि से जीवन निर्वाह करते थे । किसी समय गंगा नदी के किनारे जंगल में पहुँचे, वहाँ ग्रीष्म ऋतु की अति भयंकर गरमी पड़ रही थी इससे गंगा के किनारे अति ताप से गरम हुई रेती और सूर्य की गरमी आदि से तृषातुर हो गये फिर भी अपने नियम में दृढ़ता वाले उन्होंने गंगा के पानी का उपयोग नहीं किया । फिर आगे चलने में असमर्थ होने से आखिर अनशन -आहार पानी आदि का त्याग किया और काल धर्म प्राप्त कर पाँचवें ब्रह्म देवलोक में इन्द्र समान -बुद्धि वाले सामानिक देव हुए। इस तरह आत्मार्थी को सचित वस्तु के त्याग का लाभ समझकर उसके त्याग में प्रयत्न करना चाहिए ।

२. द्रव्य- सचित और विगइ के बिना जो वस्तु मुख में डाले उस प्रत्येक वस्तु को संख्या से गिनना । उसमें खिचड़ी, रोटी, निवियात, लड्डू, लापसी, पापड़ी, चूरमा, करबा, दूधपाक, खीर आदि पदार्थ अनेक जाति के अनाज आदि बहुत द्रव्यों से तैयार होते हैं वह एक द्रव्य ही गिना जाता है और एक जाति के अनाज से बने अनेक द्रव्य जैसे कि गेहूँ से बनी पूरी, रोटी, खाखरा, घुघरी, घुली, बाटी आदि प्रत्येक का नाम तथा स्वाद अलग अलग होने से, वह एक ही द्रव्य में से बनी है फिर भी अलग अलग गिनना । फल, फली आदि में भी नाम एक ही फिर भी स्वाद अलग होने से तथा उसका स्वरूप नहीं बदल जाने से प्रत्येक को अलग गिनना अथवा गुरु महाराज अथवा अनुभवी श्रावक के पास से समझकर अन्य प्रकार से भी द्रव्य मर्यादा की संख्या से निश्चय करना । धातु शलाका, हाथ की अंगुली आदि मुख में डालने पर भी द्रव्य नहीं गिना जाता । जिससे स्वाद आता हो वह प्रत्येक पदार्थ द्रव्य रूप गिनने का व्यवहार है।

३. विगई- १. दूध, २. दही, ३. घी, ४. तेल, ५. गुड़ और ६. सारी मिठाईयाँ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ये विगई भक्ष्य हैं। इसमें से एक-दो आदि को खुली रखकर शेष जितनी शक्य हों उतनी विगई का त्याग करना। अनुक्रम से कम से कम एक प्रतिदिन त्याग करना।

४. उपानह- जोड़ा, बूट, चप्पल, जूता आदि चमड़े के, कपड़े के, मोजा- ये प्रत्येक उपानह कहलाते हैं। लकड़ी के खड़ाऊँ आदि तो बहुत हिंसा का कारण रूप होने से उनका सर्वथा त्याग करना चाहिए, यदि वह न कर सके तो उसकी मर्यादा नक्की कर शेष का त्याग करना चाहिए।

५. ताम्बूल- मुख में सुगन्धि करने वाली वस्तुएँ पान, सुपारी, कपूर, इलायची, सौंफ, लौंग, धनिये की दाल, दालचीनी, काथा आदि स्वादिम वस्तु की मर्यादा का निश्चय कर शेष सब का त्याग करना।

६. वस्त्र - मस्तक आदि पाँचों अंगों का रक्षण करने वाला वेश, लज्जादि की रक्षा के लिए पहनने के लिए धोती, साफा , पगड़ी या टोपी या रात्रि में पहनने के वस्त्रों के विषय में गिनती नहीं है। इनसे अन्य सुख और शोभा के लिए कोट, कुरता, टोपी, अंगोछा, कम्बल, चद्दर, तौलिया, दस्ताना, दुशाला निकर, पतलून, पाजामा, बनियाइन आदि वस्त्रों को उपयोग करने की संख्या की मर्यादा करके उससे अधिक का त्याग करना।

७. कुसुम- फूल उपयोग करने की जरूरत नहीं है, फिर भी मस्तक या गले में धारण करने योग्य फूल, माला या शयन में एवं सिरहाने में रखने योग्य अमुक पुष्पों का निर्णय करके अन्य सब फूलों का त्याग करना चाहिए। यह त्याग करने पर भी देव पूजा के अन्दर फूल उपयोग कर सकते हैं।

८. वाहन- सवारी- इसमें रथ, घोड़ा, ऊँट, हाथी, बैलगाड़ी, मोटर, रिक्षा, रेलवे, स्कूटर, सायकिल, विमान, स्टीमर आदि सजीव या यांत्रिक सवारी का अमुक प्रमाण से अधिक उपयोग नहीं करने का नियम लेना।

९. शयन- इसमें पलंग चारपाई, पाट,चौकी, कुर्सी, टेबुल आसन आदि सोने-बैठने के साधनों के नियम करना, उसके अलावा सबका त्याग।

१०. विलेपन- शरीर सुखकारी रूप भोग विलास के लिए चन्दन, जव आदि धुंआ तथा कस्तुरी आदि विलेपन का प्रमाण नक्की कर शेष का त्याग करना। यह नियम होने पर देव-पूजा आदि तिलक करना और अपने हाथ, कलाई आदि को धूप देना आदि कल्प सकता है। इसमें साबुन, तेल, मेंहदी, पाउडर आदि विलेपन में आते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

११. अब्रह्म- मैथुन क्रिया। उसमें दिन में सर्वथा त्याग और रात्रि में भी अमुक बार सेवन का नक्की करें, इसके अतिरिक्त या पर्व-तिथि आदि के दिन मैथुन का त्याग करना।

१२. दिक्परिमाण- इस नियम में सर्व दिशाओं में अथवा अमुक दिशा में अमुक हद से अधिक दूर जाने आने का या वहाँ से किसी को बुलाने का या किसी वस्तु को मंगवाने का भेजने आदि का यथाशक्ति त्याग करना।

१३. स्नान- शरीर सुख की अभिलाषा से केवल पानी का स्नान या साबुन, तेल आदि लगाकर स्नान करना इत्यादि अमुक संख्या में नियम करके अधिक का त्याग करना। देव पूजादि के लिए स्नान करने में नियम भंग नहीं होता। परन्तु लौकिक- स्मशानादि के कारण या अन्य स्पर्श आदि कारण से जयणा रखना। उसमें पानी की भी मर्यादा रखनी चाहिए। इस तरह कपड़े आदि धोने के लिए भी पानी की मर्यादा करनी चाहिए।

१४. भक्त- पका हुआ अनाज, मिठाई-पानी आदि भोजन का माप से (किलो दो किलो) आदि का प्रमाण नक्की करना, उससे अधिक उपयोग का त्याग करना। उसमें तरबूज आदि फल खाने से तौल-माप का प्रमाण बंध जाता है, इसलिए उसका ख्याल रखना चाहिए।

इस तरह इन चौदह नियमों के उपलक्षण से अन्य भी साग, फल, अनाज आदि वस्तुओं का भी नाम- संख्या, माप आदि से और स्नान, अब्रह्म आदि अमुक बार या अमुक समय तक इस तरह निश्चय करना चाहिये। इस तरह ये चौदह नियम ग्रहण करने चाहियें। इस नियम धारणा में वस्तुतः उपयोग रहित भोग के अविरति जन्य पाप से बच जाने से एक महान फल है। मुख्यतया नियम धारण करने में अपनी बुद्धि-समझदारी पूर्वक पालन करना चाहिए। इस तरह पृथ्वी, अपतेउ, वायु, वनस्पति काय के नियम जानना। उनकी भी मर्यादा रखकर विशेष जो काम न आए उसका त्याग करना। त्रसकाय में नौकर आदि का निर्णय करना। इसके साथ असि-मसि और कृषि इन तीनों के व्यापार का नियम करना। इस तरह बिन जरूरी वस्तुओं का त्याग करने से आत्मा पाप से बच जाता है और जीवन मर्यादित होने से बहुत बड़ा लाभ होता है। इस विषय में विशेष स्वरूप, नियम पालन करने वाले अनुभवी श्रावक अथवा गीतार्थ गुरु भगवन्त के पास समझना चाहिए। अब तृतीय 'अनर्थ दण्ड विरमण' नामक गुणव्रत को कहते हैं:-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शरीराद्यर्थं विकलो, यो दण्डः क्रियते जनैः ।
सोऽनर्थं दण्डस्त त्याग स्तार्ती यीकं गुण व्रतम् ॥३५॥

अर्थ- शरीर सेवादि प्रयोजन बिना मनुष्य जो पाप कार्य करता है वह अनर्थ दण्ड कहलाता है, उसका त्याग करना वह तीसरा गुण व्रत कहा है।

भावार्थ- शरीर, क्षेत्र, घर, दुकान, धन, धान्य और कुटुंब, परिवार तथा नौकर, चाकर आदि या पशुओं में गाय, बैल आदि जीवन निर्वाह के साधन हैं, इन सबका निर्वाह करना इत्यादि कारण बिना ही निष्प्रयोजन पाप करना वह अनर्थ दण्ड तो समझना । क्योंकि प्रयोजन बिना स्वयं से अगर अन्य जीव दुःखी हो तो वह सारा व्यापार वस्तुतः स्व पर का दण्ड रूप ही है। इस प्रकार से मुग्ध अज्ञानी लोग जो दण्ड पाप कर्म को करते हैं वह अनर्थ दण्ड और उसका त्याग करना उसे 'अनर्थ दण्ड विरमण' नामक तीसरा गुण व्रत या श्रावक का आठवाँ व्रत जानना। कहने का भावार्थ यह है कि जो अपने या स्वजनादि के लिए सप्रयोजन सावध प्रवत्ति अनिवार्य रूप, जिसके बिना गृहस्थाश्रम का पालन दुःशक्य है वह कार्य करे तो वह अर्थ दण्ड है लेकिन जिसमें अपना या पराया किसी का भी सिवाय हानि के कोई लाभ नहीं, जिस पाप से कारण बिना ही आत्मा दण्डित हो उसे अनर्थ दण्ड कहा है। संबोध प्रकरण में कहा है कि :-

जं इंदिय सयणाई, पडुच्च पावं करेज्ज सो होइ ।
अत्थे दंडो इत्तो अन्नो उ अणत्थ दंडो त्ति ॥६८॥

अर्थात्- ''इन्द्रिय अथवा अपने परिवार आदि के लिए कोई जरूरी सावध (पाप) कार्य आरम्भादि करना पड़े वह अर्थ दण्ड है, किन्तु जिस आश्रव सेवन से कोई भी प्रयोजन सिद्ध न होता हो वह अर्थ दण्ड का प्रतिपक्षी रूप अनर्थ दण्ड है'' इस तरह अनर्थ दण्ड विरमण व्रत का स्वरूप कहा। अब उसके भेद कहते हैं:-

सोऽपध्यानं पाप कर्मोपदेशो हिंसाकार्पणम् ।
प्रमादा चरणं चेति, प्रोक्ताऽर्हद्भिश्चतुर्विधः ॥३६॥

अर्थ- ''श्री जिनेश्वर भगवान ने उस अनर्थ दण्ड के १- अप-दुष्ट ध्यान करना, २. पाप कार्यों का उपदेश या प्रेरणा देना, ३. हिंसा के साधन दूसरों को देना और ४. प्रमाद का आचरण करना, यह चार प्रकार का कहा है।''

भावार्थ - आवश्यक मूल सूत्र २५ में कहा है कि ''**अणत्था दण्डे चउविहे पण्णत्ते तजंहा- अवज्झाणायरिए, पमायायरिए, हिंसप्पदाणे, पावकम्मो वएसे**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अति'' अर्थात्- 'अनर्थ दण्ड चार प्रकार का कहा है, वह इस प्रकार- १. अपध्यान का आचरण करना, २. प्रमाद का आचरण करना, ३. हिंसक साधन का प्रदान और ४. पाप कर्म का उपदेश देना। इनका स्वरूप कहते हैं:-

१. अपध्यान- अप का अर्थ है दुष्ट। अध्यवसाय से स्थिरता पूर्वक चिन्तन करना उसे अपध्यान कहा है। उसके आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान दो भेद होते हैं। उसमें 'ऋतम्' अर्थात दु:ख से उत्पन्न होने वाला आर्त कहलाता है अथवा आर्ति यानी पीड़ा या यातना से होने वाला ध्यान आर्त ध्यान है। इसके चार भेद हैं। दूसरों को रुलाने वाला और दु:खी करने वाला ध्यान रौद्र ध्यान है। रौद्र का अर्थ है भयंकर अर्थात् भयंकर दुर्भाव रखने वाला या भयंकर कर्म करने वाला होने के कारण उसे रौद्र ध्यान कहते हैं। इसके भी चार भेद होते हैं। सामान्यतया ध्यान एक ही विषय में लगातार अंतर्मुर्हूत तक रहता है। उसका त्याग करना। पूज्य आचार्य हेमचन्द्र सूरीश्वर जी ने योग शास्त्र तृतीय प्रकाश में कहा है कि :-

वैरिघातो नरेन्द्रत्वं, पुरघाताऽग्नि दीपने ।
खेचरत्वाधपध्यानं, मुहूर्त्तात् परतस्त्यजेत् ।।७५।।

अर्थात् - 'शत्रु का नाश करना, राजपद के लिए उखाड़-पछाड़ या खटपट करना, नगर में तोड़-फोड़ या दंगे करना, नाश करना, आग लगाना या किसी वस्तु को फूंक देने का विचार करना रौद्र ध्यान रूप अपध्यान है। राजा, महाराजा, चक्रवर्ती बनूँ या आकाश गामिनी विद्या का अधिकारी बन जाऊँ, ऋद्धि सम्पन्न देव बन जाऊँ अथवा देवांगनाओं आदि के साथ सुख भोगने वाला उनका स्वामी बनूँ इस प्रकार का दुश्चिन्तन करना वह आर्त्त ध्यान है। इस प्रकार के दुर्ध्यान आ भी जायें तो मुहूर्त्त के बाद तो उसे अवश्य छोड़ देना चाहिए और अभ्यास करते हुए उसका सर्वथा त्याग करना चाहिए।'

२. पापोपदेश- जिससे जीव को नरकादि दुर्गति में गिरना पड़े, संसार वृद्धि का कारण बने वह 'पाप' कहलाता है और उसके हेतुभूत कर्म को पाप कर्म कहते हैं। उन पाप कर्मों की दूसरे को प्रेरणा देनी, जैसे कि खेत जोतो, सांडों का दमन करो, घोड़ों को खस्सी करो, शत्रुओं को प्रगट करो, मशीन-यंत्र चालू करो, शस्त्रों को तैयार करो इत्यादि पाप जनक उपदेश कहलाता है। इसी तरह और भी वर्षा काल आ रहा है, इसलिए खेत में बेल, लता आदि जला दो। हल आदि को तैयार करो। बोने का समय जा रहा है, इसलिए जल्दी अनाज बोने का कार्य करो। खेत में पानी भर गया

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है, इसलिए पानी में प्रवेश कर साढ़े तीन दिन में धान बोने का कार्य पूर्ण करो। अरे! यह कन्या बड़ी हो गई है, इसलिए जल्दी विवाह करो। वाहन चलाने के दिन नजदीक आ गये हैं अत: वाहन जल्दी तैयार करो। इत्यादि पापकारी प्रेरणा श्रावक को उत्सर्ग मार्ग में नहीं करनी चाहिए। अपवाद मार्ग में खास दाक्षिण्यादि कारण से यतना पूर्वक करनी चाहिए। योगशास्त्र तीसरे प्रकाश में कहा है कि –

वृषभान् दमय क्षेत्रं कृष षण्ढय वाजिनः ।
दाखिण्याऽविषये पापोपदेशोऽयं न कल्पते ।।७६।।

अर्थात्– ''बछड़ों को वश में करो, खेत जोतो, घोड़ों को खस्सी करो आदि पाप-जनक उपदेश, जहाँ दाक्षिण्यता न हो वहाँ पापोपदेश देना श्रावक के लिए कल्पनीय नहीं है।'' इसकी टीका में कहा है कि श्रावक को पराई पंचायत में पड़कर पापोपदेश देना उचित नहीं है। अपने पुत्र, भाई आदि को लोक व्यवहार दाक्षिण्यता के कारण प्रेरणा देनी पड़े वह तो अशक्य परिहार-अनिवार्य है। दाक्षिण्य-प्रशिक्षण के लिए भी उपदेश देना पड़े तो निरर्थक पाप में नहीं डालना चाहिए। जैसे कि 'शराब पीकर मस्त हो जा, जुआ खेलने से धन की प्राप्ति होगी, अमुक स्त्री या वेश्या के साथ में गमन में बड़ा मजा आता है। फलां के साथ में मार-पीट कर या मुकदमेबाजी कर।' इस प्रकार का अनर्थकारी पापोदपदेश अपने स्वजन को भी नहीं देना चाहिए। मूर्खता से अंट-संट बोलकर किसी की पाप में प्रवृत्ति कराने में अपना और उसका दोनों का नुकसान है। इसलिए उसका त्याग करे।

३. हिंसाकार्पण - जिससे हिंसा होती है ऐसे हिंसक उपकरण, चक्की, कोस, कुल्हाड़ा, मूसल, तलवार, बंदूक आदि का अधिकरण-शस्त्र, अग्नि या अग्नि जलाने के साधन तथा प्राणघातक जहरीली वस्तुएं इत्यादि साधन उत्सर्ग मार्ग से किसी को भी नहीं देना, और अपवाद मार्ग से भी दाक्षिण्यता से भी योग्य व्यक्ति के अतिरिक्त, अन्य किसी को नहीं देना चाहिए। योगशास्त्र तृतीय प्रकाश में कहा है कि :-

यन्त्र लाङ्गल शस्त्राऽग्निमुशलोलूखलादिकम् ।
दाक्षिण्या विषये हिंस्त्रं, नार्पयेत् करुणा परः ।।७७।।

अर्थात्– ''पुत्र आदि स्वजन के सिवाय अन्य लोगों को यंत्र कोल्हू, नाना प्रकार की मशीन, हल, तलवार, चाकू, छुरी आदि हथियार, अग्नि, दियासलाई, दीया, मूसल, ऊखली आदि शब्द से धनुष, बंदूक, शस्त्र-अस्त्र आदि हिंसा की उत्पादक वस्तुएँ दाक्षिण्यता से दयालु श्रावक नहीं दे।'' किसी अनाड़ी या अज्ञानी के हाथ में ये हिंसाकारक हथियार देना महान् अनर्थकारी होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. प्रमादाचरण - प्रमाद पूर्वक या प्रमाद से जो प्रवृत्ति हो वह प्रमादाचरण कहलाता है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा १८० में कहा है कि :- **''मज्जं विसय कसाया, णिद्दा विकहा य पच्चमी भणिय''** अर्थात् मदिरापान करना, विषय सेवन, कषाय करना, ज्यादा सोना और विकथा करना- ये पाँच प्रकार के प्रमाद कहलाते हैं। वें त्याग करने योग्य हैं। इसका विशेष वर्णन योग शास्त्र तृतीय प्रकाश में कहा है कि :-

कुतूहलाद् गीत नृत्ये, नाटकादि निरीक्षणम् ।
कामशास्त्र प्रसक्तिश्च, द्यूतमद्यादि सेवनम् ॥७८॥

जलक्रीडान्दोलनादि विनोदो जन्तुयोधनम् ।
रिपोः सुतादिना वैरं, भक्त-स्त्री देश राष्ट्र कथा ॥७६॥

रोग मार्ग श्रमौ मुक्त्वा, स्वापश्च सकलां निशाम् ।
एवमादि परिहरेत् प्रमादाचरणं सुधीः ॥८०॥

अर्थात्- ''कुतूहल पूर्वक गीत सुनना, नृत्य, नाटक, सिनेमा, टी०वी० आदि देखना, कुतूहल वश इन्द्रिय विषय का अत्यधिक उपभोग करना। यहाँ मूल में 'कुतूहल' शब्द होने से जिन यात्रा आदि या विवाहादि के समय औचित्य के कारण सुनना, देखना, स्पर्श आदि करना पड़े वह अनर्थ दण्ड नहीं गिना जाता। वात्स्यायन आदि के बनाये हुए कामशास्त्र या कोकशास्त्र को बारम्बार पढ़ना, उसमें अधिक आसक्ति रखना, उसका बारम्बार परिशीलन करना तथा पासों आदि से शतरंज या जुआ खेलना, मदिरापान करना आदि शब्द से शिकार खेलना, उसका मांस सेवन करना, चोरी, वेश्या गमन, पर स्त्रीगमनादि महादुष्ट व्यसनों का सेवन करना ।७८॥ जल क्रीड़ा करना अर्थात् तालाब, नदी, कुएँ आदि जलाशयों में डुबकी लगाकर स्नान करना, पिचकारी से जल छीटंना आदि जल क्रीड़ा करना, वृक्ष की शाखा से झूला बांधकर झूलना आदि शब्द से व्यर्थ ही बाग के पत्ते फूल आदि तोड़ना, मानसिक विनोद के लिए मुर्गे आदि हिंसक प्राणियों को परस्पर लड़ाना, उसे देखना, शत्रु के पुत्र पौत्रादि के साथ बैर भाव रखना। किसी के साथ बैर चल रहा है तो उसका किसी भी प्रकार से त्याग न करना, बल्कि उसके निर्दोष पुत्र पौत्रादि के प्रति भी बैर रखना- ये सब प्रमादाचरण हैं तथा चार प्रकार की विकथा करना- **(अ) भक्तकथा**- पकाया हुआ माँस या उड़द के लड्डू आदि अच्छे व स्वादिष्ट होते हैं' उसको अच्छा भोजन करवाया अतः मैं भी यही भोजन करूँगा इत्यादि भोजन सम्बन्धी घंटों बातें

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करना भक्त विकथा है। **(आ) स्त्री कथा**- स्त्री के वेश, अंगोपांग की सुन्दरता, काया, हाव-भाव की प्रशंसा करना जैसे- कर्णाटक देश की स्त्रियां काम कला में कुशल होती हैं और लाट देश की स्त्रियां चतुर और प्रिय होती हैं इत्यादि स्त्री कथा हैं। **(इ) देशकथा**- दक्षिण देश में अन्न पानी बहुत सुलभ होता है, उस देश के लोग अति विषयी कामी होते हैं। पूर्व देश में विविध वस्त्र, गुड़, खांड, चावल, मदिरा बहुत मिलता है। उत्तर देश में पुरुष शूरवीर होते हैं। वहाँ के घोड़े बहुत वेग वाले होते हैं, प्रत्येक अनाज से गेहूँ अधिक पैदा होते हैं। केशर आदि सुलभ हैं। वहाँ किशमिश, अनार, कैथ आदि फल बहुत मधुर होते हैं और पश्चिम देश में बने हुए कपड़े कोमल व सुहावने होते हैं वहाँ ईख बहुत मिलती है, वहाँ पानी बहुत ठंडा होता है इत्यादि देश की प्रशंसा या निंदा करना देश कथा है। **(ई) राजकथा**-जैसे- हमारा राजा बहुत बहादुर है, चोड़ देश का राजा बहुत धनवान है, गौड़ देश के राजा के पास बहुत हाथी हैं और तुर्किस्तान के राजा के पास बहुत घोड़े हैं, इत्यादि दुनिया भर की गप्पें हांकना राजकथा हैं। इन चार विकथा के सम्बन्ध में प्रतिकूल कथा करना या निंदा करना सब विकथा हैं ॥ ७६॥ रोगादि या मार्ग के परिश्रम आदि के सिवाय सारी रात सोते रहना प्रमाद है। रोग या मार्ग की थकान के कारण सोना प्रमाद आचरण नहीं है। इन चारों प्रकार के प्रमाद का बुद्धिमान को त्याग करना चाहिए ॥८०॥ और भी योग शास्त्र में कहा है कि :-

विलासा हास निष्ठयूत निद्रा कलह दुष्कथा ।
जिनेन्द्र भवनस्यान्तरा हारं च चतुविधम ॥८१॥

अर्थात् - जिन मंदिर में विलास- अर्थात् काम चेष्टा या भोग विलास करना, ठहाके मारकर हंसना, थूकना, सोना, लड़ाई-झगड़ा करना, चोरी पर स्त्री सेवन आदि खराब बातें करना एवं अशन, पान, खाद्य, स्वाद रूप चार प्रकार के आहार करने का त्याग करना चाहिए। ये सब कार्य प्रमादाचरण हैं। श्रावक इन्हें छोड़ दे।

इसके सिवाय भी आलस्य, लापरवाही से घी, तेल, दही, दूंध, छाछ, पानी आदि के बर्तन खुले रखना। अन्य मार्ग होने पर भी हरी वनस्पति पर अथवा चींटी आदि से जीवाकुल भूमि पर चलना या निर्जीव भूमि पर भी देखे बिना चलना। स्थान देखे बिना जहाँ-तहाँ हाथ डालना- वस्तु रखना, लेना, अन्य स्थान होने पर भी अनाज आदि के ढेर या बोरी आदि सचित पदार्थ पर बैठना, खड़े रहना, वस्त्रादि वस्तुएं रखना। सेवान-फुलण, कुन्थुआ आदि जीव हो तो ऐसी जगह पर चावल आदि का ओसामल-गरम पानी आदि फैंकना जयणा बिना दरवाजे आदि बंद करना या सांकल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

देना, निष्कारण कुचेष्टा से पेड आदि के पत्ते, फल, फूल आदि को तोड़ना, कारण बिना मिट्टी चूर्ण करना, निष्प्रयोजन अग्नि जलाना, पशुओं पर प्रहार करना, शस्त्र से जहाँ-तहाँ काटना, छेदन-भेदन करना। निष्ठुरता से मर्मवेधी, किसी के प्राण जाएं ऐसे वचन बोलना। हाँसी या निन्दा आदि करना। रात्रि या सूर्योदय से पहले न करने योग्य कार्य स्नान आदि, मथना, लीपना, वस्त्र धोना या पानी छानना तथा दिन में भी यह सारा जयणा बिना करना प्रमादाचरण है। तथा श्लेष्म, कफ आदि पर राख, रेती आदि नहीं ढकने से ४८ मिनिट के बाद उसमें समूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है और नाश प्रारंभ होने से महादोष का कारण होने पर भी उस श्लेष्मादि पर राख-रेती नहीं डालना तथा निरुपयोगी शस्त्रादि या श्लेष्म, कफ, मल, मूत्रादि भी बिना कारण रखना, ये सर्व प्रमादाचरण हैं क्योंकि निष्कारण रखने से आत्मा उसके कारण पाप का अधिकारी होता है। धनुष आदि शस्त्र की लकड़ी या लोहे आदि में से च्यवन (मरे) हुए जीवों के विषय में भी शास्त्र में कहा है कि उसने उस अपने शरीर रूप लकड़ी या लोहे आदि का त्याग नहीं करने से उसमें उसे ममता रहने से उसके शरीर रूप उस लकड़ी या लोहे से अथवा उससे बने शस्त्रादि से भी जो हिंसादि होती है उस पाप का अधिकारी वह जीव भी होता है। जैसे खाली मकान में भी यदि खून हो तो उस घर का मालिक अपराधी गिना जाता है। चोरी हुई बन्दूक आदि प्रकट न की हो और उससे हिंसा या खून हो तो बन्दूक मालिक अपराधी गिना जाता है। उसी तरह मरने वाला भी यदि अपने पीछे पाप साधन रूप शरीर आदि का त्याग न करे तो उससे होने वाली पाप क्रिया का वह अधिकारी बनता है।

रसोई आदि कार्य समाप्त होने के बाद भी जलती लकड़ी, दिया आदि नहीं बुझाये वह प्रमादाचरण है। यहाँ यदि अग्नि बुझाये तो हिंसा होती है, परन्तु उसे जलते रखने में वह हिंसा लगातार चालू रहने से परिणाम से शास्त्र में उसको महान बतलाया है। अग्नि जलते रहने में प्रति अंतर्मुहूर्त में बारम्बार उत्पन्न होते असंख्यात अग्निकाय जीवों का नाश होता है और उसमें उड़ते त्रस जीव पड़ने से भी हिंसा होती है और बुझाने में एक बार ही उन जीवों का नाश होता है, उसमें भी बुझाने की बुद्धि हिंसा की भावना नहीं है, परन्तु जयणा करने की भावना है और जलते रखने की बुद्धि में जीव हिंसा की और बेदरकारी होती है, इससे इसका बड़ा पाप लगता है। श्री भगवती सूत्र में कहा है कि **"जे णं पुरसे अगणि कायं निव्वावेइ सेणं पुरिसे अप्प कम्म तराए चेव त्ति"** अर्थात् जो पुरुष अग्नि काय को बुझाता है वह पुरुष अल्पतर कर्म बन्धन करता है इत्यादि, दीपक या जलता चूल्हा, अंगीठी, भट्ठी आदि ढके

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बिना रखना तथा चूल्हा आदि रखने के स्थान के ऊपर चंदरवा नही बांधे यह भी प्रमादाचरण है। शोधे, देखे बिना लकड़ी, उपले, कोयले आदि और देखे या साफ किए बिना अनाज या कपड़े से छाने बिना पानी आदि उपयोग में लेना भी प्रमादाचरण है। उस विषय में किस तरह से जयणा रखनी चाहिए – वह प्रथम व्रत के वर्णन में बताया गया है। धर्मार्थी पापभीरू जीव को इन सारे प्रमादाचरणों का यथाशक्ति त्याग अवश्य करना चाहिए ।

इस तरह चार प्रकार के अनर्थ दंड निरर्थक विशाल अनर्थ का कारण हैं । दुर्ध्यान से किसी प्रकार की इष्ट सिद्धि नहीं होती, उल्टा मन में उद्वेग होता है। शरीर की क्षीणता, भयंकर अशुभ कर्मों का बंधन और इससे नरकादि दुर्गतियों के दुःख को सहन करना पड़ता है । ये प्रत्येक महा अनर्थ ही हैं। कहा है कि :-

अणवट्ठियं मणो जस्स, झायइ बहु आइं अट्ठमट्टाइं ।
तं चिंतिअं च न लहइ, संचिणइ अ पावकम्माइं ॥१॥

वयकाय विरहि आणवि, कम्माणं चित्त मित्त विहिआणं।
अइघोरं होइ फलं, तंदुल मच्छुव्व जीवणं ॥२॥

अर्थात्- "जिसका अनवस्थित-अस्थिर मन बहुत अंट-संट, आर्त-रौद्र चिन्तन करता है, उस जीव को उसके चिन्तन करने से कुछ मिलता नहीं है, परन्तु पापकर्म का बन्धन करता है॥१॥ जीव को तंदुलीया मच्छ के समान वचन योग और काया योग से बोले बिना या प्रवत्ति किए बिना केवल चित्त में दुर्ध्यान करने मात्र से ही कर्मों का बंधन होता है और उसको अति भयंकर फल भोगने पड़ते हैं ॥२॥

समुद्र में स्वयंभूरमण हजार योजन के शरीर वाली बड़ी मछली होती है, उसकी बरौनी में छोटा मच्छ होता है वह तंदुलिया मच्छ कहलाता है। जब उस मोटे मच्छ के दाँतों के बीच खाली भाग में कितने अन्य जलचर जीव समुद्र के पानी की तरंग के साथ में मुख में प्रवेश करते हैं और फिर पानी के साथ बाहर निकलते हैं। तब तंदुलिया मच्छ उसे देखकर चिन्तन करता है कि 'मुख में आये भक्ष्य को यह क्यों छोड़ रहा है? मैं तो एक को भी जीते नहीं जाने देता, सब को मारकर भक्षण कर जाता, इतने मात्र पाप के ध्यान से उसे सातवें नरक में उत्पन्न होने का कर्मबन्धन होता है।

इसलिए मन को सर्वथा रोकना चाहिए। वह अशक्य होने से ऐसा दुर्ध्यान क्षणमात्र भी हो जाय तब तत्काल मन का निग्रह करके अर्थात् अन्य अच्छे विचारों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में जोड़ लगाकर दुर्ध्यान का त्याग करना चाहिए। मनोनिग्रह भावना में बहुत ही सुन्दर कहा है कि–

साहूण सावगाण य, धम्मो जो कोइ वित्थरो भणिओ ।
सो मण निग्गह सारो, जं फल सिद्धो तओ भणिआ ।।१।।

अर्थात्– ''साधु अथवा श्रावक के धर्म के विषय शास्त्र में जो कुछ विस्तार से कहा है, उसका सार यह है कि मन का निग्रह करना है क्योंकि मन का निग्रह करने से ही इष्ट फल की सिद्धि कहा है।''

मन को रोकने से चारों ओर से कर्मों के आगमन रुक जाते हैं। नहीं तो चंचल मन अनेक अशुभ कर्मों को आने का न्योता दे देता है। इसलिए मन को दुर्ध्यान से रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।

अनर्थ दण्ड के पापों का उपदेश और हिंसक साधनों का दान– ये दोनों भी पुत्र स्वजन आदि के विषय में वह कहे बिना गृहस्थ जीवन का निर्वाह दु:शक्य होने से उनके सम्बन्ध में त्याग करना मुश्किल है। परन्तु उनके सिवाय अन्य को तो पाप कार्य में प्रेरणा करना अथवा हिंसक सामग्री देना अनेक प्रकार से अनर्थ का कारण है ही। लौकिक शास्त्र में भी कहा है कि :–

न ग्राह्याणि न देयानि, पञ्चद्रव्याणि पण्डिते: ।
अग्निर्विषं तथा शस्त्रं, मद्यं मासं च पञ्चमम् ।।१।।

अर्थात् – 'पण्डित पुरुषों को अग्नि, जहर, शस्त्र, मदिरा और माँस ये चारों किसी के पास से लेना नहीं, किसी को देना भी नहीं।''

प्रमादाचरण में भी अजयणादि से निरर्थक हिंसादि पाप हो जाते हैं। वह कहते है कि :–

तुल्ले वि उअरभरणे, मूढअमूढाण अंतरं पिच्छ ।
ए गाण नरयदुक्खं, अन्नेसिं सासयं सुक्खं ।।१।।

अर्थात्– ''मूढ़ और विवेकी पुरुष में अंतर तो देखो – दोनों की पेट भरने की प्रवृत्ति समान होती है फिर भी मूढ़ात्मा को उससे नरक का दु:ख भोगना पड़ता है, और विवेकी को वह प्रवृत्ति होने पर भी मोक्ष का सुख मिलता है।'' अत: जयणा के बिना प्रत्येक प्रवृत्ति अनर्थ दण्ड रूप है। इसलिए श्रावक को सम्पूर्ण शक्ति की प्राप्त कर सर्वव्यवहार में दयापूर्वक जयणा की रक्षा के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उपदेश पद में कहा है कि –

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जयणा य धम्म जणणी, जयणा धम्मस पालणी चेव ।
तव्वुड्ढि करी जयणा, एगवं सुहावहा जयणा ।।७६६।।

अर्थात्- "जयणा धर्म को जन्म देने वाली माता है क्योंकि जयणा वाले जीव को दया की रक्षा से आत्मा में अहिंसा रूप धर्म प्रगट होता है। धर्म को पुत्र के समान पालन करने वाली भी जयणा है क्योंकि जयणा के बिना दया की और दया के बिना अहिंसा की रक्षा नहीं होती। माता जैसे पुत्र को बड़ा करती है वैसे जयणा अहिंसा रूपी पुत्र की वृद्धि करने वाली है। जयणा वाला मनुष्य ही उत्तरोत्तर दृढ़ धर्मी बनता है। इस तरह अहिंसा धर्म की माता रूप जयणा ही एकान्त से सुख को देने वाली है।" इससे विपरीत निरर्थक पाप करने में कर्मों का बन्धन अधिक होता है, इसलिए कहा है कि :-

अट्ठेण तं न बंधइ, जमणट्ठेणं तु थेव बहुभावा ।
अट्ठे कालाईआ, निआमगा नउ अणट्ठाए ।।१।।

अर्थात्- "प्रयोजन के द्वारा किये पाप से उस प्रयोजन के प्रमाण- मर्यादा वाला होने से उतना कर्म बन्धन नहीं होता जितना कि निष्प्रयोजन किये पाप से कर्म बन्धन होता है, क्योंकि निष्प्रयोजनता के प्रमाण का अन्त नहीं होता। सप्रयोजन कार्य में तो अमुक ही काल में, अमुक ही स्थान पर, अमुक ही प्रमाण में आदि मर्यादायें होती हैं, जबकि निष्प्रयोजन पाप में उसे रोकने के लिए काल क्षेत्र आदि किसी की मर्यादा नहीं होती, अतः उस पाप का अन्त ही नहीं होता, निरर्थक पाप करने वाला जहाँ-तहाँ किसी भी समय पाप क्रिया ही करता है।" इसलिए आत्मार्थी को इन चारों प्रकार के अनर्थ दंड का त्याग करना चाहिए। इस तरह छत्तीसवीं गाथा का अर्थ पूर्ण हुआ।

इस प्रकार यहाँ तक पाँच अणु व्रत और तीन गुण व्रतों का वर्णन किया। अब चार शिक्षा व्रतों के स्वरूप को कहा जाता है। उसमें शिक्षा अर्थात् अभ्यास करना- बारम्बार परिशीलन करना है। इस शिक्षा-अभ्यास के लिए स्थान अथवा साधन- उपाय शिक्षा पद कहलाता है। इस शिक्षा पद को ही शिक्षा व्रत समझना। ये व्रत चार हैं। प्रथम सामायिक, दूसरा देशावकाशिक, तीसरा पौषधोपवास और चौथा अतिथि संविभाग। ये चारों व्रत अमुक मर्यादित काल के होते हैं और गुण व्रत तो यावत् जीवन तक होता है। आवश्यक वृत्ती में कहा है कि :-

"सामायिक-देशावकाशिके प्रतिदिवसानुष्ठे ये पुनः पुनः रूच्याणीये। पौषधोपवासाऽतिथिसंविभागौ तु प्रतिनियत दिवसानुष्ठे यौ न

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रतिदिवसाचरणीयौ।'' अर्थात् इसमें भी सामायिक और देशावकाशिक तो प्रतिदिन में भी एक या अधिक कर सकते हैं, और पौषधोपवास तथा अतिथि संविभाग हमेशा नहीं होता, अमुक दिन-तिथि वार में कर सकता है। ऐसा आवश्यक के छठे अध्ययन की टीका में विवेक किया है। उसमें अब प्रथम शिक्षा पद - व्रत का स्वरूप कहते हैं:-

सावधकर्म मुक्तस्य, दुर्ध्यान रहितस्य च ।
समभावो मुहूर्त्तं तद् , व्रतं सामायिकाह्वयम ।।३७।।

अर्थ - सावध अर्थात् पापकारी व्यापार से मुक्त और दुर्ध्यान से रहित आत्मा का जो मुहूर्त-दो घड़ी तक समता भाव में रहना है उसे सामायिक नाम का व्रत कहते हैं।

भावार्थ- सावध अर्थात् वचन से असत्यादि भाषण और काया से अशुभ हिंसादि प्रवृत्ति- इन दोनों से जो रहित हो ऐसी आत्मा को एक मुहूर्त-दो घड़ी- अड़तालीस मिनट तक 'समता भाव रखना' अर्थात् राग, द्वेष आदि के निमित्त होने पर भी राग, द्वेष नहीं करना अर्थात् समभाव में रहना है, वह सामायिक व्रत समझना। इससे यह निश्चय हुआ कि मन, वचन और काया की दुष्ट प्रवृत्तियों के त्याग बिना जीव में सामायिक प्रगट नहीं होता है। श्री शास्त्रकारों ने 'सामायिक' शब्द की व्युत्पत्ति की है कि :-'**सम+आय=समाय**' यहाँ '**सम**' अर्थात् राग द्वेष के समय में भी समता वाले जीव को जो ज्ञान आदि गुणों की '**आय**' अर्थात् लाभ हो वह '**समाय**' कहलाती है। दूसरे रूप से मोक्ष साधन में '**सम**' अर्थात् समान रूप से सामर्थ्य धारण करने वाला ऐसा सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुणों की जो '**आय**' अर्थात् लाभ है वह '**समाय**' है। व्याकरण के नियम के अनुसार समाय में इकण् प्रत्यय लगकर सामायिक रूप बना है। यह सामायिक मन, वचन और काया की सदोष चेष्टा-व्यापार का त्याग किए बिना नहीं हो सकती अथवा समाय -समता के लाभ के लिए जो अनुष्ठान किया जाता है वह सामायिक का अर्थ है। आवश्यक निर्युक्ति में कहा भी है कि :-

जो समो सव्व भूएसु, तसेसु थावरेसुअ ।
तस्स सामाइअं होइ, इह केवलि भासिअं ।।७६८।।

अर्थात् - ''त्रस और स्थावर; इन सब जीवों को जो अपनी आत्मा के समान मानता है उस जीव की सामायिक होती है। इसके बिना सामायिक नहीं होती -ऐसा केवली भगवन्त का वचन है।'' सामायिक में रहा हुआ गृहस्थ श्रावक भी साधु के समान होता है। कहा है कि :-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सामाइयं मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं बहुसो सामाइअं कुज्जा ।।

अर्थात् - '' सामायिक कर लेने पर श्रावक साधु जैसा बन जाता है, इस कारण से श्रावक को अनेक बार सामायिक करना चाहिए ।''

यह श्लोक आवश्यक मूल अध्याय ६/गाथा २०, आवश्यक निर्युक्ति गाथा ८०१, विशेषावश्यक भाष्य गाथा २६६० आदि में आया है। इसी कारण से जब श्रावक सामायिक में हो तब उसको द्रव्य से देव पूजन आदि का अधिकार नहीं है।

सामायिक में सावध व्यापार का त्याग किया जाता है और निरवध व्यापार को स्वीकार किया जाता है। वस्तुतः भाव क्रिया के लिए द्रव्य क्रिया की जाती है, आत्मा को सामायिक रूप भाव क्रिया प्राप्त होने के बाद द्रव्य क्रिया करने का क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कोई आवश्यक नहीं है। श्री आवश्यक भाष्य में कहा है कि:-

दव्वथओ भावथओ, दव्वथओ बहुगुणो त्ति बुद्धि सिआ ।
अणिउण जण वयण मिणं, छज्जीव हिअं जिणा बिंति ।।१६२।।

अर्थात् - ''द्रव्य स्तव और भाव स्तव इन दोनों में द्रव्य स्तव बहुत गुणकारी है- यह अज्ञानी मनुष्य के वचन हैं। ऐसा षडजीव निकायों के हितैषी श्री जिनेश्वर भगवान ने कहा है। अतः उन्होंने भाव स्तव को मुख्य माना है ।

आवश्यक सूत्र सामायिक अधिकार में कहा है कि ''**सामाइयं नाम सावज्जोग परिवज्जणं निरवज्ज जोग पडिसेवणं च**'' अर्थात् 'सामायिक का अर्थ होता है पाप व्यापार का परिवर्जन -त्याग और निष्पाप व्यापार का प्रतिसेवन करना।' इस सामायिक का विधान आवश्यक चूर्णि प. २६६, आवश्यक हरिभद्र वृत्ति प. ८३२, पंचाशक चूर्णि गाथा २५-६ तथा योगशास्त्र ३-८२ टीका आदि में इसी तरह कहा है ।

सामायिक करने वाले श्रावक दो प्रकार के होते हैं-ऋद्धि सहित और ऋद्धि रहित अर्थात् महार्द्धिक धनवाले की और स्वल्प धनवाले की । उसमें स्वल्प धनवान की चार जगह पर सामायिक की जाती है- १. श्री जिन मंदिर जहाँ मंदिर के बाहर धर्म क्रिया के लिए स्थान हो वहाँ सभा मंडप, २. जिस बस्ती या स्थान में साधु, मुनिराज विराजमान हो वहाँ साधु के पास, ३. पौषधशाला-संघ का उपाश्रय या धर्मशाला और ४. अपने घर में शान्त, एकान्त अथवा व्यापार रहित स्थान में सामायिक लेना चाहिए ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उसमें साधु के पास जाकर सामायिक करने वाले को किसी बैरी, शत्रु आदि का भय न हो, किसी के साथ विवाद या कलह न हो या किसी का कर्जदार न हो, किसी निमित्त पर बोलाचाली, खींचातानी या चित्त में संक्लेश नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसी स्थिति वाले श्रावक को साधु के पास जाते हुए मार्ग में लेनदार आदि की ओर से उपद्रव-क्लेश आदि हो सकता है। इसलिए उपद्रव होने के कारण वह अपने घर पर भी सामायिक ग्रहण करके साधु के समान ईर्या समिति का शोधन करता हुआ, सावध भाषा का त्याग करता हुआ, लकड़ी, मिट्टी, पत्थर आदि किसी वस्तु की आवश्यकता हो तो उसके मालिक की आज्ञा लेकर, आँख से भली भाँति देखकर, प्रति लेखना करके और प्रमार्जनिका से प्रमार्जन करके ग्रहण करे, थूक, कफ, नाक का मैल व लघुनीति आदि का यतना पूर्वक जीव रहित भूमि पर त्याग करे, त्याग करने के पहले जमीन का भी प्रमार्जन करे तथा भूमि के मालिक की आज्ञा लेकर और कोई मालिक न हो तो **"अणुजाणह जस्सग्गहो।"** कहकर वहाँ विवेकपूर्वक बैठे। इस तरह यतनापूर्वक पाँच समिति, तीन गुप्ति का पालन करे। जहाँ साधु हो वहाँ जाकर उनको नमस्कार वंदन आदि करके सामायिक व्रत उच्चारण करे। उसका सूत्र इस प्रकार है:-

सामायिक सूत्र- करेमि भंते! सामाइअं सावज्जं जोग पच्चक्खामि, जाव साहू पज्जु वासामि, दुविहं तिविहेणं मणेणंवायाए काएणं न करेमि न कारवेमि तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि" त्ति (आव०)

यहाँ सामायिक का अर्थ बताते हैं- **'करेमि'** अर्थात् मैं स्वीकार करता हूँ। **'भन्ते!'** यह गुरु महाराज को आमंत्रण है- 'हे भदंत!' 'भदंत' का अर्थ सुख वाले और कल्याण वाले होता है। **भदुङ्सुख कल्याणयो:** अर्थात् भदुङ् धातु सुख और कल्याण के अर्थ में है। इसके अन्त में 'ओ दिक्' सूत्र से 'अन्त' प्रत्यय लगने से भदन्त रूप बना। इस सम्बोधन से प्रत्यक्ष गुरु का आमंत्रण होता है। जैनागमों में बतलाया है कि प्रत्यक्ष गुरु, तथा गुरु के अभाव में परोक्ष गुरु के लिए भी अपनी बुद्धि से अपने सामने प्रत्यक्ष के समान कल्पना की जाती है। श्री जिनेश्वर देव के अभाव में जिन प्रतिमा में जिनत्व का आरोप कर जैसे स्तुति पूजा संबोधन आदि होते हैं, वैसे ही गुरु के साक्षात् अभाव में मन में उनकी कल्पना करके, अपने सामने मानो प्रत्यक्ष गुरु ही विराजमान हों इस तरह की स्थापना करके साधक को सभी धर्म क्रियाएं आदर पूर्वक करनी चाहिएं। वे ही क्रिया सफल होती हैं। अत: इसे बताने के लिए ही 'भंते' शब्द का आमंत्रण अर्थ में प्रयोग किया है। अत: विशेषावश्यक भाष्य में कहा है कि:-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते अ ।
धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं न मुंचंति ।।३४५६।।

अर्थात्- 'जो आत्मा गुरुकुल वास में रहता है वह ज्ञान का पात्र बनता है और दर्शन तथा चारित्र में अति स्थिर हो जाता है इसलिए भाग्यशाली उत्तम आत्मा जीवन भर गुरुकुलवास (गुरु का सानिध्य - गुरु निश्राय) अथवा समुदाय की निश्रा नहीं छोड़ते है ।'

अथवा 'भन्ते' पद पूर्व महर्षियों द्वारा कहा हुआ होने से प्राकृत व्याकरण के नियमानुसार '**आर्षणा**' सूत्र के आधार पर 'भवान्त' पद के बीच के वर्ण 'वा' का लोप होकर '**अत एत्सो पुंसि मागध्याम्**' ८/४/२८७ इस सूत्र में अर्धमागधी के नियमानुसार प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकार का एकार हो जाता है । इस प्रकार भवान्त शब्द का भी प्राकृत में 'भन्ते' रूप हो सकता है । इस दृष्टि से इसका दूसरा अर्थ हुआ 'भन्ते' यानी 'भवान्त' अर्थात् संसार से उतरने और उतारने वाले ।' 'सामायिक' का अर्थ पहले कहा जा चुका है अर्थात् साधक संकल्प करता है कि- 'मैं आत्मा को समभाव में स्थिर करता हूँ ।' आत्मा समभाव में स्थिर कैसे होगा ? इसके लिए आगे का संकल्प है- '**सावज्जं जोग पच्चक्खामि**'- **सावध** अर्थात् पाप युक्त जो योग मन वचन और काय का पाप प्रवृति रूप व्यापार है उसका **पच्चक्खामि** अर्थात् त्याग करता हूँ । साधक यहाँ सावध प्रवृत्ति के विरुद्ध निर्णय करता है अथवा उसे नहीं करने का आदर पूर्वक निर्णय करता है । वह कब तक? उसका नियम आगे कहते हैं - "**जाव साहू पज्जुवा सामि**" अर्थात् जब तक साधु की पर्युपासना करता हूँ तब तक साामायिक करूँगा। (अपने घर में सामायिक लेकर साधु के स्थान में गये श्रावक को वहाँ गुरु विनय के लिए पुनः सामायिक लेना चाहिए तब शेष समय गुरुदेव की निश्रा पूर्ण करने के उद्देश्य से 'साधु की सेवा में रहे तब तक' इस तरह समय की मर्यादा के लिए '**जाव साहु**' बोले । इस आवश्यक चूर्णि में यह समझाया है) ।

यहाँ जो '**जाव**' अर्थात् यावत् शब्द है उसके तीन अर्थ होते हैं- (१) परिमाण, (२) मर्यादा और (३) अवधारणा । **परिमाण** का अर्थ है जहाँ तक साधु की पर्युपासना - सेवा करे उतने समय तक पापमय व्यापार का त्याग करना। **मर्यादा** का अर्थ है - साधु की पर्युपासना (सेवा) प्रारंभ करने से पहले अथवा सामायिक लेने से पहले से पाप व्यापार का त्याग करना और **अवधारणा** का अर्थ है - साधु की पर्युपासना करे वहाँ तक के लिए ही पाप व्यापार को छोड़ना, उसके

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बाद नहीं। इस तरह **'जाव'** शब्द के तीन अर्थ समझना। परन्तु आजकल **'जाव नियम'** बोला जाता है। इससे सामायिक का परिमाण वर्तमान काल में कम से कम एक मुहूर्त्त- दो घड़ी - ४८ मिनट का माना जाता है। अतः फलितार्थ यह हुआ कि सामायिक के प्रारंभ से लेकर पूर्ण होने तक ही सावधध-सदोष व्यापार-प्रवृत्ति का त्याग करना, उसके बाद नहीं।

साधक उस पाप व्यापार का किस रूप में त्याग करता है ? उसके लिए आगे का पाठ बताते हैं - **'दुविहं तिविहेणं'** इसका अर्थ है - साधक को सामायिक में दो प्रकार से और तीन प्रकार से होने वाले पाप व्यापार का त्याग करना है। जहाँ पाप व्यापार का द्विविध त्याग किया जाता है, वहाँ दो कारण से समझना चाहिए। जैसे - **'न करेमि न कारवेमि'** अर्थात् 'मैं स्वयं पाप व्यापार नहीं करूँगा और न दूसरे से कराऊँगा।' इस तरह सामायिक में इन दोनों प्रकारों से होने वाले पाप व्यापार का गृहस्थ श्रावक त्याग करता है। अनुमोदन रूपी पाप व्यापार का निषेध नहीं है, क्योंकि वैसा करना गृहस्थ के लिए अशक्य है। पुत्र नौकर आदि द्वारा किए गये कार्य में स्वयं नहीं करने पर भी अनुमोदना का दोष लगता है। अब **तिविहेण** - 'तीन प्रकार से' का अर्थ समझिये। यहाँ करण में तृतीया विभक्ति है। यानी सावध प्रवृत्ति के लिए तीन साधन हैं - मन, वचन और काया। इन्हें जैन आगम में तीन योग कहा गया है। इसलिए कहा है- **''मणेणं वायाए कायाणं''** अर्थात् मन वचन और काया से- इन तीनों योगों से सावध व्यापार का त्याग करता हूँ।

प्रश्न -सूत्र में तो पहले **'दुविह'** शब्द से पाप के दो भेद कहकर फिर **'तिविहेण'** शब्द से तीन साधना कही हैं - इस क्रम से **'न करेमि न कारवेमि मणेणं वायाए काएणं'** इस तरह पाठ होना चाहिए। क्योंकि - **'व्याख्या यथोद्देशं निर्देश'** अर्थात् प्रतिज्ञात क्रम से करना चाहिए। तो यहाँ उलटा क्रम क्यों रखा ? इसका उत्तर - पाप में साधनों की प्रधानता होने से उसे पहले और पाप व्यापार की गौणता होने से उसे पीछे कहा है। वस्तुतः प्रवृत्ति साधनों के आधीन है। साधन हो तो प्रवृत्ति होती है, न हो तो नहीं होती। यहाँ **'मणेणं वायाए कायाणं'** कहकर मन, वचन और काया द्वारा - **'न करेमि न कारवेमि'** - नहीं करना - नहीं करवाना ऐसा कह कर मन वचन और काया की पाप व्यापार में मुख्यता है, पाप व्यापार उस योग के आधीन है। इस तरह बताने के लिए यह उत्क्रम रखा है।

अब आगे **'तस्सेति'** शब्द है। यहाँ पर तस्स अधिकृत योग से सम्बन्धित है। यहाँ अययव की भाव रूप सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति है। यह योग त्रिकाल विषयक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होता है । अतः इसके पहले अतीत में जो सावध व्यापार किया था उसे **'पडिक्कमामि'** अर्थात् उस पाप कर्म से पीछे हटता हूँ । **'निदामि गरिहामि'** अर्थात् उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा या गुरु की साक्षी में प्रकट करता हूँ । इससे केवल आत्म-साक्षी से की गई निन्दा है और गुरु साक्षी में अपने आप को धिक्कारना गर्हा है । **तस्स भंते** इस सूत्र में **'भंते'** शब्द फिर आया है, वह अत्यन्त भक्ति को बताने के लिए व गुरु का पुनः आमंत्रण करने के लिए है । इसलिए पुनरुक्ति दोष जैसा नहीं है, अथवा सामायिक क्रिया के प्रत्यर्पण के लिए पुनः गुरु को सम्बोधित किया गया है । इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त क्रियाओं के अन्त में गुरु के प्रति भक्ति प्रदर्शित करनी चाहिए । विशेषावश्यक भाष्यकार श्री जिनभद्रगणि श्रमाश्रमण ने कहा है:-

सामाइअ पच्चप्पण वयणो वाऽयं भयंत सद्दोऽवि ।
सव्व किरिआ वसाणे, भणियं पच्चप्पण भणेण ॥३५७१॥

अर्थात्- "अथवा भदंत या भन्ते ! शब्द सामायिक के प्रत्यर्पण का भी वाचक है, यह जानकर सभी क्रियाओं के अन्त में प्रत्यर्पण करना चाहिए ।"

यहाँ प्रत्यर्पण एक विनय रूप समझना । कोई भी काम करने को गुरुजन के समक्ष स्वीकार करके फिर उसे पूर्ण करना जैसे - 'आप श्री की आज्ञा अनुसार मैं यह कार्य करूँ' ऐसा कहना उत्तम विनय रूप है । इसे ही यहाँ प्रत्यर्पण कहा गया है । शास्त्र में स्थान-स्थान पर ऐसा प्रत्यर्पण देखने को मिलता है ।

तथा **'अप्पाणं'** अर्थात् मेरी आत्मा ने भूतकाल में जो पाप व्यापार किया है उसका **'वोसिरामी'** अर्थात् मैं विशेष रूप में त्याग करता हूँ । यहाँ सामायिक करने के समय में आत्मा के पाप युक्त पूर्व पर्याय का त्याग और ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप त्रय रत्नमय नये पर्याय की उत्पत्ति होने से, वह पूर्व पर्यायी आत्मा को छोड़ता है ऐसा कह सकते हैं । क्योंकि पर्याय = क्रमशः प्रगट होती आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्था हैं और पर्यायी = उन अवस्थाओं का आधार आत्मा । यह पर्याय और पर्यायी दोनों अपेक्षा से अभिन्न होने से 'मेरी आत्मा को मैं छोड़ता हूँ' या 'मैं नया उत्पन्न हुआ हूँ' ऐसा कहना असत्य रूप नहीं है, ऐसा व्यवहार में भी बोला जाता है । श्री आचारांग सूत्र में कहा है कि - **"आया खलु सामाइअं"** अर्थात् 'आत्मा ही सामायिक है ।'

कहने का मतलब यह है कि - जैसे सामायिक आत्मा का एक पर्याय है और इस पर्याय से आत्मा कथंचित् अभिन्न है, ऐसा मानकर वहाँ आत्मा को सामायिक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहा है । वैसे यहाँ भी अपेक्षा से पर्याय को अभेद मानकर 'मैं अपने उस आत्मा को वोसराता (त्याग करता) हूँ ।' ऐसा कहा है । इसमें तात्पर्य यह है कि मैं अपने पूर्व के उस पापी पर्याय को वोसराता-त्याग करता हूँ ।

प्रस्तुत सामायिक सूत्र से तीन काल विषयक पाप व्यापार का त्याग होता है। वह बतलाते हैं **'करेमि भंते सामाइयं'** यह पाठ वर्तमान काल के पाप व्यापार के त्याग के लिए है । **'तस्स भंते पडिक्कमामि'** यह पाठ भूत काल के पाप व्यापार के त्यागने के लिए है तथा **'पच्चक्खामि'** यह पाठ भविष्य काल के पाप व्यापार के त्याग के लिए उपयोग किया है । इस तरह सामायिक में साधक को तीनों काल के पाप व्यापार का त्याग करना होता है । इसलिए तीनों वाक्यों के प्रयोग से पुनरुक्ति दोष प्रतीत नहीं होता । और कहा भी है – **''अईअं निंदामि, पडुप्पन्नं संवरेमि, अणागयं पच्चक्खामि''** (पाक्षिक-सूत्रे) अर्थात् - भूतकाल के पाप की निंदा करता हूँ, वर्तमान काल के लिए उसका संवर (निरोध) करता हूँ और भविष्य काल के लिए पाप व्यापार का त्याग करता हूँ । इस प्रकार से साधक नियम करता है ।

यहाँ यद्यपि सामायिक सूत्र में काल का नियम सामान्य रूप से है । 'अमुक समय तक' ऐसा स्पष्ट बताया नहीं है, फिर भी यह सामान्य वचन दो घड़ी की विवक्षा रूप होने से और वृद्ध परम्परा भी दो घड़ी की होने से सामायिक को कम से कम भी एक मुहूर्त्त- ४८ मिनट का काल समझना । इसलिए वंदित्ता सूत्र की चूर्णि में कहा है कि – **''जाव नियमं पज्जुवासामि त्ति जेंइवि सामान्न वयणमे अं, तहावि जहन्न ओवि अंतो मुहूत्तं नियमेण ठायव्वं परओऽवि समाहीए ठायव्वमिति ।** ' अर्थात् 'जाव नियम पज्जुवासामि' यह पाठ यद्यपि सामान्य वचन रूप है, फिर भी कम से कम अंतर्मुहूर्त्त है । यहाँ जघन्य से अंतर्मुहूर्त्त काल कहा है फिर भी अर्थापत्ति से वह दो घड़ी समझना । आचार्य श्री हरिभद्र सूरी जी कृत सम्बोध प्रकरण में दो घड़ी का काल स्पष्ट कहा है, वह आगे कहेंगे । निश्चय से सामायिक में रहना । उसके बाद भी चित्त समाधि में रहे तब तक सामायिक में अधिक रहना ।

इस तरह से अपने घर में या अन्य स्थान पर सामायिक लेकर श्रावक गुरु महाराज के पास पुनः सामायिक लेकर इरियावही प्रतिक्रमण करे (तपागच्छ की समाचारी के अनुसार प्रथम इरियावही प्रतिक्रमण कर फिर सामायिक लेना चाहिए। इसके समर्थन में पूज्य उपाध्याय श्री धर्म सागर कृत 'इरिया पथिकी षट्त्रिंशिका' आदि प्रकरणों में अनेक युक्तियां कही हैं, वहाँ से देख लेना । यहाँ वह विधि घर में सामायिक लेकर आये श्रावक को पुनः सामायिक लेने के लिए कहा है । बाद

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में गमना-गमन से हुए पापदोष की आलोचना लेकर यथाक्रम से विराजमान आचार्य भगवन्त आदि सब मुनिराजों को वन्दन करे और गुरु महाराज को वंदन करके आसन (कटासन) आदि की प्रतिलेखना कर बैठे। तत्पश्चात् गुरु महाराज से धर्म श्रवण करे तथा नया अध्ययन करे, या धर्म सम्बन्धी जहाँ प्रश्न हो वह पूछे। इस प्रकार जहाँ स्थानीय जिन मन्दिर या व्याख्यान स्थल हो वहाँ यह विधि समझना। परन्तु अपने घर पर या जिन मन्दिर, व्याख्यान हाल या उपाश्रय में सामायिक ले ली हो तो वह फिर वहीं रहे, फिर उसे अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं है। यह सामान्य श्रावक की विधि कही है।

अब राजा मन्त्री नगर सेठ आदि महर्द्धिक श्रावक की विधि कहते हैं – कोई श्रावक राजा आदि हो और वह हाथी आदि उत्तम सवारी में बैठकर, छत्र-चामर आदि राजचिह्नों से एवं अलंकारों से सुसज्जित होकर हाथी, घोड़े, रथ और पैदल चतुरंग सेना सहित भेरी आदि उत्तम वाद्यों से आकाश मण्डल को गुंजाता हुआ, भाटों और चारणों के प्रशंसा गीतों के कोलाहल से स्थानीय जनता में उत्सुकता पैदा करता हुआ, अनेक सामन्त एवं मण्डलेश्वर राजाओं की स्पर्धा पूर्वक आडम्बर के साथ मुनि भगवन्त के दर्शनार्थ जा रहा हो तो लोग उसकी ओर हाथ की उंगली उठाकर कहेंगे- 'यह महानुभाव श्रद्धालु धर्मात्मा है।' इस तरह लोग परस्पर उसका परिचय देंगे। राजा या वैभवशाली व्यक्ति को मुनि दर्शन के लिए जाते श्रद्धातुर देखकर अन्य लोगों के मन में भी धर्म की भावना उमड़ती है। वे भी सोचते हैं - हम भी कब इस तरह धर्म करेंगे ? अतः साधर्मीजन उक्त धर्म श्रद्धालु राजा को हाथ जोड़कर प्रणाम करें, अक्षत आदि उछालें। उन लोगों के नमस्कार के प्रत्युत्तर में राजा स्वयं भी धर्म की अनुमोदना करे - धन्य है इस धर्म को ! जिसकी ऐसी महान आत्मा सेवा करते हैं। इस प्रकार सर्व साधारण द्वारा धर्म की प्रशंसा करवाते हुए राजा अथवा महर्द्धिक व्यक्ति अपने स्थान से सामायिक किए बिना ही जिन मन्दिर या साधु-साध्वी का जहां निवास स्थान हो उस उपाश्रय में जाय। वहाँ छत्र, चामर, मुकुट, तलवार और जूते आदि राज चिन्हों को उतारे।

श्री आवश्यक चूर्णि में कहा है कि "**मउडं न अवणेइ, कुंडलाणि णाम मुद्दं पुष्फ तम्बोल पावार गमादि वोसिर इति।**" अर्थात् 'कुंडल, अपने नाम वाली अंगूठी, कलगी, हार, पुष्प, तम्बोल-पान, प्रावरण-चादर-उत्तरीय वस्त्र-दुपट्टा जो भी हो उसका त्याग करे, परन्तु मुकुट को नहीं उतारे' इस तरह विनय करके जिन मंदिर आये तो प्रथम श्री जिन पूजा करे और साधु के स्थान पर आये तो साधुओं को

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वंदन करे । अगर राजा आदि पुण्यशाली अपने घर से सामायिक लेकर उस स्थान में जायेगा तो हाथी घोड़े आदि सवारी पाप का कारणभूत होने से सामायिक में उसका उपयोग नहीं होता । इससे आडम्बर उचित नहीं हो सकता । मान लो सामायिक करके राजा पैदल चलकर जाये, वह भी अनुचित है । यदि चुपचाप ऐसे ही सामान्य वेश में या सामान्य जन की तरह श्रावक राजा जायेगा तो कोई खड़ा होकर उसका सत्कार नहीं करेगा । इसलिए पूर्व में कहे अनुसार आडम्बर पूर्वक साधु के उपाश्रय में जाय और फिर सामायिक लेना चाहिए ।

अब उपाश्रय में आने के बाद की विधि कहते हैं - यदि आने वाला राजा आदि श्रावक परिपक्व अवस्था वाला है तथा वह साधु के आचार को जानने वाला है तो किसी भी साधु को खड़े होकर सत्कार करने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु यदि वह राजा यथा भद्रक अर्थात् प्रथम आदि गुण स्थानक में स्थित, साधु के आचार को नहीं जानने वाला और अभावित-सरल परिणामी हो तो 'साधु अविनयी नहीं है-औचित्य को जानने वाले हैं' ऐसा समझाने के लिए उसके आने के पहले ही साधु आसन छोड़ दे और आचार्य देव आदि मुख्य हों, तो वे भी उसके आने के पहले ही अपने आसन से उठकर वहीं घूमते रहे, ताकि राजा के आने पर खड़े नहीं होना पड़े । यदि ऐसा न करें और बैठे ही रहें तो आने वाले 'साधु-अविनयी हैं, ऐसा समझेंगे और आने के बाद उसके देखते ही खड़े हों तो आने वाले का विनय किया गिना जायेगा, वह भी उचित नहीं है । क्योंकि - साधु को गृहस्थ का बाह्य प्रतिपत्ति रूप विनय करने का निषेध है । इससे साधु धर्म के गौरव का नाश होता है, दूसरी ओर गृहस्थ में अभिमान बढ़ने से वह गुरु के विनय को गवाँ देता है । इस कारण से भी साधु को गृहस्थ का विनय नहीं करना योग्य है । इस तरह दोनों तरफ से अनुचित होता है । अत: उसके आने के पहले उठकर घूमने लगे । इससे उस सम्बन्ध में उठने न उठने से कोई दोष नहीं लगता । यह केवल एक व्यवहार है । इस तरह साधु औचित्य का पालन करे । फिर राजा अथवा बुद्धिमान श्रावक को उस विधि से आदर पूर्वक सामायिक करना चाहिए ।

सामायिक में रहने से कर्मों की महा निर्जरा होती है और अन्य भी बहुत फल मिलते हैं सम्बोध प्रकरण श्राद्ध व्रताधिकार में कहा है कि:-

दिवसे दिवसे लक्खं, देइ सुवण्णस्स खंडियं एगो ।
इअरो पुण सामाइअं, करेइ न पहुप्पए तस्स ॥११३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सामाइअं कुणंतो, समभावं सावओ अ घडियदुगं ।
आउं सुरेसु बंधइ, इत्ति आमित्ताइं पलिआइं ॥११४॥

बाणवइ कोडीओ, लक्खा गुण सट्ठि सहस्स पण वीसं ।
नव सय पण वीसाए, सतिहा अडभाग पलि अस्स ॥११५॥

अर्थात्- 'एक मनुष्य हमेशा लाख लड़ी सोने का दान करे और दूसरा एक मनुष्य सामायिक करे तो भी दान देने वाला सामायिक करने वाले के बराबर नहीं पहुँचता । क्योंकि दान देने वाला नये पुण्य कर्म का उपार्जन करता है, जबकि सामायिक करने वाला पुण्यबंध के साथ में प्राचीन अशुभ कर्मों का भी नाश करता है । तत्त्व से तो कर्मों को खपाना ही तात्त्विक लाभ है ॥११३॥ दो घड़ी का सम परिणाम रूप सामायिक करते समय श्रावक कितने पल्योपम के देव लोक का आयुष्य बांधता हैं वह आगे श्लोक में पूज्य हरिभ्रद सूरीखर कहते हैं ॥११४॥ बयानवे करोड़, उनसठ लाख पच्चीस हजार नौ सौ पच्चीस और एक तृतीयांश सहित आठ नवमांश अर्थात् $९२५९२५९२५\frac{८}{९}+\frac{१}{३}$ पल्योपम का देव लोक का आयुष्य बन्धन करता है ॥११५॥ यह एक सामायिक का फल है । आगे और कहते हैं-

तिव्व तवं तव माणो, जं नवि निट्ठवइ जम्म कोडीहिं ।
तं सम भाविअ चित्तो, खवेइ कम्म खणद्धेणं ॥११६॥

जे केऽवि गया मोक्खं, जेऽविअ गच्छंति जे गमिस्संति ।
ते सव्वे सामाइअ माहप्पेणं मुणे अव्वा ॥११७॥

अर्थात्- समता रहित करोड़ों जन्मों तक तीव्र तप करने पर भी जितने कर्मों को खतम नहीं करता उन कर्मों को समता भाव पूर्वक भावित चित्तवाला आत्मा अर्द्ध क्षण- दो मिनट में खतम कर सकता है ॥११६॥ यदि कोई मोक्ष में गया है, जा रहे है और जायेंगे , वह सब सामायिक के प्रभाव से ही समझना ॥११७॥ इस विषय पर और कहते हैं कि:-

हूयते न तप्यते न, दीयते वा न किञ्चन ।
अहो ! अमूल्य क्रीतीयं, साम्य मात्रेण निर्वृत्तिः ॥१॥

अर्थात्- "अहो ! बड़े आश्चर्य की बात है कि यह सामायिक कोई अमूल्य खरीदने वाली वस्तु है । जिसमें कोई होम-हवन, त्याग, तप या दान देने के लिये नहीं होता, केवल चित्त में समभाव रखना है, इससे ही मोक्ष मिल सकता है ॥"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तरह से सामायिक नामक प्रथम शिक्षाव्रत कहा । अब दूसरे शिक्षा व्रत देशावकाशिक के सम्बन्ध में कहते हैं –

संक्षेपणं गृहीतस्य, परिमाणस्य दिग्व्रते ।
यत् स्वल्प कालं तद् ज्ञेयं, व्रतम् देशावकाशिकम् ॥३८॥

अर्थात्– छठे दिग्व्रत में गमन की जो मर्यादा की हो उसमें से भी अल्प काल के लिए संक्षेप करना देशावकाशिक नामक शिक्षा व्रत कहलाता है ।

व्याख्या – दिग्व्रत नामक प्रथम गुण व्रत में जावत्जीव के लिए, एकादि अमुक वर्ष के लिए या एकादि चार्तुमास के लिए दसों दिशाओं में जाने आने आदि के विषय में सौ योजन आदि की जो सीमा–मर्यादा निश्चित की है उसमें से भी पुनः कम करके घर, शयन गृह या बैठने आदि के स्थान की मर्यादा रख कर उसके बाहर नहीं जाना, ऐसा नियम एक मुहूर्त्त, प्रहर, दिन या दिन –रात भर के लिए आदि अमुक स्वल्प काल के लिए जो संक्षेप करना है उसे देशावकाशिक नामक शिक्षा व्रत कहा है । संबोध प्रकरण श्राद्ध व्रताधिकार में कहा है कि –

एगमुहूत्तं दिवसं, राइं पचाहमेव पक्खं वा ।
वयमहि धारेह दढं, जावइअं उच्छेह कालं ॥१२०॥

अर्थात्– ''एक मुहूर्त्त, दिन, रात, पाँच रात्रि दिन, एक पखवारा अथवा जितने काल तक भावना उत्साह बढ़ता रहे या पालन कर सके उतने काल का यह व्रत दृढ़तापूर्वक धारण करना चाहिए ।''

यहाँ देशावकाशिक शब्द का यह अर्थ है कि दिग् व्रत में निश्चित की हुअी बड़ी मर्यादा में से प्रमाण घटाकर अमुक प्रमाण रूप उसके एक प्रदेश संक्षेप में ही मर्यादा अर्थात् आत्मा की जितनी इच्छा हो उतनी मर्यादा में ही अवस्थान करना । उतने विभाग में जाना, आना, भेजना, मंगाना आदि कार्य करना । देश + अवकाश अर्थात् अमुक विभाग से अवकाश यानि छूट रखना, दूसरा सब त्याग करना– उसका नाम यह देशावकाश जानना। इसमें सिद्ध हेम व्याकरण के ७–२–६ सूत्र के नियम अनुसार **'ईक'** प्रत्यय लगने से 'देशावकाशिक' नाम समझना । प्रत्याख्यानावश्यक सूत्र ६० हरिभद्री वृत्ति में कहा है कि – **''दि सि वयगहि यस्स दिसा परिमाणस्स पईदिण परिमाण करणं देसावगासिअं त्ति''** अर्थात् – ''दिग् व्रत में ग्रहण करने में जो मर्यादा रखी हो उस दिशा के प्रमाण में हमेशा नया–नया कम प्रमाण करते जाना, उसे देशावकाशिक जानना ।'' यहाँ यद्यपि केवल दिग् व्रत के प्रमाण का ही

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संक्षेप बतलाया है। फिर भी उपलक्षण से अणु व्रत-गुण व्रत आदि सब व्रतों में अधिक खुला रखा है उसके आरंभ का संक्षेप करने रूप यह व्रत समझना। क्योंकि - जावत्जीव आदि काल के लिए ग्रहण किए उस व्रत में भी अवकाश रखा है, वह प्रतिदिन उपयोगी नहीं होती, इसलिए निरुपयोगी अधिक पाप आरंभ की उस छूट का संक्षेप करना आवश्यक ही है।

यहाँ दिग् व्रत में यदि उस प्रत्येक व्रत का अलग-अलग संक्षेप करने के लिए उस प्रत्येक का एक-एक व्रत रखा जाय तो व्रतों की संख्या बढ़ जाती है जिससे शास्त्रोक्त बतलाये श्रावक के व्रतों की बारह संख्या में विरोध पैदा हो जायेगा। इसीलिए ही सब व्रतों का संक्षेप रूप यह एक ही समझना चाहिये। इस हेतु से ही वर्तमान काल में भी श्रावक को इस व्रत की आराधना के लिए पूर्व में सातवें व्रत के अन्दर जो बता गये हैं, उन जावत्जीव के लिए ग्रहण किये चौदह नियमों का ही हमेशा सुबह को संक्षेप करना और शाम को फिर संक्षेप करना एवं अन्य पच्चक्खान के साथ में आखिर देशावकाशिक का पच्चक्खान भी गुरु महाराज के समक्ष अथवा वे न हों तो स्वयं करना चाहिए। इस तरह व्रत का पालन करना चाहिये। सम्बोध प्रकरण श्रावक व्रताधिकार में कहा है कि :-

देवावगासिअं पुण, दिसि परिमाणस्स निच्च संखेवो ।
अहवा सव्वावयाणं, संखे वो पइदिणं जो उ ॥१२२॥

अर्थात् "दिशि परिमाण व्रत का अथवा सर्व व्रतों का प्रतिदिन संक्षेप करना, उसे देशावकाशिक व्रत कहते हैं।" निद्रा आदि के प्रसंग पर तो सर्व व्रतों का विशेष रूप में संक्षेप करना चाहिए। तब इस व्रत को 'गंठी सहित' आदि संकेत पूर्वक स्वीकार करना चाहिए। श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि:-

पाणि वहमुसादत्तं, मेहुण दिणलाभणत्थ दंड च ।
अंगीकयं च मुत्तुं सव्वं उपभोग परिभोगं ॥३००॥

गिहिमज्झं मुत्तणं, दिसि गमणं मुत्त मसग जू आई ।
वय काएहिं न करे न कारवे गंठिस हिए णं ॥३०१॥

अर्थात्- " श्रावक, मच्छर, जूं या खटमल आदि की हिंसा निद्राधीन अवस्था में संभव होने से उतने त्रस जीवों को छोड़कर रात में शयनावसर पर भी अन्य सर्व त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा का, झूठ का, चोरी का, मैथुन का तथा पहले के परिग्रह के अतिरिक्त उस दिन हुई आय आदि सर्व परिग्रह का, अनर्थ दण्ड में कलह आदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का, सातवें व्रत में पलंग, बेडींग या सोने-बिछाने-ओढ़ने आदि शयन में उपयोगी सामग्री के सिवाय सब भोगोपभोग की वस्तुओं का और दिशि परिमाण में जहाँ सोना हो उस घर के मध्य भाग आदि के सिवाय अन्य स्थान पर जाना आना आदि, इस तरह सारे पाप साधन तथा पाप कार्यों का वचन और काया से स्वंयं नहीं करना तथा अन्य द्वारा करवाना नहीं'' इस तरह आठों व्रतों का संक्षेप रूप नियम- त्याग 'गंठिसहि' आदि पच्चक्खान पूर्वक करे, अर्थात् यह गांठ जब तक छोडूँगा नहीं तब तक मुझे उपर्युक्त पाप करना, करवाना नहीं। ऐसा पच्चक्खान शयन के समय करे। सोने के बाद इसमें कुछ करने के लिए नहीं रहता। जागने के बाद यह पच्चक्खान पूर्ण होने से जीवन व्यवहार में कुछ मुश्किल नहीं आती, उलटा इतने समय तक त्याग का महान लाभ होता है। यह श्रावक का श्रेष्ठ कर्तव्य है। निद्रा में भी मन को रोकना अशक्य है, इसलिए वचन और काया से नहीं करूं, नहीं करवाऊँगा ऐसा नियम करे। चार शिक्षा व्रत तो आत्मा के उपकारी होने से इनका संक्षेप नहीं होता। शेष सब व्रतों का संक्षेप रूप यह व्रत समझना।

इस व्रत का फल कहते हैं कि:- ''जैसे किसी के शरीर में सर्वत्र जहर फैल जाता है और मन्त्रवादी अपनी मंत्रशक्ति से सम्पूर्ण शरीर में से उसे खींचकर डंक के स्थान में लाता है, वैसे ही धर्मी आत्मा इस व्रत रूपी मन्त्र द्वारा सारा विस्तृत पाप व्यवहार संक्षेप करके अमुक प्रमाण में-अल्प द्रव्य क्षेत्र अथवा अल्प काल तक मर्यादित कर देता है। पाप व्यापार संक्षेप होने से उसके द्वारा कर्म बन्धन भी अल्प होते हैं और अनुक्रम से इस व्रत से मोक्ष की प्राप्ति भी होती है।'

यह दूसरा शिक्षा व्रत कहा। अब तीसरा कहते हैं:-

आहार तनुसत्काराऽब्रह्म सावध कर्मणाम्।
त्यागः पर्व चतुष्टय्यां, तद्विदुः पौषधव्रतम् ॥३६॥

मूलार्थ- चार पर्व दिनों में आहार, शरीर सत्कार, मैथुन और पाप का त्याग करना- उसे पौषध व्रत कहा जाता है।

व्याख्या - अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या- ये चार पर्व तिथियां कहलाती हैं। इन पर्व तिथियों में पौषध व्रत अंगीकार करना श्रावक का कर्त्तव्य है। इस व्रत में (१) आहार पानी त्याग, (२) स्नानादि शरीर संस्कार का त्याग, (३) ब्रह्मचर्य का पालन करना और (४) सावध कर्म - अर्थात् खेती व्यापार आदि किसी भी पाप कर्म का त्याग करना। उपलक्षण से तेल मालिश, मेंहदी लगाना, चन्दनादि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का लेप करना, इत्र फुलेल आदि लगाना, सुगन्धित फूलों की माला अथवा मस्तक पर पुष्पहार धारण करना, बहुमूल्य रंग-बिरंगे भड़कीले वस्त्र या अलंकार पहनना, शरीर को श्रृंगार करके सुसज्जित करना, सुन्दर बनाना इत्यादि बातों का त्याग करना, उसे श्री जिनेश्वर परमात्मा ने पौषध व्रत कहा है ।

प्रत्याख्यानावश्यक सूत्र ११ हरिभद्री वृत्ति में कहा है कि:- **"पोसहोववासे चउव्विहे पन्नत्ते तंजहा आहार पोसहे, शरीरसक्कार पोसहे, बंभचेर पोसहे, अव्ववार पोसहे त्ति"** अर्थात् 'पौषध उपवास चार प्रकार का होता है, वह इस प्रकार- १. आहार पौषध, २. शरीर सत्कार पौषध, ३. ब्रह्मचर्य-पौषध और ४. व्यापार पौषध ।

पौषध = यहाँ धर्म का अधिकार होने से निषिद्ध वस्तु का त्याग तथा ब्रह्मचर्य व तप को स्वीकार करके धर्म को पुष्ट करना पौषध कहलाता है । यह 'पौषध' ही पौषध व्रत है और इसे ही 'पौषधोपा वास' भी कहते हैं । आवश्यक सूत्र की टीका में जो कहा है उसका शब्दार्थ आगे कहा जायेगा । वह पौषध अष्टमी आदि पर्व के दिन अवश्य करने योग्य एक व्रत है, उसके स्थान आत्मा का उपवसन-अवस्थान रहना, बसना ही 'पौषध+उपवसन = उपवास = पौषधोपवास है' अथवा 'पौषध = अष्टमी आदि पर्व दिनों में' 'जिसके गुण, दोषों से ढक गये हैं ऐसी आत्मा का आहार आदि के त्याग रूप गुणों के 'उप' अर्थात् साथ में (पास में) वास करना या रहना, वह पौषध+उप+वास =पौषधोपवास कहलाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि 'पर्व के दिनों में आत्मा का गुणों के साथ में जो वास करना है, उसका नाम पौषधोपवास' कहा है । धर्म बिन्दु अध्याय ३-१८ की टीका में कहा है कि:-

उपावृतस्य दोषेभ्यः सम्यग्वासो गुणैः सह ।
उपवासः स विज्ञेयो, न शरीर विशोषणम् ॥१८॥

अर्थात्- "दोषो के द्वारा ढके हुए आत्मा का गुणों के साथ में अच्छी तरह से वास करना - रहना- निवास करना उसे उपवास जानना, केवल शरीर का शोषण करना- सुखाना वह उपवास नहीं कहलाता ।" ऐसी व्याख्या आवश्यक सूत्र की टीका में भी कही है कि - धर्म का संचय-संग्रह करने में हेतूभूत बनकर धर्म को जो 'पूरण करे-पूरा करे वह पर्व' कहलाता है । धर्म को पूरा करने में अष्टमी आदि तिथियां कारणभूत हैं, इससे उन्हें पर्व कहा है और यहाँ उन पर्व तिथियों को ही धर्मपुष्टि का कारण मानकर रूढ़ि अर्थ पौषध कहा है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इन पर्व रूप पौषध दिनों में आत्मा का गुणों के अन्दर 'उपवसन' करना- गुणों के साथ में निवास करना ही 'पौषधोपवास' है अर्थात् विशिष्ट नियम ग्रहण करने के लिए वह एक व्रत है। वस्तुत: शब्द नय से यह अर्थ केवल शब्द की सिद्धि करने के लिए ही है, व्यवहार नय से तो आहार आदि चार प्रकार के कर्म बंधन के कारणों का त्याग करना है- वही पौषधोपवास है। क्योंकि 'समवायांग सूत्र' की टीका में पूज्य श्री अभयदेव सूरीश्वर जी महाराज ने भी वही अर्थ किया है। अब उसके भेद स्वरूप कहते हैं :-

पौषध १. आहार त्याग, २. शरीर सत्कार का त्याग ३. ब्रह्मचर्य का पालन और ४. कुव्यापार का त्याग- इस तरह चार प्रकार का है। वह प्रत्येक पौषध दो प्रकार का होता है- देश पौषध और सर्व पौषध। इस तरह पौषध के आठ भेद होते हैं। उसमें- १. आहार त्याग- तिविहार उपवास, आहार सहित पौषध में विविध विग्गई (विकृति जनक पदार्थ) के त्याग पूर्वक आयंबिल, एकासन या वेयासन से किया जाता है वह देश आहार त्याग पौषध है और चारों प्रकार के आहार का सम्पूर्ण दिन रात का सर्वथा त्याग करना वह सर्व आहार त्याग पौषध है। २. शरीर सत्कार में अमुक खुला करके शेष का त्याग करना वह देश से शरीर सत्कार पौषध है और सर्व प्रकार से सर्व रूप का शरीर सत्कार त्याग करना उसे सर्व शरीर सत्कार त्याग पौषध कहा है। ३. मैथुन का दिन में ही त्याग करना या रात्रि में एक या दो से अधिक बार स्त्री सेवन का त्याग करना उसे देश से ब्रह्मचर्य पौषध कहा है और पूर्ण एक दिन रात तक सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना उसे सर्व ब्रह्मचर्य पौषध कहते हैं तथा ४. अव्यापार त्याग पौषध में अमुक एक अथवा अधिक कुव्यापार का त्याग करना वह देश से कुव्यापार का त्याग हुआ और खेती, व्यापार, नौकरी, पशु-पालन घर का सारा कार्य आदि सारे सावध व्यापारों का त्याग करना, उसे सर्व कुव्यापार त्याग पौषध कहा है।

यहाँ इतना विशेष है कि - देश से पाप व्यापार त्याग पौषध में तो सामायिक ले अथवा नहीं ले- चल सकता है परन्तु सर्व पाप व्यापार त्याग पौषध करे तो अवश्य ही सामायिक लेना चाहिए। यदि ऐसा नहीं करेगा तो उस पौषध के फल से वंचित रहेगा। सर्व पौषध जब भी करे तब १. जिन मंदिर में, २. साधु मुनिराज के पास में, ३. घर में एकान्त स्थान में करे अथवा ४. सारे श्रावकों के धर्म कार्यों के करने के स्थान रूप पौषधशाला (पौशाल) में करे और उस समय पौषध लेने से पहले ही स्वर्ण, स्वर्ण के आभूषण, पुष्पमाला, शरीर विलेपन, मेहंदी, शस्त्र आदि का त्याग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करके फिर पौषध-सामायिक व्रत अंगीकार करे। उसके बाद स्वाध्याय, अध्ययन, अध्यापन, सत्साहित्य वाचन, धर्मध्यान व अनुप्रेक्षा भावनाओं पर चिन्तन करे। साथ में ही यह विचार भी करे कि - 'अहो ! मैं कितना मन्द भाग्य वाला हूँ कि अभी तक साधु जीवन के गुण को धारण करने में समर्थ नहीं हो सका।' साधु जीवन जिसने प्राप्त किया है वह पुण्य पुरुष ही जगत् में धन्य है, कृत कृत्य है एवं पूज्य है। इत्यादि चारित्र का ध्यान करें। इस तरह आवश्यक चूर्णि तथा श्रावक प्रज्ञप्ति की टीका आदि में पौषध की विधि बतलायी है।

योग शास्त्र के तृतीय प्रकाश श्लोक ८५ की टीका में इतना विशेष कहा है कि - यदि पौषध व्रत भी आहार त्याग, शरीर सत्कार त्याग और ब्रह्मचर्य पालन की तरह कुव्यापार त्याग के रूप में भी 'अन्नत्थाणा भोगेण' आदि आगार सहित अंगीकार किया हो अर्थात् आगार रखा हो तो उसका सामायिक करना सार्थक है, वरना नहीं है, क्योंकि पौषध का पच्चक्खान आगार सहित स्थूल रूप है, जबकि सामायिक व्रत निराकार होने से सूक्ष्म रूप है। पौषध आगार बिना लिया हो तो सामायिक और पौषध में कुछ भी अन्तर नहीं रहता। इसलिए पौषध आगार रखकर स्थूल रूप में लेने को कहा है, तभी सामायिक सूक्ष्म रूप होने से विशेष फल साधक रूप बनती है। यद्यपि पौषध में सावध व्यापार का सर्वथा आगार रहित त्याग किया हो, तथापि सामायिक न करने से उसका लाभ नहीं मिलता। इसलिए पौषध के साथ सामायिक अवश्य करना चाहिए। यदि श्रावक ने समाचारी की विशेषता से पौषध भी सामायिक की तरह पूर्वोक्त "**दुविहं तिविहेणं**" अर्थात् दो करण तीन योग = मन, वचन और काया से पाप करना और करवाने का त्याग रूप स्वीकार किया हो तब तो सामायिक का कार्य पौषध से ही हो जाता है। अलग से सामायिक ग्रहण करने पर विशेष फलदायी नहीं होता। फिर भी यदि श्रावक मन में यह अभिप्राय रखता है कि - मैनें पौषध और सामायिक दोनों व्रत अंगीकार किये हैं तो उसे पौषध और सामायिक दोनों का लाभ मिलता है। अत: दोनों करना सार्थक है। आजकल दोनों करने की प्रवृत्ति है।

पौषध व्रत के विभाग - पूर्व में कहे अनुसार आहार त्याग आदि चार प्रकार का देश तथा सर्व पौषध के एक संयोगी, दो संयोगी आदि ८० भेद इस तरह होते हैं। एक संयोगी विभाग का वर्णन तो- चार प्रकार के पौषध के देश से और सर्व से चार भेद मिलकर आठ भेद पूर्व में बताया है। अब मूल चार भंग के द्विक् संयोगी भंग छह होते हैं और उन प्रत्येक के पुन: देश से और सर्व से विभाग करने पर प्रत्येक के दे० दे०, स० दे०, दे० स० और स० स० इस तरह चार-चार भेद होने से कुल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

६×४ = २४ चौबीस भेद द्विक् संयोगी होते हैं। (यहाँ 'दे०' अर्थात् देश से और 'स०' अर्थात् सर्व से विवक्षा समझना) मूल चार भंग के त्रिसंयोगी विभाग भी चार ही होते हैं और उन प्रत्येक के आठ-आठ भेद होते हैं - १-दे०दे०दे०, २-दे०दे०स०, ३-दे०स०दे०, ४- दे०स०स०, ५- स०दे०दे०, ६- स०दे०सं० ७- स०स०दे० और ८- स०स०स०, कुल मिलाकर ८×४ =३२ बत्तीस भेद त्रिक् संयोगी होते हैं। चतु:संयोगी भेद तो एक होता है तथा उसके देश और सर्व से इस तरह दो प्रकार से सोलह भेद इस प्रकार से होते हैं- १- दे०दे०दे०दे०, २- दे०दे०दे०स०, ३- दे०दे०स०दे०, ४- दे०दे०स०स०, ५- दे०स०दे०दे०, ६- दे०स०दे०स०, ७- दे०स०स०दे०, ८- दे०स०स०स०, ९- स०दे०दे०दे०, १० स०दे०दे०स०, ११- स०दे०स०दे०, १२- स०दे०स०स०, १३- स०स०दे०दे०, १४- स०स०दे०स०, १५- स०स०स०दे०, १६- स०स०स०स०, इस तरह एक संयोगी ८- द्विक्संयोगी २४- त्रिक् संयोगी ३३- और चतु: संयोगी १६- मिलकर कुल ८० भेद होते हैं। उसके कोष्ठक इस प्रकार जानना-

आठ एक संयोगी का कोष्ठक	
१. आ० पो० दे०	५. आ० पो० स०
२. श० पो० दे०	६. श० पो० स०
३. ब्र० पो० दे०	७. ब्र० पो० स०
४. अ० पो० दे०	८. अ पो० स०

द्विक्संयोगी चौबीस भेद के छह कोष्ठक

१. आहार और शरीर सत्कार दोनों के योग से चार भेद

१. आ० पो० दे० श० पो० दे०	३. आ० पो० स० श० पो० दे०
२. आ० पो० दे० श० पो० स०	४. आ० पो० स० श० पो० स०

२. आहार - ब्रह्मचर्य के योग से चार भेद

५. आ० पो० दे० ब्र० पो० दे०	७. आ० पो० स० ब्र० पो० दे०
६. आ० पो० दे० ब्र० पो० स०	८. आ० पो० स० ब्र० पो० स०

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३. आहार - अव्यापार के योग से चार भेद

९. आ० पो० दे० अ० पो० दे०	११. आ० पो० स० अ० पो० दे०
१०. आ० पो० दे० अ० पो० स०	१२. आ० पो० स० अ० पो० स०

४. शरीर सत्कार - ब्रह्मचर्य के योग से चार भेद

१३. श० पो० दे० ब्र० पो० दे०	१५. श० पो० स० ब्र० पो० दे०
१४. श० पो० दे० ब्र० पो० स०	१६. श० पो० स० ब्र० पो० स०

५. शरीर सत्कार - अव्यापार के योग से चार भेद

१७. श० पो० दे० अ० पो० दे०	१९ श० पो० स० अ० पो० दे०
१८. श० पो० दे० अ० पो० स०	२० श० पो० स० अ० पो० स०

६. ब्रह्मचर्य - अव्यापार के योग से चार भेद

२१. ब्र० पो० दे० अ० पो० दे०	२३ ब्र० पो० स० अ० पो० दे०
२२. ब्र० पो० दे० अ० पो० स०	२४. ब्र० पो० स० अ० पो० स०

त्रिक् संयोगी भेद १- आहार, शरीर सत्कार और ब्रह्मचर्य के योग से, २- आहार, शरीर सत्कार और अव्यापार के योग से, ३- आहार, ब्रह्मचर्य और अव्यापार के योग से और ४- शरीर सत्कार; ब्रह्मचर्य और अव्यापार के योग से- इस तरह चार भेद होते हैं। उसके देश से आठ और सर्व से आठ गिनने पर कुल बत्तीस विभाग होते हैं । उसका यंत्र नीचे अनुसार है :-

पहले भेद का यंत्र	दूसरे भेद का यंत्र
१ आ० पो० दे० श० पो० दे० ब्र० पो० दे०	९ आ० पो० दे० श० पो० दे० अ० पो० दे०
२ आ० पो० दे० श० पो० दे० ब्र० पो० स०	१० आ० पो० दे० श० पो० दे० अ० पो० स०
३ आ० पो० दे० श० पो० स० ब्र० पो० दे०	११ आ० पो० दे० श० पो० स० अ० पो० दे०
४ आ० पो० दे० श० पो० स० ब्र० पो० स०	१२ आ० पो० दे० श० पो० स० अ० पो० स०
५ आ० पो० स० श० पो० दे० ब्र० पो० दे०	१३ आ० पो० स० श० पो० दे० अ० पो० दे०
६ आ० पो० स० श० पो० दे० ब्र० पो० स०	१४ आ० पो० स० श० पो० दे० अ० पो० स०
७ आ० पो० स० श० पो० स० ब्र० पो० दे०	१५ आ० पो० स० श० पो० स० अ० पो० दे०
८ आ० पो० स० श० पो० स० ब्र० पो० स०	१६ आ० पो० स० श० पो० स० अ० पो० स०

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तीसरे भेद का यंत्र	चौथे भेद का यन्त्र
१७ आ० पो० दे० ब्र० पो० दे० अ० पो० दे०	२५ श० पो० दे० ब्र० पो० दे० अ० पो० दे०
१८ आ० पो० दे० ब्र० पो० दे० अ० पो० स०	२६ श० पो० दे० ब्र० पो० दे० अ० पो० स०
१९ आ० पो० दे० ब्र० पो० स० अ० पो० दे०	२७ श० पो० दे० ब्र० पो० स० अ० पो० दे०
२० आ० पो० दे० ब्र० पो० स० अ० पो० दे०	२८ श० पो० दे० ब्र० पो० स० अ० पो० स०
२१ आ० पो० स० ब्र० पो० दे० अ० पो० दे०	२९ श० पो० स० ब्र० पो० दे० अ० पो० दे०
२२ आ० पो० स० ब्र० पो० दे० अ० पो० दे०	३० श० पो० स० ब्र० पो० दे० अ० पो० स०
२३ आ० पो० स० ब्र० पो० स० अ० पो० दे०	३१ श० पो० स० ब्र० पो० स० अ० पो० दे०
२४ आ० पो० स० ब्र० पो० स० अ० पो० दे०	३२ श० पो० स० ब्र० पो० स० अ० पो० स०

चतुः संयोगी भंग तो चार प्रकार का पौषध के साथ में उच्चारण होता है, इसलिए उसका एक ही भेद है। उसके देश और सर्व से सोलह प्रकार होते हैं। उसका यंत्र इस तरह है –

१.	आ०	पो०	दे०	श०	पो०	दे०	ब्र०	पो०	दे०	अ०	पो०	दे०
२.	आ०	पो०	दे०	श०	पो०	दे०	ब्र०	पो०	दे०	अ०	पो०	स०
३.	आ०	पो०	दे०	श०	पो०	दे०	ब्र०	पो०	स०	अ०	पो०	दे०
४.	आ०	पो०	दे०	श०	पो०	दे०	ब्र०	पो०	स०	अ०	पो०	स०
५.	आ०	पो०	दे०	श०	पो०	स०	ब्र०	पो०	दे०	अ०	पो०	दे०
६.	आ०	पो०	दे०	श०	पो०	स०	ब्र०	पो०	दे०	अ०	पो०	स०
७.	आ०	पो०	दे०	श०	पो०	स०	ब्र०	पो०	स०	अ०	पो०	दे०
८.	आ०	पो०	दे०	श०	पो०	स०	ब्र०	पो०	स०	अ०	पो०	स०
९.	आ०	पो०	स०	श०	पो०	दे०	ब्र०	पो०	दे०	अ०	पो०	दे०
१०.	आ०	पो०	स०	श०	पो०	दे०	ब्र०	पो०	दे०	अ०	पो०	स०
११.	आ०	पो०	स०	श०	पो०	दे०	ब्र०	पो०	स०	अ०	पो०	दे०
१२.	आ०	पो०	स०	श०	पो०	दे०	ब्र०	पो०	स०	अ०	पो०	स०
१३.	आ०	पो०	स०	श०	पो०	स०	ब्र०	पो०	दे०	अ०	पो०	दे०
१४.	आ०	पो०	स०	श०	पो०	स०	ब्र०	पो०	दे०	अ०	पो०	स०
१५.	आ०	पो०	स०	श०	पो०	स०	ब्र०	पो०	स०	अ०	पो०	दे०
१६.	आ०	पो०	स०	श०	पो०	स०	ब्र०	पो०	स०	अ०	पो०	स०

इन चार प्रकार के पौषध में वर्तमान काल में पूर्वाचार्य परम्परा से सामाचारी भेद से केवल आहार पौषध ही देश से और सर्व से करने में आया है, क्योंकि – निरवध (अचित) आहार का बाधक पौषध युक्त सामायिक में नहीं दिखता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्योंकि सर्व विरति धर साधु तथ उपधान् वहन करने वाले श्रावक भी आहार ग्रहण करते हैं। शेष शरीर सत्कार त्याग आदि तीनों पौषध सर्व से ही होता है, देश से करते प्राय: सामायिक पच्चक्खाण में विरोध आता है क्योंकि सामायिक में **'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि'** इस पद से पाप व्यापार का सर्वथा त्याग किया जाता है और शरीर सत्कार त्याग आदि तीनों पौषध यदि देश से किया जाए तो उतने प्रमाण में वह पाप व्यापार खुला रहता है, वह योग्य नहीं माना जाता। यद्यपि आभूषण, उत्तम वस्त्र आदि से शरीर सत्कार करने में तथा निरवध वस्तु का उपयोग करने में पाप व्यापार नहीं होता फिर भी शरीर शोभा आदि राग का निमित्त होने से सामायिक में उन दोनों को अकल्पनीय मानकर निषेध किया है। आहार में देश से खुला रखने का कारण यह है कि आहार बिना शक्ति के अभाव में धर्मानुष्ठान नहीं हो सकता, इसलिए साधु के समान निर्बल श्रावक को भी अन्य क्रियाओं में अच्छा उद्यम हो सकता है, इस उद्देश्य से आहार की देश से आज्ञा दी है। आवश्यक सूत्र चूर्णि में पौषध व्रताधिकार में कहा है कि –

तं सत्तिओ करिज्जा, तवो अ जं वण्णिओ समासेणं ।
देसावगासिएणं, जुतो सामाइएणं वा ।।१।।

अर्थात् – ''इस तरह से जिस तप का संक्षिप्त वर्णन किया है, वह तप देशावकाशिक करने वाले अथवा सामायिक व्रत वालों को अपनी शक्ति अनुसार करना चाहिए।''

निशीथ भाष्य में भी पौषध के विषय में कहा है कि **''उद्दटुकडं वि सो भुंजे''** अर्थात् 'उसके निमित्त से पकाकर तैयार किया है तो पौषध वाला वह खाय।' निशीथ चूर्णि में कहा है कि **''जं च उद्दिट्ठ कडं तं कड सामाइओ वि भुजे''** अर्थात् 'उद्देश्य से बनाया हुआ उसे भी सामायिक व्रत वाला होने पर खा ले।' इस विधान से पौषध के साथ में सामायिक करने वाले के विषय में कहा गया है। क्योंकि अकेले सामायिक का काल तो केवल दो घड़ी होने से उतने समय में भोजन करने की जरूरत नहीं होती। उसी तरह पूर्वाचार्य परम्परा से भी अकेले सामायिक करने वाला भोजन भी नहीं करता। श्रावक-परिक्रमण (वंदित्तू) सूत्र की चूर्णि में भी कहा है कि :-

''जइ देसओ आहार पोसहिओ तो भत्तपाणस्स गुरु सक्खिअं पारावित्ता आवस्सिअं करित्ता ईरिआ समिइए गंतु घरं इरियावहिअं पडिक्कमइ, आगमणा लोअणं च करेइ, चेइए, वंदेइ, तओ संडासयं पमज्जिता पाउंछणे निसीअइ,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भायणं पमज्जइ, जंहो चिए अ भोअणे परिवेसिए पंचमं गल मुच्चारेइ सरेइ पच्चक्खाणं, तओ वयणं पमज्जिता।'' अर्थात् 'यदि देश से आहार पौषध किया हो तो श्रावक गुरु महाराज के समक्ष पच्चक्खान पारकर मकान–उपाश्रय से निकलते **'आवस्सही '** कहकर ईर्या समिति का पालन करते हुए घर जाकर इरियावहियं पडिक्कम, एवं गमणागमण आलोयण कर चैत्य वंदन करे, बाद में संडासा का जो बैठने में साथल आदि भाग दबता है। उस भाग को प्रमार्जन कर आसन पर बैठकर, फिर भोजन करने वाले बर्तन का पडिलेहण प्रमार्जन करे और यथोचित भोजन परोसे, तब श्री नवकार मंत्र का स्मरण कर स्वयं का आज क्या पच्चक्खान है, क्या–क्या त्याग है? इत्यादि याद करके मुख का प्रमार्जन करके भोजन करे श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र चूर्णि में कहा है :–

असर सरं अचवचवं, अहुअमविलं विअं अपरिसाडिं ।
मण वयण काय गुत्तो, भंजइ साहुव्व उवउत्तो ।।१।।

अर्थात् ''भोजन करते समय मुख से आवाज न करे, शबाके न ले, चबचब ऐसा जीभ या होठ से आवाज न करे, भोजन में शीघ्रता न करे, उसी तरह बहुत विलम्ब भी न करे। भोजन करते समय छींटे या दाने आदि बिलकुल नहीं गिराये, मन वचन और काय गुप्ति से गुप्त होकर साधु जैसे आहार करते हैं वैसे ही पोषध वाला भोजन करे। अपनी शरीर यात्रा का निर्वाह हो सके इतना आहार करे, वह भी भूख जितनी हो उसमें भी उणोदरी करे। भोजन करने के बाद उचित जल से मुख आदि की शुद्धि करके उठते समय श्री नवकार मन्त्र स्मरण करके मुट्ठि सहि आदि पच्चक्खान करके उठे। उठने के बाद भोजन करने का इरिया वहि पूर्वक जगचिन्तामणी का चैत्य वंदन जय वीयराय तक करे, फिर गुरु को वंदन करके तिविहार आदि पच्चक्खान करे। इस तरह से भोजन करके पौषधशाला अथवा जहाँ पर पौषध किया हो वहाँ पर जाकर स्वाध्याय, ध्यान, पठन, पाठन आदि करे ।'' इस तरह श्री वंदित्तुसूत्र की चूर्णि में कहा है । इससे देश आहार पोषध में सामायिक उच्चारण करने या लेने पर भी कही विधि के अनुसार भोजन करने की शास्त्र में अनुमति है, इस तरह स्पष्ट दिखता है।

अत: पौषध में आहार बिना निर्वाह नहीं हो सकता अथवा अन्य क्रिया करने में बाधा पहुँचती है । इस कारण से ही देश से आहार पौषध बतलाया है। असलियत में जहाँ तक शक्ति हो वहाँ तक तप करना चाहिए और अपनी शक्ति को नहीं छुपाना चाहिए और आहार संज्ञा के ऊपर अंकुश लाना चाहिए । इसके बिना पौषध की सफलता नहीं है। यदि शक्ति न हो तो देश से आहर पौषध ले और आहार ग्रहण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करे परन्तु जीभ इन्द्रिय की लोलुपता के पोषण के लिये आहार नहीं लेना चाहिए अपितु संयम पौषध की शुद्ध आराधना के लिए करे ।

पौषध की विधि - 'जिस दिन पौषध लेना हो उस दिन श्रावक घर का व्यापार उपलक्षण से दुकान आदि का सारा व्यापार छोड़कर पौषधशाला में अथवा अपने पौषध के योग्य सामग्री- आसन, चखला, मुँहपत्ति, कंदोरा, संथारा, गरम चद्दर, उत्तरपट्टा, डंडासण, मात्रा आदि का प्याला, प्रमार्जन करने के लिए पुंजनी आदि प्राप्त कर साधु का योग हो तो उनके पास उपाश्रय पौषधशाला आदि स्थान पर, जहाँ पर पौषध करने के लिए योग्य हो, वहाँ जाकर प्रथम शरीर की प्रमार्जना करे,आभूषण, फूल माला आदि सचितादि सारा शरीर से उतार दे। फिर लघु-बड़ी नीति-टट्टी-पेशाब आदि के लिए जहाँ चींटी आदि जीव या वनस्पति आदि सचित न हों, सूर्य का प्रकाश आता हो और रेती धूल आदि का योग जमीन हो तथा उसके विषय का योग पात्र आदि साधनों का पडिलेहन करे। उसके बाद गुरु महाराज के सम्मुख अथवा गुरु का योग न हो तो श्री नवकार मंत्र तथा पंचिन्द्रिय सूत्र से गुरु की स्थापना कर खमासमण पूर्वक इरियावहि पडिक्कमण करके बाद में खमासमण देकर' इच्छाकारेण संदिसह भगवान पोसह मुँहपत्ति पडिलेहूँ ?' इस तरह आज्ञा मांगकर मुँहपत्ति पडिलेहन करे, फिर खमासमण देकर खड़े-खड़े, 'इच्छा कारेण संदिसह भगवन पोसह संदिसाहु ?' इस तरह पूछे तब गुरु महाराज कहें 'संदिसह' तब स्वयं '**इच्छा**' कहकर पुनः खमासमण देकर ''इच्छा० संदि० भग० पोसह ठाऊं ?'' ऐसा बोले तब गुरु कहे कि '**ठाएह**' तब जबाब में ' **इच्छ**' कहकर श्री नवकार मंत्र गिनकर '**इच्छक ारी भगवन् पसाय कर पोसह दंडक उच्चरावोजी**' ऐसा कहकर गुरु के मुख से अथवा गुरु के अभाव में बड़े श्रावक से जिसने पहले पोषह लिया हो उसके मुख से और वह भी न हो तो स्वमुख से पोषह का उच्चारण करे । वह पच्चक्खान इस प्रकार है -

''करेमि भंते! पोसहं, आहार पोसहं सव्वओ देसओ वा शरीर सक्कार पोसहं सव्वओ, वंभचेर पोसहं सव्वओ, अव्वावार पोसहं सव्वओ, चउव्विहे पोसहे ठामि, जाव अहोरत्तं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं, मणेण वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।।''

इसका अर्थ भी सामायिक के पच्चक्खान के समान समझना। केवल सामायिक के स्थान पर पौषध शब्द है । इससे चार प्रकार का पौषध व्रत उच्चारण करते हैं, उसमें

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आहार पौषध देश से लेना हो तो केवल '**देसओ**' बोलना और सर्व से लेना हो तो '**सव्वओ**' कहना। '**अहोरत्त**' का अर्थ सम्पूर्ण दिन और रात है, उसके बदले केवल दिन के लिए लेना हो तो '**जाव दिवसं**' कहना, और केवल रात्रि का लेना हो तो '**जावसेस अहोरत्तं**' कहना। शेष '**दुविहं तिविहेण**' आदि का अर्थ सामायिक के पच्चक्खान के समान समझना।

इसके अनुसार पौषध व्रत उच्चर कर पुनः खमासमण देकर '**इच्छा० संदि० भग० सामायिक मुहँपत्ति पडिलेहूँ ?**' ऐसा कहे, तब गुरुदेव कहे कि '**पडिलेहेह**' तब '**इच्छ० संहि० भग० सामायिक संदिसाहू ?**' तथा '**इच्छा० संदि० भग० सामायिक ठांऊ?**' इस तरह दो आदेश मांगकर गुरु का आदेश मिले तब इच्छ कहकर नवकार मन्त्र गिनकर '**इच्छाकारी भगवन् पसायकरी सामायिक दंडक उच्चरावो जी !**' इस तरह कहकर सामायिक व्रत में बतलाये गये पच्चक्खान से सामायिक उच्चरना चाहिए, केवल 'जाव नियम' के स्थान पर 'जाव पोसह' बोले। उसके बाद एक-एक खमासमण पूर्वक '**इच्छा संदि० भग० बेसणे संदिसाहू ?**' तथा 'इच्छा० संदि० भग० बेसणे ठाऊँ ?' इस तरह दो आदेश से वर्षा ऋतु हो तो लकड़ी का आसन, पाट, चौकी, तख्ता आदि और शेष आठ महीने में ऊन के आसन की याचना करे, उसके बाद पुनः एक-एक खमासमण पूर्वक '**इच्छा० संदि० भग० सज्झाय संदिसाहू**' फिर '**इच्छा० संदि० भग० सज्झाय करूं ?**' इस तरह दो आदेश से सज्झाय पठन-पाठन आदि करने की आज्ञा प्राप्त कर प्रारम्भ में तीन नवकार मंत्र गिनने रूप सज्झाय-स्वाध्याय करे। इस तरह पोसह और सामायिक लेकर राई प्रतिक्रमण करे, उसमें आखिर 'कल्याण कंद' आदि चार थोई से देववंदन करे, अन्त में 'नमोत्थुणं' कहकर एक-एक खमासमण देकर '**इच्छा० संदि० भग० बहुवेल संदिसाहूं?**' फिर '**इच्छा० संदि० भग० बहुवेल करशु ?**' उसके बाद, '**भगवान् हं**' आदि चार खमासमण से वंदन कर '**अड्ढाईज्जेसु**' बोलना चाहिए। आज कल उसके बाद दो चैत्यवंदन करने की परम्परा है। फिर प्रतिक्रमण पूर्ण होता है।

यहाँ बहुवेल का अर्थ है श्री गुरु महाराज की आज्ञानुसार रहना एवं जो भी कार्य करना हो वह आज्ञा प्राप्त कर फिर कार्य करे। उसमें शरीर की बारम्बार होने वाली क्रिया श्वासोच्छ्वास, चक्षु स्पंदन आदि की आज्ञा मांग नहीं सकते इसलिए 'बहुवेल अर्थात् बारम्बार' होने वाली क्रियाओं के विषय में आज्ञा के लिए दो आदेश कहे हैं। इससे यह सूचित होता है कि उसके सिवाय, जिसके विषय में आज्ञा प्राप्त कर सकते हैं ऐसी, एक भी क्रिया गुरु की आज्ञा प्राप्त किये बिना नहीं कर सकता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है अर्थात् बिना आज्ञा के एक स्थान से दूसरे स्थान पर बैठने की भी स्वतंत्रता नहीं रहती, प्रत्येक क्रिया में गुरु की आज्ञा लेना आवश्यक है। तत्व से इच्छाओं को रोकना ही संयम है।

इसके बाद खमासमण देकर इरियावहि पडिक्कमण करके खमासमण सहित **'इच्छा० संदि० भग० पडिलेहण करूं?'** यह आदेश मांगकर श्रावक मुहँपत्ति, चखला, आसन, धोती, कंदोरा का पडिलेहन करे। फिर खमासमण देकर इरियावही पडिक्कमण कर खमासमण सहित **'इच्छाकारी भगवन पसाय करी पडिलेहणा पडिलेहावो जी !'** इस तरह बोले। तब गुरु कहे **'पडिलेह'**। तब **'इच्छ'** कहकर स्थापनाचार्य का पडिलेहण करे अथवा बड़ों का वस्त्रादि पडिलेहण करे, इसमें प्रथम बाल, फिर वृद्ध, बीमार एवं तपस्वी आदि क्रम से उनका पडिलेहण करना चाहिए। उसके बाद फिर स्थापना जी इत्वरिक हो तो स्थापन करे अर्थात् यदि चंदन के प्रतिष्ठित कायमी स्थापना जी हों तो स्थापन करने की आवश्यकता नही है परन्तु पुस्तक, माला आदि उपकरणों की इत्वरिक अर्थात् थोड़े- अल्प काल के लिए स्थापना की हो तो पडिलेहण करने के पहले उत्थापन करे और फिर पडिलेहण करके पुनः स्थापन करके शेष क्रिया उसके बाद करे।

फिर खमासमण देकर **'इच्छा० संदि० भग० उपाधि मुँहपत्ति पडिलेहुं?'** ऐसा कहकर गुरु का **'पडिलेह'** आदेश मिलने से **'इच्छं'** कहकर मुहँपत्ति पडिलेहण करे। उसके बाद एक-एक खमासमण देकर **'इच्छा० संदि० भगवन् उपाधि संदिसाहू** ? गुरु कहे **'संदिसह'** स्वयं कहे **'इच्छ'** फिर **'इच्छा० संदि० भग० उपधि पडिलेहू** ? गुरु कहे **'पडिलेह'**। इस तरह दो आदेश माँगकर वस्त्र, कम्बल आदि शेष अपने वस्त्रों का पडिलेहण करे। उसके बाद यतना पूर्वक पौषध शाला की प्रमार्जना कर काजा (कचरा आदि) उद्धरी कर अर्थात् काजे के अन्दर जीव का कलेवर- मरा हुआ जीव हो, अनाज आदि सचित वस्तु हो, अगर जीव हो तो सारा तलाश कर योग्य स्थान पर परठ दे-त्याग कर दे। उस समय कचरे को बाहर यथायोग्य स्थान पर **''अणुजाणह जसुग्गहो''** कहकर जयणा पूर्वक रखे और फिर **'वोसिरे वोसिरे'** कहे। इस क्रियां को परठने की क्रिया कहते हैं। उसके बाद इरियावहि प्रतिक्रमण करके गमणागमण सूत्र आलोचना पूर्वक जाने आने की क्रिया में जो विराधना हुई हो उस विषय का मिच्छामि दुक्कडं देना। फिर खमासमण देकर साधु के समान श्रावक के मंडल में अर्थात् सर्व के साथ में स्वाध्याय करे, अर्थापत्ति से 'मन्नह जिणाणं' आदि पाँच गाथा का स्वाण्याय कहे। आजकल वर्तमान काल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में त्रिकाल देव वंदन किया जाता है, उसमें प्रातः काल के आठ थुई-स्तुति का देव वंदन करके 'मन्नह जिणाणं' सज्झाय करने का व्यवहार चालू है।

उसके बाद पढ़े - गुणे, पुस्तक पढ़े, ऐसा करते जब पादोन पोरिसी का समय आये अर्थात् दिनमान के चौथे विभाग को पहर कहते हैं उसमें से 'पादोन' अर्थात् याद से कम अर्थात् सूर्योदय से पोना पहर पूर्ण हो तब 'पादोन पोरिसी' होती है। कई हमेशा के लिए सूर्योदय के बाद छह घड़ी व्यतीत हों तब 'पादोन पोरिसी' मानते हैं। तब खमासमण देकर 'इच्छा० संदि० भग० बहुपडि पुन्ना पोरिसी!' ऐसा कहकर दूसरा खमासमण देकर आदेश मांग इरियावहियं करे, पुनः खमासमण देकर '**इच्छा० संदि० भग० पडिलेहण करूं?**' इस तरह आदेश मांगकर '**इच्छं**' कहकर मुहँपत्ति का पडिलेहण करे और पढ़ना, पढ़ाना, वाचना आदि ज्ञान ध्यान करे। इस तरह से मध्याह्न का समय न हो, अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्त के मध्य काल के पहले २४ मिनट से प्रारंभ होकर बाद के २४ मिनट तक- इस तरह दिनमान के मध्य ४८ मिनट का समय ज्ञान पढ़ने के लिए अकाल है, उस समय तक ज्ञान ध्यान न करे। उस समय देव वंदन करना हो, तो तीन बार 'आवस्सहि' कहते हुए श्री जिनमंदिर जाकर देववंदन करे। वर्तमान काल में मध्य काल का देववंदन भी अवश्य करते हैं। वहाँ से आकर यदि पच्चक्खान पारणा हो तो जो पच्चक्खान किया हो उसका समय पूर्ण हो तब खमासमण देकर मुँहपत्ति पडिलेहण का आदेश मांगकर मुहँपत्ति का पडिलेहण करके फिर खमासमण देकर इस तरह पाठ बोले-

''परावह पोरिसी पुरिमुड्ढी वा चउ आहार कओ तिहार कओ वा आसि, निव्विएणं आयंबिलेण एगासणेणं पाणाहारेण वा जा काई वेला तीए।''

अर्थात्- 'पच्चक्खाण परवा दो। पोरसी, पुरिमड्ढ आदि चउ विहार अथवा तिविहार जो किया हो और नीवी, आयंबिल, एकासना या पाणाहार जो पच्चक्खान किया हो उसका समय पूर्ण हो तब वह पच्चक्खान पारणे की भावना हो तो पूर्व कहे अनुसार पाठ बोलकर पारणे के लिए गुरु महाराज की अनुमति प्राप्त करे, फिर देववंदन कर सज्झाय करे।

परन्तु वर्तमान काल में पहले खमासमण देकर इरियावहिया करके जगचिन्तामणी का चैत्य वंदन बोलकर जयवीयराय तक बोले, फिर खमासमण देकर सज्झाय आदेश मांगकर '**मन्नह जिणांण**' की सज्झाय बोलने में आती है। फिर खमासमण पूर्वक मुँहपत्ति पडिलेहण की आज्ञा लेकर मुहँपत्ति पडिलेहण करे, फिर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

खमासमणापूर्वक **'इच्छा० संदि० भग० पच्चक्खाण पारूं ?'** और दूसरा खमासमण देकर **'इच्छा० संदि० भग० पच्चक्खान पारा ।'** कहकर दाहिना हाथ मुष्ठिपूर्वक चखले के ऊपर स्थापन कर, एक नवकार बोलकर, स्वयं ने जो पच्चक्खान किया उसे याद कर, पच्चक्खान की छह शुद्धि याद करते हुए इस तरह पाठ बोले। उपवास किया हो तो **''सूरे उग्गए उपवास किया तिविहार, पोरिसी-साड्ढ पोरिसी** (इत्यादि जो किया हो वह) **पच्चक्खान किया पाण हार पच्चक्खाण फासियं - पालिअं सोहिअं तिरियं किट्टिअं आराहिअं जं च न आराहिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।''** एकासना आदि में **'उग्गए सूरे पोरिसी - साड्ढ पोरिसी या सूरे उग्गए परिमड्ढ - अवड्ढ** (इत्यादि जो किया हो वह) **पच्चक्खान किया चउविहार** (कोई तिविहार भी मानते हैं, वह किया हो) **तिविहार'** कहकर नीवी एकासणा या आयंबिल जो किया हो वह बोले, उसमे भी ठाम चउव्विहार बोले नहीं तो तिविहार बोले जैसे-एकासना किया तिविहार इस तरह जो पच्चक्खान किया हो उसे याद कर फिर **''पच्चक्खान फासिअं पालिअं सेहिअं तिरिअं किट्टिअं आराहिअं** (इन छह शुद्धि का अर्थ आगे पच्चक्खान अधिकार में कहा जायेगा।) **जं च न आराहिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।''** इस तरह बोले और फिर भोजन पहले के समय अविरति रूप में न जाय इसलिए मुट्ठिसहि आदि संकेत पच्चक्खान करे। इस तरह वर्तमान में पारने की विधि की जाती है ।

इस तरह पच्चक्खान पार कर अपने घर जाये, यदि पौषधशाला से घर या भोजन करने का स्थान सौ कदम से अधिक दूर हो तो वहाँ जाकर प्रथम इरिया-वही करके गमणागमण की आलोचना कर यथासंभव यदि किसी गुरु महाराज का योग हो तो अतिथि संविभाग का लाभ लेकर पूर्व कहे अनुसार पात्र मुख आदि का पडिलेहन-प्रमार्जन कर निश्चित आसन पर बैठकर, हाथ, पैर, मुख आदि प्रमार्जन कर (जो आजकल नहीं है) नवकार मन्त्र का जापकर रागद्वेष रहित प्रासुक-अचित वस्तु का भोजन करे। यदि पहले संदेश मिल गया हो और अपना स्वजनादि पौषध के स्थान पर भोजन लाया हो तो वहीं भोजन करे- घर पर नहीं जाय, परन्तु साधु के समान घर-घर में घूमकर भोजन नहीं प्राप्त करे। उसके बाद पुनः पौषधशाला में आकर इरियावही बोलकर जय चिंतामणि से लेकर चैत्य वंदन जय वीयराय तक (भोजन करने के निमित्त करे) और गुरु महाराज को वंदन करके पुनः तिविहार अथवा शक्य हो तो चउविहार पच्चक्खान करे ।

यदि उसे बड़ी नीति जाने की आवश्यकता हो तो तीन बार 'आवस्सहि'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहकर साधु के समान उपयोग पूर्वक ईर्या समिति का पालन करता हुआ जहाँ मनुष्यादि न हों और रेती आदि हो ऐसे निर्जन-निर्जीव स्थान पर जाकर दृष्टि से जमीन का प्रमार्जन करके वहाँ बैठे। बैठते समय '**अणुजाणह जस्सुग्गहो**' कहकर अनुमति मांगे और शुद्धि कर उठने के बाद उस बड़ी-लघु नीति (टट्टी-पेशाब) पानी आदि तीन बार 'वोसिरे' कहकर वोसिराये- त्याग करे, फिर पुनः वहाँ से उपयोग पूर्वक स्वस्थान पर आकर इरियावही प्रतिकमण करे, फिर खमासमण देकर गमणागमण आलोचना करे। उसका पाठ इस तरह है - '**इच्छाकारेण संदिसह भगवन् गमणागमणे आलोउं ?**' '**इच्छ**' कहकर आगे बोले :-

"वसति हुंता आपसी करी अवर दक्खिण दिसि जाइउ दिसालोअं करिअ, अणुजाणह जस्सुग्गह त्ति भणिअ, संडासए थंडिलं च पमज्जिय, उच्चार पासवणं-वोसिरिय, निसीहियं करिय, पोपह सालाए पविट्ठा आवंत-जंतेहिं जं खंडिय जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥"

भावार्थ- "पौपध के स्थान से आवस्सहि कहकर अपर-दक्षिण (नैऋत्य) दिशा में गया, वहाँ दिशा का अवलोकन किया, अर्थात् कोई देखता है या नहीं- उसके लिए चारों दिशा में देखा, फिर बैठने के स्थान पर 'अणुजाण ह जस्सुग्गहो' कहकर संडासा को अर्थात् बैठने में जो भाग साथल आदि दबता है उसे प्रमार्जन कर तथा जमीन को दृष्टि से देखकर लघु-बड़ी नीति की। उसे वोसिरा कर वापिस आकर निसीहि कहकर पौपधशाला में प्रवेश किया, यह सारा करने में या जाने आने में जो कोई जिनाज्ञा विरुद्ध खंडन अथवा किसी जीव की हिंसादि विराधना हुई हो वह मेरा पाप मिथ्या हो।"

इस तरह गुरु महाराज या स्थापनाचार्य के सन्मुख आलोचना करे। वर्तमान काल में- ईर्या समिति -भाषा समिति इत्यादि पाँच समिति तीन गुप्ति की विराधना के लिए सूत्र बोलकर 'मिच्छामि दुक्कडं' देने का व्यवहार है। उसके बाद पठन, पाठन, वाचन आदि स्वाध्याय करे और तृतीय पहर पूर्ण हो और चौथे पहर की शुरुआत होते ही खमासमण देकर '**इच्छा० संदि० भग० बहुपडि पुन्ना पोरिसी**' ऐसा कहकर इरियावही करे' फिर खमासमण देकर '**इच्छाकारेण संदिसह भगवन् पडिलेहन करूं ?**' ऐसा आदेश मांगे, फिर खमासमण देकर '**इच्छा० संदि० भग० पोषध शाला पर्माजू।**' ऐसा कहकर श्रावक मुँहपत्ति, चखला, आसन, पहना हुआ धोती, कंदोरा इन प्रत्येक का पडिलेहन करे तथा श्राविका मुँहपत्ति, चखला, आसन, साड़ी, चोली, पेटीकोट का पडिलेहन करे। उसके बाद इरियावही कहकर प्रभात के समान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पडिलेहन करे। खमासमण देकर **'इच्छा० संदिसह भगवन् पडिलेहण पडिलेहावा जी'** कहकर स्थापनाचार्य जी, बड़ों के बाल आदि का पडिलेहण करे, फिर मकान का प्रमार्जन कर खमासमणा पूर्वक आदेश मांगकर उपधि, मुँहपत्ति पडिलेहण कर खमासमण देकर उत्कटिकासन पर बैठकर सभी सुने। इस तरह पाँच गाथा से श्रावक की करणी की **'मन्नह जिणाणं'** सज्झाय बोले। फिर दो वन्दना देकर चउविहार का पच्चक्खान करके फिर एक-एक खमासमण पूर्वक उपधि पडिलेहण के दो आदेश मांगकर वस्त्र, कम्बल आदि शेष वस्त्रादि का पडिलेहन कर स्वाध्याय करे। यहाँ इतना विशेष है कि यदि उपवासी हो तो पहनने की धोती का आखिर में पडिलेहन करे, श्राविका तो सुबह के समान सर्व उपधि का पडिलेहण करे।

यहाँ आजकल इतना विशेष है कि शाम की पडिलेहन में मुंहपत्ति, फिर आसन का और तीसरे नम्बर में चखले का पडिलेहण करना तथा सुबह मुहँपत्ति, फिर चखला और उसके बाद आसन का पडिलेहन किया जाता है। उसके बाद दोनों समय पुरुष केवल धोती ही पहने हुआ होता है इसलिए धोती, कंदोरा दोनों और स्त्री को पेटीकोट, चोली और साड़ी तीनों पहने हुए होने से तीनों का पडिलेहण करे, अर्थात अपने वस्त्रों का पडिलेहन करने के बाद पडिलेहन करने वाले को पडिलेह मकान की प्रमार्जना पहले करने के लिये बतलाया है, परन्तु सुबह के समान शाम के पडिलेहण के बाद काजा लेने का व्यवहार अधिक स्थानों में देखा जाता है। अपनी शेष रही उपधि के पडिलेहण में भी सुबह पहले संथारा और फिर शेष वस्त्र और आखिर में खेस (उत्तरासंग) का पडिलेहण होता है और शाम को पहले खेस (उत्तरासंग) और आखिर में संथारा का पडिलेहण होता है। उपवास वाले को पच्चक्खान पहले वांदन नहीं दिये जाते। इस पडिलेहण के समय चौथे पहर के आरंभ में चारों आहार का त्याग चउविहार करे। वस्तुतः पौपध में तीसरे पहर में ही आहार पानी का कार्य समाप्त करना चाहि। और चौथे पहर की प्रारम्भ में ही पडिलेहण करके पच्चक्खान में चारें आहार का तयाग हो जाता है। आजकल पडिलेहण करने के बाद पानी नहीं पिया जाता, परन्तु उसका उद्देश्य समझे बिना पानी पीने के लिए पडिलेहण चौथे पहर के आखिर में करना और वहाँ तक पानी पीना, यह दोनों अविधि हैं। पडिलेहण के समय में पडिलेहण करना और पडिलेहण के बाद अर्थात् तीसरे पहर के बाद पानी बंद करना, यही वास्तविक विधि है। किसी बाल ग्याल आदि के लिए यह अपवाद मार्ग कहा है। सब के लिए नहीं है।

उसके बाद देववंदन करके पठन, पाठन, स्वाध्याय आदि करे। सायंकाल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समय में सूर्यास्त के पहले मकान के बाहर तथा अन्दर बड़ी नीति एवं लघु नीति की बारह-बारह भूमि का प्रमार्जन करे। उपदेश माला में कहा है कि :-

बारस बारस तिन्नि अ, काइअ उच्चार काल भूमी ओ ।
अंतो वहिं अहि आसे, अणहि आसेणा पडिलेहा ॥३७५॥

अर्थात्- "बारह-बारह और तीन इस तरह अनुक्रम से लघु नीति, बड़ी नीति और काल ग्रहण के लिए कुल २४ स्थान भूमिओं का पडिलेहण-प्रमार्जन करे। उसमें हाजत सहन हो तो मकान के बाहर और सहन नहीं हो तब अंदर की भूमि का उपयोग करे ।" इस विधि को मांडला की विधि कहते हैं । उसका पाठ इस प्रकार है:-

बड़ी नीति के लिए १२ लघु नीति के लिए १२

१. संथारे के पास छह

१. आघाडे आसन्ने उच्चारे पासवणे अहियासे २. आघाडे आसन्ने पासवणे अणिहियासे
३. आघाडे मज्झे उच्चारे पासवणे अहियासे ४. आघाडे मज्झे पासवणे अणिहियासे
५. आघाडे दूरे उच्चारे पासवणे अहियासे ६. आघाडे दूरे पासवणे अणिहियासे

२. उपाश्रय के द्वार के पास अन्दर के भाग में छह

१. आघाडे आसन्ने उच्चारे पासवणे अहियासे २. आघाडे आसन्ने पासवणे अहियासे
३. आघाडे मज्झे उच्चारे पासवणे अहियासे ४. आघाडे मज्झे पासवणे अहियासे
५. आघाडे दूरे उच्चारे पासवणे अहियासे ६. आघाडे दूरे पासवणे अहियासे

३. मकान के द्वार के पास में बाहर के विभाग में छह

१. अणाघाडे आसन्ने उच्चारे पासवणे अणहियासे २. अणाघाडे आसन्ने पासवणे अणहियासे
३. अणाघाडे मज्झे उच्चारे पासवणे अणहियासे ४. अणाघाडे मज्झे पासवणे अणहियासे
५. अणाघाडे दूरे उच्चारे पासवणे अणहियासे ६. अणाघाडे दूरे पासवणे अणहियासे

४. बाहर सौ कदम के अन्दर निर्जीव भूमि में छह

१. अणाघाडे आसन्ने उच्चारे पासवणे अहियासे २. अणाघाडे आसन्ने पासवणे अहियासे
३. अणाघाडे मज्झे उच्चारे पासवणे अहिसासे ४. अणाघाडे मज्झे पासवणे अहियासे
५. अणाघाडे दूरे उच्चारे पासवणे अहियासे ६. अणाघाडे पासवणे अहियासे

यहाँ '**आघाडे**' अर्थात् किसी उपद्रवादि विशिष्ट कारण से मकान के बाहर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

न जाया जाय तब मकान में ही बड़ी-लघु नीति करने के लिए दो स्थान रखे जाते हैं- एक संथारे के पास और दूसरा दरवाजे के पास में अन्दर का विभाग। उसमें **'अनहियासे'** अर्थात् स्थंडिल-मात्रा की हाजत अधित-असह्य होने से विलम्ब नहीं कर सकता हो तब संथारा के पास की भूमि का उपयोग किया जाता है और **'अहियासे'** अर्थात् ऐसी अधिक हाजत न हो-सहन कर सकता हो तो द्वार के पास की अन्दर की भूमि का उपयोग कर सकता है।

'अनाघाडे' अर्थात् ऐसा कोई आगाढ़ कारण न हो, मकान के बाहर जाने में मुश्किल न हो, तब मकान के बाहर दो स्थान-जगह रखी जाती है, उसमें **'अणहियासे'** के समय में मकान के पास में ही बाहर का विभाग और **'अहियासे'** के प्रसंग पर सौ कदम के अन्दर जगह का उपयोग करना चाहिए। पहले पाठ में **'उच्चारे पासवणे'** ये दो शब्द आते हैं उससे लघु-बड़ी नीति दोनों समझना और दूसरे पाठ में **'पासवणे'** अर्थात् केवल लघु नीति समझना। उसके सिवाय **'आसन्ने'** अर्थात् नजदीक **'मज्झे'** यानि मध्य में और **'दूरे'** अर्थात् दूर में। इस तरह प्रत्येक में तीन-तीन स्थान इसलिए रखे जाते हैं कि यदि रात्रि में बाहर जमीन पर कोई बैल आदि पशुओं का, अन्दर की जमीन में कोई चींटी, कुंथु आदि जीवों का उपद्रव हो तो नजदीक छोड़ कर मध्य में और मध्य में भी उपद्रव हो तो दूर की- इस तरह तीन में से किसी एक का यथासंभव उपयोग हो सकता है। **'आगाढ'** कारण अर्थात् विशिष्ट रोग या राजा, चोर आदि का भय हो अथवा संयम का अपघात होता हो तो या अन्य कोई विशेष कारण हो तब मकान के बाहर नहीं जाना। इस तरह से मांडला-स्थंडिल शुद्धि के पाठ का अर्थ कहा गया है।

इसके बाद प्रतिक्रमण करना चाहिए। यदि साधु मुनिराज का योग हो तो उनके शरीर को दबाना आदि सेवा करे अथवा खमासमण देकर सज्झाय पठन, पाठन आदि करे। जब सूर्यास्त से रात्रि का एक पहर पूर्ण हो जाय तब खमासमण देकर **'इच्छा० संदि० भग० बहुपडिपुन्ना पोरिसी'** कहकर खमासमण देकर इरियावही करके खमासमणा देकर **'इच्छा० संदि० भग० बहुपडिपुन्ना पोरिंसी राइय संथारा ठामि ?'** इस तरह आज्ञा मांगकर **'इच्छ'** कहकर चउकसाय० बोलकर नमोत्थुणं से लेकर जय वीयराय तक चैत्यवंदन करे फिर लघु शंका निवारण कर सर्व उपधि अर्थात् संथारा के लिए अनुपयोगी वस्तुएं, प्याला और डंडासन आदि प्रत्येक को सार संभाल कर संथारा उत्तर पट्टा घुटने के ऊपर रखकर, बैठे-बैठे यतनापूर्वक पैर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तथा भूमि का प्रमार्जन करके धीरे-धीरे जयणा से संथारा बिछाये । फिर बायें पैर से संथारे को स्पर्श करके मुँहपत्ति का पडिलेहण करके बोले **''निसीही निसीही निसीही नमो खमासमणाणं''** अर्थात् मन, वचन और काया से पाप व्यापार का त्याग करने रूप तीन बार **'निसीही'** कहकर 'क्षमा श्रमण को नमस्कार हो' ऐसा कहकर फिर **''गोयम माईणं महामुणीणं''** अर्थात् - 'गौतम आदि महा मुनियों को, क्षमा श्रमणों को नमस्कार हो' ! फिर **''अणुजाणह जिट्ठज्जा''** अर्थात् - 'हे मेरे ज्येष्ठ-बडे आर्य ! मुझे संथारा करने की आज्ञा दो ।' इस तरह बोलते हुए संथारे पर बैठ कर नवकार मन्त्रपूर्वक 'करेमि भन्ते !' सूत्र सहित तीन बार कहकर इस प्रकार पाठ बोले :-

अणु जाणह परम गुरु, गुरु गुण रणेहिं मंडिय सरीरा ।
बहुपडि पुन्ना पोरसी राइ य संथारए ठामि ? ॥१॥

अणु जाणह संथारं, बाहूवहाणेण वाम पासेणं ।
कुक्कुडि पाय पसारण अतरंत पमज्जए भूमि ॥२॥

संकोइय संडासा, उव्वट्टंते य काय पडिलेह ।
दव्वाइ उवओगं, ऊसास निरूंयणाऽऽलोए ॥३॥

जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्स इमाइ रयणीए ।
आहार मुवही देहं, सव्वं तिविहेण वोसिरियं ॥४॥

अर्थात्- ''हे महान् गुणरत्नों से सुशोभित पवित्र देह वाले परम गुरु महाराज ! मुझे आज्ञा दो ! पोरिसी पूर्ण हो गई है, मुझे रत्रि में संथारे पर सोना है । (१)॥ मुझे संथारवे (शयन) के लिए आज्ञा दीजिये ! वह किस तरह शयन के लिए ? उसे कहते हैं- ये हाथ का तकिया करके अर्थात् सिर के नीचे बायाँ हाथ रखकर बायीं करवट लेकर कुकडी (टिटिहरी चिडिया) के अनुसार पैर ऊंचे रखकर शयन करना और उस तरह श्रम लगने पर पैर लम्बे करने के लिए संथारा के विभाग का प्रमार्जन कर पैर लम्बा करूँगा । (२)॥ करवट बदलनी हो तब भी संडासा अर्थात् साथल आदि प्रमार्जन से पैर संक्षेप कर करवट बदलने की संथारे की जगह और बदलने वाली करवट- दोनों के प्रमार्जन से करवट बदलना । रात में लघु नीति आदि के लिए जाना पड़े तब जागने के बाद (निद्रा न जाये तो) श्वास रूंधन कर द्रव्यादि का उपयोग करना अर्थात् 'मैं कौन हूँ ? क्षेत्र से कहा हूँ ? काम से अब कौन सा समय है ? और भाव से मैं कौन सी अवस्था में हूँ ? मुझे क्या-क्या कार्य करणीय है ?' इत्यादि निश्चय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करना। इस प्रकार स्मरण करने से दिशा भ्रम आदि नहीं होती इस तरह शयन करने की और जागने की विधि कही है। यह दूसरा और तीसरा श्लोक ओघ निर्युक्ति की २०५ और २०६ गाथा है।

अब कभी निद्रा में ही प्रमाद अर्थात् मृत्यु हो जाय तो आत्मा को परिग्रह का पाप न रहे इसलिए साकार-आगर सहित अनशन की विधि कहते हैं कि- 'यदि इस नींद में मेरी मृत्यु हो जाय तो चारों प्रकार का आहार उपधि अर्थात् जीवन में उपयोगी सारे वस्त्र-पात्रादि परिकर तथा (अन्तिम श्वास में) यह शरीर- इन सबको मन, वचन और काया से वोसराता-त्याग करता हूँ। इस तरह सागर अनशन करके मंगल के लिए निश्चय करते हैं उसके बाद चत्तारि मंगल आदि करते हैं:-

"चत्तारि मंगलं-अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहु मंगलं, केवलि पन्नत्तो धम्मो मंगलं, चत्तारि लोगुत्तमा-अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहु लोगुत्तमा केवलि पन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो, चत्तारि सरणं पवज्जामि-अरिहंते शरणं पवज्जामि, सिद्धे शरणं पवज्जामि, साहु शरणं पवज्जामि, केवलि पन्नत्तं धर्म शरणं पवन्नत्तं धम्म शरणं पवज्जामि॥" (आवश्यक सूत्र अध्ययन ८)

अर्थात् - "१- अरिहंत, २ - सिद्ध, ३- साधु-मुनिराज और ४- केवली भगवन्त कथित धर्म, ये चारों ही मेरे मंगल रूप- सर्व विघ्नों का नाश करने वाले हैं। क्योंकि १- अरिहंत परमात्मा, २- सिद्ध भगवन्त, ३-साधु मुनिराज और ४- केवली कथित धर्म- ये चारों ही लोक-जगत् में सर्वश्रेष्ठ उत्तम हैं। इसलिए मैं १- अरिहंत परमात्मा की, २- सिद्ध भगवन्त की, ३- साधु मुनिराज की और ४- केवली भगवन्त कथित धर्म की - इन चारों की शरण स्वीकार करता हूँ।"

पाणाइ वाय मलिअं, चोरिक्कं मेहुणं दविण मुच्छं ।
कोहं माणं, माया, लोहं पिज्ज तहा दोसं ॥१॥

कहहं अब्भक्खाणं, पेसुन्नं रइ अरइ समाउत्तं ।
पर परिवायं माया मोसं मिच्छत्त सल्लं च ॥२॥

वोसिरिसु इमाइं मुक्खमग्ग संसग्ग विग्ध भूयाइं ।
दुग्गइ निबंधणाइं, अट्ठारस पावठा णाइं ॥३॥

एगोऽहं नत्थि मे कोई, नाहमन्नस्स कस्सइ ।
एवं अदीण मणसो अप्पाणमणुसासइ ॥४॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एगो मे सासओ अप्पा, नाण दंसण संजुओ ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा ॥५॥

संयोगमूला जीवेण, पत्ता दुक्ख परंपरा ।
तम्हा संयोग संबन्ध, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥६॥

अर्थात् "१-प्राणातिपात, २- झूँठ, ३- चोरी, ४- मैथुन, ५- पर द्रव्य की मूर्छा-परिग्रह, ६- क्रोध, ७- मान, ८-माया, ९-लोभ, १०- राग, ११- द्वेष, १२- कलह-झगड़ा, १३- अभ्याख्यान-झूँठा कलंक देना, १४- पैशुन्य-सत्य भी गुप्त बात कहना, १५- रति-अरति = हर्ष-खेद , १६- पर निंदा-पीछे दुर्गुण बोलना, १७- माया पूर्वक असत्य बोलना और १८- मिथ्यात्व शल्य - ये अठारह आत्मा के विषय में पाप के स्थान या कारण स्वरूप हैं ।१-२॥ ये पाप स्थानक दुर्गति के कारण भूत हैं । मोक्ष मार्ग की प्राप्ति में विघ्नभूत हैं, इसलिए उन सब को मैं वोसिराता-त्याग करता हूँ ।३॥ मैं अकेला ही हूं, मेरा इस जगत् में कोई नहीं है, मैं भी किसी का नहीं हूँ - इस तरह मन में दीनता लाये बिना आत्मा का अन्यत्व चिन्तन करना । ४॥ मूल रूप में मेरा आत्मा स्वतंत्र एक ही है, शाश्वत है और ज्ञान-दर्शन आदि गुणों से युक्त है । इसके सिवाय अन्य जो जो पदार्थ हैं वह मेरे नहीं हैं, पराये हैं, सर्व केवल संयोग रूप नाश होने वाले-अनित्य हैं ।५॥ ये संयोग ही दु:ख का मूल हैं । इनसे मेरे जीव ने दु:खों की परम्परा भोगी है अर्थात् संयोग ही दु:ख का मूल है । इसलिए उस संयोग रूप अन्य पदार्थों के सम्बन्ध का मन, वचन और काया से मैं त्याग करता हूँ ।६॥ इस तरह से आत्म स्वरूप का विचार चिन्तन कर-स्वभाव में स्थिर होकर सम्यकत्व का पच्चक्खान इस तरह से तीन बार करे :-

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहूणो गुरुणो ।
जिन पन्नत्तं तत्तं इअ सम्मत्तं मए गहिअं ॥१॥

अर्थात्- "जब तक जीवन रहेगा तब तक श्री अरिहंत परमात्मा ही मेरे देव हैं, सुसाधु ही मेरे गुरु हैं और जिनेश्वर द्वारा कहा हुआ तत्त्व ही मेरा प्रमाण भूत है ।" इस प्रकार समकित का स्मरण कर श्री पंच परमेष्ठि नमस्कार रूप नवकार महामन्त्र का साधु तीन बार और श्रावक सात बार स्मरण करे । उसके बाद सर्व जीवों से क्षमा याचना करे । वह इस तरह :-

खमिअ खमाविअ मयि खमह ! सव्वह जीव निकाय ।
सिद्धह साख आलोयणह, मुज्झह वइर न भाव ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सव्व जीवा कम्म वस, चउदह राज भमंत ।
ते मे सव्व खमविआ, मुज्झवि तेह स्वमंत ॥२॥
जं जं मणेण बद्धं, जं जं वाएण भासियं पाव ।
जं जं काएयं कयं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स ॥३॥

अर्थात् – "मैं अन्य के अपराधों को क्षमा करता हूँ और मेरे जो अपराध हुए हों उनकी क्षमा याचना करता हूँ । सर्व छह जीव निकाय जीव मुझे क्षमा करें । मैं सिद्ध भगवन्त की साक्षी में आलोचना करता हूँ कि मेरा किसी के साथ वैर भाव नहीं है ।(१)॥ सर्व का जीव कर्म के आधीन चौदह राज लोक में परिभ्रमण करता है, जन्म मरण करता है, उन सब को मैं खमाता हूँ, और मुझे भी वे क्षमा दें । (२)॥ मैंने जो-जो पाप मन के द्वारा चिन्तन किया हो, वचन के द्वारा कहा हो और काया के द्वारा किया हो वह सब मेरा पाप मिथ्या हो । (३)॥"

इसी प्रकार सर्व चौरासी लाख जीव योनि से क्षमा याचना करे । वर्तमान काल में तो रात में पोरिसी के समय में सभी साथ में मंडलाकार आसन के ऊपर बैठकर पूर्वोक्त सब पाठ एक साथ में बोलकर संथारा पोरिसी पढ़ाने का व्यवहार है । यदि रात्रि में शरीर चिन्ता का प्रयोजन पड़े तो संथारा दूसरे को सौंपकर 'आवस्सहि' कहकर, पहले पडिलेहण की भूमि में लघु शंका करके त्याग करे। फिर संथारा के पास में आकर इरियावही करके गमणागमण की आलोचना कर कम से कम तीन गाथा स्वाध्याय कर नवकार मंत्र का स्मरण करते हुए पुनः शयन करे ।

इस तरह से शुभ ध्यान पूर्वक शयन करे और रात्रि के आखिरी पहर में जागृत हो जाय अर्थात् एक पहर रात्रि शेष रहे तब निद्रा का त्याग करे । जागृत होने की विशेष विधि इस ग्रन्थ के अन्दर दिन कृत्य में कही गई है । फिर इरियावही करके 'कुसुमिण दुःसमिण का उस्सग्ग करे वह इस तरह – खमासमण देकर **'इच्छा० संदि० भग० कुसुमिए-दुःसमिण ओहावणार्थं काउस्सग्ग करूं ?'**

'इच्छं कुसुमिण दुःसुमिण करिमि काउस्सग्गं अन्नत्थादि' कर चार लोगस्स का सागर वर गंभीरा तक १०८ श्वासोच्छ्वास का काउस्सग्ग करे, उसमें यदि सामान्य दुर्ध्यान आदि स्वप्न आया हो तो १०० श्वासोच्छ्वास का चंदेसु निम्मलयरा तक ही चार लोगस्स जपे और स्वयं स्त्री सेवन करने रूप दुष्ट स्वप्न आया हो तो १०८ श्वासोच्छ्वास का काउस्सग्ग करे, फिर उसे पूर्णकर प्रगट लोगस्स बोले । वह भी दिन कृत्य में प्रातःकाल के कर्त्तव्य में कहा जायेगा । उसके बाद खमासमण पूर्वक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जग-चिन्तामणि का चैत्य वंदन जय वीयराय तक कहे, फिर चार खमासमण सहित 'भगवानहं' आदि चार वंदन करके एक-एक खमासमण पूर्वक सज्झाय के दो आदेश मांग कर स्वाध्याय करे। परन्तु वर्तमान काल में दो खमासमण से सज्झाय के दो आदेश लेकर नवकार मन्त्र बोलकर 'भरहेसर बाहुबली' आदि संत सतियों के नाम स्मरण रूप सज्झाय बोली जाती है। उसके बाद जब प्रतिक्रमण करने का समय हो तब प्रभातिक (राई) प्रतिक्रमण प्रथम इरियावही प्रतिक्रमण करके प्रारंभ करे अर्थात् इच्छाकार, फिर **'इच्छा० संदि० भग० राइ पडिक्कमणे ठाऊं'** इत्यादि से आरंभ करके करे। इसकी विधि इस ग्रन्थ में दी है। विधि पूर्वक प्रतिक्रमण होने के बाद पडिलेहण करके आखिर में सर्व श्रावकों के साथ मंडली के अन्दर स्वाध्याय (सज्झाय) करे।

यदि पौषह पारने की इच्छा हो तो खमासमण देकर इरिया वही करे, फिर खमासमण देकर खड़े-खड़े **'इच्छा संदिसह भगवन मुँहपत्ति पडिलेहुं ?'** ऐसा कहे। तब गुरु कहे **'पडिलेहेह'** तब **'इच्छ'** कहकर नीचे बैठकर मुहँपत्ति पडिलेहण करे, पुनः खमासमण देकर **'इच्छा० संदि० भग० पोषह पारूं ?'** ऐसा प्रश्न वाचक कहे तब गुरु **''पुणो वि कायव्वो''** अर्थात् 'पुनः यह करने योग्य है।' ऐसा कहे तब स्वयं **'यथाशक्ति'** कहकर पुनः खमासमण देकर **'इच्छा० संदि० भग० पौषह पारा'** ऐसा कहे। तब गुरु **''आयारो न मुत्तव्वो''** अर्थात् 'पौषध का आचार छोड़ने योग्य नहीं है।' ऐसा कहते हैं। उसके उत्तर में श्रावक कहे **'तहत्ति'** अर्थात् 'आप का कथन प्रमाण है।' फिर नवकार बोलकर घुटने के बल पर बैठकर मस्तक जमीन पर नमाकर पारणे का सूत्र बोलना चाहिए। परन्तु आजकल खड़े पैर बैठकर चखले पर हाथ की स्थापना कर फिर नवकार बोलकर पारने की विधि देखने में आती है। सामायिक पारने में भी इसी तरह की प्रवृत्ति दिखती है। प्रत्येक क्रिया की आदि में इरियावही का विधान आवश्यक है। इस ग्रन्थ में नहीं बतलाया हो तो भी इरियावही जरूर करे।

सागर चन्दो कामो, चंदवडिंसो सुदंसणो धन्नो ।
जसिं पोसह पडिमा, अखंडिआ जीवियंते वि ॥१॥
धन्ना सलाह णिज्जा, सुलसा आणंद काम देवा य ।
जास पसंसइ भयवं दढव्व यत्तं महावीरो ॥२७॥

अर्थात् – 'सागर चन्द्र कामदेव, चन्द्रावतंसक और सुदर्शन आदि धन्य हैं एवं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रशंसनीय हैं कि जिनकी पौषध प्रतिमा-पौषध व्रत प्राणांत उपसर्ग आने पर अखंडित रहे, वह व्रत खंडन नहीं किया ।१॥ तथा सती सुलसा आणंदजी और कामदेव आदि आत्माएँ धन्य हैं और प्रशंसनीय हैं कि जिन के व्रत की दृढ़ता की श्रमण भगवान श्री महावीर ने अपने मुख से प्रशंसा की है ।२॥''

इस तरह पौषध करने वालों की स्तुति करके 'पौसह विधि से लिया, विधि से पूरा किया, विधि करते यदि कोई अविधि-खंडना-विराधना हुई हो तो मन, वचन और काया के द्वारा उसका मिच्छामि दुक्कडम करता हूँ।' पौषध व्रत के अठारह दोष प्रसिद्ध हैं - (१) पौषध में अधिक पानी का उपयोग करे, (२) पौषध में स्वादिष्ट आहार करे, (३) पारणे के भोजन का चिन्तन-विचार करे, ४. पौषध के लिए शरीर की शोभा करे, ५. पौषध के लिए वस्त्र धोये, ६. आभूषण धारण करने, ७. पौषध के लिए वस्त्र रंगाये, ८. पौषध में मैल उतारे, ९. पौषध में दिन अथवा रात्रि में पोरिसी पढ़ाने के पहले सो जाये, १०. राजकथा, ११. देशकथा, १२. भोजनकथा, १३. स्त्रीकथा- ये चार विकथा करना १४. प्रमार्जन बिना लघु नीति आदि परठना, १५. परनिंदा करना, १६. चोर या चोरी की बातें करना, १७. स्त्रियों के अंगोपांग सराग दृष्टि से देखना और १८. पौषध रहित गृहस्थ या स्वजन सम्बन्धियों के साथ सावध बात करनी । ये अठारह दोष पौषध में त्याग करने चाहिएं ।

इस तरह से पौषह पार कर फिर सामायिक को भी पौषह के समान पारे अर्थात् इरिया वही बिना ही मुँहपत्ति का पडिलेहण आदेश मांग कर करना, फिर पौषध शब्द के स्थान पर सामायिक शब्द के साथ दो आदेश मांग कर सामायिक पारणा । उसके पारणा का सूत्र इस प्रकार है:-

सामाइअ वय जुतो, जाव मणे होइ नियम संजुतो ।
छिंदइ असुहं कम्मं, सामाइअ जतिआ वारा ॥१॥
छउमत्थो मूढमणो, कित्ति अमित्तं च संभरइ जीवो ।
जं न संभरामि अहं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स ॥२॥
सामाइअ पोसह सुट्ठि अस्स जीवस्स जाइ जो कालो ।
सो सफलो बोधव्वो, सेसो संसार फल हेऊ ॥३॥

अर्थात्- सामायिक व्रत वाला श्रावक जहाँ तक मन में नियम युक्त (मन का संयम) हो उतने समय तक सामायिक करे, उतने समय तक अशुभ कर्मों का छेदन करता है ॥१॥ छद्मस्थ-अज्ञानी एवं मोह से मूढ़ मनवाले जीव कितना याद रख

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सकते हैं ? इसलिए मुझे जो याद न हो वह भी सामायिक में लगे, मेरे पाप मिथ्या हो जायं ॥२॥ सामायिक और पौषध में सुस्थित-एकाग्र जीव को जितना काल उपयोग में जाय उतना समय सफल समझना, शेष काल संसार वृद्धि का कारण जानना ॥३॥''

(तपागच्छ की समाचारी के अनुसार सामायिक पारणे की विधि में दूसरी तीसरी गाथा के बदले **''सामाइयंमि उकए''** गाथा बोली जाती है, वह इस ग्रन्थ के सामायिक व्रत के अधिकार में दी गई है तथा खरतर गच्छ की समाचारी के अनुसार पूर्व की तीन गाथा के अतिरिक्त और दो गाथा मिलाकर पाँच गाथाएँ बोली जाती हैं ।)

इस तरह गाथा बोलकर फिर ''सामायिक विधि से लिया, विधि से पारा, विधि करते समय जो कोई अविधि हुई हो वह सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं। दस मन के, दस वचन के और बारह काया के- इन बत्तीस दोषों में जो कोई दोष लगा हो उन सब को मन, वचन, काया के द्वारा मिच्छामि दुक्कडं ।'' इस तरह कहकर सामायिक पूर्ण कर दे । मन, वचन, काया के जो बत्तीस दोष हैं वह कहते हैं:-

मन के दस दोष:- १. रोष करना, २. अविवेक पूर्ण चिन्तन करना, ३. तत्त्व ज्ञान का चिन्तन नहीं करना, ४. उद्वेग धारण करना, ५. यश कीर्ति की इच्छा करना, ६. बड़े बुजुर्गादि के प्रति विनय-पूज्यभाव नहीं रखना, ७. भय की चिन्ता करना, ८. व्यापार का चिन्तन करना, ९. सामायिक के फल में संदेह करना और १०. निदान करना ।

वचन के दस दोष:- १. खराब वचन बोलना, २. अपमान जनक वचन बोलना, ३. पापकारी वचन बोलना, ४. बहुत बोलना, ५. कलहकारी बोलना, ६. अविरति का स्वागत पोषण हो ऐसा वचन बोलना, ७. गाली देना, ८. विकथा करना, ९. अविनय से वचन बोलना और १०. हास्य पूर्वक बोलना ।

काया के बारह दोष:- बारम्बार जहाँ-तहाँ, इधर-उधर बैठना, २. चारों दिशाओं में देखते रहना, ३. पापकारी क्रिया करना, ४. आलस मरोड़ना, ५. बालक को खिलाना, ६. किसी का सहारा लेकर बैठना, ७. शरीर का मैल उतारना, ८. शरीर पर खुजली करना, ९. पैर पर पैर चढ़ाकर बैठना, १०. शरीर के आराम की खातिर खुले शरीर रहना, ११. लज्जा या ठंडी आदि से शरीर ढांकना और १२. सामायिक में सोते रहना ।

इस तरह कुल १०+१०+१२ = ३२ दोष सामायिक में छोड़ने चाहिएं । ये दोष अन्यत्र और रूप से भी कहे गये हैं । यह अहो रात्रि पौषध की विधि कही ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यदि केवल दिन का ही पौसह हो तो पौसह के पच्चक्खाण में "**जाव दिवसं पज्जुवासामि**" यह पाठ बोले। दिन का पौषध शाम का प्रतिक्रमण करके सूर्यास्त के बाद पार सकता है, केवल रात्रि का पौषध करना हो तो मध्याह्न के बाद और सूर्यास्त के पहले एक मुहूर्त्त शेष हो तब तक ले सकता है और उसके पच्चक्खाण में "**जाव दिवस सेसरात्रिं पज्जुवासामि**" बोलना। आजकल "**जाव सेस अहोरत्तं**" बोला जाता है। दोनों का अर्थ एक समान है। पौषध के पारणे के दिन यदि साधु महाराज का योग हो तो अवश्य अतिथि-संविभाग व्रत करके उनको वहोराकर फिर पारण करना चाहिए।

यहाँ "**पर्व चतुष्टवी**" ऐसा कहा है। इन चार पर्व के दिनों में तो अवश्य पौषध करना चाहिए- इस तरह बताने के लिए कहा है। अर्थात् चार दिन के सिवाय के पर्व या अपर्व के दिनों में पौषध नहीं करना- ऐसा नहीं समझना। आवश्यक चूर्णि भाग दूसरे में कहा है कि:-

सव्वेसु काल पव्वेसु, पसत्थो जिणमए तहा जोगो ।
अट्ठमी चउद्दसीसुं निअमेण हविज्ज पोसहिओ ॥१॥

अर्थात्- 'सर्व काल और सर्व पर्व के दिनों में अर्थात् हमेशा ही जिन मत में प्रशस्त योगों की प्राप्ति हो- इस तरह आचरण करना चाहिए और अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वों में तो अवश्य पौषधी बनना चाहिये।'

आवश्यक चूर्णि आदि आगम ग्रन्थों में भी इस प्रकार से कहा है। इस तरह सुय गडांग सूत्र आदि में श्रावक वर्णन अधिकार में कहा है:-

"**चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ पुण्ण मासी सु पडि पुण्णं पोसहं अणु पाले माणां।**" अर्थात् चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा-इन दिनों में प्रति पूर्ण पौषध का अनुपालन करते हुए आदि अक्षर देखकर इन चार पर्व में ही पौषध करना- अन्य दिनों में नहीं करना- ऐसा अर्थ करना योग्य नहीं है, क्योंकि यह अर्थ करने से विपाक सूत्र नामक अंग में सुबाहु कुमार के वर्णन में तीन दिन साथ में पौषध करने का कथन है वह असत्य हो जायेगा। वह पाठ इस तरह है - "**तए णं से सुबाहु कुमारे अन्न या कया इ चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ पुण्ण मासीसु जाव पोसह सालाए पोस हिए अट्ठम भत्तिए पोसहं पडि जागर माणे विहरइ**" त्ति ॥ अर्थात् - 'तब वह सुबाहु कुमार चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा- इन चार पर्व में अन्यदा किसी समय अट्ठम का तप करके पौषध व्रतवाला वह स्वयं पौषधशाला में पौषध का पालन करते हुए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रहता था ।' यहाँ तीन दिन साथ में पौषध करने का बताने वाला 'अठ्ठम' शब्द से चार पर्वों से अतिरिक्त अन्य दिनों में भी पौषध का विधान स्पष्ट जान सकते हैं । अब पौषध व्रत का फल संबोध प्रकरण श्राद्ध व्रताधिकार में कहा है:-

कचण मणि सोवाणं, थंभ सहस्सुअं सुवण्ण तलं ।
जो कारिज्ज जिणहरं, तओवि तव संजमो अहिओ ॥१३०॥

अर्थात्- "जो मणि जड़ित सुवर्ण मय सोपान-पौड़ी वाला, हजार स्थंभ वाला, ऊंचा सोने के फर्शवाला श्री जिन मंदिर तैयार करवाये, उससे भी तप के साथ संयम रूप पौषध की आराधना विशेष फलदायी है ।"

पूर्व में सामायिक के एक मुहूर्त्त के जितन काल में ६२५६२५६२५$\frac{६}{६}$ + $\frac{१}{३}$ पल्योपम का देव आयुष्य बंधन होने का फल बतलाया है, इस अंक से पौषध के काल की अपेक्षा से सामान्य रूप से तीस गुणा करते एक पौषध व्रत से २७७७७७७७७७७७$\frac{७}{६}$ पल्योपम प्रमाण देव जन्म का आयुष्य बंधन करता है । सम्बोध प्रकरण में आगे कहा है कि:-

सत्तत्तरी सत्तसया, सत्तहत्तरी सहस उक्ख कोडी आ ।
सगवीस कोडीसया, नव भागा सत्त पलि अस्स ॥१३४॥

अर्थात्- " सताईस अरब, सतहत्तर करोड़, सतहत्तर लाख, सतहत्तर हजार, सात सौ सत्तहत्तर पल्योपम और पल्योपम के सात नवमांश भाग जितना देव जन्म का आयुष्य, आठ पहर के एक पौपह करने से बंधन होता है।"

इस तरह तीसरा शिक्षा व्रत कहा । अब चौथा अतिथि संविभाग व्रत कहते हैं -

आहार वस्त्र पात्रादेः, प्रदानमतिथेर्मुदा ।
उदीरितं तद तिथि - संविभागव्रतं जिनैः ॥४०॥

मूलार्थ- "पूज्य भाव - भक्ति पूर्वक आहार, पानी, वस्त्र पात्रादि का अतिथि (साधु मुनिराज) को हर्ष पूर्वक दान देना- उसे श्री जिनेश्वर देव ने अतिथि संविभाग व्रत कहा है ।"

व्याख्या - तिथि, पर्व आदि लौकिक व्यवहार का बन्धन जिसने त्याग किया हो अर्थात् जिसके आगमन की कोई नियत तिथि न हो, जिसके कोई पर्व या उत्सव आदि नियत नहीं हैं, ऐसे उत्कृष्ट अतिथि साधु साध्वी हैं । जब वे भिक्षा के लिए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भोजन काल में अपने आँगन के अन्दर पधारे हों तब वे अतिथि कहलाते हैं । कहा है कि:-

तिथि पर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना ।
अतिथिं तं विजानीयात् शेषमभ्यागतं विदुः ॥१॥

अर्थात्- "तिथि, पर्व, दिन या उत्सवों आदि को जिन महात्माओं ने त्याग किया है उसे अतिथि जानना । उनकी सभी दिनों में धर्म आराधना ही मुख्य कर्तव्य होता है । और शेष भिक्षु आदि को अभ्यागत समझना ।"

यहाँ श्रावक धर्म का अधिकार चलता है, इसलिए श्रावक के विषय में साधु-साध्वी को ही अतिथि समझना । साधु महात्मा रूप अतिथि को गुरु रूप में मान कर बहुमान-भक्ति से, अतिशय हर्ष से, मन-वचन और काया की शुद्धि पूर्वक, निर्दोष आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि का दान देना, अतिथि संविभाग कहलाता है । इससे उलटा दयाभाव से 'अरे मैं नहीं दूंगा तो ये बिचारे भूख से मर जायेंगे !' इत्यादि अध्यवसाय से दान दें तो वह अतिथि संविभाग नहीं है । इससे आंशातना लगती है क्योंकि जगत् पूज्य श्रमण साधु जीवन प्राप्त करने वाले मुनि जन को बिचारे, दीन, दुःखी मानना मूढ़ता है । उन्हें आहार अर्थात् अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य रूप चार प्रकार का दान देना । वस्त्र शब्द से ओढ़ने-पहनने के वस्त्र, कम्बल आदि का दान देना, पात्र अर्थात् साधु के लिए उपयोगी काष्ठादि की तरपणी, चेतना, तुम्बा, पात्रे आदि समझना । उसके सिवाय भी आदि शब्द से मकान, पट्टा, बाजोट, चौकी, पटडा, शय्या, संथारा तथा बिछाने के लिए ऊन का आसन आदि साधु धर्म में उपयोगी वस्तुओं का दान देना वह 'अतिथि संविभाग' रूप समझना । इससे यह निश्चित हुआ कि सोना, चांदी, धन, पैसे आदि साधु को नहीं दे सकते, ऐसे दान का निषेध किया है उसको रखना या स्पर्श भी साधु नहीं करते । वास्तव में ऐसे उत्कृष्ट सुपात्र को उनकी आवश्यकता के अनुसार दान देने को श्री जिनेश्वर भगवान ने अतिथि संविभाग व्रत कहा है ।

'अतिथि संविभाग' शब्द की व्युत्पत्ति पूर्वक व्याख्या इस प्रकार से है - **अतिथि** अर्थात् इसका स्वरूप पहले कह गये हैं । ऐसे महाभाग्यशाली दान पात्र - अतिथि को साधु साध्वी कहते हैं । संविभाग में **'सम'** का अर्थ है सम्यक् प्रकार = आधा कर्म आदि ४२ दोषों से रहित, **'वि'** अर्थात् विशिष्ट प्रकार से, पश्चात् कर्म आदि दोष रहित, **'भाग'** अर्थात् देने योग्य वस्तु में से अमुक अंश देना । इस तरह समग्र अतिथि संविभाग व्रत पद का तात्पर्य यह हुआ कि अपने आहार, पानी, वस्त्र,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पात्र आदि देने योग्य पदार्थ में से यथोचित अंश साधु साध्वी को निर्दोष भिक्षा रूप में देने का व्रत-नियम अतिथि संविभाग कहलाता है । बशर्ते कि वह आहार पानी आदि देय वस्तु न्यायोपार्जित होनी चाहिए, अचित या प्रासुक हो, बयालीस दोष से रहित हो, साधु के लिए कल्पनीय हो, तथा देश, काल, श्रद्धा अर्थात् केवल आत्म कल्याण के लिए शुद्ध भाव पूर्वक एवं स्व पर आत्मा की उपकार बुद्धि से साधु को दी जाय तथा सत्कार पूर्वक अर्थात् गुरु पधारे तब आसन से खड़ा होना, आसन देना, वंदन करना और वे जायें तब शक्ति अनुसार पीछे पहुँचाने जाना और क्रमशः अर्थात् प्रथम दुर्लभ या उत्तम वस्तुओं की, फिर सामान्य वस्तुओं की क्रमशः विनती करना । प्रथम सामान्य वस्तु वहोराने के बाद उत्तम वस्तु की विनती करने से साधु आहार पूर्ण हो जाने से वह वस्तु नहीं वहोरे तब उत्तम वस्तु के लाभ से वंचित रहता है इसलिए उत्तम वस्तु प्रथम वहोरानी चाहिए- यह क्रम की अपेक्षा से उत्तम है । इसी तरह देश, काल आदि अपेक्षा से अर्थात् जिस देश में जो वस्तु दुर्लभ हो वहाँ उसका दान करना देश की अपेक्षा से उत्तम है, काल अर्थात् दुष्काल आदि का विचार कर दान करना वह काल अपेक्षा से उत्तम विशिष्ट दान देना चाहिये। प्रत्याख्यान आवश्यक सूत्र में कहा है कि :-

"नायागयाणं कप्पणिज्जाणं अन्नपाणाईणं दव्वाणं देस काल सद्धा सक्कार कमजुअं पराए भत्तीए आयाणुग्गहबुद्धीए संजयाणं दाणं अतिहि संविभागो ।" अर्थात् न्याय से कमाया हुआ और साधु के लिए कल्पनीय आहार, पानी आदि पदार्थ देश, काल और सत्कार पूर्वक और क्रम से विशिष्ट उत्तम भक्ति भावों (शुभ परिणामों) से युक्त होकर स्व पर कल्याण की बुद्धि से संयमी-साधु को दान करना, उसे अतिथि-सं विभाग व्रत कहा है । पूज्य आचार्य हेमचन्द्र सूरीश्वर जी ने भी योग शास्त्र प्रकाश तीन गाथा ८७ की टीका में कहा है कि :-

प्रायः शुद्धैस्त्रिविध विधिना, प्रासुकै रेषणीयैः,
कल्प प्रायैः स्वयमुपहितैर्वस्तुभिः पानकाद्यैः ।
काले प्राप्तान् सदनमसम श्रद्धया साधुवर्गान्,
धन्याः केचित् परम विहिता हन्त सन्मानयन्ति ॥१॥
अशनमखिलं खाद्यं स्वाद्यं भवेदथ पानकं,
यति जनहितं वस्त्रं पात्रं सकम्बल-प्रोञ्छनम्।
वसति फलक प्रख्यं मुख्यं चरित्रविवर्द्धनं,
निज कमनसः प्रीत्याधार्याय प्रदेयमुपासकैः ॥२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – "तीन प्रकार की शुद्धि होनी चाहिए अर्थात् साधु के निमित्त से कोई पदार्थ आरम्भ समारम्भ पूर्वक तैयार न किया हो, न पकाया हो, न खरीद किया हो, वह भी अचित हो, साधु को निषिद्ध ४२ दोषों से रहित हो, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से साधु को कल्पनीय हो और गृहस्थ ने अपने लिए लिया हो- स्थापना दोष से रहित ऐसे आहार, पानी आदि वस्तुओं द्वारा योग्य समय में घर के आंगन में पधारे साधुओं का सन्मान, उत्कट श्रद्धा पूर्वक, परम सावध होकर विधिपूर्वक कोई धन्य पुरुष ही कर सकता है ॥१॥ सभी अशन अर्थात् रोटी, दाल, चावल आदि खाद्य अर्थात् फल आदि या भुज्जा सेका हुआ आदि पदार्थ, स्वादिम अर्थात् चूर्ण, सुपारी, इलायची आदि, मुख शुद्धि कारक पानी के अतिरिक्त साधु साध्वी के संयम के लिए हितकारी वस्त्र, पात्र, कम्बल, आसन, निवास के लिए स्थान, पट्टे, चौकी आदि उत्तम वस्तुएँ अथवा जो चारित्र की वृद्धि में सहायक हों ऐसी सभी समयोपयोगी वस्तुओं को अपने मन में अति प्रीति धारण करके श्रावकों को साधु साध्वी को देना चाहिए।" उपदेश माला गाथा २३६-२४० में तथा संबोध प्रकरण श्राद्धाधिकार गाथा १३६-१४० में कहा कि:-

साहूण कप्पणिज्जं, जं नवि दिन्नं कहिं चि किंचितहिं ।
धीरा जहुत्तकारी, सुसावगा तं न भुंजंति ॥१॥

वसही सयणा सण भत्त पाण भेसज्जवत्थ पायाई ।
जइवि न पज्जत्त धणो, थोवा वि हु थोवयं दिज्जा ॥२॥

अर्थात् – "धीर एवं श्री जिनेश्वर भगवान की आज्ञा पालन करने वाले सुश्रावकों को चाहिए कि वे साधु साध्वियों को उनके लिए कल्पनीय, ऐषणीय, निर्दोष वस्तु में से यथोचित मात्रा में दें और उन्हें दी हुई वस्तु कदापि अपने कार्य में इस्तेमाल न करें ॥१॥ रहने के लिए स्थान, आसन, शय्या, आहार, पानी, औषध, वस्त्र, पात्र आदि उपकरण श्रावक के पास विपुल मात्रा में न हो तो भी अल्प में से अल्प भी साधु साध्वियों को देना चाहिए ॥२॥" वाचक मुख्य श्री उमा स्वाति जी महाराज ने प्रशम रति प्रकरण में कहा है कि:-

किञ्चित शुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यात् कल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्डः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा भेषजाद्यं वा ॥१४५॥

देशं कालं पुरुषमवस्थामुपयोग शुद्धि परिणामान् ।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकान्तात्कल्पते कल्प्यम् ॥१४६॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – ''निर्दोष, शुद्ध एवं कल्पनीय आहारादि, पिण्ड, शय्या, वस्त्र, पात्र और औषध आदि कोई भी वस्तु कारण वश मोह की अपेक्षा से अकल्पनीय भी हो जाती है एवं जो अकल्पनीय हो वह भी संयम की अपेक्षा से कल्पनीय बनती है ॥१॥ क्योंकि देश, काल, लेने वाला या देने वाला पुरुष, उसकी परिस्थिति, उपभोक्ता की आवश्यकता और हृदय की शुभ भावना आदि की अपेक्षा से संयमोपयोगी हो तो कोई भी वस्तु कल्पनीय हो जाती है और कल्पनीय होने पर भी जो राग, अज्ञान आदि के कारण से संयम की घातक हो तो वह अकल्पनीय हो जाती है । अतः एकान्त रूप से कोई भी वस्तु कल्प्य अथवा अकल्प्य नहीं होती ।''

यहाँ शंका होती है कि ''शास्त्र में आहार दाता का नाम तो प्रसिद्ध है एवं सुना भी जाता है, परन्तु वस्त्रादि दाता का नाम प्रसिद्ध नहीं है न सुना ही जाता है और वस्त्रादि देने से क्या फल मिलता है वह भी शास्त्र में सुनने में नहीं आता तो वस्त्र, पात्र आदि का दान कैसे उचित गिना जाये ?'' इसका समाधान करते हुए कहते हैं– ''यह कहना यथार्थ नहीं है, श्री भगवती सूत्र आदि शास्त्र में वस्त्रादि का दान देने के बारे में स्पष्ट बताया गया है । वह पाठ इस प्रकार है –

''समणे निग्गंथे फासुयणं सणिज्जेणं असण-पाण -खाइम-साइमेणं वत्थ पडिग्गह कंवल पायपुछणेणं पीठ फलग-सिज्जा-संथार एणं पडि-लाभेमाणे विहरति।'' अर्थात् ''श्रमणोपासक गृहस्थ श्रमण निर्ग्रन्थों को अचित-प्रासुक, निर्दोष एषणीय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य तथा वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजो-हरण, पट्टा, चौकी, शय्या, संस्तारक-बिछौना आदि का दान देकर लाभ लेता हुआ अपना जीवन पालन करता है ।'' इसलिए आहार पानी की तरह संयम के आधार-भूत शरीर के उपकारक वस्त्र आदि साधु को देने चाहिएं । वस्त्र, पात्रादि संयम में किस तरह उपकारी बनता है, वह इस ग्रन्थ के दूसरे भाग में कहा है ।

इस व्रत के लिए वृद्धों (स्थविरों) की परम्परा से समाचारी अर्थात् श्रावक की आचार संहिता बताते हैं – 'श्रावकों को पौषध पार करके जहाँ तक शक्य हो वहाँ तक पहले साधु साध्वी विराजमान हों तो उन्हें पहले दान देकर फिर पारना करना चाहिए । उसकी विधि यह है कि – जब अपने भोजन का समय हो जाय तब कपड़े वगैरह से अच्छी तरह सुसज्जित होकर उपाश्रय में जाकर साधुओं को आहार-पानी का लाभ देने के लिए विनती करे – 'हे भगवन्त ! आहार का लाभ दें ।' उस समय साधु की क्या मर्यादा है ? वह कहते हैं– उस समय एक साधु पल्ले का शीघ्र प्रतिलेखन करे, दूसरा मुखवस्त्रि का और तीसरा पात्रों का झटपट प्रतिलेखन करे । जिससे पौषधों पवासी श्रावक को पारणे में विलम्ब हो जाय तो अन्तराय कर्म का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बन्धन होता है, अथवा साधुओं के निमित्त से स्थापना दोष न लग जाय- इसकी सावधानी रखे। यदि श्रावक प्रथम प्रहर सुबह में आहार के लिए प्रार्थना करता हो और साधु के नौकारसी तक के प्रत्याख्यान हों तो आहार ग्रहण कर ले, यदि नौकारसी तक प्रत्याख्यान न हो किन्तु पौरसी तक के हों तो ग्रहण न करे, क्योंकि उस आहार को संभाल कर रखना पड़ेगा। यदि श्रावक बहुत जोर देकर विनती करता है तो आहार लेकर उसे स्थान पर लाकर अच्छी तरह सम्भालकर रख दे जहाँ चींटी आदि न आएँ और जो साधु पोरसी-एक प्रहर तक प्रत्याख्यान पूरा होते ही तपस्वी पारणा करने वाला हो उसे वह आहार दे दे अथवा दूसरे साधु को वह आहार वापरने के लिए दे दे।

साधु भिक्षा के लिए जाने से पूर्व पात्र, पल्ले आदि का प्रतिलेखन कर ले। भिक्षा के लिए कम से कम दो साधु जाएँ, अकेले साधु का भिक्षार्थ जाना हितकारी नहीं होता। मार्ग में श्राबक साधु के आगे-आगे चले और वह साधु को अपने घर ले जाए। वहाँ साधुओं को आसन ग्रहण कराके बैठने की प्रार्थना करे, यदि वे बैठें तो ठीक है, न बैठें तो भी विनय पूर्वक आचरण व्यवहार करने से विनय करने का लाभ मिलता है। साधु मुनिराज के घर पधार जाने पर अतिथि संविभाग व्रत वाला श्रावक स्वयं अपने हाथ से उन्हें आहार-पानी देकर लाभ ले। यदि घर में दूसरा कोई आहार दे रहा हो तो स्वयं आहार का बर्तन लेकर तब तक खड़ा रहे, जब तक गुरुदेव आहार न ले लें। साधु को भी चाहिए कि भिक्षा में पश्चात् कर्म अर्थात् बाद में बर्तन मांजने का साफ करने आदि के दोष न लगे इसलिए गृहस्थ के बर्तन में से सारी की सारी वस्तु न ले, कुछ शेष रहने दे। उसके बाद गुरु महाराज को वन्दन करके कुछ कदम तक उनके साथ चलकर उन्हें पहुँचाकर आए। फिर स्वयं भोजन करे।

यदि अपने उस गांव, शहर आदि में साधु मुनिराज का योग न हो तो भी स्वयं भोजन के समय साधु-मुनिराजों के आने की दिशा में दृष्टि करे और विशुद्ध भाव से चिन्तन करे कि 'यदि साधु-भगवन्त यहाँ विराजमान होते तो मैं उन्हें आहार-पानी देकर कृतार्थ हो जाता, कोई साधु अभी भी आ जाय तो बहुत अच्छा है।' इस प्रकार की भावना से भी महान फल मिलता है जैसे जीर्ण सेठ को अनुपम लाभ मिला था। यह पौषध को पूर्ण करने की विधि है। अगर पौषध न किया हो तो भी सुश्रावक-श्राविका प्रतिदिन साधु साध्वियों को कुछ न कुछ दान देकर फिर भोजन करते हैं अथवा भोजन करने के बाद भी दान देते हैं। श्रीमद् उमास्वाति वाचक कृत 'श्रावक धर्म प्रज्ञप्ति' में तो अतिथि का मतलब केवल साधु ही नहीं किया परन्तु साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका बतलाया है। वह इस प्रकार है:-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

"अतिथि संविभागो नाम अतिथयः-'साधवः साध्वयः श्रावकाः श्राविकाश्च' एतेषु गृहमुपागतेषुऽभ्युत्थानाऽऽसन (दान)- पाद प्रमार्जन - नमस्कारादिभिरर्चयित्वा यथा विभव शक्ति अन्न-पान वस्त्रौषधाऽऽ लयादि प्रदानेन संविभागः क्रार्यः" इति।

अर्थात् "अतिथि संविभाग अर्थात् 'अतिथि स्वरूप साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविक- इन में से भी जब अपने घर के आंगण में पधारें तब भक्ति पूर्वक खड़े होकर उनको बैठने के लिए आसन देना, पाद प्रमार्जन करना यथा योग्य नमस्कार आदि करना, इत्यादि सत्कार करके अपने वैभव-धन सम्पत्ति अनुसार आहार, पानी, वस्त्र, औषध, रहने के लिए स्थान आदि देकर संविभाग करना।"

इसलिए इस व्रत की आराधना के लिए श्रावक को हमेशा गुरु महाराज की विनती करते ही रहना चाहिए कि "हे भगवन्त ! अचित और दोष रहित अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल, डंडासण, पट्टा, चौकी, शय्या, संथारा, औषध, भेषज कोई भी वस्तु लेकर मेरा निस्तारा करो, मेरे ऊपर उपकार करो" इस तरह हमेशा स्वयं विनती करे।' इस तरह करने पर भी यदि मुनि को दान देने का लाभ नहीं मिले फिर भी अपनी विनती निष्फल नहीं जाती। क्योंकि विनती के समय शुद्ध भाव होने से उसका लाभ ही मिलता है। अतः विनती करने में भूल नहीं करनी चाहिए। इस व्रत का देव लोक में दिव्य भोग, समृद्धि, साम्राज्य या तीर्थंकर पदवी आदि फल मिलता है। जैसे श्री शालि भद्रजी मूलदेव आदि को मिला था।

प्रथम तीर्थंकर के प्रथम जन्म में धन्य सार्थवाह ने मुनि दान के प्रभाव से सम्यक्त्व (बोधिबीज) प्राप्त किया था। तीर्थंकर भव में ऋषभदेव का प्रथम पारणा श्रेयांस के राज भवन में हुआ था। उस समय देवों ने पुष्प वृष्टि की और 'अहोदानं-अहोदानं' की घोषणा की थी इत्यादि प्रसिद्ध है। दान परम्परा से मोक्ष रूपी महा फल मिलता है। अतः हमेशा दान देने की भावना रखनी चाहिए। सामग्री होने पर भी मुनि दान नहीं करने से एवं दान के अनादर करने से दासत्व, दुर्गति, दुर्भाग्य आदि भयंकर फल भोगने पड़ते हैं।

इस तरह चौथे शिक्षा व्रत का वर्णन किया। इसके साथ यहाँ सम्यकत्व सहित बारह व्रतों के स्वरूप का वर्णन पूर्ण हुआ। इन बारह व्रतों को पूर्व में बताए अनुसार 'श्रावक का विशेष धर्म' कहा है ऐसा समझना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्रावक के व्रतों का अतिचार

पूर्व में सम्यकत्व सहित बारह व्रतों का विवेचन किया। अब उन व्रतों के अतिचार और उनसे रक्षा करने हेतु उसका वर्णन रूप शेप गृहस्थ का विशेष धर्म कहते हैं।

एषां निरतिचाराणां, पालनं शुद्ध भावतः ।
पञ्च पञ्चाति चाराश्च, सम्यक्त्वे च प्रतिव्रते ॥४१॥

मूलार्थ – "सम्यकत्व तथा व्रतों का शुद्ध भाव से अतिचार रहित पालन करना गृहस्थ का विशेप धर्म है। सम्यकत्व तथा प्रत्येक व्रत के पाँच पाँच अतिचार होते हैं।

व्याख्या – 'अतिचार का अर्थ अंगीकार किये व्रत नियमों का देश से आने वाला मालिन्य अथवा विकार है या भंग करने वाले आत्मा का अशुभ अध्यवसाय कहा है। वह मलिनता (दोप) अतिचार जिस कारण से न लगे उस तरह से समकित सहित बारह व्रतों का पालन करना चाहिए। वह गृहस्थ का विशेप धर्म है अर्थात् जिसमें अति क्लिप्ट मिथ्यात्व आदि कर्मों के उदय रूप कलंक नहीं हैं- इस भाव से, अर्थात् - दुप्ट कर्मों का उदय जिसमें न हो ऐसे आत्मा का जो निर्मल क्षायोपशमिक भाव है, उस भाव पूर्वक सम्यकत्वादि का पालन करना, वह गृहस्थ का विशेप धर्म है। यदि यहाँ अतिचार-दोप न लगे, इस तरह से व्रतों का पालन करने के लिये कहा है, तो उन अतिचारों का ज्ञान भी अवश्यमेव प्राप्त करना चाहिए। इस हेतु से सम्यकत्व तथा प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार शास्त्रकार ने बतलाये हैं।

यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि – वस्तुतः अतिचार तो सर्व विरति साधु धर्म में ही होते हैं क्योंकि -अतिचार तो केवल 'संज्वलन' कपाय के उदय से लगते हैं। अप्रत्याख्यान आदि कपायों के उदय वाले का व्रत मूल से भंग होता है। इसका समाधान करते हुए आवश्यक निर्युक्ति गा० ११२ तथा पंचाशक १७ गा० ५० में कहा है कि:-

सव्वे वि अइआरा, संजलणाणं तु उदयओ हुंति ।
मूल छिज्जं पुण होइ, बारसण्हं कसायाणं ॥१॥

अर्थात् – "यह ठीक है कि सभी अतिचार संज्वलन कपाय के उदय से होते हैं। उसमें पहले पहले के अनंतानुबंधी आदि बारह कपायों का मूलतः उच्छेदन हो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाता है अर्थात् व्रत नियम का मूल में से छेदन होता है, इससे उसे वह व्रतादि फिर से स्वीकार करना पड़ता है । ''

इस तरह केवल संज्वलन के ही उदय से अतिचार कहा है और संज्वलन कषाय का उदय सर्व विरति गुणस्थानक वाले को ही होता है । सम्यक् दृष्टि और देश विरति गुणस्थानक वाले को तो प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय का उदय होता है । इसलिए श्रावक के व्रतों में अतिचार संभव नहीं है । यह बात सिद्धान्त की दृष्टि से ठीक है । क्योंकि देश विरति चारित्र अल्पमात्र-छोटा सा ही है, जैसे कुंथुए का शरीर बहुत छोटा है तो उसमें चोट, छिद्र नहीं हो सकता वैसे देश विरति चारित्र भी छोटा है । प्रथम अणुव्रत में पहले स्थूल प्राणियों के हनन का संकल्प से, फिर निरपराध का, फिर द्विविध-त्रिविध आदि विकल्पों के रूप में त्याग किया जाता है । इसलिए बहुत अवकाश दे देने पर अत्यन्त सूक्ष्म हो जाने पर देश विरति विभाग कैसे हो सकते हैं और देश विराधनारूप अतिचार लग ही कैसे सकता है ? अतः उसका सर्वथा नाश ही उचित है । सर्व विरति रूप महाव्रत बड़ा होने से उसमें अतिचार लगने की सम्भावना है । जैसे हाथी का शरीर मोटा होने से चोट, छिद्र, फोड़े पर पट्टी बांध सकते हैं वैसे सर्वविरति महाव्रतों का प्रमाण बड़ा होने से, देश-विराधना और देश-आराधना उसके विभाग होने से, उसमें अतिचार लग सकते हैं । देश विरति में नहीं लग सकते ।

इसके उत्तर में कहते हैं कि - 'देश विरति गुण स्थान में अतिचार संभव नहीं है- यह बात असंगत है । श्री उपासक दशांग आदि शास्त्रों में प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार बताये है, उनके भेद-विभाग भी कहे हैं । परन्तु वहाँ अतिचार न कहे हों, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए । तथा ''**सव्वे वि अइयारा०**'' आदि पंचाशक की गाथा की दृष्टि से कहा है कि 'सभी अतिचार संज्वलन कषाय के उदय से जो भूल होती है उसे ही अतिचार बतलाया है ।' यह बात यथार्थ है परन्तु वह सर्व विरति चारित्र की अपेक्षा से कही है, न कि सम्यकत्व और देश विरति चारित्र की अपेक्षा से । चूंकि सभी अतिचार संज्वलन के उदय से होते हैं । '**सव्वे वि अइयारा**' इस गाथा का यह अर्थ है कि संज्वलन कषाय के उदय से सर्व विरति चारित्र में अतिचार लगते हैं और शेष बारह कषायों के उदय में तो सर्व विरति के मूल व्रत का ही छेदन होता है । इस दृष्टि से देशविरति चारित्र में अतिचार का भाव नहीं है । यह सत्य ही है । युक्ति से विचार करने पर भी संज्वलन का नाश होने पर सर्वविरति गुण प्राप्त होता है और संज्वलन के योग से उसमें अतिचार लगते हैं । वैसे ही प्रत्याख्यानावरण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कषाय के उदय से भी देश विरति गुण प्राप्त होता है और उस कषाय से उसमें अतिचार लगते हैं । इसी ही न्याय से अप्रत्याख्यानीय का उदय होने पर समकित गुण प्रकट होता है और उस कषाय से उसमें अतिचार ही लगते हैं ।

यदि तीसरे कषाय के उदय से देश विरति धर्म रहता ही नहीं है तो उसके उदय होने पर देश विरति गुणस्थानक प्राप्त होता है । यह बात शास्त्र में कही है वहीं उड़ जाती है । इसी ही न्याय से दूसरे कषाय के उदय से सम्यक् दृष्टि भी नहीं रहे तो चौथे गुण स्थानक के उदय होने पर समकित दृष्टि गुण स्थानक कहा है वह भी मिथ्या ही सिद्ध होता है, इसलिए ही कषायों का उदय होने पर भी वह गुण प्रगट हो सकता है, उसी गुण में उसी कषाय के उदय से दोष लगते हैं, वे अतिचार ही कहलाते हैं । न्याय सर्वत्र एक समान ही होता है, इसलिए सर्व विरति में जो अतिचार लगते हैं, देश विरति में भी वही अतिचार लगते हैं । कषाय का उदय ऐसा विचित्र होता है कि - उन कषायों के उदय होने पर वह गुण स्थानक प्रगट होने में वह बंधन नहीं होता । केवल सर्वविरति में संज्वलन से अतिचार लगते हैं वैसे उस-उस गुणस्थान से जो उदय में हो उसी कषाय से अतिचार लगते हैं ।

अन्य आचार्यों का मत तो इस प्रकार भी है कि - समकित दृष्टि और देश विरति में अनुक्रम से प्रथम कषाय और दूसरे कषाय के उदय से भी अतिचार लगता है । उन्होंने कहा है कि - कषायों का उदय ऐसा विचित्र होता है कि - किसी समय देश से तो किसी समय सर्व से भी विराधना में कारण बनता है । इसलिए जब देश से विराधना हो तब उसे अतिचार समझना और सर्व से विराधना हो तो वह मूल से विरति का नाश होता है । और तुमने जो कुंथुए के छोटे शरीर में छिद्र नहीं हो सकता इत्यादि युक्ति घटायी है वह भी यहाँ एकान्त नहीं घटती । कुंथुए का शरीर अल्प-छोटा होने से भले ही छिद्र न हो सके, परन्तु मनुष्य आदि कई शरीर हाथी के शरीर से बहुत छोटा होने पर भी उसमें छिद्र, चोट आदि हो सकती है तथा उन्होंने कहा है कि अनंतानुबंधी आदि बारह कषायों को शास्त्र में सर्वघाती कहा है इससे उसके उदय से सम्यकत्व आदि का भंग ही होता है । वह भी अयुक्त है, क्योंकि -शतक की चूर्णि में उसका सर्वघाती रूप सम्यकत्व या देश विरति के विषय में नहीं है परन्तु सर्व विरति की अपेक्षा से ही कहा है । उसका पाठ इस प्रकार से है-

''भगवया पणीयं पंच महव्वय मइं अ अट्ठारह सीलंग सहस्स कलियं चारित्तं घातयंति त्ति सव्व घाइणो'' अर्थात् 'भगवान के कहे हुए पाँच महाव्रतमय और अठारह हजार शीलांग से सुशोभित चारित्र का घात करता है, इससे अनंतानुबंधी आदि को सर्वघाती कहते हैं ।'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तरह बारह कषाय द्वारा सर्वघात सर्व विरति का होता है एवं सम्यकत्व में और देशविरति रूप श्रावक के बारह व्रतों में उन कषायों से अतिचार लगते हैं। ऐसा स्वीकार करना ही चाहिए। अतः अब उन अतिचारों में प्रथम सम्यकत्व के अतिचार बतलाते हैं।

पञ्चातिचाराः सम्यकत्वे, हेयाः शङ्कन काङ्क्षणे ।
विचिकित्सा कुदृष्टिनां प्रशंसा तैश्च संस्तवः ॥४२॥

मूलार्थ – शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, कुदृष्टि, प्रशंसा और उनके साथ में परिचय– ये पाँच अतिचार सम्यकत्व गुण में त्याग करने योग्य हैं।

व्याख्या – शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्या दृष्टि की प्रशंसा और उसका गाढ़ परिचय - संसर्ग– ये पाँच दूषण निर्दोष सम्यकत्व गुण को दूषित करते हैं इसलिए उनका त्याग करना चाहिए। क्रमशः उनके लक्षण कहते हैं–

१. शंका – किसी विषय पर संदेह करने का नाम शंका है। वह शंका दो प्रकार की होती है– देश विषयक और सर्व विषयक। किसी एक अमुक विषय में शंका– वह देश शंका, और दूसरा सर्व विषय में शंका रखना– वह सर्व शंका है जैसे कि - 'धर्म होगा या नहीं होगा ? अथवा श्री जिनेश्वर देव कथित धर्म सत्य होगा या झूठा होगा ?' इत्यादि धर्म के अस्तित्व अथवा सत्यता रूप मूल में ही शंका करना वह सर्व शंका कहलाती है। और किसी एक अथवा अमुक अंश परत्व में शंका करना जैसे 'यह जीव तो सत्य है, परन्तु वह सर्व व्यापक है या अमुक स्थान पर ही रहता है ? अथवा जीव के प्रदेश होंगे या नहीं ? अगर हिले-चले वह तो जीव गिना जाता है, परन्तु स्थिर पदार्थ पृथ्वी पानी आदि में जीव है– यह बात किस तरह से घट सकती है ? और निगोद में एक शरीर में अनंत जीव होते हैं, वह कैसे हो सकते हैं ?' इत्यादि किसी एक पदार्थ में अथवा पदार्थ के अमुक अंश में शंका करना वह देश शंका कहलाती है। ये दोनों प्रकार की शंकाएँ वीतराग कथित प्रवचन पर अविश्वास रूप होने से सम्यकत्व को दूषित, मलिन बना देती है। यह सम्यकत्व का प्रथम अतिचार कहा है।

२. कांक्षा – किसी के आडम्बर या प्रलोभन से आकृष्ट होकर अन्य दर्शन-धर्म को स्वीकार करने की इच्छा करना कांक्षा कहलाती है। यह भी देश और सर्व के भेद से दो प्रकार की है। सर्व विषयक कांक्षा में सर्व पाखंडी धर्मों या सर्व समुदायों की सेवा करने की इच्छा होती है और देश कांक्षा यह है - किसी एक मत, पंथ या सम्प्रदाय विषयक कांक्षा होना। उदाहरण के तौर पर - कोई यह कहे कि बुद्ध

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ने भिक्षुओं के लिए कष्ट रहित धर्म का उपदेश दिया है । वहाँ तो भिक्षुओं के लिए स्नान है, प्रिय स्वादिष्ट भोजन, पान व बढ़िया वस्त्र विहित, गुदगुदी कोमल शय्या का विधान है । इस तरह सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं का उपभोग बताकर धर्म मार्ग को सर्व सुलभ बना दिया है । उनके किसी धर्म ग्रन्थ में कहा है कि:-

मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, मध्ये यक्तं पानकं चापराह्णे ।
द्राक्षा खण्डं शर्करा चार्ध रात्रे, मोक्षश्चान्ते शक्यसिंहेण दृष्टः ॥१॥

अर्थात् – " कोमल शय्या पर शयन करना, सुबह उठते ही मधुर पेय पीना, मध्याह्न में स्वादिष्ट भोजन करना, शाम को फिर पेय पीना और मध्य रात्रि में द्राक्षा और शक्कर का आहार करना– इन सब के परिणाम स्वरूप शाक्य सिंह (बौद्ध गुरु) ने मोक्ष देखा है ।"

यह बात सर्व साधारण के अनुकूल होने से झटपट उस तरफ झुकाव हो जाता है । इसी प्रकार परिव्राजक, बौद्ध, ब्राह्मण आदि के मत में बतलाया है कि स्नान आदि करना और यहाँ विपय सुख का आस्वादन करने वाले ही परलोक में इष्ट सुखोप-भोग प्राप्त करते हैं । इसलिए इस मत की साधना भी करके देखनी चाहिए– यह देश कांक्षा कहलाती है । जैसे कोई बहुत अनाज प्राप्त करने के लिए ऊजड़ भूमि, नीची भूमि और बोने योग्य भूमि– इस तरह सर्वत्र बीजों को बोकर खेती करता है वैसे मुग्ध बुद्धि वाला मनुष्य होता है, वह बहुत धर्म करने की बुद्धि से सर्व धर्मों की आराधना करता है। योग्य भूमि में बोया हुआ अनाज तो प्राप्त कर सकता है, परन्तु सर्वत्र योग्यता देखे बिना बीज बोने पर बीज को गवाँ देता है– यही हाल धर्म का है, योग्य धर्म को छोड़कर सर्व धर्मों की आराधना करने जो जाता है वह लाभ के स्थान पर नुकसान कर बैठता है । हाँ, सर्व का औचित्य करना चाहिए, परन्तु धर्म बुद्धि से । झूँठे धर्म की इच्छा करना भी अयोग्य है । इस तरह की कांक्षा श्री वीतराग प्रभु के बताये हुए आगमों में अविश्वास के योग में हो जाये तो वह सम्यकत्व को दूषित करती है । यह दूसरा अतिचार कहा है ।

३. विचिकित्सा – चित्त का विप्लव अर्थात् धर्माचरण के फल में संदेह रखना विचिकित्सा है। चित्त की अस्थिरता से आगम कथित, महातप, सम्यक् चारित्र, सम्यग्दर्शन, या सम्यग्ज्ञान की साधना आदि जैन धर्म सत्य तो है परन्तु बहुत ही रूक्ष, बालू-रेती के कौर के समान स्वाद रहित और नीरस है, पता नहीं इतने सब महाकष्टों के सहने के बाद भी इसका फल मिलेगा या नहीं ? ओफ ! यह तप तो बहुत ही क्लेश दायी और निर्जरा फल से रहित मालूम होता है ? अर्थात् इसका फल भविष्य में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मिलेगा या वह निष्फल होने से केवल कष्ट ही भोगना पडेगा ? कर्म निर्जरा रूप फल मिलेगा या नहीं ? किसान चौमासा लगते ही वर्षा का निश्चय न होने पर भी जैसे जमीन जोतने आदि की मेहनत करता है उसके दो प्रकार दिखते हैं- किसी को मेहनत का फल (सफलता) मिलती है किसी की मेहनत निष्फल जाती है, वैसे ही इस तपस्या वगैरह के लिए किया गया कठोर श्रम निष्फल जायेगा अथवा सफल होगा? इत्यादि सोच विचार करना। इस प्रकार की विचिकित्सा को भी भगवान के वचनों के प्रति अश्रद्धा रूप होने से सम्यकत्व का दूषण रूप अतिचार जानना।

यहाँ प्रश्न करते है कि- शंका और विचिकित्सा में क्या अन्तर है? उत्तर में कहते हैं कि -शंका हमेशा समग्र और असमग्र पदार्थ विषयक द्रव्य-गुण सम्बन्धी होती है। जबकि विचिकित्सा क्रिया के फल से सम्बन्धित होती है, इस कारण से दोनों में विषय भेद से भेद है। अथवा विचिकित्या का अर्थ यह भी है- सदाचारी मुनियों के आचार के सम्बन्ध में निन्दा करना। जैसे- ये मुनि शरीर पर पसीने के कारण बड़े ही दुर्गन्धित और मलिन क्यों रहते हैं, क्यों नहीं अच्छी तरह स्नान कर लेते ? अचित पानी से स्नान करने से कौन सा दोष लग जाता है ? इस प्रकार साधु के आचार के प्रति अश्रद्धा रखना भी भगवन्त द्वारा कहे धर्म आचारों में अविश्वास का परिणाम है, इससे इसको सम्यकत्व का अतिचार कहा गया है।

४. मिथ्यादृष्टि प्रशंसा- जिनागम के विपरीत दर्शन वाली मिथ्या दृष्टियों की प्रशंसा करना। सर्वज्ञ प्रणीत दर्शन को छोडकर शाक्य, कपिल, कणाद, अक्षपाद आदि ऋषियों के द्वारा कहा हुआ एवं जैन धर्म से अन्य किसी भी मिथ्या धर्म, कुदर्शन को मानना, उसे सत्य धर्म रूप में स्वीकार करना, उसकी आराधना करना- वह मिथ्यादृष्टि वाला कहलाता है। उसकी प्रशंसा स्तुति करना। जैसे-शाक्य आदि सब के दर्शन युक्ति युक्त हैं। ये तो पुण्यशाली हैं, दयालु हैं, इनका जन्म सफल है इत्यादि प्रशंसा समकित का प्रगट दूषण है, इससे उसे अतिचार कहा है। क्योंकि प्रगट रूप में मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा करने से मिथ्या धर्म की पुष्टि आदि अनेक दूषण उत्पन्न होते हैं।

५. मिथ्या दृष्टि का गाढ़ परिचय – ऐसे मिथ्यादृष्टियों के साथ एक स्थान पर रहना, परस्पर वार्तालाप आदि व्यवहार बढ़ाकर उनका अतिगाढ़ परिचय करना। एक जगह साथ में रहने से या बार-बार उनके सम्पर्क में आने से, उनकी प्रकिया के सुनने-देखने से, दृढ़ सम्यकत्व जीव की दृष्टि में भी शिथिलता आना सम्भव है। क्योंकि जीव अनादि काल से भावुक द्रव्य होने से और उनका धर्म सुखशील वाला

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होने से पतन का निमित्त बन सकता है। जब दृढ़ आत्मा निमित्त मिलने पर गिर सकता है तो मन्द बुद्धि वाले या नये नये स्वीकार करने वाले तथा जिसके संस्कार अभी दृढ़ नहीं हुए उनके मन में भिन्नता आ जाती है तो उसमें कहना ही क्या ? अपरिणत धर्मी को तो धर्म भ्रष्ट होने का प्रसंग आता है। इस दृष्टि से मिथ्यादृष्टि के गाढ़ परिचय को सम्यकत्व का दूषण बताया गया है। उसे अतिचार कहा है–

इस मिथ्या दृष्टि (पाखंडी) के ३६३ भेद होते हैं। वह कहते हैं कि –

असिइ सयं किरियाणं अकिरिया वाईण होइ चुलसीई ।
अण्णाणिय सत्तट्ठी, वेणइयाणं च बत्तीस ।।१।।

अर्थात्– "क्रिया वादी के १८०, अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७ और विनयवादी के ३२ भेद होते हैं। इस तरह कुल मिलाकर पांखडियों के तीन सौ तिरेसठ भेद होते हैं।" यह श्लोक सूत्र कृतांग नि० ११६/ प्रवचनसारोद्धार ११८८ नन्दी सूत्र तथा षड्दर्शन समुच्चय वृहद वृत्ति आदि में आया है ।

यह गाथा अन्य कई ग्रन्थों से सम्बन्ध वाली है फिर भी जिज्ञासु शिष्यों को अनुग्रह- कृपा या ज्ञान प्राप्त कराने के लिए उसका अर्थ यहाँ कुछ कहते हैं–

क्रियावादी– वे ऐसा मानते है कि– 'कर्त्ता बिना क्रिया नहीं होती, क्रिया आत्मा के साथ में समवाय सम्बन्ध से रहती है, इसलिए उसका सम्बन्धी आत्मा भी है।' इस तरह क्रियावादी आत्मा आदि का अस्तित्व स्वीकार करने पर भी उसे भिन्न-भिन्न अपेक्षा से स्वीकार करते हैं, इसलिए उनके १८० भेद होते हैं। वह इस तरह- जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष- इन नौ तत्वों को कई स्वरूप में सत्य मानते हैं जैसे सूर्य, प्रदीप आदि स्वयं अपना स्वरूप बतलाता है वैसे वस्तु मात्र अपने स्वरूप में ही सत्तावान है ऐसा मानते हैं और कई पररूप सत्य मानते हैं अर्थात् कोई पदार्थ, पर अपेक्षा से ही अपने स्वरूप को धारण करता है। जैसे बड़े की अपेक्षा से छोटा, प्रकाश की अपेक्षा से अंधकार, जीव की अपेक्षा से अजीव, पिता की अपेक्षा से पुत्र, इस तरह केवल पर की अपेक्षा से सिद्ध है, ऐसा मानते हैं, इस तरह नौ के दो-दो करते १८ भेद होते हैं। उसमें भी कई उन तत्वों को स्वरूप से नित्य और कई पर रूप नित्य मानते हैं इस तरह दो-दो भेद होने से अठारह के ३६ भेद होते हैं। उन ३६ में से भी कई केवल **कालवादी** हैं, वे यह मानते हैं कि जगत् में प्रत्येक वस्तु काल कृत है। काल में ही आम, चम्पा, अशोक आदि के फूल फल आते हैं। काल में ही खेती होती है। ठंडी, गरमी, वर्षा आदि काल के योग से ही होता है। मनुष्य में बचपन, यौवनावस्था, प्रौढ़ावस्था या वृद्धावस्था होती है–

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वह भी काल से होती है । ऐसा न माने तो 'सारी वस्तुएं हमेशा और वह भी एक ही रूप में होनी चाहिएं' परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि एक अमुक काल में होती है– अमुक काल में नहीं होती इत्यादि विचित्रता स्पष्ट है। इसलिए काल से ही सब सत्य है ।

कई केवल **ईश्वर वादी** हैं- वे यह मानते हैं कि-सर्व जगत् ईश्वर कृत है। ईश्वर अर्थात् जिसमें ज्ञान, वैराग्य, धर्म और ऐश्वर्य सहज सिद्ध है। उसे प्रगट करने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया । ईश्वर है तब से उसमें ये चार शक्तियाँ भी हैं ही । वही इस जगत् में प्राणियों को स्वर्ग, मोक्ष आदि की प्रेरणा करता है। जीव तो अज्ञानी है, वह सुख दु:ख या उसके उपाय, कारण, स्वरूप आदि कुछ भी नहीं जानता। ईश्वर की प्रेरणा से ही स्वर्ग या नरक में जाता है इत्यादि । कई तो **आत्मावादी** हैं, वे यह मानते हैं कि- जगत् एक ही आत्मा के भिन्न-भिन्न परिणाम (रूपान्तर) रूप है। वस्तुत: एक ही भूतात्मा सर्व शरीर में रहा है। जैसे चन्द्र एक होता है फिर भी पानी में उसके अनेक प्रतिबिम्ब दिखते हैं, वैसे ही आत्मा भी एक ही है, एक के जो अनेक दिखते हैं वे सब एक आत्मा के ही रूप हैं। जो भूतकाल में हुआ, वर्तमान काल में है अथवा भविष्य में होगा वह सारा पुरुष (आत्मा) ही है। कई **नियति वादी** हैं । वे यह मानते हैं कि जो वस्तु जब, जिस रीति से, जिसके द्वारा, जहाँ, जिस रूप में होनी नियत है, वह उसी रूप में होती ही है, उसमें कोई फेर-बदल या परिवर्तन करने में समर्थ नहीं है। काल में भी बोया हुआ क्या सब अनाज उत्पन्न नहीं होता, या सभी पेड़ फल वाले नहीं होते ? काल में कभी सर्वथा ठंडी, गरमी या वर्षा पड़ती है– ऐसा नहीं है, ईश्वर भी किसी पापी को मोक्ष नहीं दे सकते हैं और आत्मा भी कभी घड़ा नहीं बन सकता; घड़ा तो मिट्टी का ही बनता है । इसलिए जगत् के सभी भाव नियत ही हैं और उसी ही अनुसार होता है ।

कई **स्वभाववादी** होते हैं। उनकी मान्यता यह है कि वस्तु केवल स्वभाव सिद्ध है, घड़ा मिट्टी में से ही होता है– सूत के धागे से नहीं होता क्योंकि उसमें वह स्वभाव नहीं है । जीव सुखी-दु:खी हो सकता है, वह उसके स्वभाव से ही होता है, अजीव का ऐसा स्वभाव नहीं है इसलिए उसे सुख-दु:ख भी नहीं होता । इसी तरह ही अग्नि उष्णता दे सकती है क्योंकि उसका वह स्वभाव है । यह सारा स्वभाव से ही होता है । इस तरह भिन्न-भिन्न मान्यता वाले जब एक को ही सत्य मानकर दूसरे को गलत ठहराते हैं, तब वे प्रत्येक मिथ्यावादी होते हैं, क्योंकि वस्तुत: सभी कारणों की संयोग रूप सामग्री बिना कार्य नहीं होता । काल, स्वभाव, नियति, आत्म-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रयत्न, और ईश्वर-कर्म, इन सब के योग से ही कार्य होता है । इन समग्र कारणों को सामग्री कहते हैं, वे प्रत्येक अपने अपने कार्य में मुख्य और सहकार रूप में समान हैं। सब कारण मिलकर ही कुछ भी छोटा बड़ा कार्य करने में समर्थ होते हैं, ऐसा मानने वाला जैन दर्शन सभी कारणों को उपयोगी मानता है। इसीलिए ही स्याद्वाद स्वरूप में वह सत्य और सर्वोत्तम है। इस तरह पाँच भेद होने से छत्तीस के कुल १८० भेद होते हैं। इसके कोष्टक :-

१. जीव स्व स्वरूप में नित्य है काल से	५. जीव स्व स्वरूप से नित्य है ईश्वर से
२. जीव स्व स्वरूप में अनित्य है काल से	६. जीव स्व स्वरूप से अनित्य है ईश्वर से
३. जीव पर रूप से नित्य है काल से	७. जीव पर रूप से नित्य है ईश्वर से
४. जीव पर रूप से अनित्य है काल से	८. जीव पर रूप से अनित्य है ईश्वर से
९. जीव स्व स्वरूप से नित्य है आत्मा से	१३. जीव स्व स्वरूप से नित्य है नियति से
१०. जीव स्व स्वरूप से अनित्य है आत्मा से	१४. जीव स्व स्वरूप से अनित्य है नियति से
११. जीव पर रूप से नित्य है आत्मा से	१५. जीव पर रूप से नित्य है नियति से
१२. जीव पर रूप से अनित्य है आत्मा से	१६. जीव पर रूप से अनित्य है नियति से
१७. जीव स्व स्वरूप से नित्य है स्वभाव से	१९. जीव पररूप से नित्य है स्वभाव से
१८. जीव स्व स्वरूप से अनित्य है स्वभाव से	२०. जीव पर रूप से अनित्य है स्वभाव से

इन कोष्टक में जैसे एक जीव तत्त्व को ही मानने वाले के २० भेद बताये गये हैं इसी तरह अकेले अजीव को ही मानने वाले के भी उसी तरह २० भेद होते हैं। ऐसे ही नौ तत्त्व-पदार्थ को मानने वालों के कुल २० × ९=१८० भेद होते हैं । ये सब क्रियावादी जानना ।

अक्रियाबादी- इनके ८४ भेद होते हैं । वे नास्तित्व वादी हैं, इनके मत में जो वस्तु सत् हो वह सर्वदा अवस्थित अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित ही रहती है, उसमें क्रिया नहीं घट सकती है, क्योंकि क्रिया होते ही वह वस्तु उसके स्वरूप से भ्रष्ट होती है। इसलिए क्रिया कर्ता आदि असत् हैं । कहा है कि :-

क्षणिकाः सर्व संस्कारा, अस्थितानां कुतः क्रिया ?
भूमियेषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यते ॥१॥

अर्थात्- यह श्लोक बाधिचर्यावतार में, तत्त्व संग्रह में, भगवती सूत्र की अभयदेव वृत्ती ३०/१ में, नन्दी सूत्र मलयगिरि वृती में तथा षड्दर्शन समुच्चय वृहद्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वृत्ति आदि में आया है। इसका भावार्थ यह है कि - "सर्व संस्कार क्षणिक हैं, अस्थिर-क्षणिक वस्तुओं में क्रिया कैसे हो सकती है ? वस्तुओं की जो सत्ता है वही उसकी क्रिया है और वह वस्तु पदार्थ स्वयं ही स्वसत्ता का कर्त्ता है।"

इस तरह मानने वाले अक्रियावादियों के भी ८४ भेद इस तरह होते हैं। उनके मतानुसार जीव अजीव, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये सात पदार्थ असत् हैं। उसमें कई उस पदार्थ को स्व-रूप में असत् और कई पर रूप में असत् मानते हैं । उनके मतानुसार जीवादि असत् होने से नित्य-अनित्य के विकल्प नहीं घटते, इससे सात के दो-दो मिलकर १४ भेद होते हैं। उसमें पहले बतालाये कालादि पाँच और कई अक्रिया वादियों द्वारा छठा यदृच्छा को भी मानने से कुल छह विकल्प होते हैं, उसे १४ से गुणा करने से ८४ भेद होते हैं । उदाहरण के तौर पर एक जीव पदार्थ की अपेक्षा से बारह भेद होते हैं। नीचे इसका कोष्टक देखो-

१. जीव नहीं स्व रूप में काल से	७. जीव नहीं स्व रूप में आत्मा से
२. जीव नहीं पर रूप में काल से	८. जीव नहीं पर रूप में आत्मा से
३. जीव नहीं स्व रूप में ईश्वर से	९. जीव नहीं स्व रूप में नियति से
४. जीव नहीं पर रूप में ईश्वर से	१०. जीव नहीं पर रूप में नियति से
५. जीव नही स्व रूप में स्वभाव से	११. जीव नहीं स्व रूप में यदृच्छा से
६. जीव नही पर रूप में स्वभाव से	१२. जीव नहीं पर रूप में यदृच्छा से

इसी तरह अजीवादि नास्तित्व वादियों के सात पदार्थों से बारह गुणा करते १२ X ७ = ८४ कुल भेद अक्रियावादियों के होते हैं।

इसमें यदृच्छ एक विशेष भेद आया है । इसका भावार्थ यह है कि कार्य कारण भाव में अनियत रूप है। अमुक ही कारण से अमुक ही कार्य होता है ऐसा वे नहीं मानते हैं । उनका कहना है कि-बिच्छू से बिच्छू उत्पन्न होता है और गोबर से भी बिच्छू होता है । अग्नि में से अग्नि प्रगट होती है और अरणी की लकड़ी में से भी आग प्रगट होती है। जैसे धुंआ से धुंआ होता है, वैसे अग्नि में हरी (गीली) लकड़ी के संयोग से भी धुंआ होता है। केला जैसे उसके कंद में से होता है वैसे ही केले के बीज में से भी होते हैं । बड़ आदि वृक्ष जैसे बीज में होता है वैसे ही डाली के टुकड़े को बोने से भी होता है इत्यादि कार्य-कारण भाव निश्चित नहीं है, इसलिए किसी भी कारण में से कुछ भी कार्य उत्पन्न हो सकता है, इत्यादि यदृच्छावादियों का मन्तव्य है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अज्ञानवादी – उल्टी समझदारी - अर्थात् मिथ्या ज्ञानी। अज्ञानवादी मानते हैं कि ज्ञान कल्याणकारी नहीं है क्योंकि ज्ञान होने से परस्पर विवाद तर्क आदि होने से चित्त में क्लेश होता है और इससे जीव दीर्घ संसारी होता है। जैसे-किसी ने किसी वस्तु का स्वरूप उल्टा कहा, अत: कोई ज्ञानी-पंडित ज्ञान के गर्व से रोब जमाते मन में क्लेश करके उसके साथ में विवाद प्रारंभ करता है; इससे चित्त में क्लेश बढ़ता है, अहंकार जागृत होता है एवं तीव्र अशुभ कर्मों का बन्धन होता है, इसके परिणाम से संसार दीर्घ से दीर्घतर होता है। अज्ञानी को ऐसा कुछ नहीं होता, कर्म बन्धन नहीं होता और संसार की वृद्धि नहीं होती, और समझदारी पूर्वक जो कर्म बन्धन होता है उसका फल भी बहुत दारुण-कठोर आता है और वह अवश्यमेव भोगना पड़ता है। क्योंकि -तीव्र अध्यवसाय से बंधन किया कर्म प्रायश्चित आदि से भी खत्म नहीं होता। उपयोग जानकर या उद्देश्य बिना काया या वचन से बंधन हुए कर्म अवश्यमेव भोगने ही होते हैं– ऐसा नियम नहीं है, केवल शुभ ध्यान या पश्चात्ताप आदि से उनका नाश भी हो जाता है, बिना भोग भी छुटकारा पा सकता है, कभी भोगना पड़े तो भी उसका विपाक दारुण नहीं होता। इसलिए मोक्षाभिलाषी को अज्ञान का आश्रय लेना चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञान के विषय में सर्वदर्शन वाले अलग-अलग मन्तव्य रखते हैं, इससे यह भी निश्चित नहीं होता कि कौन सा ज्ञान सत्य है? इस तरह ज्ञान को मोक्ष प्राप्ति में विघ्नरूप मानने वाले अज्ञानवादी मिथ्यावादी हैं।

वस्तुत: ज्ञान कर्म बन्धन का कारण नहीं है, परन्तु राग द्वेषादि कर्म बन्धन के कारण हैं, ज्ञान तो पदार्थ को और राग द्वेषादि को पहिचान कराने वाला, उससे बचने का मार्ग बताने वाला मोक्ष में सहायक है। जैसे आँख वस्तु को बताने वाली होने से जीवन के लिए उपयोगी है वैसे ही ज्ञान शुभाशुभ भावों को बताने वाला होने से आत्मा को सुख की सिद्धि के लिए पूर्ण रूप से उपयोगी है। आँख जैसे कांटे, कंकर आदि से बचाकर यथा योग्य स्थान पर पहुँचाती है वैसे ही ज्ञान आत्म शत्रुओं से बचाकर मोक्ष में पहुँचाता है, इसलिए ज्ञान उपादेय सुखरूप है।

यहाँ प्रश्न होता है कि -व्याकरण के न्याय से दुष्ट ज्ञान अर्थात् अज्ञान, वह जिसको हो वह 'अज्ञानिक' है इस तरह डबल समास करने के बदले, पहले से ही बहुव्रीही समास करते 'अज्ञाना' ऐसा शब्द हो सकता है और वह अधिक उत्तम गिना जाता है। तो इस तरह करने में क्या दोष है ? इसका उत्तर देते हैं कि -यहाँ वस्तुत: ज्ञानाभाव नहीं परन्तु मिथ्यात्व का सहचर अर्थात् शुद्ध ज्ञान से भिन्न जो मिथ्या ज्ञान है उसे यहाँ अज्ञान कहा है और जैसे 'गौखुरवाला अरण्य' आदि जातिवाचक शब्दों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से होते समास में प्रत्यय आता है, वैसे यहाँ भी व्याकरण के न्याय से प्रत्यय आकर अज्ञान का ही 'अज्ञानिक' शब्द बनता है, अथवा दूसरे तरह से 'अज्ञान से जो व्यवहार करे अगर अज्ञान पूर्वक जिसका प्रयोजन रूप है' वह 'अज्ञानिक' है इस तरह भी सिद्ध होता है। ये अज्ञानिक मानते हैं कि समझे बिना या इरादा उद्देश्य बिना धर्म बंधन किया हो वह निष्फल होता है, उसका फल भोगना नहीं पडता, इसलिए वह उपादेय है । उसके ६७ भेद इस तरह हैं- पूर्व कहे अनुसार जीव अजीव आदि नौ पदार्थ के १- सत्त्व अर्थात् स्वरूप अस्तित्त्व, २. असत्त्व अर्थात् पर रूप नास्तित्व, ३. सद्सत्त्व अर्थात् स्वरूप अस्तित्व पर रूप नास्तित्व, ४. अवाच्यत्व अर्थात् एक साथ में ही वस्तु में अस्तित्व नास्तित्व की विविक्षा करने वाला, ५. सदवाच्यत्व अर्थात् जब वस्तु अमुक अंश में अस्तित्व और शेष अंश में नास्तित्व एक साथ में कहना हो तब, ६. असद् वाच्यत्व अर्थात् उस वस्तु के अमुक विभाग का नास्तित्व और शेष विभाग जब अवक्तव्य कहना हो तब और ७. सद-असद्वाच्यत्व अर्थात् जब वस्तु के अमुक स्वरूप में सत् तथा पररूप में असत् कहने के साथ में शेष विभाग पूर्व के समान अवक्तव्य कहना हो तब उस पदार्थ में घटता है इन सात भेदों को जैन दर्शन में सप्तभंगी कहते हैं। इन सातों भागों में सर्व समावेश होता है। इस तरह एक जीव के सात प्रकार होते हैं । इसी तरह जीवाजीव के नौ पदार्थ भेद होते हैं । अतः ७ ×९=६३ कुल भेद होते हैं। और इन नौ के अतिरिक्त कई अज्ञानिक उत्पत्ति नामक दसवां भाव मानते हैं, उसके १. सत्त्व, २. असत्त्व, ३. सद सत्त्व और ४. अवाच्यत्व इस तरह चार भेद होते हैं उनको मिलाने से ६३+४=६७ भेद अज्ञानवादियों के होते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि अज्ञानवादियों का कहना हैं कि कौन जानता है कि जीव है ? अथवा यह बतलाने से लाभ भी क्या होने वाला है ? यह एक विकल्प कौन जानता है कि जीव नहीं है ? अथवा उसे कहने से क्या लाभ ? यह दूसरा विकल्प, कौन जानता है कि जीव सद्असद् जीव होता है, अथवा वह कहने से क्या लाभ ? यह तीसरा विकल्प और कौन जानता है कि जीव अवाच्य है अथवा वह जानने से क्या लाभ ? यह चौथा विकल्प जानना । इसी तरह उत्पत्ति के भी भेद होते हैं - वह कौन जानता है कि सत् पदार्थ होता है ? अथवा जानने से क्या लाभ ? यह प्रथम भेद, कौन जानता है कि उत्पत्ति असत् पदार्थ की होती है । उसके जानने से क्या ? दूसरा भेद । कौन जानता है किउत्पत्ति सद-असद् पदार्थ की होती है ? अथवा उसके जानने से क्या ? यह तीसरा भेद । यह कौन जानता है (अर्थात् कोई

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नहीं जानता) कि उत्पत्ति अवाच्य पदार्थ की होती है, अथवा उसे जानने से क्या लाभ? यह चौथा भेद। यहाँ सद् अवाच्यत्व आदि आखिरी तीन भेद नहीं घटते। इसका विस्तार प्रवचन सारोद्धधद्धार द्वार - २०६ से जान लें।

विनयवादी अर्थात् "वैनयिका" – विनय में ही धर्म मानने वाले के बत्तीस भेद हैं। वे लिंग (वेश), आचार (क्रिया अनुष्ठान) या आगम शास्त्र को नहीं मानते हैं। केवल विनय को ही कल्याण का अंग मानते हैं। उन के मत में १. दैव, २. राजा, ३. ज्ञातिजन-स्वजन, ४. यति मुनि, ५. स्थविर -वृद्ध पुरुष, ६. अंवम-दुःखी जन आदि, ७. माता, और ८. पिता- इन आठ का १. मन से, २. वचन से, ३. काया से और ४. देश-काल के उचित दान से विनय करना चाहिए। इस तरह आठ को चार का गुणा करने से ८ × ४ = ३२ कुल भेद होते हैं। इस प्रकार बत्तीस तरह से विनय करने पर स्वर्ग मोक्ष आदि मिलता है- इस तरह मानने वाले विनयवादियों के बत्तीस भेद होते हैं।

इस तरह से कुल १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवादी और ३२ विनयवादी मिलकर ३६३ मिथ्यात्वी हैं। वे प्रत्येक अपने ही एक मंतव्य को सत्य मानकर शेष सभी मंतव्यों को असत्य मानते हैं, इसलिए वे सब पाखंडी हैं। यह भेद केवल अपनी बुद्धि से कल्पित कल्पना मात्र नहीं हैं। परन्तु अन्य दर्शनकारों ने भी कहा है कि:-

आस्तिक मतमात्माद्या, नित्यानित्यात्माका नव पदार्थाः।
काल नियति-स्वभावेश्वरा-ऽऽत्मकृताः स्व पर संस्थाः ॥१॥

काल यदृच्छा नियतीश्वर स्वभावाऽऽत्मतश्चतुर शीतिः।
नास्तिक वादि गण मतं, न सन्ति सप्त स्व पर संस्थाः ॥२॥

अज्ञानिक वादी मतं, नव जीवादीन् सदादि सप्तविधं।
भावोत्पत्तिं सदसद् द्वैतावाच्यं च को वेत्ति ? ॥३॥

वैनयिक मतं विनयश्चेतो वाक्काय दानतः कार्यः।
सुर नृपति यति-ज्ञाति स्थविराऽवम मातृपितृषु सदा ॥४॥

अर्थात्- "आत्मा आदि नौ पदार्थ नित्य हैं, अनित्य हैं तथा स्व रूप से, पर रूप से, काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्म कृत है- ये आस्तिक दर्शन के अलग अलग मंतव्य हैं ॥१॥ जीवादि सात पदार्थ स्व रूप में, पर रूप में, काल, यदृच्छा, नियति, ईश्वर, आत्मा तथा स्वभाव की अपेक्षा से असत् हैं ऐसा मानने वाले भिन्न-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भिन्न मत वाले सारे नास्तिकवादी हैं ॥२॥ जीव, अजीव आदि नौ पदार्थों को सत्त्व आदि सात प्रकार से तथा उत्पत्ति को सत्त्व, असत्त्व, सत्त्वासत्त्व और अवाच्च- इस तरह चार भेद हैं या नहीं ? यह कौन जानता है ? अथवा उसे जानने से क्या लाभ? ये सब अलग-अलग मत अज्ञान वादियों के हैं ॥३॥ देवता, राजा, यति, ज्ञाति, वृद्ध, दुःखी, माता और पिता- इन आठों की मन, वचन, काया और दान के द्वारा विनय करना इत्यादि विनयवादियों के अलग अलग मत हैं ॥४॥

इस तरह प्रसंगोपात्त ३६३ पाखंडियों के भेद बतलाये, सम्यकत्व के पाँच अतिचारों का वर्णन सम्पूर्ण हुआ। अब प्रथम स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के पाँच अतिचार कहते हैं:-

बधो बान्धश्छविच्छेदोऽतिभारारोपणं क्रुधः ।
भक्त पान -व्यवच्छेदोऽतिचाराः प्रथम व्रते ॥४३॥

मूलार्थः- "क्रोध पूर्वक १. किसी जीव का वध करना (मारना), २. बंधन से बांधना, ३. उसके अंगोपांग काट देना, ४. अधिक बोझ लाद देना और ५. उसका खाना-पीना बन्द कर देना। ये पाँच अतिचार प्रथम अहिंसाव्रत के बताये गये हैं।

व्याख्या – अहिंसा रूप प्रथम अणुव्रत में प्रथम 'वध' नाम का अतिचार है उसका अर्थ लकड़ी, डंडा, पत्थर आदि से मारना होता है। यहाँ पुत्रादि को हित शिक्षा की दृष्टि से अथवा उद्दण्डता रोकने के लिए, विनयशील बनाने के लिए भी गृहस्थ को मारने का प्रसंग आता है। सकारण मार मारने से अतिचार नहीं लगता है क्योंकि मूल श्लोक में 'क्रुध' शब्द पड़ा है। वह यही सूचित करता है कि अत्यन्त प्रबल कषाय के उदय से गाय, भैंस, आदि पशु या पुत्रादि परिवार को मार से मारना वह प्रथम अतिचार है। पशु या दुराचारी पुत्र, परिवार को बांधना पड़े- वह अतिचार नहीं है परन्तु क्रोध से रस्सी आदि से बांधें तो दूसरा अतिचार लगता है। पुत्र आदि के पैर में या कहीं रसौली की गांठ अथवा फोड़ा हो गया हो और उसे कटवाना पड़े, नश्तर लगवाना पड़े या चमड़ी काटनी पड़े तो अतिचार नहीं कह सकते, क्योंकि उसके पीछे दर्द मिटाने की हित भावना होती है, क्रोध -द्वेष आदि नहीं होता। इस कारण 'क्रोध' शब्द प्रत्येक अतिचार के साथ समझ लेना चाहिए। अतः क्रोध या द्वेषवश किसी का अंग या चमड़ी आदि काट लेना या सिर आदि फोड़ देना तीसरा अतिचार है। गाय, बैल, ऊँट, गधा, मनुष्य आदि किसी के भी कंधे, पीठ या सिर आदि पर अथवा गाड़ी, में ढोया न जा सके, इतना बलबूते से अधिक बोझ लाभ के कारण लाद देना चौथा अतिचार है। इसी प्रकार क्रोध, द्वेष आदि से किसी पशु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

या मनुष्य को अन्न, पानी या घास चारा आदि नहीं देना अथवा देते हुए को रोकना अथवा भूखे प्यासे रखना- वह पाँचवा अतिचार कहा है । श्री आवश्यक सूत्र की चूर्णि आदि में इस विषय की विधि बताई गयी है ।

१. वध - दो पैर वाले मनुष्य और चार पैर वाले पशु का होता है । वह भी सार्थक और निरर्थक दो प्रकार का होता है । निरर्थक अर्थात् कारण बिना वध तो थोड़ा भी उचित नहीं है । सार्थक वध दो प्रकार का है - सापेक्ष और निरपेक्ष । उसमें निर्दयता से मारना वह निरपेक्ष होने से अयोग्य है, त्याग करने योग्य है । सापेक्ष विषय में भी मुख्यतः तो श्रावक को आरंभ से अपना जीवन ऐसा रखना चाहिए कि परिवार आदि उसके भय से अपने-अपने कर्तव्य में परायण रहे । किसी को मार मारने का प्रसंग ही न आए । फिर भी अपने पुत्रादि को कहा न मानने या उद्दंडता करने पर कदाचित् मारना भी पड़े तो उसके मर्मस्थान-मस्तक, नाभि आदि छोड़कर हृदय में दया रखकर, लात, घूंसे या थप्पड़ आदि एक या दो बार हलके से मारे । निर्दयता से, द्वेष या रोष पूर्वक मर्मस्थान पर मारना निरपेक्ष प्रहार है, वह अनुचित है । उसके बिना भी सामान्य रस्सी डंड आदि से एक दो बार ही ताड़न करे ।

२. बन्धन – इसके भी उसी तरह सकारण, निष्कारण और सापेक्ष, निरपेक्ष इस तरह चार भेद हैं । उसमें निष्कारण तो बन्धन नहीं करे । सकारण में भी निरपेक्ष को रस्सी आदि से बांधना पड़े तो गांठ मजबूत न लगाए, ढीली सी गांठ लगाए, ताकि समय आने पर झटपट एवं आसानी से खोली या काटी जा सके । अथवा आग आदि उपद्रव के समय स्वतः खुल सके अथवा जल्दी खोल सके, नहीं तो ऐसे प्रसंग पर बन्धनग्रस्त प्राणी मर जाता है। यह चार पैर वाले गाय, भैंस आदि पशु के लिए समझना। दो पैर वाले मनुष्य में दास, दासी, चोर, पढ़ने में आलसी पुत्रादि परिवार को हित शिक्षा की दृष्टि से बांधा जाता है, ताकि समय आने पर आसानी से उस बंधन को खोला जा सके, यह सापेक्ष बन्धन है । इस बन्धन में भी बारम्बार संभाल रखना चाहिए कि जिससे अग्नि अथवा अन्य उपद्रव होने से भी वह मर न जाय । बल्कि पशु एवं मनुष्यों को इस तरह स्थान में रहने की आदत डाल दे कि जिससे वे स्वतः अपने आप ही बिना बंधन के रह सकें, बैठ सकें और आज्ञानुसार चलें ।

३. अंग छेदन – या चमड़ी के छेदन को सापेक्ष-निरपेक्ष दोनों तरह से समझ लेना चाहिए । किसी के हाथ, पैर, नाक आदि अवयव निर्दयता पूर्वक काट लेना या आंखें फोड़ देना निरपेक्ष छेदन है- वह अच्छा नहीं है, परन्तु शरीर में फोड़ा हो गया हो, उसमें से मवाद बहती हो या पक गया तो उस अंग के अमुक हिस्से का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नश्तर लगवा कर इलाज कराना, उस हिस्से को जला देना सापेक्ष अंग छेदन है। इसमें दयाभाव होते हैं, क्योंकि इसके पीछे दर्द मिटाने का हितकारी भाव है।

४. अति बोझ लादना – यह भी अहिंसा की दृष्टि से योग्य नहीं है। अव्वल तो श्रावक को दो पैर वाले मनुष्य या चार पैर वाले पशु वाली गाड़ी अथवा सवारी द्वारा अपनी आजीविका छोड़ देनी चाहिए किन्तु यदि और कोई रोजगार न हो तो मनुष्य जितना बोझ अपने आप उठा सके, उतना ही उनसे उठवाना चाहिए। ऊँट, बैल, आदि पशु को हल, गाड़ी, रथ आदि में जोतने पर उतना ही वजन लादना चाहिए, जितना वे आसानी से ढो सकें या ले जा सकें, और उन्हें समय पर छोड़ देना चाहिए और आराम दिलवाना चाहिए।

५. भूखे-प्यासे रखना – यह भी चार प्रकार का है। किसी का भोजनादि सर्वथा बन्द कर देने से कभी-कभी वह भूख-प्यास से पीड़ित हो कर आर्तध्यान करता हुआ मर जाता है। इसलिए शत्रु या अपराधी के बारे में भी ऐसा सोचना नहीं चाहिए। श्रावक का आचार है कि किसी को बुखार या अन्य बीमारी में लंघन करवाना पड़े अथवा प्रयुक्त भोजन बंद कराना पड़े तो उतने समय के लिए ही बन्द कराना सार्थक और सापेक्ष निरोध है, उसके बाद नौकर चाकर या स्वजनादि सारे मनुष्य, और गाय घोड़ा आदि सारे पशुओं की तथा जो -जो अपने आश्रित रहे उन प्राणियों को पहले आहार पानी, घास, दाने आदि की व्यवस्था करके फिर स्वयं भोजन करे। आहार पानी का अन्तराय भी सकारण-निष्कारण इस तरह दो प्रकार से बनता है, उसमें निष्कारण तो करना ही नहीं चाहिए। सकारण भी केवल रोगादि के समय में औषधि के कारण करना पड़े तो 'सापेक्ष' कर सकता है। अपराधी को कदाचित् दण्ड देना पड़े तो केवल वाणी से कहे कि 'आज तुम्हें भोजन आदि नहीं मिलेगा।' परन्तु भूखा नहीं रखे। हाँ ! किसी समय में शान्ति आदि के लिए उपवास आदि करवाए तो वह अतिचार रूप नहीं है। अधिक क्या कहें ? वस्तुतः मूल अहिंसा गुण में अतिचार न लगे इस तरह से यतना पूर्वक व्यवहार या प्रवृत्ति करनी चाहिए। इस हेतु से भैंस, बकरी आदि का परिग्रह शक्य हो वहाँ तक श्रावक नहीं रखता। यदि निर्वाह या दयादि हेतु से रखें तो अनुचित नहीं है।

यहाँ शंका होती है कि - श्रावक को स्थूल हिंसा का ही नियम होता है इसलिए वध, बन्धन आदि का तो पच्चक्खान नहीं होता तो वधबंधन आदि करने में क्या दोष? वध आदि से हिंसा के पच्चक्खान का कोई बाधक नहीं होता, यदि ऐसा मानते हो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कि वध, बन्धन आदि के भी पच्चक्खान हैं ही, तो वध, बन्धनादि से भी व्रत का भंग ही होगा, इससे अतिचार कैसे मान ले ? दूसरी बात यह है कि वध, बंधन आदि के भी पच्चक्खान मानने से व्रतों की संख्या का प्रमाण भी टूट जायेगा। क्योंकि व्रत-व्रत में अतिचार तो बढ़ते जायेंगे, मूल व्रत तो केवल बारह की ही संख्या है। फिर भी यदि अतिचार को विरति मान लें तो वह प्रत्येक व्रत गिने जायँ तो इससे बारह की संख्या नहीं रहती, व्रत की मर्यादा टूट जाती है। इसी तरह वध, बन्धन आदि के पच्चक्खान गिनाना भी योग्य नहीं है तथा वध, बन्धन आदि से अतिचार या व्रत भंग एक भी नहीं होता तो वध, बन्धन आदि का अतिचार कैसे मान सकते हैं ? अर्थात् इनमें अतिचार नहीं होता। इसका समाधान यों करते हैं कि- तुम्हारी बात ठीक है, हिंसादि का प्रत्याख्यान किया है लेकिन वध, बन्धनादि किया हो तो केवल उसके नियम में अर्थापत्ति से उनके भी प्रत्याख्यान किए समझना। वध, बन्धन आदि हिंसा के उपाय भूत हैं। इसलिए उनके करने पर व्रत भंग तो नहीं होता, परन्तु अतिचार तो लगता ही है।

प्रश्न – यदि हिंसा के कारण वध, बन्धनादि का भी पच्चक्खान हिंसा के पच्चक्खान के साथ में आता है तो तुम्हारे मतानुसार जैसे हिंसा करने से व्रत भंग होता है वैसे वध, बन्धन आदि से भी व्रत भंग ही गिनना चाहिए। क्योंकि जिससे नियम का भंग हुआ उसे अतिचार कैसे कह सकते हैं ? उसका उत्तर यों है – व्रत का पालन और भंग दो प्रकार से होता है – अन्तर्वृत्ति से और बहिर्वृत्ति से। उसमें 'मैं इसे मारूँगा' इस प्रकार के विकल्प-विचार के बिना ही यदि कोई किसी पर गुस्सा करता है या आवेश प्रगट करता है तो उससे दूसरे के प्राण का विनाश नहीं माना जाता। इसी प्रकार किसी रोष या आवेश के बिना वध, बन्धन आदि में प्रवृत्ति करता है उससे हिंसा नहीं होती। उससे मरता नहीं है। निर्दयता या विरति की निरपेक्षता में प्रवृत्ति होने से अन्तर्वृति से व्रत का भंग होता है, और हिंसा का अभाव होने से बहिर्वृत्ति के पालन द्वारा आंशिक रूप से देशत: विरति भंग होने से और अमुक देशत: से पालन होने के कारण अतिचार का व्यपदेश होता है। व्रत का भंग नहीं होता है। योग शास्त्र-तीसरे, प्रकाश श्लोक ६० की टीका में कहा है कि-

न मारयामीति कृतव्रतस्य, विनैव मृत्युं क्व इहातिचार: ?
निगद्यते य: कुपितो वधादीन्, करोत्यसौ स्यान्नियमानपेक्ष: ॥१॥

मृत्योरभावान्नियमोऽस्ति तस्य, कोपाद्द्याहीन तया तु भग्न: ।
देशस्य भंङ्गादनुपालनाच्च, पूज्या अतीचारमुदाहरन्ति ॥२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''मैं नहीं मारूँगा- इस तरह का जिसने नियम लिया है उसे दूसरे की मृत्यु हुए बिना केवल वध, बन्धन आदि से कौन सा अतिचार लगता है ?'' इस तरह शिष्य जब प्रश्न करता है तब गुरु महाराज उत्तर देते हैं कि - ''जो क्रोध आदि के वशीभूत होकर वधादि करता है और अपने लिए हुए नियम की अपेक्षा नहीं रखता वहाँ अवश्य ही निरपेक्ष कहना चाहिए ॥१॥ यद्यपि दूसरे प्राणी की मृत्यु नहीं होती, इसलिए उसका नियम तो कायम-अखण्ड है, लेकिन क्रोधवश या निर्दयता से प्रवृति होने के कारण व्रत भंग तो हो ही जाता है । इस दृष्टि से देशत:- आंशिक रूप से भंग और देशत: पालन होने से पूज्यवरों ने उसे अतिचार कहा है ॥२॥ '' और जो यह कहा जाता है कि इससे बारह व्रत की मर्यादा टूट जाती है वह भी युक्ति युक्त नहीं है । विशुद्ध निरतिचार की अहिंसा के पालन करने में वध, बन्धन नहीं होता है इसलिए यह निश्चय समझना कि वध बन्धन आदि पाँच अतिचार ही हैं । अथवा तो सर्वत्र अनाभोग, सहसाकार आदि या अतिक्रम आदि से अतिचार समझना । उसमें अनाभोग अर्थात् असावधान रूप और सहसाकार अर्थात् बिना विचार पूर्वक प्रवृत्ति है । कहा है कि:-

पुव्वं अपासिऊणं, छूढे पायंमि जं पुणो पासे ।
न य तरइ निअत्तेउं, पायं सहसाकारणमे अ ॥१॥

अर्थात्- ''पहले जीव नहीं दिखने से, पैर उठाने और पीछे से देखने में आया कि यहाँ जीव मर जायेगा, फिर भी पैर को पीछे रखने का मौका न होने से बचाने की स्थिति नहीं बन सके, तो इससे बिना सोचे हिंसा होती है वह सहसाकार कहलाता है ।''

अतिक्रम, व्यक्तिक्रम, अतिचार और अनाचार का स्वरूप इस तरह है । जैसे कि किसी मनुष्य का व्रत नियम भंग होता है ऐसे कार्य के लिए आमंत्रण-विनती करे, तब व्रतधारी उसका निषेध न करे तो **१. अतिक्रम** कहलाता है । आगे बढ़कर व्रतधारी वैसा कार्य करने के लिए तैयार हो - वहाँ जाने आदि की प्रवृत्ति करता हो वह **२. व्यतिक्रम** कहलाता है । क्रोध से वध, बंधन आदि करे वह **३. अतिचार** कहलाता है और जीव हिंसा आदि करे उसे **४. अनाचार** कहते हैं । यहाँ वध बन्धन आदि कहा, उसके उपलक्षण से हिंसा आदि का कारण भूत मारण, उच्चाटन आदि मंत्र, तन्त्र प्रयोग करना, औषध आदि देना, इत्यादि अन्य भी व्रतभंग के प्रयोग करना- वह सब **५. अतिचार** जानना । यह प्रथम व्रत के पाँच अतिचारों का स्वरूप कहा । अब दूसरे स्थूल मृषावाद विरमण व्रत के अतिचार बताते हैं -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सहसाभ्याख्यान, मिथ्योपदेशो गुह्य भाषणम् ।
कूटलेखश्च विश्वस्त मंत्रभेदश्च सूनृते ॥४४॥

मूलार्थ– "१. बिना विचार किये एकदम किसी पर दोषारोपण करना, २. मिथ्या-पापकारी उपदेश देना, ३. किसी की गुप्त या मर्म रहस्य की बात प्रगट कर देना, ४. झूँठे दस्तावेज-लेख आदि लिखना और ५. अपने पर विश्वास करके कही हुई गोपनीय मंत्रणा दूसरे से कह देना, ये दूसरे सत्य अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं ।"

व्याख्या – दूसरे सत्य व्रत के पाँच अतिचार हैं– (१) सहसा, किसी प्रकार का आगा-पीछा सोचे बिना, एकदम किसी पर झूँठा दोष मिथ्या कलंक मढ़ देना, झूँठ मूठ अपराध लगा देना जैसे 'तू ही तो चोर है, तू ही पर स्त्री गामी है' इत्यादि रूप से कहना सहसाभ्याख्यान नाम का प्रथम अतिचार है । अन्य आचार्य तो इसके बदले में यहाँ 'रहस्याभ्याख्यान' नामक अतिचार बताते हैं । 'रहः' अव्यय शब्द है, इसका अर्थ होता है एकान्त, अर्थात् एकान्त में होने वाली रहस्यमय बातें – झूँठी प्रशंसा करना या झूँठी निंदा -चुगली करना भी रहस्याभ्याख्यान है । जैसे-किसी बुढ़िया से एकान्त में कहे कि – 'तुम्हारा पति तो फलाँ तरुणी स्त्री से प्रेम करता है' और किसी तरुणी से एकान्त में कहे कि – 'तुम्हारा पति तो बड़ा काम कला में कुशल और प्रौढ़ चेष्टा वाला है उसका तो मध्यम वय की नारियों पर अनुराग है।' अथवा किसी स्त्री से कोई कहे कि' तेरा पति गधे के समान अत्यन्त विषयी अथवा कामुक है', अथवा 'तेरा पति तो नामर्द है ।' इस प्रकार की हँसी-मजाक करे अथवा किसी स्त्री के लिए झूँठी बात बनाकर उसके पति से कहे कि –' तेरी पत्नी मुझे एकान्त में कहती थी कि- तेरे अति विषय सेवन से वह बेचारी हैरान -परेशान हो गई है।' अथवा यों कहे कि 'वह कहती थी – मैं अपने पति को भी रति क्रीड़ा में थका देती हूँ ।' अथवा दम्पति युगल में से किसी स्त्री या पुरुष को मोह या आसक्ति बढ़े उस प्रकार की बातें करना अथवा उस स्थिति में एकांत अनेक प्रकार की गुप्त बातें या हँसी मजाक की बातें करना जिससे पुरुष को स्त्री पर झूँठा शक- वहम हो जाय अथवा स्त्री को पुरुष पर झूँठा भ्रम पैदा हो जाय । इस प्रकार की भ्रान्ति जनक बातें करना अथवा परस्पर राग जागृत हो इस तरह एकान्त में बातें करना रहस्याभ्याख्यान अतिचार है । जान बूझकर दुराग्रह के कारण झूँठ बोलने पर तो व्रत भंग हो जाता है । अतिचार नहीं लगता । और हंसी मजाक रूप झूँठी कल्पित बातें करना वह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सहसाभ्याख्यान रूप अतिचार कहलाता है । ऐसा समझना । योग शास्त्र, प्रकाश तीन, श्लोक ६१ की टीका में कहा है कि–

सहसब्भक्खाणाई, जाणं तो जइ करेज्ज तो भंगो ।
जइ पुणणा भोगाई हिंतो तो होइ अइआरो ॥१॥

अर्थात् – " जानबूझ कर सहसा झूँठा आरोप आदि लगाया जाय तो वहाँ व्रत भंग हो जाता है, और जहाँ बिना उपयोग के हँसी मजाक में बिना सोचे समझे किसी को बदनाम किया जाय या किसी पर लाँछन लगाया जाय वहाँ सहसाभ्याख्यान नामक प्रथम अतिचार होता है ।"

इस तरह दोनों मतानुसार यह निश्चित हुआ कि अन्य को आघात-उपघात हो ऐसा सोचे विचारे बिना अथवा हँसी मजाक में बोला जाता है तब हृदय में उसे बदनाम करने का उद्देश्य नहीं होने से व्रत भंग नहीं गिना जाता । और दूसरी ओर ऐसे वचन से दूसरे को आघात होता है इसलिए व्रत का भंग होता है। इस तरह देश से व्रत का भंग और देश से व्रत का पालन करना वह **प्रथम अतिचार** है।

दूसरा अतिचार– संयम या धर्म के विपरीत मिथ्या-पापकारी उपदेश देना या असत् उपदेश। वस्तुतः सत्य व्रत पालन करने वाले किन्तु पर पीड़ाकारी वचन बोलना वह असत्य वचन बोलने रूप ही है। इसलिए प्रमादवश पर पीड़ाकारी वचन बोला जाय वहाँ अतिचार (दोष) लगता है जैसे कोई कहे गधों-ऊँटों को क्यों बिठाये रखा है? इनसे काम करवाओ, भार उठवाओ, चोर को मार दो इत्यादि । दूसरे को पीड़ा हो इस तरह बोलना, वह अतिचार है अथवा यथार्थ अर्थ से विपरीत उपदेश देना भी अतिचार है। वह अयथार्थ होने से मिथ्या उपदेश है। जैसे किसी को अमुक विषय में कोई संदेह हुआ हो और वह पूछे कि इसमें सत्य क्या है ? तब उसे सत्य उत्तर देने में नुकसान नहीं होने पर भी यथार्थ नहीं कहना अथवा किसी विवाह आदि प्रसंग पर उसमें अंतराय (विघ्न) डालने के आशय से स्वयं अपने आप या किसी अन्य द्वारा उसमें के किसी एक पक्ष को उस विषय में असत्य मार्ग बताना अथवा अमुक रूप से असत्य बोलने की सलाह देना– यह सारा अयथार्थ उपदेश है । यहाँ जो कि सलाह देने वाला अपने मन में यह समझता है कि 'मुझे स्वयं को असत्य नहीं बोलना- ऐसा व्रत है, यहाँ तो मैं केवल दूसरे को असत्य बोलने की सलाह देता हूँ । मैं स्वयं असत्य नहीं बोलूँगा। इससे मेरा व्रत भंग नहीं होता ।' ऐसा माने तो वह अतिचार है, क्योंकि बिना विचार किए अज्ञानता या अतिक्रम आदि के द्वारा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी दूसरे को असत्य बोलने की प्रेरणा करना वह व्रत का अतिचार है ही। दूसरे रूप में भी सत्यव्रतधारी अपना व्रत खण्डित न हो इस बुद्धि से अस्पष्ट सीधी सलाह न दे, परन्तु किसी दृष्टान्त के द्वारा उसे समझाये कि 'ऐसे समय तुझे ऐसा करना चाहिए था।' इत्यादि सुनकर दूसरा झूँठ बोलने की बात समझ जाये। इस तरह से अन्य की आड़ लेकर मिथ्या उपदेश देना वह भी व्रत रक्षा की बुद्धि होने पर, दूसरे को असत्य बोलने में प्रेरणा होनें से उसका व्रत अमुक अंश में टूट जाता है और अमुक अंश अखण्ड रहता है। इसलिए ऐसे मिथ्या उपदेश को अतिचार कहा है।

तीसरा अतिचार– 'गुह्य भाषण' नाम का है। शासन काल में कई ऐसी गोपनीय बातें होती है, जो सभी को बताने लायक नहीं होतीं। उन राज्यादि कार्य सम्बन्धी गुप्त बातों को बिना उपयोग के सहसा अनजाने में प्रकट कर देना गुह्य भाषण नामक अतिचार है अथवा इंगित या मुँह आकृति आदि से जानकर उसके विषय में दूसरे से कहना – गलत निर्णय कर लेना भी गुह्य भाषण है। जैसे कोई किसी से कहे कि 'अमुक व्यक्ति राज विरुद्ध कार्य करता है।' अथवा एक दूसरे की चुगली खाकर परस्पर भिड़ा देना जैसे एक की मुखाकृति और आचरण के आधार पर जरा सा अभिप्राय जानकर दूसरे को ऐसी युक्ति से कहना जिससे कि उन दोनों की परस्पर प्रीति टूट जाये। वह पहले अतिचार के समान है। यहाँ भी हँसी मजाक आदि से एक की गुप्त बात दूसरे को कह देना अतिचार है। यदि इरादे पूर्वक बदनाम करने के लिये, जान बूझकर कहे तो व्रत का भंग होता है।

चौथा अतिचार– कूट लेख- झूँठे लेख लिखना, झूठे बहीखाते या दस्तावेज बनाना, दूसरे के हस्ताक्षर जैसे अक्षर बनाकर लिखना अथवा नकली हस्ताक्षर कर देना, चौथा अतिचार है। यद्यपि झूठे लेख लिखने आदि में वचन से असत्य नहीं बोला जाता, न बुलवाया जाता है तथापि ऐसा करना असत्य का ही भेद है, सत्यव्रत का आंशिक भंग है इसलिए अतिचार है। जहाँ सहसा आवेश में आकर वाणी से मौन रखकर हाथ से झूँठी बात लिखी जाती है वहाँ व्रत की मर्यादा के अतिक्रमादि के कारण अतिचार लगता है। अथवा यों समझकर कि 'मेरा तो असत्य न बोलने का नियम है, यह तो लेखन क्रिया है, इससे मेरे व्रत में कोई आपत्ति नहीं आती' ऐसी समझ में कोई व्यक्ति व्रत पालन की भावना पूर्वक असत्य लिखता है, तो वहाँ यह चौथा अतिचार लगता है।

पाँचवां अतिचार– विश्वस्त व्यक्ति की गुप्त बात प्रगट करना पाँचवां अतिचार है। किसी विश्वासी मित्र, अपनी स्त्री अथवा किसी विश्वसनीय व्यक्ति कोई

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गुप्त बात किसी पर भरोसा रखकर कही हो और वह उस गुप्त बात को जहाँ-तहाँ प्रगट कर देता है तो अतिचार लगता है। हालांकि जैसी बात किसी ने कही, उसी बात को वह यथार्थ रूप से दुहरा देता है, इसलिए बाह्य दृष्टि से वह असत्य न होने से अतिचार रूप मालूम नहीं देता, लेकिन स्त्री पुरुष या मित्र अथवा विश्वस्त व्यक्ति की गुप्त हकीकत प्रगट हो जाने से कई दफा वह लज्जावश आत्महत्या कर बैठता है। इस प्रकार के घोर अनर्थ का कारण होने से परमार्थ से वह वचन असत्य ही है। कदाचित् अनजाने में या विश्वस्त समझकर कह देने पर व्रत के आंशिक भंग होने से अतिचार है। किसी की गुप्त बात, गुप्त मंत्रणा और गुप्त आकार आदि प्रगट करने का अधिकार न होने पर भी दूसरों के सामने प्रगट कर देता है अथवा स्वयं मंत्रणा करके उस गुप्त मंत्रणा को प्रगट कर देता है वह दो प्रेमी व्यक्तियों के बीच फूट डलवा देता है। पर पीड़ा कारक होने से वस्तुतः असत्य है, इस तरह वचन रूप में वह सत्य और परिणाम की अपेक्षा से असत्य होने से व्रत रक्षा रूप अतिचार कहा है ।

प्रश्न- तीसरे में गुह्य भाषण करना और पाँचवे में विश्वासी की गुप्त बात प्रगट करना इस तरह कहा है, उन दोनों का एक ही स्वरूप है फिर भी दोनों को अलग अलग अतिचार क्यों कहा है ?

उत्तर- तीसरा गुह्य भाषण में साक्षात् जाने देखे बिना इंगित आकार आदि द्वारा अनुमान से जानकर अनाधिकारी होने पर बात करे वह तीसारा अतिचार जानना और पाँचवें में स्वयं स्त्री या मित्र आदि के साथ में गुप्त मंत्रणा करते समय उसने विश्वास से गुप्त बात बतायी हो उसे प्रगट करे – इस तरह दोनों में भेद है। अर्थात् पाँचवां अतिचार विश्वासघात रूप है और तीसरा कलंक या चुगली खाकर परस्पर भिड़वा देने का अन्तर है। इस तरह दूसरे व्रत के अतिचार जानना। अब तीसरे व्रत के अतिचार कहते हैं –

स्तेनाहृतग्रहस्तेन-प्रयोगौ मान विप्लवः ।
द्विड् राज्य गतिरस्तेये, प्रतिरूपेण च क्रिया ॥४५॥

मूलार्थ - "१. चोरी की वस्तु लेनी, २. चोर को सहायता देना, ३. झूँठे नाप तोल रखना, ४. राज्य आज्ञा के विरुद्ध अथवा शत्रु राजा के राज्य में जाना और ५. अच्छी वस्तु बताकर खराब वस्तु देना– ये तृतीय व्रत के पाँच अतिचार कहे हैं।"

व्याख्या– तीसरे स्थूल अदत्तदान विरमण व्रत में पाँच अतिचार कहे हैं। उसमें चोर के द्वारा चुराकर लाई हुई वस्तु का ग्रहण करना। चोर के द्वारा चुराये हुए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सोने, चाँदी, कपड़े आदि माल को कम मूल्य में, मुफ्त में अथवा गुप्त रूप में ले लेना भी चोरी कहलाती है। क्योंकि नीति शास्त्र में चोर के सात भेद हैं जों श्राद्ध दिन कृत्य गाथा २४७ की टीका में कहा है कि :-

चौरश्चौरापको मन्त्री, भेदज्ञः काणक्रयी ।
अन्नदः थानदश्चेति, चौरः सप्तविधः स्मृतः ।।१।।

अर्थात्- "चोरी करने वाला, चोरी कराने वाला, चोरों के साथ में चोरी की मंत्रणा करने वाला, चोरी के भेद जानने वाला, चोरी की वस्तु सस्ते मूल्य में लेने वाला, चोर को भोजन देने वाला और चोर को स्थान देने वाला- ये सात प्रकार के चोर कहलाते हैं ।

इसलिए स्वयं चोरी न करने पर भी चोरी को प्रोत्साहन मिलता है, सरकार द्वारा दण्डित होने का भय सवार रहता है और चौरी का माल लेने वाला यह समझता है कि 'मैं तो व्यापार कर रहा हूँ चोरी कहाँ कर रहा हूँ'। इस प्रकार के परिणाम व्रत सापेक्ष होने से अचौर्य व्रत का तो भंग नहीं होता, किन्तु अंशतः पालन और अंशतः भंग होने से भंगाभंग रूप **प्रथम अतिचार** लगता है।

दूसरा अतिचार- चोरी करने वालों को प्रेरणा देना। तीसरे व्रत में 'स्वयं चोरी नहीं करूँगा, न कराऊँगा' मन वचन काया से यह प्रतिज्ञा होती है। इसलिए मैं तो चोरी नहीं कर रहा हूँ ऐसा समझ कर चोर को चोरी करने की प्रेरणा, सलाह या अनुमति देना अथवा चोरी करने पर शाबाशी देना, प्रोत्साहन देना या पीठ ठोंकना- यह दूसरा अतिचार है। अथवा चोर को चोरी करने के लिए औजार, हथियार, कौश, कैंची, चोरी की उपयोगी वस्तु विशेष मुफ्त में देना या कीमत लेकर देना। यहाँ पर प्रतिज्ञा के अनुसार व्रती का व्रत भंग होता है। किसी को यह प्रेरणा देना कि 'आजकल तुम बेकार क्यों बैठे हो? तुम्हारे पास खाना आदि न हो तो मैं दूँगा। तुम्हारा चुराया हुआ माल कोई नहीं खरीदेगा तो मैं खरीद लूँगा।' इस प्रकार प्रेरणा देकर यह मान लेना कि 'मैं उसे चोरी करने की प्रेरणा थोड़े ही दे रहा हूँ, मैं तो उसे आजीविका की प्रेरणा दे रहा हूँ।' इसमें व्रतपालन की भावना होने से सापेक्षता के कारण दूसरा अतिचार गिना जाता है।

तीसरा अतिचार- जिससे कोई वस्तु नापी जाय, तौली जाय जैसे सेर, दो सेर (आजकल किलो) आदि बाँट, गज (मीटर) आदि साधन कम तौल-नाप के रखना अथवा ग्राहक को सौदा देते समय तौल-नाप में गड़बड़ी करना अथवा लेने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के समय तौल, नाप, बाँट आदि अधिक वजन वाले रखकर अधिक दूसरों से लिया, इस तरह लेने-देने में नाप-तौल आदि अधिक-कम अलग-अलग रखकर ठगी की। ठगी करने वाला भी वस्तुतः चोर ही गिना जाता है। कहा है कि :-

लौल्येन किञ्चित्कलया च किञ्चन्मापेन किञ्चित्तुलया च किञ्चित्।
किञ्चिच्च किञ्चिच्च समाहरन्तः प्रत्यक्ष चोरा वणिजो भवन्ति ॥१॥

अर्थात्- "कोई लोभ के द्वारा, कोई व्यापारी अपनी वणिक् कला से, कोई माप-नाप से और कोई तौल से- इस तरह कुछ थोड़ा-थोड़ा लूटने वाला होने से व्यापारी प्रत्यक्ष चोर ही है।" और भी कहा है कि 'व्यापारी जो कुछ बोलता है वह ग्राहक को ठगने-चोरी करने के लिए मीठा-मधुर बोलता है, वह वश में करने के लिए कुछ थोड़ा खाने के लिए देता है, परन्तु वह अधिक लेने के लिए देता है। इसलिए ऐसे व्यापारियों का प्रपंच आश्चर्य जनक है और बुद्धिमानों को भी ठग लेता है ऐसा महा गहन है।' ऐसे प्रपंच श्रावक को करना योग्य नहीं है। अतः झूँठे माप तोल रखने से अतिचार लगता है।

चौथा अतिचार– शत्रु राजा के द्वारा निषिद्ध राज्य में जाना, राज्य की निश्चित की हुई सीमा या सेना के पड़ाव का उल्लंघन करना, निषिद्ध किये हुए शत्रु राज्य में जाना, राज्यों की पारस्परिक गमनागमन की व्यवस्था का अतिक्रमण करना। एक राज्य के निवासी का दूसरे राज्य में प्रवेश करना तथा दूसरे राज्य के निवासी का अन्य राज्य में प्रवेश करना- स्वामी अदत्त में समावेश होता है। नवपद प्रकरण गाथा ३८ में स्वामी अदत्त, जीव अदत्त, तीर्थंकर अदत्त और गुरु अदत्त- ये चार प्रकार के अदत्त (चोरी) कहे हैं। इसमें से यहाँ स्वामी अदत्त नामक दोष लगता है। इस तरह राज्य के द्वारा निषेध होने पर भी दूसरे राज्य में जाने पर चोर के समान दण्ड दिया जाता है। वस्तुतः राज्य की चोरी रूप दोष होने से यहाँ व्रत भंग होता है। फिर भी दूसरे राज्य में अनुमति के बिना जाने वाले के मन में तो यही होता है कि मैं चोरी या जासूसी के लिए नहीं परन्तु व्यापार के लिए गया हूँ। इस भावना के कारण व्रत सापेक्षता होने से व्रत रक्षण की उपेक्षा नहीं होती, तथापि लोक व्यवहार में वह चोर माना जाता है, राज्य द्वारा दण्डित होता है इसलिए यहाँ चौथा अतिचार लगता है। राज्य निषिद्ध वस्तु लेना-बेचना भी अतिचार है ।

पाँचवां अतिचार – अच्छी वस्तु में खराब मिलाकर, अच्छी वस्तु के भाव में बेचना, मिलावट करना, बढ़िया वस्तु दिखाकर दूसरी घटिया वस्तु दे देना- जैसे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अच्छी किस्म के चावलों में हल्की किस्म के चावल मिला देना, घी में चर्बी, दूध में पानी, दवाइयों में खड़िया मिट्टी, हींग में गोंद या खैर आदि का रस, तेल में मूत्र, शहद में चासनी, उत्तम सोने या चाँदी में अन्य धातु मिलाकर बेचना इत्यादि व्यवहार प्रतिरूपक क्रिया हैं। अपहरण की हुई गाय आदि के सींग को बदलने के लिए आग में पकाना या और किसी वस्तु के ऊपरी ढाँचे को बदल देना। तलवार आदि के म्यान बदलकर रख देना, तरबूज आदि फलों के भी बाफ देकर सींग और नीचे मुँह बना कर रख लेना, ताकि मालिक न पहचान सके। इस तरकीब से इधर-उधर टेढ़ा करके स्वयं रख लेना या बेच लेना तत्प्रतिरूपक नामक पांचवाँ अतिचार गिना जाता है।

यहाँ माप-तौल झूँठे रखना तथा वस्तु बदलना या मिलावट करना, इन प्रत्येक में अन्य को ठगकर उसका धन लेना होने से स्पष्ट चोरी रूप है इसलिए उससे व्रत का भंग हो फिर भी वैसा करने वाला "सेंध लगाकर माल आदि उड़ाना चोरी कहलाती है। मैं क्या चोरी करता हूँ? यह तो व्यापारी की कला है, यह चोरी नहीं कहलाती।" ऐसी समझ रूप व्रतरक्षा करने की अपेक्षा हो तो उसे अतिचार कहा है। अथवा तो पहले कहे अनुसार चोरी का माल लेना इत्यादि पाँच कार्य स्पष्ट चोरी रूप हैं ही, फिर भी ये कार्य जब बिना विचार असावधानी से, अज्ञानता या बेसमझी से अथवा अनजाने से हो जायें तो व्यवहार से अतिक्रम, व्यतिक्रम या अतिचार रूप दोष कहलाता है। ये पाँचों अतिचार केवल व्यापार करने में ही होते हैं, राजा के नौकर आदि को ये अतिचार नहीं लगते- ऐसी बात नहीं है। पहले के दो अतिचार राजा के नौकर आदि को प्रायः लगते हैं। शत्रु राज्य में जाना तीसरा अतिचार लगता है। यह तब लगता है जब कोई सामान्य राजा आदि या सरकारी नौकर अपने स्वामी (राजा) के यहाँ नौकरी करता हुआ या उसके मातहत रहता हुआ उसके विरोधी, चाहे वह राजा हो अथवा अन्य कोई हो, की सहायता करता है तब यह अतिचार लगता है। नाप तौल में परिवर्तन तथा प्रतिरूप क्रिया (हेरा-फेरी) ये दोनों अतिचार अलग- अलग हैं। राजा भी अपने खजाने के नाप-तौल में परिवर्तन करावे या वस्तु में हेरा-फेरी करावे, तब उसे भी ये अतिचार लगता है। इस तरह तीसरे व्रत के अतिचार कहे। अब चौथे अणुव्रत के पाँच अतिचार बताते हैं-

पर विवाह करणं गमोऽनात्तेत्त्वरात्तयोः ।
अनङ्ग क्रीडानं तीव्र रागश्च ब्रह्माणि स्मृताः ॥४६॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मूलार्थ– १. दूसरे का विवाह करना, २. मालिक बिना की स्त्री तथा अमुक काल के लिए पर स्त्री-रखैल के साथ संगम करना, ४. अनंगक्रीड़ा करना और ५. कामक्रीड़ा में तीव्र अभिलाषा रखना। ये चौथे ब्रह्मचर्य में पाँच अतिचार कहे हैं।

व्याख्या - ब्रह्मचर्य अणुव्रत का स्वदारा संतोष-परदाराविरमणव्रत नामक चौथा व्रत है। उसके पाँच अतिचार हैं।

पहला अतिचार – परविवाह करण है – अपने पुत्र-पुत्री आदि के सिवाय दूसरे के पुत्र-पुत्री आदि का विवाह करने से अथवा कन्यादान का फल पाने की इच्छा से या अपने पुत्र को भी कन्या मिल जाने की आशा से अथवा स्नेह सम्बन्ध से लिहाज में आकर विवाह क्रिया करने से परविवाह करण नामक अतिचार लगता है। जिसने अपनी पाणिगृहीत स्त्री के सिवाय अन्य स्त्री के साथ मैथुन-सेवन नहीं करना, नहीं कराना– इस रूप में स्वदारा संतोष व्रत लिया हो अथवा अपनी स्त्री या विवाह किए बिना ही स्वीकृत स्त्री के अलावा अन्य से मन, वचन, काया से मैथुन न करने न कराने का व्रत अंगीकार किया हो, उसके द्वारा दूसरों के विवाह सम्बन्ध जोड़ना, वस्तुतः मैथुन में प्रवृत कराना है। इस दृष्टि से इस बात का त्याग ही होना चाहिए। इस अपेक्षा से ऐसी प्रवृत्ति से उसका व्रत भंग होने पर भी वह अपने मन में समझंता है - 'मैं तो केवल विवाह कराता हूँ, मैथुन सेवन नहीं कराता। इसलिए मेरा व्रत भंग नहीं होता।' इस प्रकार अपने व्रत की रक्षा करने की भावना होने से ऐसी हालत में उसे अतिचार लगता है। पर विवाह करके कन्यादान का फल प्राप्त करने की इच्छा सम्यग्दृष्टि को अपरिपक्व अवस्था में होती है। यदि मिथ्या दृष्टि भद्र परिणामी व्यक्ति चतुर्थ व्रत लेकर उपकार बुद्धि से ऐसा करता है तो वहाँ उसे मिथ्यात्व लगता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि - 'जब दूसरे की संतानों का विवाह करने में अतिचार लगता है तो अपने पुत्र-पुत्री आदि का विवाह करने में अतिचार क्यों नहीं लगता है? दोष तो दोनों हालात में समान है।' उसका समाधान ज्ञानी पुरुष यों करते हैं कि- 'यह बात ठीक है कि दोनों के विवाह करने में एक सरीखा दोष दिखता है। लेकिन स्वदारा संतोषी यदि अपनी पुत्री का विवाह नहीं करता है तो उसके व्यभिचारिणी या स्वच्छन्दाचारिणी बन जाने की संभावना है, इससे जिन शासन की एवं अपनी ली हुई प्रतिज्ञा की अपभ्राजना (निंदा) होती है, किन्तु उसकी शादी कर देने के बाद तो वह अपने पति के अधीन हो जाती है, इसलिए वैसा नहीं होता। यदि होता है तो भी अपने व्रत या धर्म की निन्दा नहीं होती है। मनु स्मृति ९/३ में कहा है कि–

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रास्तु स्थावरे, भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

अर्थात् – "स्त्री की कौमार्य अवस्था में पिता, युवावस्था में पति एवं वृद्धावस्था में पुत्र रक्षा करता है। इसलिए स्त्री किसी भी हालत में स्वतंत्रता के योग्य नहीं है।" ऐसा सुना जाता है कि दशार्ह श्रीकृष्ण तथा चेटक राजा का अपनी संतान का विवाह न करने का नियम था। उसके परिवार में अन्य लोग विवाहादि कार्य करने वाले थे। इसलिए उन्होंने ऐसा नियम लिया था। इस प्रकार अपने पुत्रादि का विवाहादि करने वाले अन्य कोई हों तो वहाँ अपने पुत्रादि का भी विवाह नहीं करने का नियम करना योग्य है लेकिन वह काम करने वाला अन्य न हो तो इस तरह अपना व्रत नियम पालन करने में मुश्किल न आए इस तरह अमुक संख्या में विवाह करने का खुला रखकर शेष सबका नियम लेना योग्य है। इस अतिचार के अर्थ के विषय में अन्य आचार्यों का मत है – 'अपनी स्त्री में पूर्ण संतोष न मिलता हो तब उसकी अनुमति के बिना कामवासना की पूर्ति के लिए असंतोष से अन्य स्त्री के साथ में विवाह करने से 'पर विवाह करणं' नामक अतिचार लगता है। उनके मतानुसार 'स्वदार संतोषी' को अतिचार लगता है। इस तरह से पहले अतिचार का स्वरूप कहा है।

दूसरा अतिचार – अनात्तागम-अनात्ता का अर्थ है – अपरिग्रहीता अर्थात् जिसका किसी पुरुष के साथ पाणिग्रहण नहीं हुआ है, जिसका कोई स्वामी-पति नहीं है अथवा खुद ने पाणि ग्रहण करके पति रूप में स्वीकार नहीं किया है, ऐसी स्त्री कुंवारी कन्या, विधवा, वेश्या, स्वच्छन्दाचारिणी-कुलटा अथवा पतित्यक्ता कुलवती आदि में से कोई भी हो सकती है, अतः ऐसी अपरिग्रहीत स्त्री के साथ विषय सेवन करना द्वितीय अतिचार है। बेसमझी से, अज्ञानता या प्रमाद से अतिक्रम आदि होने से यह अतिचार लगता है, परन्तु परदारा त्यागी को ये दोनों अतिचार इसलिए नहीं लगते कि वेश्या या कन्या अथवा विधवा का उस समय कोई पति-स्वामी नहीं होता। वेश्या या कुलटा के तो कोई पति होता ही नहीं और फिर थोड़े समय के लिए वह उसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेता है। शेष अतिचार उक्त दोनों को लगते हैं। स्वदारा संतोष व्रती के लिए ये पाँचों अतिचार जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं हैं। इस विषय में अन्य आचार्यों का मत यह है कि ये दोनों अतिचार उक्त दोनों प्रकार के पुरुषों को लगते हैं, क्योंकि स्वदारा संतोषी किसी स्त्री (वेश्यादि) को थोड़े समय के लिए रखकर उसे सेवन करे तो उसे अतिचार लगता है, यह तो स्पष्ट है। लेकिन पति विहीन स्त्री के साथ संगम करने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से परदारा त्यागी को भी अतिचार यों लगता है कि वेश्या आदि पति-रहित होती है और उसे थोड़े समय के लिए स्त्री बनाकर अपने पास रखता है, उसके बाद वह दूसरे के पास जाती है तब दूसरे की स्त्री बन जाती है, इस दृष्टि से वेश्या आदि कथंचित् पर स्त्री होने से व्रत भंग होता है, और वस्तुतः पर स्त्री न होने से व्रत भंग नहीं होता। इस तरह भंगाभंग रूप दूसरा अतिचार स्वदारा संतोषी और परदारा त्यागी दोनों को लगता है ।

तीसरा अतिचार – इत्वरी शब्द का अर्थ होता है थोड़े समय के लिए रखी हुई, ऐसी स्त्री अनेक पुरुषों के पास जाने वाली कुलटा या वेश्या होती है अथवा रखैल होती है, जो वेतन या किराये-भाड़े पर रखी जाती है या फिर उसके भरण पोषण का जिम्मा लेकर रखैल या दासी के रूप में रखी जाती है । ऐसी स्त्री के साथ गमन करना इत्वरात्तागम कहलाता है । यहाँ दूसरे तीसरे अतिचार में अनात्ता और इत्वरात्ता दोनों में द्वंद्व समास बताकर मूल-श्लोक में '**अनात्तेत्वरात्तयोः**' इस तरह द्विवचनान्त प्रयोग किया है । इस तरह एक मालिक बिना और दूसरा अल्पकाल के लिए भाड़े या वेतन पर रखी रखैल स्त्री के साथ में विषय-सेवन करना, वह अनात्ता-गमन नामक दूसरा और 'इत्वरात्तागमन' नामक तीसरा अतिचार जानना । यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि मालिक बिना 'अनात्ता' स्त्री के साथ में अनजाने या सहसात् विचार किए बिना मैथुन सेवन करे तब सेवन की इच्छादि रूप अतिक्रमादि सेवन करे तब अतिचार लगता है । इत्वरात्तागमन में रखैल के साथ विषय सेवन में तो भोगने वाला जब यह समझे कि - मैंने किराया देकर रक्खा है अतः मेरी अपनी ही है, इसलिए मेरा व्रत भंग नहीं होता तब व्रत का सापेक्षता होने से पालन है किन्तु अल्प काल तक रखैल होने से वस्तुतः परदारा होने से व्रत का भंग होता है । इस तरह भंगाभंग रूप तीसरा अतिचार है । यह दूसरा और तीसरा अतिचार जिसने 'स्वदारा संतोष' नियम लिया हो उसे लगते हैं, केवल पर स्त्री का ही त्याग किया हो उसे नहीं लगते । क्योंकि वह अमुक समय के लिए ही मालिक वाली बनी होने से वस्तुतः वह वेश्या है और अनात्ता भी मालिक बिना की है, इससे वह परदारा नहीं गिनी जाती। उसके सिवाय पहला, चौथा और पाँचवां ये तीन अतिचार तो स्वदारा संतोषी तथा केवल पर स्त्री त्यागी दोनों को समान ही हैं । पूज्य आचार्य श्री हरिभद्र सूरीश्वर जी का मत है । इस मतानुसार आगम श्री उपासकदशांग के पहले अध्ययन में भी कहा है कि - "**सदारसंतोसस्स पंचइआरा जाणि अव्वा न समायरिअव्वा**" अर्थात् - 'स्वदारा संतोषी के पाँच अतिचार जानना, समझना, परन्तु आचरणा नहीं ।'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अन्य आचार्यों के मत तो पूर्व में कहे हैं। उनके अनुसार रखैल के सेवन से स्वदारा संतोषी को, और मालिक विना स्त्री के सेवन से परदारा त्यागी को अतिचार लगता है। उनका कहना-मानना यह है कि वेश्या मालिक बिना होती है, फिर भी अमुक काल के लिए स्वदारा संतोषी ने रखैल बनाकर रखा हो उतने समय तक वह स्व स्त्री होने से व्रत भंग नहीं है और वह वेश्या स्वदारा नहीं होने से व्रत भंग है इस तरह भंगाभंग रूप अतिचार है। उसके सिवाय जिसका पति परदेश गया हो, जो उस पति को पतिरूप में नहीं मानती हो और जो विधवा हो, वे सभी स्वपति के अभाव में भी पर स्त्रियाँ हैं, इसलिए परदारा त्यागी को व्रत भंग होता है फिर भी उसे अपनी समझने से वह पति बना मानता है, इससे व्रत भंग नहीं होता। इस तरह भंगाभंग रूप अतिचार समझना। इस तरह दूसरे तीसरे अतिचार का स्वरूप कहा।

चौथा अतिचार – अनंग क्रीड़ा। अनंग का अर्थ काम इच्छा अर्थात् पुरुष को स्त्री, पुरुष या नपुंसक के कामांग से सहवास सेवन करने की इच्छा होना, स्त्री को पुरुष की इच्छा होना, नपुंसक को स्त्री पुरुष की इच्छा होना, अथवा तीनों को वेगोदय से हस्तकर्म आदि करने की इच्छा होना अनंग क्रीड़ा है। अनंग क्रीड़ा का तात्पर्य है – कामोत्तेजनावश मैथुन सेवन के योग्य अंगों के अतिरिक्त दूसरे अंगों से दुश्चेष्टा करना, दूसरी इन्द्रियों से सम्भोग क्रीड़ा करना अथवा असंतुष्ट होकर काष्ठ, पत्थर या धातु की योनि या लिंग सरीखी आकृति बनाकर अथवा केले आदि फलों से लिंगाकृति कल्पित करके या परवल आदि से योनि सी आकृति की कल्पना करके अथवा मिट्टी, रबड़ या चमड़े आदि के बने हुए पुरुष चिन्ह या योनि चिन्ह से काम क्रीड़ा करना, स्त्री के योनि प्रदेश को बार बार मसलना, या स्पर्श करना, उसके बाल खींचना, उसके स्तनों को बार-बार पकड़ना, पैर से कौमल लात मारना, दांत या नख आदि से काटना, बारम्बार चुम्बन करना तथा स्त्री के शरीर के साथ क्रीड़ा करना इत्यादि मोहनीय कर्म के उदय से प्रबल काम वर्द्धक कृत्रिम साधनों से चेष्टाएँ अथवा जिससे काम वासना की इच्छा अति बढ़े उन चेष्टाओं को भी अनंग क्रीड़ा कहते हैं। अथवा मैथुन के अवयव-पुरुष चिन्ह और स्त्री योनि के अतिरिक्त अंगों-जांघ, स्तन, मुख, गाल, कांख, नितम्ब होठ आदि में क्रीड़ा करना भी अनंग क्रीड़ा कहलाती है।

इस तरह तीव्र वेगोदय से विवेक शून्य जो-जो प्रवृत्ति करने में आती हैं उन्हें सर्व से अनंग क्रीड़ा नामक अतिचार समझना। जिस तिथि में जिस स्त्री का त्याग किया हो, उन तिथियों में उस स्त्री के साथ इस तरह क्रीडाएँ करने से वस्तुतः मैथुन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

न होने से व्रतभंग नहीं होता, फिर भी मैथुन की इच्छा से ऐसी क्रीड़ा करना वह भाव से व्रतभंग स्वरूप होने से अतिचार गिना जाता है ।

पाँचवां अतिचार – काम-क्रीड़ा में तीव्र आसक्ति रखना । जब पुरुष अन्य सब कार्यों या प्रवृत्तियों को छोड़कर रात दिन केवल विषय भोग की ही धुन में रहता है । काम सेवन के विषय में ही सदा सोचता है, अथवा स्त्री के मुख, कांख या योनि आदि में पुरुष चिन्ह डालकर काफी समय तक तृप्ति रहित होकर शव की तरह निश्चेष्ट रूप में पड़ा रहता है अथवा नर और मादा चिड़िया की तरह बार-बार सम्भोग करने में प्रवृत्त होता है, अगर कमजोर हो जाये तो कार्य सेवन करने की शक्ति प्राप्ति करने के लिए बाजीकरण का प्रयोग करता है या रसायन भस्म आदि का सेवन करता है क्योंकि बाजीकरण से या ऐसी औषधि आदि का सेवन करने से पुरुष हाथी को हरा देता है, घोड़े को भी पछाड़ देता है, इस प्रकार से बलवान बनकर पुरुष अति संभोगों में प्रवृत्त होता है । वह सोचता है कि मेरा तो पर स्त्री सेवन का त्याग है, अपनी स्त्री के साथ चाहे जितनी बार संगम करने में व्रत भंग तो होता नहीं है । इस अपेक्षा से मैथुन की अति आसिक्त रूप पाँचवां अतिचार लगता है ।

यहाँ तात्पर्य यह है कि श्रावक अत्यन्त पाप भीरु होने से मुख्यतया सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का ही पालन करने की इच्छा रखता है। लेकिन जब कभी वेगोदय वश या मोहनीय कर्मोदय के कारण काम-विकार सहने में अत्यन्त असमर्थ होता है तब केवल विकार की शान्ति के लिए अपनी स्त्री का सेवन करता है। अन्य सभी स्त्रियों के सेवन का तो उसके लिए व्रत होता है। मैथुन क्रिया में भी वह सुई में धागा पिरोने के न्याय की तरह ही प्रवृत्त होता है, तीव्र आसक्ति अथवा प्रबल कामोत्तेजना के वशीभूत नहीं होता है। इसलिए उसका जीवन इतना संयममय होना ही चाहिए कि काम भोग की तीव्र अभिलाषा तथा अनंग क्रीडा से दूर रहे , एवं स्वस्त्री के अतिरिक्त संसार की तमाम स्त्रियों को अपनी माता बहन या पुत्री तुल्य समझे । जिस अतिकाम चेष्टा से कोई लाभ नहीं है, बल्कि समय और शक्ति का नाश होता है, धर्मबुद्धि क्षीण हो जाती हैं, स्मरण शक्ति लुप्त हो जाती है। कभी-कभी क्षय आदि भयंकर राजरोग भी हो जाते हैं, उससे धर्मिष्ठ श्रावक को तो दूर ही रहना चाहिए। इन दोनों निषिद्ध दोषों का जान-बूझकर सेवन करने से व्रत भंग हो जाता है।

कितने ही आचार्यों का इन पाँचों अतिचारों के विषय में उपयर्युक्त कथन से अतिरिक्त मत है । वे कहते हैं - वेश्या या पर स्त्री के साथ सिर्फ मैथुन सेवन का त्याग है, आलिंगन, चुम्बन आदि का तो त्याग नहीं है, यों मानकर कोई स्वदारा संतोषी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

या परदारा त्यागी आलिंगनादि में प्रवृत्त होता है तो कथंचित् व्रत सापेक्ष होने से उस स्थिति में उसे ये दोनों अतिचार लगते हैं। इस दृष्टि से स्वदारा संतोषी को उक्त पाँचों अतिचार लगते हैं, परदारा त्यागी को पीछे के तीन ही अतिचार लगते हैं। ऐसा निश्चित हुआ। इससे विपरीत कितने ही आचार्य इन अतिचारों के विषय में अलग ही प्रतिपादन करते हैं। उनका मत नवपद प्रकरण गाथा ५४ तथा सम्बोध प्रकरण ७/४१ में कहा है-

परदार वज्जिणो पंच हुंति तिन्नि उ सदार संतुट्ठे ।
इत्थी तिन्नि पंच व, भंग विगप्पेहि अइआरा ॥१॥

अर्थात् - 'परदारा त्याग करने वाले को उक्त पाँचों ही अतिचार लगते हैं, जबकि स्वदारा संतोषी को तीन लगते हैं, और स्त्री को विकल्प से तीन या पाँच अतिचार लगते हैं।'

वे यों मानते हैं कि -अमुक समय के लिए वेश्या को रखकर उसके साथ सहवास करने से वेश्या चूंकि पर स्त्री नहीं मानी जाती, इसलिए व्रत भंग नहीं होता। इस तरह परदारा त्यागी को भंगाभंग रूप से उक्त अतिचार लगता है। किन्तु स्वदारा संतोषी को व्रतभंग इस अपेक्षा से नहीं होता कि वह कुछ अर्से के लिए विधवा, प्रोपित भर्तृका (जिसका पति चिरकाल से परदेश में हो), पतित्यक्ता या जो अपने पति को नहीं मानती हो, ऐसी स्त्रियों को अपनी मानकर उसके साथ सहबास करता है, परन्तु परदारा त्यागी को ऐसी स्त्रियों से सहवास करने पर अतिचार लगता है। क्योंकि लोगों में यही समझा जाता है कि यह उसकी पत्नी है परन्तु वास्तव में उसकी स्त्री है नहीं, इसलिए पूर्ववत् अतिचार लगता है, सर्वथा व्रत भंग नहीं होता। बाकी के परविवाह करण, तीव्र कामाभिलाषा और अनंग क्रीड़ा ये तीनों अतिचार लगते ही हैं।

यहाँ सब अतिचार पुरुष की अपेक्षा से कहे गये हैं। स्त्री के सम्बन्ध में स्वपति संतोष, परपुरुष त्यागी इस प्रकार के दो भेद नहीं है। उसके लिए स्वपुरुष के अतिरिक्त सभी पुरुष ही है। अर्थात् स्त्री के लिए स्व पुरुष संतोष व्रत ही होता है। परविवाह करण आदि करने पर तीन अतिचार स्वपति संतोषी को लगते हैं, शेष दो अतिचार अपने पति के विषय में लगते भी हैं और नहीं भी लगते। वह इस प्रकार- जैसे किसी स्त्री की सौत हो और उसके पति का उसके पास आने का अमुक दिन नियत हो तो उस दिन उसका पति भी उसके लिए परपुरुष है, इस दृष्टि से वह अपने पति को स्वपरिणीत पुरुष मानकर सौत की बारी के दिन पति के साथ सहवास करती है तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उस अपेक्षा से उसे यह अतिचार लगता है। कोई स्त्री परपुरुष के साथ सहवास की इच्छा करती है या उपाय करती है, तब उसे अतिक्रम, व्यतिक्रम या अतिचार रूप दोप लगते हैं, किन्तु पर पुरुप के साथ सम्भोग में प्रवृत्त हो जाय तो व्रत भंग हो जाता है। किसी ब्रह्मचारी, जो किसी स्त्री का पति नहीं है, ऐसे पुरुप या अपने पति के साथ भी तीव्र कामक्रीड़ा की इच्छारूप अतिक्रम से उक्त पाँचों अतिचार लगते हैं। शेष तीनों अतिचार तो पूर्वोक्त प्रकार से पुरुपों की तरह स्त्रियों के विषय में समझ लेने चाहिए। अब पाँचवें व्रत के अतिचार कहते हैं-

धनधान्यं क्षेत्र वास्तु, रूप्यस्वर्णं च पञ्चमे ।
गो मनुष्यादि कुप्यं चेत्येषां संख्या व्यक्तिक्रमाः ॥४७॥

मूलार्थ- धन-धान्य, क्षेत्र, वस्तु, चाँदी-सोना, गाय, मनुष्य आदि तथा कुप्य आदि से जो प्रमाण धारण किया हो उसका उल्लंघन करना या मर्यादा-प्रमाण निश्चित की हो उससे अधिक रखना- ये पाँचवें व्रत के क्रमशः पांच अतिचार हैं।

व्याख्या- श्रावक ने धन-धान्य, क्षेत्र, वस्तु, चांदी-सोना, गाय मनुष्यादि और कुप्य इन पाँच प्रकार के परिग्रह परिमाण व्रत में जावत्जीव या अमुक वर्ष या चौमासा आदि अमुक महीने आदि काल तक की संख्या या मात्रा आदि जो प्रमाण नियत किया हो उस संख्या, आदि का उल्लंघन करना अर्थात् प्रमाण से अधिक रखना, वह पाँचवें अणुव्रत के विषय में पाँच अतिचार लगते हैं। उसमें सर्वप्रथम यहाँ धन-धान्य का स्वरूप कहते हैं। धन चार प्रकार का कहा गया है- १. गणिम, २. धरिम, ३. मेय और ४. परीक्ष्य। जायफल सुपारी आदि जो चीजें गिनकर दी जाती हैं वे गणिम कहलाती हैं, कुंकुम, गुड़ आदि जो वस्तु तौलकर दी जाती है वे धरिम कहलाती है, तेल घी आदि जो वस्तु नाम कर दी जाती हैं वे मेय कहलाती हैं और कपड़ा आदि वस्तुएँ भी गज आदि से नापी जाती है इसलिए ये सभी मेय के अन्तर्गत हैं और चौथा धन परीक्ष्य है-रत्न, गहने, मोती आदि परीक्षा करके दिया जाता है। इन चार प्रकारों में सभी वस्तुएँ आ जाती हैं। संबोध प्रकरण श्राद्ध व्रताधिकार में कहा है कि -

गणिमं जाई फल फोफलाई, धरिमं तु कुंकुम गुडाइ ।
मेज्जं चोपड लोणाइ, रयण वत्थाइ परिछेज्जं ॥५३॥

अर्थात् - "जायफल, सुपारी आदि वस्तु गणिम, कुंकुम, गुड़ आदि पदार्थ धरिम, चोप्पड, तेल, घी, नमक, अनाज आदि मेय और रत्न, वस्त्र आदि परिच्छेद्य इस तरह धन चार प्रकार का है।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनाज के चौवीस भेद हैं- वह पहले पाँचवें व्रत में बतलाया है। कोई सत्रह प्रकार का भी कहते हैं - (१) चावल, (२) जौ, (३) गेंहू, (४) चना, (५) जुआर, (६) उड़द, (७) मसूर, (८) अरहर, (९) मूंग, (१०) मोठ, (११) चौला राजमा, (१२) मटर, (१३) कुलथ, (१४) तिल, (१५) कोदों, (१६) रागून (रौंगी) और (१७) बाल आदि अनाज। अन्य ग्रन्थ में २४ प्रकार का अनाज कहा है उसमें ज्वार, मक्का आदि नाम प्रसिद्ध हैं। उनके नाम नहीं आए। १७ प्रकार में भी कई नाम नहीं आए। फिर भी वह सब प्रकार का अनाज गिनना। धन-धान्य दोनों की जितनी मर्यादा निश्चित हो उससे अधिक स्वयं रखना या दूसरे के यहाँ रखना यह धन-धान्य नाम का परिग्रह समझना। यहाँ धन-धान्य तथा क्षेत्र वस्तु आदि दो-दो साथ में गिनने का कारण यह है कि- परिग्रह नौ प्रकार का है और अतिचार पाँच है, इसलिए दो-दो मिलाकर परिग्रह पाँच प्रकार करने से उसके अतिचार के पाँच प्रकार का स्पष्ट समझ सकते हैं। इसलिए धन और धान्य दोनों को मिलाकर एक परिग्रह रूप समझना।

दूसरा अतिचार 'क्षेत्र वस्तु' नाम का है। उसमें क्षेत्र अर्थात् अनाज उत्पन्न करने की भूमि। वह तीन प्रकार की होती है १. सेतु, २.केतु और ३. उभय क्षेत्र। सेतु क्षेत्र उसे कहते हैं जो खेत=खेत की जमीन कुंआ, बावड़ी आदि जलाशय, रेहट, कोंश या पंप आदि द्वारा पानी खींचकर सींचा जाय और अनाज उगाया जाय। केतु खेत वह है जिस खेत=खेती की भूमि में केवल बरसात के पानी से सिंचाई होकर अनाज पैदा किया जाय। और उभय-सेतु केतु क्षेत्र उसे कहते हैं-जिस कृषि भूमि में पूर्वोक्त दोनों प्रकार की सिंचाई करके अन्न-उत्पादन किया जाता है और वस्तु मकान को कहते हैं। इसका तात्पर्य खास तौर से रहने के मकान-घर से है। वस्तु तीन प्रकार का होता है-खात, उच्छ्रित और खातोच्छ्रित। जमीन के अन्दर-भूगर्भ में जो मकान हो वह तलघर खात कहलाता है तथा जो घर, दुकान, हवेली आदि जमीन के ऊपर हो वह उच्छ्रित कहलाता है, तलघर के ऊपर मकान बना हो यानि भूमिगृह और ऊपर का गृह दोनों नीचे ऊपर हों वह खातोच्छ्रित कहलाता है। इसी तरह बाग, बगीचे, नोहरा, अतिथि गृह, कार्यालय, दुकान, राजा आदि के गाँव या नगर ये सब वस्तु के अन्तर्गत हैं। यानी खुली और ढकी हुई जमीन तथा जायदाद सब का क्षेत्र-वस्तु में समावेश होता है। इन दोनों की निश्चित की हुई संख्या का अतिक्रमण क्षेत्र-वस्तु परिमाण अतिक्रम अतिचार है।

तीसरा अतिचार - सोना चांदी का परिमाण रखना। उसमें घड़-बनाये हुए सिक्के, गहने आदि अथवा सोने चांदी के थाल, लोटा, प्याला इत्यादि बर्तन लगडी,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

या टुकड़े आदि की जो मात्रा निश्चित की हो उसका अतिक्रम करना वह सोना चाँदी का ही अतिचार कहलाता है ।

चौथा अतिचार- यह गाय, मनुष्य आदि द्विपद, चतुष्पद विषयक होता है इसलिए इसका नाम 'गो मनुष्यादि' रखा है। उसमें गो शब्द से गाय-बैल, भैंस-भैंसे, बकरी, भेड़, गधा, ऊँट, हाथी , घोड़ा आदि जितने भी चौपाये पालतू जानवर आते हैं। इसी प्रकार तोता, मैना, हंस, मयूर, मुर्गा, चकोर आदि पक्षी भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। और मनुष्य शब्द से द्विपद-दो पैर वाले पुत्र-पुत्री, दास-दासी, नौकर आदि आते हैं। इनके रखने की जितनी संख्या नियत की हो उससे अधिक रखना गौ, मनुष्य परिमाणातिक्रम नामक अतिचार है ।

पाँचवां अतिचार– कुप्य है इसका अर्थ है- सोना चाँदी के सिवाय हल्की किस्म की धातुएँ-कांसा, ताम्बा, लोहा, शीशा, जस्ता, गिलट आदि धातुओं के बर्तन, चारपाई, पलंग, कुर्सी, सोफासेट, अलमारी, रथ, गाड़ी, मोटर, हल, ट्रैक्टर आदि खेती के साधन, मिट्टी के बर्तन, बांस की टोकरी आदि, चमड़े आदि के साधन, लकड़ी के टेबल, पलंग इत्यादि अन्य गृहोपयोगी सामान-फर्नीचर कुप्य के अन्तर्गत आते हैं। वे और इन जैसी अन्य गृहोपयोगी सामग्री भी जितनी मर्यादा निश्चित हो उसका उल्लंघन करना पाँचवाँ कुप्य परिमाणातिक्रम अतिचार है ।

यहाँ क्षेत्र आदि नौ प्रकार के परिग्रह के अतिचार नौं के बदले पाँच कहे। उसका यह कारण है कि परस्पर समान जातिवाले होने से दो प्रकार को एक में समावेश किया है और शास्त्र में अभ्यासी के हित के लिये प्रायः मध्यम व्याख्या से ही वर्णन किया है इससे यहाँ भी प्रत्येक व्रत के एक समान पाँच-पाँच अतिचार की गिनती रखी है। इससे समझना कि 'धन धान्य आदि जितनी संख्या में हो उतने अलग अतिचार नहीं गिनना। यह घटित है।' ऐसा श्री धर्म बिन्दु की टीका में बतलाया है, वह उचित ही है। यहाँ शंका होती है कि व्रत में स्वीकृत की हुई मर्यादा (संख्या या परिमाण) का उल्लंघन करने पर तो व्रत ही भंग हो जाता है, तब फिर इसे अतिचार कैसे कहा गया ? इसका समाधान आगे के श्लोक में कहते हैं :-

बंधनाद् योजनाद्दानाद्, गर्भतो भावतस्तथा ।
कृतेच्छा परिमाणस्य, न्याय्याः पञ्चापि न ह्यामी ॥४८॥

मूलार्थ- पहले कहे अनुसार पाँच प्रकार के परिग्रह में अनुक्रम से बन्धन, योजन, दान, गर्भ और भाव की अपेक्षा से ये पाँच अतिचार लगते हैं। उन्हें सेवन करना व्रतधारी के लिए उचित नहीं है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्याख्या- पूर्व कहे अनुसार धन-धान्यादि परिग्रह की संख्या का साक्षात् उल्लंघन न करते हुए व्रत रक्षा की भावना रखता है, अपनी समझ-बूझ (सद्बुद्धि या सदाशय) से जो यही मानता है कि मैं व्रत भंग नहीं कर रहा हूँ, उस व्रतधारी को बन्धन योजन आदि पाँच कारणों से पूर्वोक्त पाँच अतिचार लगते हैं। व्रत भंग तो तब होता, जब वह व्रत रक्षा की कोई भावना न रखता हो और न ही 'व्रतभंग नहीं कर रहा हूँ' ऐसी समझ-बूझ से मर्यादातिक्रमण करता हो। अर्थात् व्रत रक्षा की परवाह न करते हुए जान बूझ कर मर्यादा-अतिक्रमण करता तो व्रत भंग निश्चित हो जाता है। यहाँ तो बंधन आदि पाँच कारणों से व्रतातिक्रम होता है। जैसे किसी अनाज के व्यापारी ने धन-धान्य परिमाण नियत कर लिया हो, उसके बाद कोई कर्जदार अपना ऋण चुकाने की दृष्टि से अनाज या धन देने आया हो अथवा कोई भेंट रूप में देने आया हो और उक्त व्यापारी यह सोचकर उसे ले लेता है कि मेरे नियम के अनुसार इसका परिमाण बढ़ जाता है और मेरा नियम अमुक महीने तक का है, उसके बाद इसे स्वीकार कर लूंगा, अभी घर के एक कोने में अथवा किसी अन्य के यहाँ सुरक्षित रखवा दूँगा या मेरे यहाँ से यह वस्तु कुछ बिक जायेगी, उसके बाद इसे ले लूँगा। इस आशय से देने वाले से कहे कि 'अमुक महीने के बाद ले आना ले लूँगा' अथवा उस चीज की अच्छी तरह पैक करके रस्सी से बाँधकर देने वाले के नाम से अमानत के तौर पर रख ले, फिर जब अपने नियम की मियाद-अवधि पूरी हो जाय तब लेने का निश्चय करे। इस प्रकार का बन्धन करके निश्चित परिमाण से अधिक धन या धान्य घर में रख ले और यह माने कि 'यह तो उसका है, मेरा नहीं है इत्यादि व्रत पालन की अपेक्षा से व्रत का सर्वथा भंग नहीं होता लेकिन प्रथम अतिचार लगता है।

इसी प्रकार क्षेत्र या वस्तु की जितने योजन तक की सीमा निश्चित की हो, उसके आगे की जमीन मिलती हो तो उसे नियम की अवधि तक अमानत के तौर पर अपने नाम से सुरक्षित रखवा देना अतिक्रम है अथवा 'योजन' शब्द का अर्थ जोड़ना भी होता है। इस दृष्टि से कर्जदार से या भेंट रूप में मिलने अथवा पड़ौसी के मकान या खेत को खरीद लेने के कारण मकानों-खेतों की निश्चित की हुई संख्या बढ़ जाने से नियम न टूटे इस अपेक्षा से दो या कई मकानों या खेतों को आपस में मिला देना – बीच में सीमा सूचक दीवार, बाड़ या खंभे तोड़कर या तुड़वाकर दोनों को संयुक्त करके एक मकान या एक खेत बना देना। ऐसी समझ से उसकी नियत की हुई संख्या नहीं बढ़ी और व्रत भी सवर्था भंग नहीं हुआ। फिर भी घर और खेत

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की कीमत तो बढ़ ही गई, इस अपेक्षा से भंगाभंग रूप यह दूसरा अतिचार जानना ।

तीसरे प्रकार में 'दान करने से' अतिचार लगता है । जैसे किसी ने सोना चांदी अमुक प्रमाण (वजन) से अधिक न रखने का चार महीने आदि की अवधि का नियम लिया हो, इसी दौरान राजा ने खुश होकर सोना या चांदी का इनाम दिया हो। जब उसने देखा कि यदि मैं इस सोने चांदी को लेकर घर में रख लेता हूँ तो अमुक महीने तक के इतनी मात्रा से अधिक सोना चांदी न रखने का मेरा नियम भंग हो जायेगा, अत: इस अपेक्षा से उक्त सोने चांदी को अपने किसी मित्र या परिचित के यहाँ यह सोचकर रख दे कि 'मेरे नियम की अवधि समाप्त होते ही मैं इसे ले लूँगा।' घर में रखूँगा तो नियम का भंग हो जायेगा । अथवा अपनी स्त्री के या पुत्र-पुत्री आदि के नाम रख देना, वास्तव में इस अपेक्षा से दूसरे के यहाँ रखने पर भी उस पर अपना स्वामित्व होने से व्रत भंग होता है, किन्तु व्रत सही सलामत रखने की नीयत होने से व्रत पालन हुआ। इस तरह भंगाभंग के रूप में तीसरा अतिचार लगता है ।

चौथे भेद में 'गर्भ नहीं गिनने से' अतिचार लगता है जैसे कि किसी ने अमुक समय के लिए अमुक संख्या से अधिक गाय, भैंस, घोड़ी आदि नहीं रखना ऐसा निश्चित किया है, लेकिन नियम के समय में ही गाय, भैंस आदि के प्रसव हो जाने से उसकी संख्या बढ़ जाती है तो उसे इस कारण द्विपद चतुष्पदातिक्रम नामक अतिचार लगता है। किसी ने एक या दो साल के लिए गाय, भैंस आदि अमुक पशु अमुक समय तक अमुक संख्या से अधिक न रखने का नियम किया हो, फिर वह सोचे कि जितने समय तक का मेरा नियम है उतने समय में अगर गाय, भैंस आदि का गर्भ रह गया तो मेरी नियत संख्या की मर्यादा भंग हो जायेगी, अत: उन गाय, भैंस आदि को काफी अर्से के बाद गर्भ धारण करावे । ऐसा करने से गर्भ में बछड़ों के आने से संख्या तो बढ़ ही जाती है, इस दृष्टि से भी अंशत: व्रत भंग होता है, किन्तु बाहर से प्रत्यक्ष में संख्यातिक्रम नहीं दिखाई देने से वह मानता है कि 'मेरे नियम अनुसार इन पशुओं की संख्या नहीं बढ़ी, इसलिए मेरा नियम खंडित नहीं हुआ ।' इस अपेक्षा से भंगाभंग होने से चौथा अतिचार लगता है ।

पाँचवें भेद में कुप्य विषय में भाव से अतिचार लगते हैं । जैसे किसी सद्गृहस्थ ने यह नियम लिया कि मैं इतने से अधिक अमुक गृहोपयोगी सामान कुप्य अर्थात् धातु के बर्तन आदि नहीं रखूँगा । मान लो नियम लेने के बाद कोई चीज किसी से नजराने में, इनाम में या उपहार में मिल गई, इस कारण संख्या से अधिक हो गई।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब वह अपने व्रत भंग हो जाने के भय से इस भाव से तोड़-फोड कर निश्चित संख्या की पूर्ति के लिए दो दो को मिलाकर एक बड़ी वस्तु बनवा ले, अथवा उसकी पर्याय, आकृति या डिजाइन बदल कर उसकी संख्या कम कर देता है, परन्तु वास्तव में उसके मूल्य-प्रमाण में वृद्धि हो जाने से व्रत का आंशिक भंग होता है । अथवा भाव से व्रत पालन का इच्छुक होने के कारण उक्त प्रमाणातिरिक्त वस्तुएँ नियम भंग हो जाने के डर से उस समय तो ग्रहण नहीं करता, परन्तु देने वाले से कहता है – अमुक समय दिनों के बाद मैं इन्हें अवश्य ले लूंगा तब तक तुम मेरे नाम से अमानत रख देना, मेरे सिवाय अन्य किसी को इन्हें मत देना । इस प्रकार वह अन्य को नहीं देने की इच्छा से अपने लिए संग्रह करवाता है । इस दृष्टि से उसे अतिचार लगता है ।

इस तरह पाँचों प्रकार के परिग्रह की मर्यादा करने वाले श्रावक को उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए । क्योंकि वैसा करने से व्रत के अन्दर मलिनता आती है । उपलक्षण से उसके अलावा विचारों की बेसमझी के द्वारा अथवा अतिक्रमण आदि से भी ये अतिचार लगते हैं । इस प्रकार पाँचों अणुव्रत के प्रत्येक के पाँच-पाँच अतिचारों का वर्णन पूरा हुआ । इसके बाद अब गुणव्रत के अतिचारों का प्रसंग प्राप्त हुआ है । अतः दिक्परिमाण-दिग्विरति रूप प्रथम गुणव्रत के अतिचार बताते हैं –

मानस्य निश्चितस्योर्ध्वाधिस्तिर्यक्षु व्यतिक्रमाः ।
क्षेत्रवृद्धिः स्मृतिभ्रंशः स्मृता आद्यगुणव्रते ॥४६॥

मूलार्थ – "ऊपर, नीचे और तिरछे (तिर्यक) इन तीनों दिशाओं में आने जाने के नियम की मर्यादा का उल्लघंन करना ये तीन अतिचार हैं, चौथा अतिचार क्षेत्र की वृद्धि करना और पाँचवाँ अतिचार निश्चित की हुई सीमा भूल जाना । इस तरह प्रथम गुणव्रत के पाँच अतिचार कहे हैं ।

व्याख्या – ऊर्ध्व दिशा = ऊपर उड़ना या पर्वत या वृक्ष के शिखर पर चढ़ना ऊर्ध्वगमन है । अधो दिशा = भूमिगृह (तलघर), कुएँ आदि में नीचे उतरना अधो दिशा में गमन है । तथा तिर्यग् दिशा = पूर्वादि चार दिशाओं तथा अग्निकोण आदि चार विदिशाओं में गमन करना तिर्यग्गमन है । इन तीनों दिशाओं में मुझे सौ या पचास योजन, गांव आदि अमुक-अमुक प्रमाण से बाहर-दूर जाना आना नहीं है । इस तरह प्रमाण निश्चित किया हो उसका उपयोग नहीं रहने से विचार बिना अचानक जाने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आने से अथवा जाने की इच्छा आदि अतिक्रम-व्यतिक्रमादि से उल्लंघन करना अर्थात् नियम के अतिरिक्त जाना आना अथवा वस्तु मंगवाना इत्यादि तीन दिशाओं के विषय में तीन अतिचार कहे हैं। उपासक दशांग सूत्र अध्याय १ सूत्र ७ में तथा आवश्यक प्रत्याख्यान सूत्र ६ में कहा है कि:-

''उड्ढदिसिपमाणइक्कमे, अहोदिसिपमाणाइक्कमे तिरिअ दिसि पमाणाइक्कमे'' अर्थात् 'ऊर्ध्व दिशा के प्रमाण में अतिक्रम होने से, अधोदिशा के प्रमाण में अतिक्रमण होने से और तिर्यग्दिशा के प्रमाण में अतिक्रमण करने से तीनों अतिचार जान लेने चाहिएं। किन्तु जानबूझ कर अगर मर्यादा का उल्लंघन करना है तो सर्वथा व्रत भंग हो जाता है। श्रावक इस व्रत का नियम इस प्रकार लेता है - **''न करेमि न कारयामि वा''** अर्थात् 'मैं स्वयं उल्लंघन न करूँगा और न किसी दूसरे से करवाऊँगा।' इस नियम के अनुसार नियत की हुई जगह से आगे की भूमि में स्वयं तो नहीं जाऊँगा तथा अन्य को भी भेजूँगा नहीं तथा कुछ भी नहीं मंगाऊँगा। किन्तु अगर किसी दूसरे से निर्धारित सीमा से आगे कोई वस्तु मंगवाता है या भिजवाता है तो उसे अतिचार लगता है। जिसने केवल अपने लिए ही- अर्थात् मैं स्वयं निर्धारित सीमा का उल्लंघन नहीं करूँगा, इस प्रकार से नियम लिया है, उसे दूसरों से मर्यादित भूमि से आगे की वस्तु मंगाने, भिजवाने में दोष नहीं लगता। इस तरह प्रथम, दूसरा और तीसरा अतिचार हुआ।

चौथा क्षेत्र वृद्धि नामक अतिचार है। वह अतिचार तब लगता है जब श्रावक एक दिशा में निर्धारित भूमि की सीमा ज्यादा हो उसे कम करके दूसरी अल्पभूमि निर्धारित दिशा में अधिक दूरी तक जाता है। जैसे पूर्व दिशा में भूमि की सीमा कम करके कोई पश्चिम दिशा में बढ़ा लेता है तो उसे यह चौथा अतिचार लगता है। इसी प्रकार मान लो, किसी ने प्रत्येक दिशा में १०० योजन तक गमन मर्यादा की हो, वह किसी एक दिशा में सौ योजन से अधिक चला गया, इस कारण से अगर वह दूसरी दिशा में उतने योजन गमन मर्यादा में कमी करके दोनों तरफ १०० योजन का हिसाब कायम रखता है तो इस प्रकार क्षेत्र मर्यादा का उल्लंघन व्रत सापेक्ष होने से उसे यह अतिचार लगता है। यदि बिना उपयोग से अनजाने में क्षेत्र-मर्यादा का उल्लंघन हो जाय तो वह वापिस लौट आए, ज्ञात होते ही आगे न बढ़े, दूसरों को भी आगे न भेजे।

पाँचवा अतिचार स्मृतिभ्रंश है - स्वयं ने गमनागमन की जितनी सीमा जिस दिशा में निश्चित की हो वहाँ जाने पर या जाते समय अतिव्याकुलता अथवा प्रमाद

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के कारण स्मरण न रहना, स्मृति लुप्त हो जाना या भूल जाना। जैसे किसी ने पूर्व दिशा में १०० योजन तक जाने की मर्यादा की हो, लेकिन जाते समय स्पष्ट रूप से याद न रहे अथवा संशय में पड़ जाय कि मैंने ५० योजन तक गमनागमन का परिमाण किया है या १०० योजन तक जाने आने का किया है ? ऐसी शंका होते हुए भी उस दिशा में ५० योजन से आगे जाए तो वहाँ उसे वह अतिचार लगता है। सौ से अधिक जाने पर तो व्रत भंग हो जाता है। इस प्रकार स्मृति ध्वंस से अतिचार जानना। इस हेतु से ही व्रतधारी को अपने व्रत-नियमों का हमेशा स्मरण करते रहना चाहिए। श्री जिन शासन की सारी क्रियाएँ उपयोग मूलक हैं। स्मरण-उपयोग बिना का अनुष्ठान शून्य गिना है।

यहाँ वृद्ध परम्परा ऐसी है कि- स्मृति ध्वंस से अथवा अनजाने-अनाभोगादि से प्रमाण से अतिरिक्त उल्लंघन हो जाय और बीच में ही याद आया कि मैं मर्यादा भंग करके दूर आ गया हूँ, तो तुरन्त वहाँ से ही वापिस आ जाए, अन्य को भी नहीं भेजना चाहिए, कहे बिना अन्य स्वयं जाकर वहाँ से कुछ वस्तु ले आए तो वह नहीं लेनी चाहिए। स्वयं भी विस्मृति से अधिक भूमि पर चला गया हो और वहाँ से कुछ प्राप्त किया हो तो उसे नहीं ले, अपितु उसका त्याग करे। इस तरह करने से अतिचार गिना जाता है और वस्तु लेने से व उपयोग करने से व्रत भंग होता है एवं तीर्थ यात्रादि धर्म आराधना के लिए तो नियम से ज्यादा भी साधु के समान ईर्ष्या समिति का पालन करता हुआ जाता है तो दोष नहीं है। क्योंकि नियम से इस लोक में धनार्जन आदि पापकारी सावध कार्यों के लिए नहीं जाना आना चाहिए। इस उद्देश्य से होता है तो इस व्रत के पाँच अतिचार कहे हैं।' अब भोगोपभोग परिमाण नामक द्वितीय गुणव्रत के अतिचार को कहते हैं:-

सचितस्तत्प्रतिबद्ध संमिश्रोऽभिषवस्तथा ।
दुष्पक्वाहार इत्येते, द्वैतीयीके गुणनव्रते ॥५०॥

मूलार्थ – १. सचित अर्थात् सजीव, २. सजीव से सम्बद्ध – अचित आहार में रहे हुए बीज, गुठली आदि सचित पदार्थ ३. थोड़ा सचित और थोड़ा अचित-मिश्र आहार, ४. अनेक द्रव्यों से निर्मित मादक पदार्थ, एवं ५. दुष्पक्व – आधा पका आधा कच्चा आहार, इस प्रकार पाँच प्रकार की वस्तुओं का उपभोग करना दूसरे गुणव्रत के क्रमशः पाँच अतिचार हैं।

व्याख्या – सचित का अर्थ है – चेतना सहित जीव अर्थात् जो खाद्य पदार्थ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सजीव हो वह सचित कहलाता है। सचित – कंद मूल, आदि तथा पृथ्वीकाय-सचित नमक, मिट्टी, जल, प्रत्येक जाति के कच्चे अनाज, साग, फल, फूल, वनस्पति काय आदि सारा सचित समझना। यद्यपि यह सचित आदि पाँच प्रकार की वस्तुओं का नहीं खाने का नियम किया हो और वह भक्षण करे तो व्रत भंग ही होता है। फिर भी उसने अनजाने में, बिना उपयोग या जल्दबाजी में सचित का भक्षण किया है अथवा खाने की इच्छा की हो या खाने का उपाय किया हो आदि अतिक्रम-व्यतिक्रमादि करने से अतिचार लगता है। उसमें जिसने सर्वथा सचित का त्याग किया हो, उसके इस तरह खा जाने से और जिसने अमुक परिमाण खुला रखा हो उसके परिमाण से अधिक खा जाने से 'सचित आहार' नामक प्रथम अतिचार लगता है।

दूसरा अतिचार सचित प्रतिबद्ध आहार है। इसका मतलब है - वस्तु तो अचित है, लेकिन सचित्त से सम्बन्ध हो, जैसे वृक्ष आदि में लगा हुआ गोंद आदि, अचित होने पर भी वृक्ष में लगे पक्के फल आदि अथवा आम आदि पक्के फल या खजूर, छुआरा आदि मेवा अचित होते हैं लेकिन उनमें गुठली, बीज आदि पड़े होते हैं, उसमें अंकुरित होने की शक्ति होती है, इसलिए वे सचित हैं। अतः सचित का त्यागी जब भी पक्के फल आदि खाता है, तब जिनमें गुठली या बीज आदि होते हैं उन्हें निकालकर या मसालों से संस्कारित करके अथवा अग्नि द्वारा अचित बनाकर खाता है। अगर सचित त्यागी भूल से या उपयोग शून्यता से अनजाने में या शीघ्रता से अथवा इनमें से बीज आदि निकाल कर खाऊँगा, ऐसा विचार करके सहसा खजूर, आम आदि पक्के फलों को मुँह में डाल देता है तब व्रत की अपेक्षा से सचित प्रतिबन्ध नामक दूसरा अतिचार लगता है।

तीसरा अतिचार 'संमिश्र आहार' नामक है। इसका मतलब है अचित वस्तु के साथ कोई सचित वस्तु मिली हो जैसे उबाले हुए पानी में कच्चा पानी मिश्रित हो, हरे अचार, बीजोरा, चिमडे आदि सचित वस्तु डालकर बनाया हुआ पूरण आदि, अथवा सचित तिल से मिश्रित अचित जौ, चावल आदि संमिश्र कहलाता है। ऐसी वस्तु अनजाने में शीघ्रता से खा जाय तब सचित के त्यागी को अतिचार लगता है। अथवा तो तुरन्त पिसा हुआ कच्चा आटा, दाल आदि में सचित अंश होना संभव है, अथवा कोई सचित खाद्य पदार्थ पूरी तरह से अचित न हुआ हो उसे सेवन करे तो अतिचार लगता है। परन्तु अतिचार लगता तभी है जब श्रावक अनजाने में सहसा, उतावली में या बिना उपयोग के सचित को अचित मानकर उसका सेवन करता है। व्रत सापेक्ष होने के कारण ही यह अतिचार माना जाता है।

चौथा अतिचार अभिषव आहार है। अभिषव का अर्थ है - अनेक द्रव्यों को

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एकत्रित करके बनाया हुआ मादक पदार्थ । जैसे मदिरा, सौवीर ताडी, शराब, दारू आदि सब चीजें अभिषव के अन्तर्गत हैं । इसी प्रकार वीर्य विकार की वृद्धि करने वाले पदार्थ, जैसे – भांग, तम्बाकू, जर्दा, चरस, गांजा, सुलफा आदि नशीली वस्तुएँ भी अभिषव रूप हैं । मांस, रक्त, चर्बी आदि जीवघात निष्पन्न चीजें भी अभिषव हैं । इस तरह का अभिषव रूप सावध आहार आदि इरादे-पूर्वक खाता है तो व्रत भंग हो जाता है और यदि बिना उपयोग के सहसा उपर्युक्त पदार्थों को खा या पी लेता है तो वहाँ अभिषव-आहार नामक चौथा अतिचार लगता है ।

पाँचवा अतिचार 'दुष्पक्वाहार' है । इसका अर्थ है – जो खाद्य पदार्थ अभी तक पूरी तरह पका नहीं है अथवा जो पदार्थ अधिक पक गया है, उसे खा लेना। कितनी ही चीजें ऐसी हैं जिन्हें अपक्व- आधा पका और दुष्पक्व हालत में खाया जाय, जैसे आधा पका चावल जौ, गेंहू, आधी पकी रोटी, कोकुडु, मूंग, पकाया हुआ कच्चा रहा अनाज, आधे कच्चे फल खायें जायें, तो इस जन्म में वे शरीर को नुकसान पहुँचाते हैं, कई बार उनके खाने से शरीर में कई रोग पैदा हो जाते हैं । जितने अंश में वह सचित हो उतने अंश में खाने पर परलोक को भी बिगाड़ता है जैसे जौ, चावल, गेहूं आदि अनाज बिना पके हुए या आधे पके हुए खाने से स्वास्थ बिगड़ता है । अर्धपक्व या अतिपक्व अचेतन बुद्धि से खाता है तो पाँचवा दुष्पक्वाहार नामक अतिचार लगता है । कई आचार्य अपक्वाहार को अतिचार मानते हैं, परन्तु अपक्व का अर्थ अग्नि में न पका हुआ होने से सचिताहार के अन्तर्गत उसका समावेश हो जाता है । कितने ही आचार्य तुच्छौपधि भक्षण नामक अतिचार मानते हैं । तुच्छ औषधियां-वनस्पतियाँ वे हैं, जिसमें खाने का भाग बहुत ही कम होता है, फैंकने का भाग ज्यादा होता है, जैसे सीताफल आदि वनस्पतियां । किन्तु यदि वे सचित हों तो उनका समावेश प्रथम अतिचार में हो जाता है और यदि वे अग्नि आदि से पककर अचित हो गये हों तो उसका कोई दोष नहीं दिखता है । इसी प्रकार जिसने रात्रि भोजन या मदिरा पान, मांसाहार आदि अभक्ष्य पदार्थों का त्याग किया हो वह अनजाने में सहसा या भूल से खा लेता है तो अतिचार लगता है ।

यह वर्णन तत्त्वार्थ सूत्र की टीका के अनुसार समझना । आवश्यक सूत्र, पंचाशक आदि की टीकाओं में तो अपक्वाहार, दुष्पक्वाहार और तुच्छौपधि भक्षण को अनुक्रम से तीसरा, चौथा और पाँचवां अतिचार कहा है । उसमें वहाँ इस तरह समाधान किया है ।

यहाँ प्रश्न करते हैं कि – नहीं पकी हुई औपधि आदि अपक्वाहार यदि वह सचित हो तो प्रथम अतिचार में आता है और अचित हो तो उसका दोप नहीं है, तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

फिर अतिचार क्यों कहा ? उसका समाधान करते हैं - तुम्हारा प्रश्न योग्य है, परन्तु सचित और सचित-प्रतिबद्ध आहार ये दोनों अतिचार सचित कंद मूल या फल आदि के विषय में और अपक्वाहार आदि तीन अतिचार चावल आदि अनाज के विषय में हैं । इस तरह दोनों के विषय भेद में भेद हैं । इसलिए ही सूत्रकार ने भी मूल-वंदित्त् सूत्र में **''सचिते प्रतिबद्धे अप्पोलदुलप्पोलिअं च आहारे, तुच्छोसहि भक्खणं या''** इस पाठ से इसे अतिचार गिना है । इसलिए अनजाने या सहसात्कार आदि से कच्ची औषधि-अनाज आदि खाया जाय या अतिक्रमादि हो जाय तो अतिचार जानना अथवा आटा दाल आदि पीसने या दलने में कोई भी सचित भाग रहना संभव है फिर भी 'यह तो आटा होने से अचित है ।' ऐसा मानकर खाय तो भी उसे व्रतरक्षा की अपेक्षा होने से अतिचार जानना । इसी तरह अपक्व औषधि के लिये भी समझना । दुष्पक्व आहार के विषय में जिस तरह पाँचवे अतिचार में कहा है उस प्रकार अतिचार समझना । तुच्छौषधि के भक्षण के विषय में तो इस तरह घटता है ।

प्रश्न – अपक्वाहार-दुष्पक्वाहार इन दोनों को अनाज के विषय की अपेक्षा से प्रथम-दूसरे अतिचार से अलग कहा है वह उचित है, परन्तु तुच्छौषधि भक्षण को भिन्न मानने का क्या कारण है ? तुच्छौषधि को एक अपक्व-कच्चा, दूसरा दुष्पक्व-आधा कच्चा और तीसरा सम्यक् पक्व-पूर्ण पका हुआ, इन तीनों में किस प्रकार से गिनते हो ? यदि अपक्व या दुष्पक्व में गिनते हो तो अनुक्रम से तीसरे या चौथे अतिचार में वह आ सकता है, और सम्पूर्ण पक्व मानते हो तो अचित होने से दोष नहीं लगता । ऐसा विचार करते हुए तुच्छौषधि भक्षण अतिचार निरर्थक सिद्ध होता है ।

उत्तर- तुम्हारा प्रश्न उचित है, फिर भी जैसे पहले-दूसरे और तीसरे-चौथे अतिचार में सचित रूप भी अपेक्षा से भेद नहीं है, तथापि जैसे पहले-दूसरे में कंदमूलादि और तीसरे-चौथे में अनाज, इस तरह विषय अलग गिनकर अतिचार भिन्न गिना है, वैसे ही तुच्छौषधि भी सचित या औषधि रूप में भिन्न नहीं है, परन्तु तुच्छता की अपेक्षा से भिन्न है, अनाज सचित होने पर भी क्षुधा शान्त करने वाला होने से तुच्छ नहीं गिना जाता, परन्तु कच्ची-कोमल मूंगी आदि की फली से भूख नहीं मिटती इससे वह तुच्छ है, अत: सचित कोमल मूंगफली आदि तुच्छ औषधि अनजान-भूल से अथवा किसी कारण से खा जाए तब 'तुच्छौषधि भक्षण' नामक अतिचार लगता है। अथवा अन्य रीति से भी वस्तुत: श्रावक को अति पाप भीरुता से अचित आहार करना योग्य होने से सचित का सर्वथा त्याग चाहिए । अचित में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी सब कुछ वस्तु नहीं परन्तु जिसे अचित करने में बहुत आरंभ न हो और भूख शान्त हो जाय ऐसी वस्तुएँ अचित करके उपयोग करनी चाहिए। फिर भी तृप्ति न हो और ऐसी कोमल मूंग की फलियाँ आदि स्वाद की खातिर अचित करके खाये, तब वह अचित होने से व्रत भंग नहीं होता, परन्तु निष्कारण-मात्र स्वाद के लिए आरंभ बहुत होता हो, अर्थात् भाव से अहिंसा नहीं होने से व्रत भंग होता है। इस प्रकार द्रव्य-बाह्य दृष्टि से व्रत का पालन और भाव से विराधना होने से अतिचार मानकर पाँचवे अतिचार रूप में गिना है। इस तरह पंचाशक की टीका में समाधान किया है। अर्थात् जहाँ अपक्वाहार, दुष्पक्वाहार और तुच्छौषधि भक्षण को अतिचार गिना है, वहाँ वह भी उचित ही है और तत्त्वार्थ सूत्र की टीका के अनुसार यहाँ 'संमिश्र आहार, अभिषव आहार और दुष्पक्वाहार' अतिचार कहे हैं, वह भी योग्य ही हैं।

इस प्रकार सातवें व्रत में भोजन सम्बन्धी अतिचारों का वर्णन किया। अब उसी व्रत के दूसरे लक्षण और उस लक्षण से उसमें जो अतिचार लगते हैं उसका वर्णन करते हैं।

अमी भोजनमाश्रित्य, त्यक्ताव्याः कर्मतः पुनः।
खर कर्मत्रिघ्नपञ्च कर्मादानानि तन्मलाः ॥५१॥

मूलार्थ– "उपर्युक्त पाँच अतिचार भोजन की अपेक्षा से त्याग करने योग्य हैं। किन्तु कर्म की अपेक्षा से कठोर कर्म में परिगणित १५ कर्मा दान है जो व्रत में मलिनता पैदा करता है, अतः उसका भली भांति त्याग करना चाहिए।"

व्याख्या – पूर्वोक्त पाँच अतिचार आहार से सम्बन्धित हैं जो त्याग करने योग्य हैं। अब भोगोपभोग परिमाण की दूसरी व्याख्या करते हैं कि-भोगोपभोग के साधनों को जुटाने या पैदा करने के लिए जो व्यापार-व्यवसाय किया जाए उसे भी 'भोगोपभोग' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। यहाँ कारण से कार्य का आरोप किया जाता है। इसलिए उक्त कर्म को लेकर की जाने वाली आजीविका के लिए कोतवाल, गुप्तचर, पुलिस-सिपाही, कारागार रक्षक-जेलर आदि सरकारी नौकरी जिससे कि व्यक्ति को कठोर दण्ड-पीड़ा होती है ऐसी खर – कठोर आजीविका पंद्रह हैं, जिन्हें पन्द्रह कर्मादान कहा जाता है। ये ही भोगोपभोग परिमाण व्रत के द्वितीय विभाग के पाँच तीन गुणा अर्थात् पंद्रह त्याग करने योग्य अतिचार हैं। ये कर्म कठोर पापकर्म-प्रकृति के कारणभूत होते हैं इसलिए इन्हें कर्मादान कहा गया है। उसका त्याग करना चाहिए। अब दो श्लोक में उनके नाम उल्लेख करते हैं –

वृतयोऽङ्गार विपिनाऽनो भारी स्फोट कर्मभिः।
वणिज्याका दन्तलाक्षा रसकेश विषाश्रिताः ॥५२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यन्त्रपीडनकं निर्लाञ्छनं दान दवस्य च ।
सरः शोषोऽसतीपोषश्चेति पञ्चदश त्यजेत् ।।५३।।

मूलार्थ– १. अंगार जीविका, २. वन जीविका, ३. शकट जीविका, ४. भाटक जीविका, ५. स्फोट जीविका– इन कर्मों के द्वारा आजीविका प्राप्त करते हैं। इसलिए इन पाँच के साथ जीविका शब्द का उपयोग किया है। इसी तरह आगे उत्तरार्द्ध श्लोक में वाणिज्य शब्द को पाँच में उपयोग किया है– ६. दन्त वाणिज्य, ७. लाक्षा वाणिज्य, ८. रस वाणिज्य, ९. केश वाणिज्य, १०. विष वाणिज्य। और आगे पाँच कर्म – ११. यन्त्र पीडन कर्म, १२. निलांछन कर्म, १३. असती पोषण कर्म, १४. दवदानकर्म–(दावाग्नि लगाने का कर्म) और १५. सरःशोष – तलाब आदि का सुखाना। इस तरह पाँच आजीविका, पाँच वाणिज्य – व्यापार और पाँच कर्म मिलाकर कुल पन्द्रह कर्मादान रूप अतिचार हैं। उनका श्रावक को त्याग करना चाहिए।

व्याख्या– प्रथम पाँच अंगार कर्म आदि कार्य आजीविका के लिए करना उसे कर्मादान कहते हैं। उसमें प्रथम **१. अंगारकर्म** जीविका का स्वरूप कहते हैं – लकड़ियां जलाकर कोयले बनाना अंगार कर्म है और उससे बेचकर आजीविका चलाना वह 'अंगार कर्म' जीविका समझना। इसमें छहकाय जीवों की हिंसा संभव है इसलिए जिस– जिस कार्य से अग्नि की विराधना होती है वह प्रत्येक अंगार कर्म जानना जैसे – भट्ठी से अनाज सेकना– भड़भूजे का कार्य, ईंट या मिट्टी के बर्तन बनाने वाला कुम्हार, लुहार, सुनार आदि का व्यापार करना आदि अंगार कर्म से जीवन चलाना अंगार कर्म जीविका कहलाता है। इस तरह क्रमशः पन्द्रह अतिचारों को समझना चाहिए, उसमें से सर्वप्रथम अंगार कर्म रूपी आजीविका का स्वरूप बताते हैं। इस विषय में योग शास्त्र प्रकाश तीसरे में कहा है कि:–

अंगार भ्राष्ट्र करणं, कुम्भायः स्वर्ण कारिका ।
ठठार त्वेष्ठि कापाकाविति ह्यंगार जीविका ।।१०१।।

अर्थात् – ''लकड़ी को जलाकर कोयले बनाना, और उसका व्यापार करना, भड़भूजे, कुम्हार, लुहार, ठठेरे और ईंटे पकाने वाले वालों इत्यादि के कर्म करना अंगार जीविका कहलाती है।''

इसमें ठठेरे आदि कार्य में ताम्बा, सीसा, कांसा, पीतल आदि धातुओं को गलाते हैं, उसके विविध प्रकार बर्तन बनाते हैं तथा उनके विभिन्न डिजाइन बनाते हैं। इसी प्रकार लुहार, सुनार लोग लोहा, सोना, चांदी, आदि धातुओं को गला कर उसे घड़कर गहने बनाते हैं, घड़े और बर्तन बनाते हैं। इसी तरह मिठाई आदि बनाने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के लिए भट्टी सुलगाना, ईंट या मिट्टी के बर्तन आदि बनाना इस तरह मुख्यतया अग्नि विराधना रूप जो विशेष आरंभ होता है वह सब अंगार कर्म में समाविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार वर्तमान काल में पेट्रोल पंप, मिट्टी के तेल का व्यापार, दियासलाई बनानी, मोमबत्ती बनानी, उनका व्यापार करना इत्यादि मुख्य रूप में अग्नि की विराधना करना आदि सभी अंगार जीविका के अन्तर्गत माने जाते हैं।

२. विपिन कर्म जीविका – विपिन अर्थात् वन-जंगल के विषय का कर्म करना अर्थात् कटे या नहीं कटे जंगल के वृक्ष, पत्ते, फूल, कंदमूल, घास, लकड़ी, छिलका, बांस आदि को काटना, कटवाना, अनाज दलना, पीसना अथवा वन कच्छ अर्थात् जंगल को पानी देना इत्यादि सब वन कर्म हैं और उससे आजीविका चलानी वह 'वनकर्म' जीविका कहलाती है। योग शास्त्र तीसरे प्रकाश में कहा है कि–

छिन्नाऽछिन्नवन पत्र प्रसून फलविक्रयः ।
कणानां दलनोत्पेषाद् वृत्तिश्च वन जीविका ।।१०२।।

अर्थात् – "जंगल में कटे हुए या नहीं कटे हुए वृक्ष के पत्ते, फूल, फल आदि बेचना, चक्की में अनाज दलकर अथवा पीसकर अपनी आजीविका चलाना इत्यादि जीविका वन जीविका हैं।" उपलक्षण से व्यापार के लिए जंगल कटवाने का ठेका लेना, बेचना, बाग-बगीचों का व्यापार सम्बन्धी कार्य करना, अनाज की दालें, मैदा, सूजी बनाना, आटा-दाल या चावल मील आदि चलाना यह सर्व 'वनकर्म' आजीविका जानना।

मुख्य रूप में जिसके अन्दर वनस्पति काय जीवों की हिंसा बहुत होती हो उस व्यापार को वन कर्म कहते हैं। उसमें वनस्पति काय जीव के अतिरिक्त उसके आश्रित रहे अन्य त्रस एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीवों की भी हिंसा होती है।

३. अनस्कर्म जीविका – अनस् अर्थात् गाड़ी, उसके विषय का कर्म, गाड़ी या गाड़ी सम्बंधी चक्र आदि साधन बनाना, बनवाना, बेचना इत्यादि सर्व को अन:कर्म-या शकट जीविका कहते हैं। योग शास्त्र के तीसरे प्रकाश में कहा है कि–

शकटानां तदं गानां घटनं खेटनं तथा ।
विक्रयश्चेति शकट जीविका परिकीर्तिता ।।१०४।।

अर्थात् – " शकट यानी गाड़ी और उसके विविध अंग– पहिये, आरे आदि स्वयं बनाना, दूसरों से बनवाना अथवा बेचना या बिकवाना इत्यादि व्यवसाय को शकट जीविका कहा है।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शकट जीविका समस्त जीवों के उपमर्दन का हेतुभूत एवं बैल, घोड़ा, ऊंट आदि पशुओं के वध तथा बंधन का कारण होने से त्याग करने योग्य है । गाड़ी-रथ आदि के अंग रूप चक्र आदि स्वयं बनाना या दूसरे के पास बनवाना, बेचना, बिकवाना आदि व्यापार करके आजीविका प्राप्त करने को भी अन:कर्म जीविका कहा है । श्रीवंदित्तुसूत्र आदि अन्य ग्रन्थों में इसे साडी कर्म कहा है । इसमें भी छहकाय जीवों की हिंसा आदि होती है । वर्तमान काल में मोटर, गाड़ी, स्कूटर, साइकिल, रिक्शा, विमान, रेलवे आदि विविध वाहन तैयार करने, करवाने, बेचने, बिकवाने अथवा उनके कुछ अंश हिस्से बनाने इत्यादि का शकट जीविका में समावेश होता है । ऐसे यांत्रिक वाहन बनाने से इनके द्वारा छह काय जीवों की महान हिंसा होती है तथा बैल, घोड़ा, ऊंट आदि पशु निकम्मे होने पर कसाईखाने जाते हैं, वह बहुत बड़ी हिंसा बढ़ती ही जाती है । यह सब तीसरे कर्मादान में गिना जाता है ।

४. भाटक कर्म जीविका – गाड़ी, बैल, ऊँट, भैंसा, गधा, खच्चर, घोड़ा आदि भाटक (भाड़े) के लिए दूसरे को देना– वह भाटक जीविका जानना । योग शास्त्र के तीसरे प्रकाश में कहा है कि –

शकटोक्षलुला योष्ट्र खराऽश्वतर वाजिनाम् ।
भारस्य वाहनाद् वृत्तिर्भवेद् भाटक जीविका ।।१०४।।

अर्थात् – "गाड़ी, बैल, ऊंट, भैंसा, गधा, खच्चर, घोड़ा आदि पर भार लादकर किराया लेना अथवा इन्हें किराये पर देकर आजीविका चलाना भाटक या भाड़ा जीविका कहलाती है ।"

उप लक्षण से मकान बनाकर किराये पर देना, मोटर, गाड़ी, साइकिल, रिक्षा, स्कूटर, विमान, ट्रक आदि किराए पर देना, उससे आजीविका चलानी इत्यादि सबका भाटक जीविका में समावेश होता है । इसी तरह से भाटक कर्म में भी शकट कर्म के समान पृथ्वीकाय आदि छहकाय जीवों की हिंसा तथा पशुओं को मारना, बांधना-अति भार भरने आदि क्रूरता का कारण होता है एवं वर्तमान काल में आधुनिक वाहन के द्वारा दुर्घटना होने पर कई जीवात्मा मर जाते हैं । यह बहुत बड़ा पाप होता है इत्यादि।

५. स्फोट जीविका – पृथ्वी को खोदना-फोड़ना उसे 'स्फोट कर्म' कहते हैं अर्थात् बावड़ी, तालाब, कुएँ आदि खुदवाना, हल चलाना, पर्वत या खान में से पत्थर निकालना इत्यादि सब 'स्फोट कर्म' हैं और उनके द्वारा जीविका प्राप्त करना स्फोट जीविका है । योग शास्त्र तीसरे प्रकाश में कहा है कि:-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सरः कूपादि खननं, शिला कुट्टन कर्मभिः ।
पृथिव्यारम्भसम्भूतैर्जीवनं स्फोट जीविका ।।१०५।।

अर्थात् – ''सरोवर-कुएँ आदि खोदना, हल चलाना, पत्थर फोड़ने इत्यादि पृथ्वीकाय के घातक कर्मो से जीविका चलाना, स्फोटक जीविका है ।''

तालाब आदि के लिए जमीन खोदना, हलादि से खेत वगैरह की भूमि उखाड़ना, खान से खोदकर पत्थर निकलना, उन्हे घड़ना, उपलक्षण से सोना, चान्दी, हीरा, कोयले, रत्न, पत्थर, मिट्टी आदि खोदना, खुदवाना, मिट्टी के तेल के कुएँ आदि या बोरिंग, पम्प आदि खुदवाना आदि का इसमें समावेश होता ह । इस स्फोटक कर्म में पृथ्वीकाय, वनस्पति काय और त्रस काय आदि जीवों की महा हिंसा होती है, यह स्पष्ट दोष है । वंदितु सूत्र की टीका में अनाज कण दलना, पीसना इत्यादि को भी स्फोटक कर्म में गिना है । इस तरह पाँच कर्म का वर्णन करके अब बावन की गाथा के उत्तरार्ध में 'वणिज्यका' आदि शब्द से कहने पर व्यापार रूप पाँच कर्मादान का वर्णन करते हैं तथा इस गाथा के आखिर में 'आश्रित' शब्द कहा है । वह शब्द प्रत्येक के साथ सम्बन्ध वाला होने से 'दंताश्रिता, लाक्षाश्रिता आदि' अर्थात् 'दांत विषयक वाणिज्य याने व्यापार' अर्थात् दांत का खरीद बेचान आदि । इस तरह लाख विषयक व्यापार, रसविषयक व्यापार, केश विषयक व्यापार और विष विषयक व्यापार इस प्रकार शब्द योजना करना । उसमें:-

६. दांत वाणिज्य – हाथी के दांत उपलक्षण से अन्य त्रस जीवों के शरीर भी उनके उत्पत्ति-स्थानों पर से खरीदना । जैसे-उल्लू आदि के नख, हंस आदि के रोम, बाघ आदि का चमड़ा, चमरी गाय के चामर, सींग, शंख आदि की हड्डी, समुद्र के सीप, कीड़े आदि अथवा कस्तूरी-पोहिसक आदि का व्यापार वह सब दंत वाणिज्य कहलाता है । यहाँ इतना विशेष है कि दांत, नाखून आदि जहाँ मिलता हो, वहाँ जाकर खरीदने पर अतिचार लगता है । जैसे दांत आदि के लिए भील आदि को पहले मूल्य देकर स्वीकार करवाता है कि 'मुझे इतना माल इतने दिनों में देना' इससे वे भील आदि 'सेठ अब माल लेने आयेगा' ऐसा विचार कर उन जीवों को मार करके उन वस्तुओं को एकत्रित करेगा अथवा पहले से एकत्रित कर रखेगा । वह भी वहाँ जाकर खरीदने से वे लोग अन्य एकत्रित करने के लिए हिंसा करते हैं। इसलिए उत्पत्ति के स्थान पर जाकर खरीद करने में त्रस जीवों की हिंसा में निमित्त बनने से अतिचार लगता है । अन्य स्थानों से वह खरीदने बेचने में दोष नहीं लगता है । योग शास्त्र के तीसरे प्रकाश में कहा है कि:-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दन्त केश नखास्थि त्वग् रोम्णो ग्रहणमाकरे ।
त्रसाङ्गस्य वाणिज्यार्थ, दन्त वाणिज्यमुच्यते ।।१०६।।

अर्थात्–''दांत, केश, नख, हड्डी, चमड़ा, रोम इत्यादि जीवों के अंगों को उनके उत्पत्ति-स्थानों पर जाकर व्यापार के लिए खरीद करता है और बेचता है उसे 'दंत वाणिज्य' कहते हैं ।'' इसमें गोरों चंदन, अम्बर, साबर सींग, हरिण सींग आदि का व्यापार भी गिना जाता है ।

७. लाखा वाणिज्य – लाख आदि में जीव हिंसा बहुत है, घात की वृक्ष जिसकी छाल, फल आदि शराब बनाने में काम आते हैं, नील, मनसिल, वज्रलेप, फिटकरी, टंकण खार, साबू आदि क्षार इत्यादि वस्तुओं के व्यापार को लाक्षा या लाख वाणिज्य कहते हैं । योग शास्त्र के तीसरे प्रकाश में कहा है कि:-

लाखा मनःशिला नीली घातकी टङ्कणादिनः ।
विक्रयः पापसदनं, लाक्षा वाणिज्यमुच्यते ।।१०७।।

अर्थात्- ''लाख, मेनसिल, नील, घातकी वृक्ष, टंकण खार आदि पापकारी वस्तुओं का व्यापार करना लाक्षा वाणिज्य कहलाता है ।''

ये सारे व्यापार पाप का सदन अर्थात् पाप का घर हैं इसलिए इनका त्याग करना चाहिए । लाख में बहुत त्रस जीव होते हैं, उसका रस खून के समान वर्णवाला होने से व्यापारी के परिणाम निर्ध्वंस होते हैं । घातकी वृक्ष की छाल, फल, फूल आदि शराब बनाने में काम आते हैं जो कि अनेक जीवों के घात का कारण है, उसके रस में अनेक कीड़े होते हैं । अतः यह पाप का घर है । नील जीवों के संहार के बिना नहीं बनती । मेनसिल, वज्रलेप में उड़ते अन्य जीव गिरते हैं मर जाते हैं । फिटकरी में पृथ्वी कायत्व होने से उन जीवों की हिंसा होती है । पटवास में बहुत त्रस होते हैं तथा टंकण खार, साबू आदि में क्षार होने से अन्य अनेक त्रस-स्थावर जीवों का घात होता है । उपलक्षण से हड़ताल, अत्तर, भांग, तम्बाकू, जर्दा, गांजा, सुलफा, अफीम, बीड़ी, सिगरेट, चाय, कॉफी आदि नशीली चीजों का व्यापार करने का भी इसमें समावेश होता है । इनमें भी बहुत जीवों का घात होता है । इन वस्तुओं को बनाने में तथा उपयोग करने में बहुत हिंसा होती है । इस कारण ऐसे व्यापार में अतिचार लगते हैं ।

८. रस वाणिज्य – रस अर्थात् मद्य, शहद, शराब, मांस, मक्खन, चर्बी, मज्जा, तथा दूध, दही, घी, तेल आदि रसवाले पदार्थों का व्यापार करने में अतिचार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लगता है । छाछ से अलग हुए मक्खन में अंतर्मुहूर्त में ही असंख्य संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है । चर्बी और शहद जीवों की हिंसा से निष्पन्न होते हैं । मदिरा उन्माद पैदा करने वाली है, उसमें पैदा हुए अनेक कृमि जीवों का घात होता है । दूध आदि प्रवाही विगई (पदार्थ में पड़ते-उड़ते आदि जीवों का नाश होता है), दही जमाना उसमें दो दिन दो रात्रि पूर्ण होने के बाद ही असंख्य जीवों की उत्पत्ति होती है । लघु प्रवचन सारोद्धार गाथा ६६ में कहा है कि दही जमने के बाद चार पहर पूर्ण होने के बाद भक्ष्य होता है और दो अहोरत्रि पूर्ण होते ही असंख्य त्रस जीव उत्पन्न होने से अभक्ष्य माना जाता है ।

योग शास्त्र प्रकाश तीसरी गाथा १०८ में कहा है कि "**नवनीत वसांक्षौद्र-मद्यप्रभृति विक्रयः ।**" अर्थात् - 'नवनीत, चर्बी, मद्य, मदिरा आदि का व्यापार करना वह 'रस वाणिज्य' कहलाता है । वह अतिचार स्वरूप है । इसी तरह स्प्रीट, तेजाब, मुरब्बा, अचार आदि व्यापार भी इसी में गिने जाते हैं ।

९. केश वाणिज्य – यहाँ केश और उपलक्षण से केश वाले जीव समझना। इससे दास-दासी आदि मनुष्य और गाय, भैंस, घोड़ा, भेड़, बकरी, ऊँट आदि केश वाले पशुओं का व्यापार करना- वह 'केश वाणिज्य' अतिचार है । योग शास्त्र तीसरे प्रकाश गाथा १०८ के उत्तरार्द्ध में कहा है कि - "**द्विपाच्चतुष्पाद विक्रयो, वाणिज्यं रस केशयोः ।**" अर्थात् दो पैर वाले मनुष्य, पक्षी और चार पैर वाले पशुओं का व्यापार केश वाणिज्य कहलाता है । अन्य ग्रन्थ में बाल, ऊन, चमड़ा आदि व्यापार का भी इसमें समावेश किया है । कन्या विक्रय, वर विक्रय आदि करना भी इसी में गिना गया है । दो अथवा चार पैर वाले प्राणियों के इस व्यापार में भी उनको अनेक प्रकार की पराधीनता होती है । मार खाना या बन्धन आदि पीड़ा होती है, तथा भूख प्यास आदि सहन करने का दुःख भोगना पड़ता है । उनके बाल, ऊन, चमर के लिए पुच्छ आदि के अवयवों का व्यापार दंत वाणिज्य और उन जीवों के व्यापार को केश वाणिज्य में समझना चाहिए ।

१०. विष वाणिज्य – विष अर्थात् सर्व प्रकार के जहर । उपलक्षण से जीव घातक शस्त्र तलवार, बंदूक, कटार, भाला, शूली आदि जीव घातक शस्त्र एवं अंकुश, कुल्हाड़ी, फावड़ा, कुदाली आदि लोहे के हिंसक साधन अथवा हल आदि का व्यापार करना- वह 'विष वाणिज्य' नामक अतिचार जानना । उसमें जहर - वच्छनाग, हरताल, सोमल आदि जहरीली वस्तुएँ एवं शस्त्र आदि जीव घातक हैं यह जगत् प्रसिद्ध है । पानी भीगी हरताल में मक्खी आदि गिरने के साथ में ही मर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाती है, वैसे ही सोमल या वैसा क्षार आदि खाने से बालक भी मर जाते हैं। जहर आदि के व्यापार का अन्य धर्मों में भी निषेध करते हैं। कहा है कि:-

कन्याविक्रयिणश्चैव, रसविक्रयिणस्तथा ।
विषविक्रययिणश्चैव, नरा नरक गामिनः ।।१।।

अर्थात् – "कन्या का विक्रय करने वाला, कराने वाला, रस का व्यापार करने वाला और जहर का व्यापार करने वाला मनुष्य नरक गति में जाता है।"

जहर-सोमाल आदि खनिज पदार्थ, सर्प आदि का जहर, वच्छ नाग आदि वनस्पति जन्य जहर, तथा जहरीली दवा, क्लोरोफार्म, जहरीली गैस या कम ज्यादा असर करने वाले अनेक जाति के जहर, कुत्ते को मारने वाला जहर, तथा दवाई जिसके द्वारा जीवों को पीड़ा दे देकर मारना, खून खींचकर उसमें से विविध दवाईयें बनाना। डाक्टर का कार्य करना- ये सब विष वाणिज्य समझना चाहिए। दवा से कभी वास्तविक लाभ हो फिर भी शरीर के मूल तत्त्व-धातुओं का परिवर्तन होने से हार्ट फेल आदि नाना प्रकार के महारोग होने का नुकसान होता है। तथा तोप, मशीनगन, पिस्तौल, बन्दूक, बरछी भाला, करवत आदि व्यापार भी विष वाणिज्य में ही गिना जाता है। योग शास्त्र में तो पानी खींचने के रेहट के व्यापार को भी विष वाणिज्य में गिना है। उसके तीसरे प्रकाश में कहा है कि-

विषाऽस्त्रहलयन्त्राऽयो-हरितालादिवस्तुनः
विक्रयो जीवितघ्नस्य, विष वाणिज्यमुच्यते ।।१०६।।

अर्थात् – "श्रृंगिक-सोमल आदि जहर, तलवार आदि शस्त्र, हल, पानी खींचने का रेहट, अंकुश, कुल्हाड़ी, फावड़ा, कुदाली आदि लोहे के शस्त्र, इसी तरह लकड़ी, मिट्टी, चमड़े आदि के विविध साधन तथा हरताल आदि वस्तुओं के विक्रय से जीवों का घात होता है। इसे विष वाणिज्य कहते हैं।" फिर भी वंदित्तु सूत्र की टीका आदि में रेहट को यंत्र पीडन में गिना गया है। इस तरह वाणिज्य स्वरूप पांच कर्मादान का वर्णन किया। अब पाँच सामान्य कर्म का वर्णन करते हैं।

११. यन्त्र पीडन कर्म – चटनी कूटने का बाट पत्थर, ओखली, मूसल, चक्की, रेहट तथा बाल बनाने का कंघा, आदि उन वस्तुओं का व्यापार, तिल, इक्षु, सरसों, अरंड, अलसी आदि की घाणी-कोल्हू फैक्टरी, आदि यन्त्र से पेलने का व्यापार करना, तिल आदि को पेलकर तेल निकालना। पानी पंप, बोरींग आदि चलाने का व्यापार इत्यादि सारा 'यन्त्र पीडन कर्म' समझना। योग शास्त्र तीसरे प्रकाश में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तिलेक्षु सर्षपैरण्ड जल यन्त्रादि पीडनम् ।
दल तैलस्य च कृतिर्यन्त्र पीडा प्रकीर्तिता ॥११०॥

अर्थात् – "घाणी में पेलकर तेल निकालना, कोल्हू में पेलकर इक्षुरस निकालना, सरसों अरंड आदि का तेल यन्त्र से निकालना, जल यन्त्र – रेहट चलाना, तिलों को दलकर तेल निकालना और बेचना– ये सब यंत्र पीड़न कर्म है । इन यन्त्रों द्वारा पेलने में तिल आदि के एकेन्द्रिय जीवों का तथा उसमें रहे अनेक–अगण्य द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों को घात होता है । इसलिए इस यन्त्र पीड़न कर्म का श्रावक को त्याग करना चाहिए । लौकिक शास्त्र–मनु स्मृति अध्याय ४ श्लोक ८५ में भी कहा है कि:–

दश सूना समं चक्रं, दश चक्र समोध्वज ।
दश ध्वज समो वेशो, दश वेश समो नृपः ॥८५॥

अर्थात् – "दस सूना (कसाई) जितना पाप एक चक्की– घाणी चलाने वाले को लगता है, दस घाणी का पाप एक मद्य पुडे का मद्य निकालने में लगता है । इससे दस गुणा एक वेश्या को और दस वेश्या का पाप एक राजा को लगता है ।" इतना पाप का बन्धन होता है । ऐसा श्री वंदित्तु सूत्र टीका में आया है । चक्की, ओखली, चूल्हा, पनसाल (घड़ौची), झाड़ू–बुहारी सूना (कसाई) कहा है । वर्तमान युग में मिट्टी के तेल, पेट्रोल या बिजली के बल से चलती फैक्टरियाँ, मिल, प्रेस, घास आदि काटने की मशीन–यंत्र चलाना इत्यादि सब यंत्र पीडन कर्म में गिना जाता है ।

१२. निर्लांछन कर्म – बैल, घोड़ा, ऊँट आदि पंचेन्द्रिय जीवों के अंग या अवयव आदि छेदन से आजीविका चलानी, उसे निर्लांछन कर्म कहते हैं । जैसे बैल गाय आदि के कान, गल कम्बल, सींग, पूंछ आदि काटना, नाक बींधना । गाय, घोड़े के निशान लगाना, ऊंट की पीठ गालना इत्यादि निर्लांछन कर्म समझना । योग शास्त्र तीसरे प्रकाश में कहा है कि:–

नासावेधोऽङ्कनं पुच्छ (मुष्क) च्छेदनं पृष्ठ गालनम् ।
गोकर्ण कम्बलच्छेदो, निर्लांछनमुदीरितम् ॥१११॥

अर्थात् – "जीव के अंगों अथवा अवयवों का छेदन करने का धंधा करना, उस कर्म से अपनी आजीविका चलाना, जैसे–बैल–भैंसे का नाक बींधना, उन पर निशान लगाना, उनके अण्ड कोष काटना, ऊँट की पीठ गालना, गाय आदि के कान, गल कम्बल आदि काट डालना निर्लांछन कर्म कहलाता है । अत: विवेकी जन को इसका त्याग करना चाहिए ।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ बैल, घोड़े आदि के अंग अवयव छेदन करने से उन जीवों को कठोर दुःख देने रूप हिंसा प्रगट होती है । इसके अतिरिक्त बीमार या पीड़ित को जहर आदि से मार डालना, बकरे के अण्ड कोष काटना, प्राणियों का कलेजा आदि निकाल कर या बछड़े आदि का खून खींचकर उससे दवाइयां तैयार करनी, मछली आदि का तेल निकालना, गर्भ गला देना या गर्भ पात करा देना, संतान होते रोकना, मुर्दे की खोपड़ी का व्यापार करना, चूहे, बंदर, कुत्ते, तीड आदि को मार डालना अथवा मच्छर, मक्खी आदि को डी० डी० टी० आदि से मार डालना, फिनाइल छिड़कना। फांसी, शूल का दण्ड करवाना, चोर आदि को घातक मार से मारना इत्यादि- यदि आजीविका के लिए ऐसी हिंसा की जाय तो वह सब कर्मादान गिना जाता है । प्रथम व्रत में दुःख से छूटने के लिए अथवा सुखी होने के लिए हिंसा करना और यहाँ हिंसात्मक व्यापार करना इन दोनों में इतना अन्तर है ।

१३: दावाग्नि दान – घास आदि को जलाने के लिए आग लगाना दवदान कहलाता है । वह दो प्रकार का होता है । एक तो व्यसन- आदत से होता है - फल की अपेक्षा बिना, जैसे भील आदि लोग बिना ही प्रयोजन के (आदतन) आग लगा देते हैं । दूसरे कोई किसान पुण्य बुद्धि से करता है । मरने के समय मेरे कल्याण के लिए तुमको इतना धर्म दीपोत्सव करना है- इस दृष्टि से खेत में आग लगा देना, अथवा घास जलाने से नया घास बहुत होगा तो गाय सुख पूर्वक चरेगी या घास की सम्पत्ति में वृद्धि होगी अथवा खेत में जड़, कांटे आदि जलाने से अनाज आदि अच्छा उत्पन्न होता है । कुतूहल के कारण जहाँ-तहाँ आग लगा देते हैं, धर्म स्थानों में मृत्यु के निमित्त श्रेयार्थ दीपक जलाना, दिवाली के दिनों में घर आदि में बहुत दीपक जलाना इत्यादि आग लगाना दवदान है । योग शास्त्र के तीसरे प्रकाश श्लोक ११३ में कहा है कि- **"व्यसनात् पुण्य बुद्धया वा, दवदानं भवेद् द्विधा ।।"** अर्थात् "व्यसन-गलत आदत से अथवा अज्ञानता से पुण्य के लिए आग लगाना वह दो प्रकार का होता है ।"

इसमें कारण बिना ही जंगली लोग जंगल आदि जला देते हैं । कई समझदार जानबूझकर द्वेष आदि के कारण जला देते हैं, कई कुतूहल से, कई धर्म समझकर जलाते हैं- उसमें पुण्य बुद्धि समझते हैं । परन्तु ऐसे कार्यों में असंख्य त्रस, स्थावर जीवों का भी नाश होता है इत्यादि स्पष्ट दोष लगता है । अतः सुश्रावक को इसका सर्वथा त्याग करना चाहिए ।

१४. सरः शोषण - अनाज आदि बोने के लिए, खेत में पानी भर गया हो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उसके निकास के लिए क्यारी बनाकर निकालना, सुखाना, इस तरह नदी, झील, सरोवर-तालाब आदि का पानी खाली करना या सुखा देना इत्यादि को 'सर शोषण' कहते हैं। श्री योगशास्त्र प्रकाश तीसरे श्लोक ११३ के उत्तरार्ध में कहा है कि "**सरः शोषः सरः सिन्धुह्रदादेरम्बु सम्प्लवः**।" अर्थात् - सरोवर, नदी, ह्रद या समुद्र में से पानी निकाल कर सुखाना सरः शोषण कहलाता है।

जलाशयों में जो पानी होता है उसे किसान अनाज पकाने के लिए क्यारी या नहर से खेत में ले जाता है। नहीं खोदा हुआ 'सरोवर' और खोदा हुआ 'तालाब' कहलाता है। ऐसे जलाशयों में से पानी सुखा देने से जल के अन्दर रहे हुए अपकाय जीव तथा उसमें रहे पोरा, द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक तथा मछली आदि त्रस जीवों का बहुत प्रमाण में नाश होता है तथा वह पानी जहाँ जाता है वहाँ पर भी असंख्य जीवों का नाश होता है। इस तरह सरोवर सुखाने में बड़ा दोष लगता है। इसी तरह समुद्र का पानी खेत में भरकर पानी को सुखाना, नमक बनाना, सरोवर के अन्दर से मछली पकड़ना, उसे सुखाकर बेचना इत्यादि इस कर्मादान में गिन सकते हैं। इस कर्मादान में छहकाय के जीवों की बहुत बड़ी हिंसा होती है।

१५. असतीपोषण – असती का अर्थ दुराचारिणी स्त्री तथा 'लिंगम तन्त्रम' इस न्याय से यहाँ पुरुषलिंग वाले तोता, मैना, कुत्ता, बिल्ली, मुर्गा, मोर, बन्दर, सुअर आदि तिर्यंच पशु, पक्षियों, हिंसक जीवों का पोषण-पालन करना असती पोषण कहलाता है तथा धन प्राप्ति के लिये व्यभिचार के द्वारा दास दासी से आजीविका चलाना अथवा वेश्या या नपुंसक का पालन करना, उनसे दुराचरण सेवन करवाना, उसका व्यापार करना महा पाप रूप है। घर की रक्षा के लिए चौकीदार, कुत्ता आदि रखना कुतुहल के लिए तोता, मैना, तीतर, बन्दर आदि का पालन करना, सरकस के लिए रीछ, बाघ, चीता, सिंह, हाथी आदि असती पोषण में गिना जाता है। यह सब पाप का हेतु है। अतः इसका त्याग करना चाहिए। यदि अपने कुटुम्ब परिवार या घर में कोई अति पापी या दुराचारी हो जाये तो सावधानी रखना या भविष्य में सुधर जाय ऐसी आशा से उसे समझाना, फिर भी न सुधरे तो उपेक्षा भाव से रखे तो दोष नहीं लगता।

इस तरह पंद्रह पाप कर्मादानों के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। ये पाप कर्म आने के कारण कर्मादान है। इसमें भोगोपभोग परिमाण व्रत के विशेष अतिचार रूप होने से श्रावक को अवश्य त्याग करना चाहिए। यहाँ पंद्रह कर्मादान सूचना मात्र गिनाया है। इसी तरह और भी अनेक सावध कर्म हैं जिनकी गिनती नहीं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हो सकती है। अन्य व्रतों के पाँच-पाँच अतिचार हैं और सातवें व्रत में बीस अतिचार कहे हैं। उसमें कारण यह है कि दूसरे व्रतों में भी पाँच-पाँच कहे हैं, वहाँ भी उस अतिचार को, जो जिस व्रत के परिणाम को कलुषित करने वाला है, उसे उसी व्रत का अतिचार समझना। दूसरे भी पाप कर्म हैं उन्हें भी अतिचार रूप मानना। अर्थात् पाँच से अधिक भी अतिचार हो सकते हैं। क्योंकि अज्ञानता-विस्मृति से, भूल से हो सकते हैं। इसलिए प्रत्येक व्रत में यथा योग्य अतिचार समझ लेना चाहिए। इसी हेतु से ही यहाँ रात्रि भोजन में शराब पान आदि का त्याग होने पर भी यदि वह कार्य हो जाये तो उसे भोजन आश्रित कहा है और वह पाँच अतिचार में गिना है। उपासक दशांग सूत्र की टीका में कहा है **"य एते प्रतिव्रतं पञ्च पञ्चातिचारास्ते उप लक्षणमति चारान्तराणामव सेयम्। नत्ववधारणम् यदा हु पूज्या।"**

अर्थात् 'इन प्रत्येक व्रत में जो पाँच-पाँच अतिचार कहे हैं, वह उतनी ही संख्या में हैं, ऐसा नियम नहीं मानना, परन्तु उपलक्षण से अन्य भी अतिचार जानना अर्थात् पाँच-पाँच ही अतिचार हैं ऐसा नहीं समझना क्योंकि पूज्य पाद (यहाँ पूज्य शब्द से श्री उपासक दशांग के टीकाकार श्री अभय देव सूरिजी महाराज समझना) ने वहाँ अपने गुरु श्री जिनेश्वर सूरीश्वर जी का निर्देश किया दिखता है-

पञ्च पञ्चातिचारा उ, सुत्तं मि जे पदं सिआ।
ते नाव हारणट्ठाए, किन्तु ते उवलक्खणं ॥१॥

अर्थात्-"सूत्र के अन्दर जो पाँच पाँच अतिचार कहे हैं वह पाँच ही हैं ऐसा निर्णय नहीं करना, परन्तु उपलक्षण से अन्य भी अतिचार हो सकते हैं।" यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि -व्रत के विषय में ख्याल बिना अनजाने शीघ्रता के कारण अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार से अथवा विस्मृति से अथवा अपनी बुद्धि-कल्पना दोष से व्रत रक्षण की भावना होने पर भी धारण किए नियम के अतिरिक्त जिस-जिस प्रवृत्ति से व्रत का उल्लंघन होता है, ऐसी वह सर्वप्रवृत्ति रूप अतिचार समझना और उसके सिवाय जानबूझ कर व्रत भंग की बेदरकारी से होता है तो वह व्रत भंग कहलाता है। इस तरह अतिचार का संक्षेप से अर्थ जानना।

यहाँ शंका होती है कि अंगार कर्म आदि कर्मादान-खर कर्म हैं, इन्हें अतिचार किस अपेक्षा से कहा है ? क्योंकि ये सब कर्म खरकर्म और कर्मादान रूप ही हैं। इसका उत्तर देते हैं कि-वस्तुतः ये सब खरकर्म रूप ही हैं, इसलिए इनके त्यागरूप व्रत अंगीकार करने वाले को वह अतिचार कहलाता है। इरादे पूर्वक वैसा कार्य करता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है उसका तो व्रत ही भंग हो जाता है । इस तरह से पंचाशक की टीका में पूज्य श्री अभय देव सूरि जी महाराज तथा योग शास्त्र में पूज्य श्री हेमचन्द्र सूरीश्वर जी महाराज ने भी कहा है । इस प्रकार सातवें भोगोपभोग व्रत के अतिचार का वर्णन किया । अब अनर्थ दण्ड -विरति व्रत के अतिचार कहते हैं-

प्रोक्तास्तृतीये कन्दर्पः, कौत्कुच्य भोग भूरिता ।
संयुक्ताधिकरणत्वं, मौखर्यं च गुण व्रते ॥५४॥

मूलार्थ– तीसरे गुणव्रत में (१) कामोत्तेजक शब्द का प्रयोग करना, (२) भांड की तरह चेष्टा करना, (३) भोग की सामग्री अधिक रखना, (४) हिंसा के साधन या अधिकरण संयुक्त रखना और (५) बिना विचारे बोलना– ये पाँच अतिचार हैं ।

व्याख्या – तीसरे अनर्थ दंड विरमण नामक गुणव्रत में पाँच अतिचार कहे हैं । उनमें प्रथम - **१. कंदर्प** - अर्थात् जिससे विषय वासना जागृत हो ऐसे विकारी वचन बोलना या कामोत्तेजना पैदा हो ऐसी विषय वर्द्धक बातें करना वह कंदर्प नामक अतिचार है । जिससे मोह - इन्द्रिय के शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि विषयों को सेवन करने की इच्छा प्रगट हो ऐसे वचन व्यापार को कन्दर्प कहते हैं । इस विषय में श्रावक की ऐसी समाचारी है कि- श्रावक को कोई भी ऐसी बात नहीं कहनी या करनी चाहिए जिससे अपने और दूसरे में मोह या विषय राग उत्पन्न हो । हँसना हो तो मुँह फाड़कर जोर से नहीं हँसना चाहिए, कभी हँसने का समय आए तो अल्प मात्र ही आवाज बिना हँसे । यह पहला अतिचार कहा ।

२. कौत्कुच्य – कुत् अव्यय है । इसका अर्थ है कुत्सित - बुरी तरह से, कुच यानी चेष्टा, विदूषक या भांड के समान नेत्र, नाक, होठ, पैर और मुख की चेष्टा करना, अंगों की खराब चेष्टा करना, अंगो को सिकोड़ने की क्रिया करने से कौत्कुच्य नामक अतिचार लगता है । तात्पर्य यह है कि जिससे दूसरे को हँसी आए, अपनी लघुता प्रगट हो, इस प्रकार के बचन बोलना या चेष्टाएँ करना, ऐसा मुँह बनाना इत्यादि प्रमादवश हो जाय तो कौत्कुच्य नामका दूसरा अतिचार समझना । ये दोनों अतिचार प्रमादाचरण के योग से लगते हैं ।

३. भोग भूरिता – अर्थात् भोगादि की सामग्री का अधिक संग्रह करना, पाँच इन्द्रियों के विषयों या साधनों के अत्यधिक उपयोग से उपभोग की अत्यधिकता होना। इसी उपलक्षण से उपभोग की अतिरिक्तता होती है । यह अतिचार प्रमाद पूर्वक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आचरण से लगता है । स्नान, पान, भोजन, चन्दन, केशर, कस्तूरी, वस्त्र, आभूषण आदि वस्तुओं को अपने या कुटुम्ब की आवश्यकता से अधिक संग्रह करना अथवा अति मात्रा में इनका इस्तेमाल करने से प्रमाद नामक अतिचार लगता है । इस सम्बन्ध में आवश्यक चूर्णि आदि में वृद्ध परम्परा इस प्रकार है - जो अधिक मात्रा में तेल, आँवला-साबुन आदि ग्रहण करता है, तालाब आदि जलाशयों में कूदकर या घुसकर स्नान करता है, अधिक मात्रा में जल खर्च करता है, उससे जल में पोरे आदि जीव तथा अपकाय की अधिक विराधना होती है । श्रावक को ऐसा करना उचित व कल्पनीय नहीं है। फिर भी श्रावक के लिए ऐसी विधि है कि- श्रावक को मुख्यतया अपने घर में ही स्नान करना चाहिए । ऐसा साधन न हो तो घर पर ही तेल मालिश करके मस्तक पर आँवले का चूर्ण लगाकर, तालाब आदि किसी जलाशय पर पहुँचकर, उसके किनारे पर बैठकर किसी बर्तन में पानी लेकर अंजलि भर-भर कर स्नान करे, परन्तु जलाशय में घुसकर स्नान न करे । जिन पुष्पों में कुंथुआ आदि त्रस जीवों की संभावना हो उनका त्याग करे । इसी तरह सब भोग उपभोग के साधनों के बारे में भी समझ लेना चाहिए अर्थात् जैसा बने उतनी वस्तुएँ प्रमाणानुसार रखे और उनका उपयोग भी हिंसा कम हो- इस तरह करे । यह तीसरा अतिचार है ।

४. संयुक्त अधिकरण- जिससे आत्मा नरक आदि दुर्गति का अधिकारी बने ऐसा ऊखल-मूसल आदि साधन वह अधिकरण है और उसके साथ संयुक्त (तैयार) रखना वह संयुक्ताधिकरण अतिचार कहलाता है । जैसे ऊखल के साथ में मूसल, हल के साथ में फाल, बैलगाड़ी के साथ में घूंसरी, धनुष के साथ बाण, इस प्रकार से अनेक अधिकरण-औजार या उपकरण संयुक्त रखना या नजदीक रखना इससे हिंस्रप्रदान अनर्थ दंड विरमण में अतिचार लगता है । श्रावक को ऐसे अधिकरण, संयुक्त सामग्री तैयार नहीं रखना चाहिए, अपितु अलग-अलग करके रखना चाहिए। हिंसक अधिकरण संयुक्त पड़े हों और कोई मांग बैठे तो उसे इन्कार नहीं किया जा सकता और तितर-बितर पड़े हों तो अनायास ही इन्कार किया जा सकता है । यह चौथा अतिचार कहा है । यदि ना कहने पर भी वह अधिकरण जोड़कर ले जाता है, तो श्रावक को दोष नहीं लगता । इसलिए विवेकी श्रावक को पापकारी कार्य प्रथम आरंभ नहीं करना चाहिए । इसमें महान दोष का कारण बनता है ।

५. मौखर्य – जो भी बोलना चाहिए वह मूर्खता के बिना, सोच विचार करके बोलना चाहिए । धृष्टता, असभ्यता आदि से अंट-संट बोलना और बिना कारण बार-बार बोलना, बकवास करना, पाप मय या हिंसादिवर्द्धक उपदेश देना या आदेश देना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इत्यादि मौखर्य (वाचालता) गिना जाता है। इस से 'पापोपदेश' नामक अनर्थ दण्ड में अतिचार लगता है। श्रावक को लगभग मौन ही रहना चाहिए। बोलना हो तो अल्प व पाप रहित बोलना चाहिए। ज्यादा बोलने से मूर्ख गिना जाता है, क्लेश का कारण होता है। इससे मन में अशान्ति आदि होती है और पाप प्रेरक वचन बोला जाय तो वहाँ पाँचवाँ अतिचार लगता है।

पहले अपध्यान अनर्थ दण्ड में जो उपयोग के अभाव में अथवा सहसात्कार आदि से दुर्ध्यान हो जाए वह अतिचार कहलाता है। इस तरह स्वयं समझ लेना। कंदर्प आदि का यदि जानबूझ कर आचरण करे तो व्रत भंग होता है। ऐसा धर्म बिन्दु ग्रन्थ की टीका में कहा है। इस प्रकार तीनों गुण व्रतों के अतिचार कहे हैं। अब शिक्षा व्रतों के अतिचारों के निर्देश का अवसर आया है, उसमें प्रथम सामायिक व्रत के अतिचार कहते हैं :-

योग दुष्प्रणिधानानि, स्मृतेरनवधारणम् ।
अनादरश्चेति जिनैः प्रोक्ताः सामायिक व्रते ॥५५॥

मूलार्थ- "मन, वचन और कायां के इन तीन योग को दुष्प्रणिधान (पाप व्यापार) में जोड़ना, ये तीन और स्मृति भ्रंश तथा अनादर ये पाँच अतिचार श्री जिनेश्वर भगवान ने सामायिक व्रत में कहे हैं।"

व्याख्या- सामायिक व्रत में पाँच अतिचार कहे हैं। उसमें योग का दुष्प्रणिधान = योग अर्थात् मन, वचन और काया। उसका दुष्प्रणिधान अर्थात् उससे पाप प्रवृत्ति करना। इन तीनों के तीन अतिचार कहे हैं। उसमें सामायिक करते समय शरीर के विभिन्न अवयवों-हाथ पैर आदि को संकोच कर व्यवस्थित नहीं रखने, बारम्बार इधर-उधर, ऊँचा-नीचा, लम्बा-छोटा करना इत्यादि काया की पापमय व्यापार में प्रवृत्ति होना प्रथम काया दुष्प्राणिधान है। संस्कार रहित निरर्थक या संदिग्ध या समझ में न आए ऐसे अनेकार्थक वचन बोलना, भाषा चापल्य सेवन करना या पाप में प्रेरित करने वाले वचन बोलना यह वचन दुष्प्रणिधान है, और मन में क्रोध, लोभ, द्रोह, ईर्ष्या, अभिमान आदि विचार करना, सावध-पापकारी में चित्त को विचलित करना तथा मन में कार्य की आसक्ति में संभ्रम पैदा करना इत्यादि को मनो दुष्प्रणिधान समझना। मन, वचन और काया इन तीनों के योग से तीन प्रकार के अतिचार लगते हैं। श्रावक प्रज्ञप्ति और सम्बोध प्रकरण में कहा है कि:-

अण विक्खि अप मज्जिअ, थडिल्ले ठाण माइ सेवंतो ।
हिंसाऽभावेवि न सो, कह सामाइओ पमायाओ ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कड सामइओ पुव्विं, बुद्धीए पेहिऊण भासेज्जा ।
सइ निरवज्जं वयणं, अण्णह सामाइअं न हवे ।।२।।

सामाइअं तु काउं, घरचिंतं जो अ चितए सड्ढो ।
अट्टवसट्टो वगओ, निरत्थयं तस्स सामाइअं ।।३।।

अर्थात् – देखे बिना या प्रमार्जन किए बिना, जमीन पर बैठना, खड़ा होना, इत्यादि प्रवृत्ति करने वाले को यद्यपि हिंसा नहीं लगती, परन्तु असावधानी से प्रमाद सेवन करने से उसका सामायिक व्रत शुद्ध नहीं माना जाता, यह काया दुष्प्रणिधान है ।।१।। सामायिक करने वाले को यदि आवश्यकता हो तो पहले विवेक बुद्धि से विचार करके पाप रहित वचन बोलना चाहिए अन्यथा सामायिक व्रत दूषित हो जाता है, यह वचन दुष्प्रणिधान है ।।२।। जो श्रावक श्राविका सामायिक लेकर घर के पापकारी कार्यों की चिन्ता किया करते हैं, उनका मन आर्त्तध्यान में डूबा होने से उनका सामायिक व्रत निष्फल व निरर्थक है, इसे मन दुष्प्रणिधान कहा है ।।३।।

चौथा **स्मृति भ्रंश** – प्रबल प्रमादादि के कारण सामायिक करने के समय पर भूल जाना अर्थात् मुझे कब सामायिक करना है ? मैंने सामायिक किया है या नहीं किया ? अथवा करना है या बाकी है ? इससे स्मृति भ्रंश नाम का अतिचार लगता है । वस्तुतः प्रत्येक धर्मानुष्ठान का मूल उपयोग स्मृति एकाग्रता है । उसे भूल जाने से मोक्ष साधक यह चौथा अतिचार है । श्रावक प्रज्ञप्ति तथा सम्बोध प्रकरण में कहा है कि –

न सरइ पमाय जुत्तो, जो सामाइअं कया य कायव्वं ?
कयम कयं वा तस्स हु, कयंपि विहलं तयं नेयं ।।१।।

अर्थात् – जो प्रमादी सामायिक कब करना चाहिए अथवा किया है या नहीं किया ? इत्यादि बात भूल जाता है । उसने सामायिक किया भी हो तो भी उसका सामायिक निष्फल समझना चाहिए । उपलक्षण से सामायिक लिया या नहीं लिया? वह कब लिया ? कब पूर्ण होगा ? इत्यादि भूल जाना, उन प्रत्येक में अतिचार लगता है ।

पाँचवां **अनादर** – सामायिक में उत्साह रहित होना, जैसे-तैसे सामायिक लेना, उसके प्रति आदर नहीं रखना । सामायिक लेने की अनुकूलता होने पर भी नियमित समय पर सामायिक नहीं करना । बहुत कहने-सुनने पर जब कभी समय पर सामायिक करे तब अनुत्साह बेपरवाह की तरह सामायिक का समय पूरा करता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है अथवा प्रबल प्रमादादि दोष से सामायिक करके समय पूर्ण होने के पहले ही पार ले - पूर्ण कर ले उसे अनादर नाम का अतिचार लगता है । श्रावक प्रज्ञप्ति में भी कहा है कि:-

काऊण तक्खणं चिअ, पारेइ करेइ वा जहिच्छाए ।
अणवट्ठिअ सामाइअ, अणायराओ न तं सुद्धं ॥३१७॥

अर्थात्- सामायिक उच्चारण करके उसी समय पार ले अथवा नियमित समय पर न करे, मनमाने ढंग से, स्वेच्छा से, जब इच्छा हो तब सामयिक कर ले । इस प्रकार अवस्थितता, अव्यवस्थितता एवं अनादर से सामायिक शुद्ध नहीं होता । यह पाँचवां अतिचार है ।

यहाँ शंका होती है कि - काया दुष्प्रणिधान आदि से सामायिक निरर्थक है, ऐसा पहले कहा गया है, वस्तुत: इससे तो सामायिक का ही अभाव होगा और अतिचार तो व्रत मलिनता रूप ही होता है । यदि सामायिक ही नहीं है तो उसका अतिचार कैसे कहा जायेगा ? इसलिए कहना चाहिए कि यह सामायिक का अतिचार नहीं है, अपितु सामायिक का भंग ही है । इसका समाधान करते हैं कि :- व्रत का भंग तो जानबूझ कर होता है , परन्तु अज्ञानता या अनुपयोग से होने पर अतिचार लगता है। फिर प्रश्न उठता है कि 'द्विविध त्रिविध' के भेद से पाप व्यापार त्याग रूप सामायिक कहा है, उसमें काया दुष्प्रणिधान आदि से तो उक्त नियम का भंग होता है । इससे सामायिक का अभाव होता है और उसके भंग से होने वाला पाप का प्रायश्चित करना चाहिए, और मनो दुष्प्रणिधान में चंचल मन को स्थिर करना अशक्य है, इसलिए सामायिक करने के बजाय नहीं करना अच्छा है । कहा है कि - **''अविधिकृताद्वरमकृतम्''** अर्थात् 'अविधि से करने की अपेक्षा नहीं करना श्रेष्ठ है ।'

इसके उत्तर में कहते हैं - तुम्हारी बात यथार्थ नहीं है क्योंकि सामायिक 'द्विविध त्रिविध' से लिया हुआ होता है, उसमें मन, वचन, काया से पाप व्यापार नहीं करना और नहीं कराना, इस तरह छह कोटि (प्रकार) से पच्चक्खाण होता है । उनमें से एक प्रत्याख्यान भंग होने पर भी शेष तो अखंडित रहता है, अर्थात् सामायिक का पूर्ण रूप से तो भंग नहीं होता है और उस अतिचार का भी 'मिच्छामि दुक्कडं' देकर उसकी शुद्धि हो सकती है और मन के परिणाम बिगड़ने पर साधक का इरादा वैसा नहीं होने से 'मिच्छामि दुक्कडं' देने से वह शुद्ध हो जाता है । इस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तरह सामायिक का सर्वथा अभाव नहीं है । सर्व-विरति सामायिक में उसी प्रकार जान लेना चाहिए क्योंकि गुप्ति का भंग होने पर भी साधुओं को सिर्फ 'मिथ्या दुष्कृतं' का उच्चारण रूप दूसरा प्रायश्चित लगता है । कहा है कि **''बीओ उ असमि ओमित्ति कीस सहसा अगुत्तो वा''** अर्थात् 'सहसात्कार से सुमति अथवा गुप्ति का भंग हुआ हो तो दूसरे अतिचार 'मिच्छामि दुक्कडं' नाम का प्रायश्चित करने से शुद्ध होता है ।' इसलिए 'सामायिक करने से नहीं करना अच्छा है ।' ऐसा कहना योग्य नहीं है । और सामायिक की अतिचार सहित अनुष्ठान - क्रिया भी अभ्यास करते-करते चिरकाल में जाकर शुद्ध बन जाती है, ऐसा पूर्वाचार्यों ने कहा है । कहा भी है कि 'अभ्यास भी बहुत जन्मों तक करने से प्रायः शुद्ध होता है ।'

अनादि काल से जीव धर्ममय नहीं परन्तु अधर्ममय का ही अभ्यासी रहा, वह केवल एकाध ही जन्म में नहीं सुधरता, मिथ्यात्व दशा में अनेक जन्मों तक धर्म क्रिया अनुष्ठान करने के बाद ही परिणाम में सम्यकत्व या शुद्ध अनुष्ठान जीव में प्रगट होता है फिर अनुक्रम से विनाश करते-करते मोक्ष की सीमा में पहुँचता है । अन्य धर्माचार्यों ने कहा है कि **''अभ्यासो हि कर्मणां कौशलमावहति''** अर्थात् - 'अभ्यास से ही कार्य-कुशलता आती है, व्यक्ति आगे बढ़ता जाता है । केवल एक जल बिन्दु गिरने से पत्थर में गड्ढा नहीं पड़ता, बार-बार यह क्रिया करने पर होता है । इस प्रकार अनुष्ठान करते-करते परिणाम से शुद्ध होता है, इसलिए शुद्ध क्रिया करने की भावना से प्रथम अतिचार लगे तो भी क्रिया करना न्याय युक्त है । इसलिए अविधि से करने की अपेक्षा नहीं करना अच्छा है, यह कहना युक्ति संगत नहीं है। इस प्रकार का वचन उपेक्षा सूचक उद्‌गार है और धर्म क्रिया के प्रति अरुचि का परिचायक है । योग शास्त्र तीसरे प्रकाश श्लोक ११६ की टीका में स्पष्ट कहा है कि :-

अविहि कया वरमकयं, उस्सुअ वयणं भणंति समयण्णू ।
पायच्छित्तं जम्हा, अकए गुरुअं कए लहुअ ॥१॥

अर्थात् - अविधि से क्रिया - अनुष्ठान करने की अपेक्षा नहीं करना बेहतर है, यह कथन ईर्ष्या वश कहा गया है । परन्तु सिद्धान्त के रहस्य को जानने वालों ने कहा है - ''अनुष्ठान नहीं करने वाले को बहुत बड़ा प्रायश्चित्त आता है जबकि अविधि से करने वाले को लघु प्रायश्चित्त आता है । क्योंकि धर्म क्रिया नहीं करने वाले को श्री जिनेश्वर भगवंत की आज्ञा का भंग रूप महादोष है, और क्रिया करने वाले को तो केवल अविधि का दोष लगता है।'' इसलिए धर्मानुष्ठान हमेशा करना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ही चाहिए, ओर उसमें सर्वशक्ति से विधि पूर्वक करने के लिए महान प्रयत्न करना चाहिए। यही श्रद्धावान का मुख्य लक्षण होता है। श्री धर्मरत्न प्रकरण गाथा ६१ में कहा है कि :-

विहिसारं चिय सेवइ, सुद्धालू सत्तिमं अणुट्ठाणं ।
दव्वाइ दोस निह ओवि, पक्खवायं वहर तंमि ॥६१॥

अर्थात्-"श्रद्धालु एवं शक्तिमान आत्मा जो-जो धर्म अनुष्ठान करता है उस प्रत्येक विधि को बराबर सावधानी एवं ध्यानपूर्वक करता है, ऐसा करते हुए भी कभी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, सामर्थ्य आदि सामग्री सम्पूर्ण रूप न होने से अविधि करनी पड़ती हो फिर भी विधि का ही पक्ष रखता है।" इसी विषय के लिये सम्बोध प्रकरण में कहा है कि-

धण्णाणं विहिजोगो, विहिपक्खाराहगा सया धण्णा ।
विहि बहुमाणी धण्णा, विहि पक्ख अदूसगा धण्णा ॥३४०॥

आसन्न सिद्धि आणं, विहि परिणामो उ होइ सयकालं ।
विहि चाओ अविहि भत्ती, अभव्य जियदूर भव्वाणं ॥१६३॥

अर्थात्- "धर्म अनुष्ठानों में विधिपूर्वक पालन करने वाले पुरुष को धन्य है, विधि का पक्षपात करने वाले को भी धन्य है, विधि का बहुमान करने वाले को धन्य है और विधि मार्ग को दूषित नहीं करने वाले यानि हमेशा शुद्ध विधि अपनाने वाले को भी धन्य है ॥३४०॥ जो जीवात्मा अल्पकाल में मोक्ष जाने वाला है, वह हमेशा विधि मार्ग में लगातार आदर करने वाला होता है और विधि मार्ग का त्याग-अनादर या विधि मार्ग का पक्ष प्रायःकर अभव्य अथवा दुर्भव्य जीव को ही होता है॥१६३॥" इस तरह क्रिया और विधि दोनों की कहत्ता समान है, केवल इतनी विशेषता है कि क्रिया बिना विधि नहीं आती है, क्रिया करते-करते विधि मार्ग प्रगट होता है ।

खेती, व्यापार, नौकरी आदि अथवा भोजन, शयन, आसन, गमन या वचन आदि क्रिया भी यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, ऋतु आदि के अनुसार विधियुक्त होती हैं तो वही पूर्ण फल देती है अर्थात् खेती आदि विधिपूर्वक की जाय तो बहुत लाभदायक होती है, उससे अनाज आदि की प्राप्ति होती है। इसलिए सारी पुण्य-धर्म क्रिया भी विधिपूर्वक करनी चाहिएँ । यदि अविधि आशातना से लग गया हो तो अंत में अविधि-आशातना के निमित्त में "मिच्छामि दुक्कडं" कहना चाहिए। इस तरह संक्षेप में समझना । अब देसावगासिका के अतिचार बताते हैं-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रेषणा नयने शब्द-रूपयोरनुपातने ।
पुद्गल प्रेरणं चेति, मता देशावकाशिके ॥५६॥

मूलार्थ-नियमित भूमिका के बाहर १- भेजना (प्रेषण), २- आनयन, ३- शब्दानुपातन, ४- रूपानुपातन और ५- पुद्गल प्रेरण- ये पाँच अतिचार देसावगासिक व्रत के विषय में कहे हैं ।

व्याख्या- दिग्परिमाण व्रत का विषेष रूप ही देशावकाशिका व्रत है, इस में इतनी विशेषता है कि दिग्व्रत यावज्जीव (आजीवन) या वर्ष अथवा चौमासे के लिए होता है और देशावकाशिक व्रत तो दिन, प्रहर या एक मुहूर्त्त आदि प्रमाण वाला होता है। उसके पाँच अतिचार होते हैं । वे इस प्रकार हैं -

१. प्रेषण – देशावकासिक व्रत में जाने आने आदि के विषय में अमुक प्रमाण में स्वयं नियम किए हों, उस क्षेत्र के बाहर कार्य करने की आवश्यकता पड़ने पर 'स्वयं न जाकर दूसरे को भेजना, स्वयं जाय तो व्रत भंग होता है' इस बुद्धि से अन्य को भेजकर कार्य करा लेना, वह 'प्रेषण' नामक प्रथम अतिचार लगता है। वस्तुतः जाने आने से जीव विराधना होती है, इस उद्देश्य के अमुक भूमि के उपरान्त दूर जाने आने का त्याग करने रूप देसावगासिक व्रत बतलाया है। फिर भी उस भूमि के बाहर स्वयं जाय अथवा अन्य को भेजे अर्थात् यह जीव विराधना स्वयं करे या करवाए उसमें कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता, बल्कि स्वयं जाने से इर्या समिति का पालन करता हुआ जाय तो विराधना के दोष से बच सकता है । दूसरे को समिति का ख्याल नहीं होने से अजयणा आदि के दोष लग सकते हैं । यह प्रथम अतिचार है ।

२. आनयन – जाने आने के लिए निश्चित किए गये स्थान के नियम के बाहर के क्षेत्र से सचित्त, अचित्त आदि वस्तु की जरूरत पड़ने से नौकर आदि के द्वारा मंगवाना, वह भी 'स्वयं जाने से व्रत भंग हो जायेगा इसलिए दूसरे के द्वारा मंगवाना' इस बुद्धि से मंगवाना, तब व्रत रक्षण करने की अपेक्षा होने से 'आनयन' नामक दूसरा अतिचार है और स्वयं जाता है तो व्रत भंग होगा।

३. शब्दानुपातन – इस व्रत में स्वयं जहाँ रहा हो उस मकान उसकी बाड़ या कोट आदि मर्यादा के बाहर नहीं जाने का नियम ले रखा हो और फिर कोई प्रयोजन आ जाए तब 'यदि मैं स्वयं जाऊँगा तो मेरा नियम भंग होगा' यों समझकर स्वयं बाहर नहीं जा सकता, दूसरे को बुला नहीं सकता, इससे बाड़, कोट, दरवाजे आदि जो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मर्यादा रखी हो उस मर्यादा में रहकर वहाँ खड़ा होकर बाहर वाले को बुलाने या कोई चीज मंगाने के उद्देश्य से छींकना या खाँसना इत्यादि अन्य कोई अव्यक्त शब्द करना, जिससे दूसरा नजदीक आये । इस प्रकार मर्यादित भूमि के बाहर से अन्य को बुलाने के उद्देश्य से आवाज करना, वह शब्दानुपातन नामक तीसरा अतिचार समझना। यहाँ भी व्रत रक्षण की भावना होने से अतिचार माना है ।

४. रूपानुपातन – शब्दानुपातन के समान आवाज नहीं करते हुआ अपना रूप दिखाकर बाहर से दूसरे को बुलाना 'रूपानुपातन' अतिचार है जैसे नियमित भूमि के बाहर का कोई प्रयोजन आ जाने से बाहर से अन्य को बुलाना हो, तब शब्द नहीं करते 'स्वयं यहाँ है' इस प्रकार बताने के लिए स्वयं उसके सामने देखे, इस तरह देख कर रहे अथवा घूमा फिरा करे और प्रकार 'स्वयं यहाँ है' यह रूप दिखाकर बाहर से बुलाने पर भी व्रत की रक्षा की अपेक्षा होने से अतिचार लगता है। यह चौथा, पाँचवां अतिचार अपने को या दूसरे के परस्पर मिलने की जरूरत हो तब भी ऐसा करने से अतिचार लगता है ।

५. पुद्गल प्रेरणा – पुद्गल अर्थात् पत्थर ईंट अथवा ऐसी किसी वस्तु को इस ढंग से फेंकना यह 'पुद्गल प्रेरणा' नामक अतिचार है अर्थात् अमुक नियमित स्थान के बाहर का प्रयोजन हो तब वहाँ नहीं जाने के अभिग्रह के कारण नहीं जा सकने से वहाँ पर रहे मनुष्य को लक्ष्य करके अपनी ओर खींचने के लिऐ स्वयं कंकर, लकड़ी आदि फैंके, इससे अन्य मनुष्य 'यह मुझे बुलाता है।' ऐसा समझकर उसके पास में आता है। इस तरह जब स्वयं नहीं जाने पर पत्थर आदि फेंककर दूसरे को सूचन करता है तब यह पाँचवाँ अतिचार लगता है।

इन पाँच अतिचारों में प्रथम दो अतिचार - प्रेषण और आनयन वैसी शुद्ध बुद्धि नहीं होने से सहसात्कार अथवा पूर्व संस्कार आदि से होते हैं और शेष तीन अतिचार मायावीपन से लगते हैं । इस तरह रहस्य समझ लेना चाहिए । इन पाँचो अतिचारों में व्रत रक्षण की बुद्धि होने से अतिचार लगते हैं। यहाँ पूर्वाचार्य कहते हैं कि जिस तरह दिग्व्रत में पाँचों अणुव्रत का संक्षेपी-करण होता है, उसी तरह देशावकाशिक व्रत में पाँचो अणुव्रत तथा गुणव्रतों आदि का संक्षेपीकरण होता है। इस पर एक प्रश्न उठता है कि दिग्व्रत में तथा इसमें अतिचार केवल दिशा सम्बन्धी ही सुना जाता है, दूसरे व्रतो में संक्षेपीकरण सम्बन्धी अतिचार नहीं सुना जाता है, तो फिर सर्वव्रतों का संक्षेप रूप देशावकाशिक व्रत है । ऐसा वृद्ध मुनियों के किस मरह माना है ? इसका समाधान करते हैं कि यह व्रत प्राणातिपात आदि दूसरे व्रतों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का संक्षेप रूप देशावकाशिक व्रत है। उस व्रत में भी वध, बन्धन आदि ही अतिचार जानने चाहिएं। कहने का तात्पर्य यह है कि दिग्व्रत को संक्षेप करने का अभिप्राय क्षेत्र की मर्यादा को संक्षेप करने से है। इस कारण से दिशि परिणाम व्रत को पहला कहा है। इसके अतिरिक्त ये प्रेषण, आनयन आदि अलग अतिचार संभव होते हैं, इसलिए यहाँ अलग कहा है ऐसा समझना। अत: दिशि परिमाण के संक्षेप को ही देशावकाशिक व्रत कहा है अर्थात् उपलक्षण से अन्य व्रतों का संक्षेप भी देसावगासिक व्रत कहलाता है और उसके अतिचार जो उस व्रत में कहे गये हैं वही हैं, ऐसा समझना। अब पौषधोपवास व्रत के अतिचार कहते हैं :-

संस्तारा दानहानान्यप्रत्युपेक्ष्या प्रमृज्य च ।
अनादरोऽस्मृतिश्चेत्यऽतिचारा: पोषध व्रते ॥५७॥

मूलार्थ – १. पौषध व्रत में दृष्टि से देखे या प्रमार्जन किए बिना संथारा करना, २. इसी तरह देखे तथा प्रमार्जन किए बिना वस्तु ग्रहण करना या रखना, ३. देखे व प्रर्माजना बिना परठना तथा ४. पौषध के प्रति अनादर, और ५. विस्मृति होना– ये पौषध व्रत के पाँच अतिचार हैं।

व्याख्या – मूलगाथा में संस्तार, आदान और हान इन तीन शब्दों को द्वंद्व समास कर (एकत्रित कर) कहा है, इससे 'अप्रत्युपेक्षण' और 'अप्रमृज्य' इन दोनों का उन तीनों के साथ में सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। यहाँ प्रत्युपेक्षण अर्थात् नेत्र से देखना और प्रमार्जन अर्थात् चखला, दण्डासन अथवा वस्त्र के अंचल से प्रमार्जन (पूंज) कर उसमें के जीव आदि उतर जायें इस तरह से शुद्ध करना– यह अर्थ होता है। संथारा अर्थात् पौषध वाले को सोने के लिए दर्भ नामक वनस्पति, अगर तृण घास या कंबल या बिछाने के लिए गरम संथारा (बिछौना) समझना, तथा उसके उपलक्षण से शय्या भी समझ लेना। संथारा अपना अढ़ाई हाथ लम्बा और शय्या अपने शरीर के अनुसार साढ़े तीन हाथ लम्बी होती है– इस तरह दोनों में भेद है, और वसति–पौषध का स्थान– पौषध शालादि को भी शय्या कहने में आता है। इस तरह 'संस्तार' शब्द से संथारा, शय्या और मकान ये तीन समझना। इन तीनों को आँख से देखना और उसका प्रमार्जन करना यह पौषध का कार्य है। फिर भी संथारा, शय्या या मकान आँख से देखे बिना प्रमार्जन किए बिना ही बिछाये या उसका उपयोग करे तो इसमें संस्तारक अप्रत्यपेक्षण अप्रमार्जन नामक प्रथम अतिचार गिना है।

यहाँ अप्रत्युपेक्षण और अप्रमार्जन इन दोनों को इकट्ठा एक अतिचार गिना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है, परन्तु अन्य ग्रन्थों में दोनों को अलग-अलग अतिचार कहा है और संथारा के विषय में दो अतिचार कहकर मलमूत्र आदि परिष्ठापन के विषय में भी अप्रत्युपेक्षण, अप्रमार्जन इस तरह दो अलग-अलग अतिचार कहे हैं। इसके अनुसार चार अतिचार हुए तथा पौषध में अविधि अथवा भोजन की चिन्ता करना- यह पाँचवा अतिचार कहा है। जबकि यहाँ मलमूत्रादि फजूल वस्तुओं के सिवाय, कपड़े, पात्र, कुंडी-प्याला आदि वस्तु लेने या रखने में नहीं देखना प्रमार्जन का एक तथा विस्मरण नाम का एक- इस तरह दो अतिचार अधिक कहे हैं और उसके बदले में अप्रत्युपेक्षण-अप्रमार्जन को मिलाकर एक-एक गिनने से दो कम किया है। जोड़ दोनो रीति से पाँच अतिचार हैं।

यहाँ 'अप्रत्युपेक्षण और अप्रर्माजन' शब्दो में निपेध सूचक जो 'अ' अव्यय है, उसका प्रयोग सर्वथा 'अभाव' और 'खराब रूप से' इस तरह दो अर्थों में होता है। इससे यह समझना है कि संथारा, शय्या या मकान को आँखो से सर्वथा देखे बिना या चखला, दण्डासण आदि प्रमार्जन किये बिना बिछाया हुआ उपयोग करे तब अथवा देखकर प्रमार्जन करने पर भी गलत रूप से इधर-उधर देखे, बिना प्रमार्जन से उपयोग करे तब भी इस तरह दोनों रूप से यह पहला अतिचार लगता है। इसके अनुसार आगे के अतिचारों में भी इसी तरह समझना। इस प्रकार उपयोग बिना देखना और प्रमार्जन करना प्रथम अतिचार लगता है।

२. अप्रत्युपेक्षण और अप्रमार्जन आदान – आदान का अर्थ है ग्रहण करना, तथा उपलक्षण से 'रखना' ऐसा अर्थ जानना। लकड़ी, पट्टा, तख्त अथवा वस्त्र, प्याला, दण्डासन, भोजन की थाली, कटोरी, पानी के लिए मिट्टी या धातु का बर्तन, सुपडी पुस्तक आदि पौषध उपयोगी सारी वस्तुओं को नेत्र से देखे बिना, प्रमार्जन किए बिना अथवा इधर-उधर देखते हुए प्रमार्जन किए बगैर लेने-रखने से यह तीसरा अतिचार लगता है।

3. अप्रत्युपेक्षण अप्रमार्जन हान – इसका अर्थ है सर्वथा त्याग करना-परठना। पौषध में लघु नीति, बड़ी नीति, थूक, कफ, श्लेष्म आदि जिस स्थान पर परठना हो वह स्थान आखों से अच्छी तरह देखभाल कर वस्त्र के अंचल से पुंजनी से प्रमार्जन (पुंज) करके बाद में यतना पूर्वक परिष्ठापन करे अर्थात् विवेक से शरीर के उक्त विकृत पुद्गलों को जहाँ जीव आदि न हों ऐसी जमीन देखकर छोड़ना या परढ़ना चाहिए। यह तीसरा अतिचार पौषध में लगता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परढ़ने के पहले उस जमीन के स्वामी की आज्ञा लेनी चाहिए। किसी को अप्रीति हो, इस तरह आज्ञा बिना परठने से कर्म बन्धन होता है। यदि जमीन का मालिक न हो, जिसका मालिक कोई व्यंतर आदि देव हो ऐसी जमीन की भी "अणु जाणह जस्सुगहो" अर्थात् 'जो मालिक हो वह आज्ञा दो' इस तरह अनुज्ञा मांगकर परठना चाहिए। परठने के बाद भी तीन बार 'वोसिरइ' कहना चाहिए। तीन बार 'वोसिरइ' कहने मतलब यह है कि-मन, वचन और काया से इस पदार्थ के सम्बन्ध का त्याग करता हूँ। यदि इसके अनुसार नहीं बोलता तो परठने के बाद भी उसमें जीव उत्पत्ति हो या अन्य रूप से जो-जो विराधना आदि होता है उस पाप का हिस्सेदार परठने वाला होता है। इसलिए तीन बार 'वोसिरई' अवश्य बोले।

इन तीनों अतिचारों में अप्रत्युपेक्षण और अप्रमार्जन शब्द से दुष्प्रत्युपेक्षण और दुष्प्रमार्जन अर्थात् यह अतिचार देखे बिना, लापरवाही से, शीघ्रता से, उपयोग शून्यता पूर्वक देखने, पूंजने से, जैसे-तैसे प्रमार्जन प्रतिलेखन करने से लगता है। प्रमार्जन और अवेक्षण शब्द से पूर्व निषेधार्थ सूचक 'नञ्' समास का अकार पड़ा है। वह कुत्सा के अर्थ में होने से, जैसे कुत्सित (दुष्ट) को अब्राह्मण कहा जाता है, वैसे ही यहाँ लेना चाहिए। मूल आगम श्री उपासक दशांग सूत्र अध्ययन १ सूत्र ७ वें में यही बात कही है कि:-

"अप्पडिलेहि अ- दुप्पडिलेहिअ सिज्जा संथारे, अप्पमज्जि अ-दुप्प मज्जिअ सिज्जा संथारे, अप्पडिलेहिअ- दुप्पडिलेहिअ उच्चार पासवण भूमी, अप्प मज्जिअ, दुप्पमज्जिअ उच्चार पासवण भूमि त्ति"

अर्थात्- अप्रतिलिखित अर्थात् दुष्प्रतिलिखित शय्या, संथारा, अप्रमार्जित अर्थात् दुष्परिमार्जित शय्या, संथारा, अप्रतिलिखित अर्थात् दुष्परिलिखित स्थंडिल-मल मूत्र परठने की भूमि, अप्रमार्जित अर्थात् दुष्प्रमार्जित स्थंडिल- मल मूत्र डालने की भूमि, यह तीसरा अतिचार है।

४. अनादर – पौषध व्रत लेने में और उसकी क्रिया-अनुष्ठान के प्रति अनादर भाव रखना अर्थात् उत्साह रहित, पोषह विधि आदर बिना और इच्छा रहित बड़ी मुश्किल से अर्थात् नहीं करने के समान किसी तरह से पौषध विधि करना, यह अनादर नाम का अतिचार है।

५. अस्मृति – पौषध व्रत स्वीकार करके उसमें भूल हो जाना, अमुक विधि की या नहीं की ? इसकी स्मृति न रहना, वह अस्मृति नाम का पाँचवाँ अतिचार है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ये अतिचार उसे लगते हैं जिसने सर्वपौषध लिया हो। जिसने देश से (आंशिक) पौषध किया हो उसे ये अतिचार नहीं लगते हैं। इस तरह पौषध व्रत के अतिचार कहे हैं। अब अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार कहते हैं :-

सचित्ते स्थापनं तेन, स्थगनं मत्सरस्तथा ।
काल लङ्घोऽन्याय देश इति पञ्चन्ति मे व्रते ॥५८॥

मूलार्थ- १. साधु को देने योग्य वस्तु पर सचित्त वस्तु रख देना, २. सचित्त से ढक देना, ३. मत्सर रखना ४. दान देने के समय का उल्लंघन करना (समय टाल लेना) और ५. अपनी वस्तु को पराई कहना या पराई वस्तु को अपनी कहना – ये अन्तिम व्रत के पाँच अतिचार हैं।

व्याख्या- अतिथि संविभाग व्रत के पाँच अतिचार कहे हैं, उसमें-

१. सचित्त में स्थापन- साधु-साध्वी को देने योग्य वस्तु पर सचित्त-सजीव पृथ्वी काय, पानी का बर्तन, जलते चूल्हे के अंगारे अथवा अनाज आदि वस्तुएं, उन्हें न देने की बुद्धि से स्थापना करना। ओछी बुद्धि वाला ऐसा समझता है कि सचित्त के साथ में रखी हुई कोई भी वस्तु साधु नहीं लेते, ऐसा जानकर तुच्छ बुद्धि वाला श्रावक देने योग्य वस्तु को सचित्त पर रखे या जमा दे। साधु नहीं ग्रहण कर सके ऐसा विचार करे, यह मुझे लाभ हुआ- यह प्रथम अतिचार समझना।

२. सचित्त से स्थगित- ऊपर कहे अनुसार साधु-साध्वी को देने की इच्छा से देने योग्य वस्तु पर सूरण कन्द, पत्ते, फूल, फल आदि सजीव पदार्थ ढक दे, अथवा जिसमें ऐसी वस्तु हो उस बर्तन आदि से ढक रखे वह दूसरा अतिचार समझना।

३. मत्सर – अर्थात् ईर्ष्या व क्रोध करना। साधु द्वारा किसी कल्पनीय वस्तु की याचना करने पर क्रोध करना, आहार होने पर भी याचना करने पर नहीं दे। किसी सामान्य स्थिति वाले ने साधु को कोई वस्तु भिक्षा में दी, उसे देखकर ईर्ष्यावश यह कहते हुए दे कि 'उसने यह वस्तु दी है तो मैं उससे कम नहीं हूँ। लो यह ले जाओ।' इस तरह दूसरे के प्रति मत्सर (ईर्ष्या) करके देना। यहाँ दूसरे की उन्नति या वैभव की ईर्ष्या करके देने से सहज श्रद्धावश दान न होने के कारण अतिचार लगता है। पूज्य हेमचन्द्र सूरीश्वर जी कृत अनेकार्थ संग्रह कोष में कहा है कि "**मत्सरः परसम्पत्यक्षमायां तद्वति क्रुधिः**" (३/५७६) अर्थात् 'दूसरे की सम्पत्ति वैभव या उन्नति को देखकर सहन न होना, उस पर क्रोध करना वह मत्सर कहलाता है– यह तीसरा अतिचार जानना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. काल उल्लंघन – साधु के भिक्षा के उचित समय का उल्लंघन करना अर्थात् साधु की भिक्षा के समय से पहले भोजन तैयार कर देना अथवा बाद में बहुत देरी से भोजन तैयार करना, या भोजन का समय आगे पीछे हो जाना या वह सोचता है कि जल्दी बुलाऊँगा तो जल्दी बनाने का दोष आदि का अनुमान कर आहार नहीं लेंगे और देरी से बुलाऊँगा तो अन्य स्थान से आहार लाने से जरूरत के अभाव से आहार नहीं लेंगे, इस तरह दोनों प्रकट से आहार नहीं ग्रहण करेंगे और साधु समझेंगे कि 'यह गृहस्थ भिक्षा देने की इच्छा नहीं करते हैं' इत्यादि देने की बुद्धि नहीं होने पर भी देने की तैयारी बताना, वह चौथा अतिचार लगता है ।

५. अन्यापदेश – साधु को आहार नहीं देने की इच्छा से ऐसा बहाना बनाकर टरका देना कि "गुरुवर! यह गुड़ शकर आदि खाद्य पदार्थ तो मेरा नहीं है दूसरों का है" अथवा साधु को सुनाते घर के मनुष्यों को कहे कि 'यह अपना नहीं है पर का है, इसलिए साधु को मत देना ।' इस तरह अन्य को अपदेश– बहाना बनाना। अनेकार्थ संग्रह में श्री हेमचन्द्राचार्य जी ने कहा है कि "**अपदेशस्तु कारणे, व्याजे लक्ष्येऽपि**" ४/३१० अर्थात् 'अपदेश शब्द के तीन अर्थ बताये हैं– १. कारण, २. बहाना और ३. लक्ष्य।' यहाँ बहाने के अर्थ में अपदेश शब्द गृहीत है। इसमें ऐसा आशय रखे कि साधु ऐसा समझेगा कि यह तो दूसरे का होने से निषेध करता है अपना होता तो क्यों नहीं देता?' वह अवश्य देता । इस तरह साधु को विश्वास कराने के लिए झूठ बोले अथवा दूसरी तरह से देने के पहले साधु सुने इस तरह बोले कि– 'इस दान से मेरी माता आदि को पुन्य हो ।' ऐसा बोलने से भी साधु अकल्पनीय मानकर उस वस्तु को नहीं लेते। यह पाँचवां अतिचार कहा है। अन्य स्थान पर भिक्षा– आहार देने के आशय से दूसरे की वस्तु को भी अपनी कहकर देना– उसे भी अतिचार कहा है।

इस तरह इस अतिचार का स्वरूप श्री उपासक दशांग सूत्र की टीका के आधार पर कहा है। वहाँ कहा है कि समझपूर्वक इस तरह करे तो भी अतिचार ही समझना। वहाँ कहा है कि '**एते अतिचारा एव न भङ्गा, दानार्थमभ्युत्थानाद्दान परिणतेश्च दूषित त्वात्।**' (अध्य. १ सूत्र ६ टीका) अर्थात् "दान के लिए तैयारी करना– प्रयत्न होने से अंश से व्रत का पालन है और भावना दूषित है, इसलिए अंश से भंग होने से अतिचार लगता है, परन्तु व्रत भंग नहीं है।" व्रत भंग का स्वरूप तो उपासक दशांग में इस तरह कहा है:-

दाणंतराय दोसा, नदेइ दिज्जं तयं च वारेइ ।
दिण्णे वा परितप्पइ, इइ किविणता भवे भंगो ।।१।।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - ''दाणांतराय नामक अंतराय कर्म के दोष से स्वयं दान नहीं देता, और दूसरा दान देता हो तो रोकता है अथवा कोई देता है तो खेद करता है, कृपणता के कारण ऐसा करता है तो व्रत का भंग होता है ।''

धर्म विन्दु की टीका, योगशास्त्र की टीका आदि ग्रन्थों में अनजाने आदि के कारणों से जब भूल हो जाती है अथवा अतिक्रमादि से इस प्रकार से भूल करता है तभी उसे अतिचार कहा है, और समझ पूर्वक दंभ कपट करने से उस व्रत का भंग होता है- ऐसा शास्त्रकारों ने कहा है । निश्चय से केवली गम्य समझना ।

इस प्रकार, सम्यकत्व, अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत तथा उनके प्रत्येक अतिचार समझ लेना चाहिए । विशेष में यहाँ व्रत और अतिचारों को उपलक्षण व्रतादि वह अधिकार में जानने योग्य है । उसके अंगभूत सम्यकत्वादि गुणों की प्राप्ति के उपाय, उसका रक्षण, ग्रहण, प्रयत्न तथा उसके विषय भी यथा स्थान से जानना - इस तरह स्वयमेव समझना । इस सबका वर्णन नाम पूर्वक पंचाशक १-३४ में इस तरह कहा है-

सुत्ता दुपाय रक्खण, गहण पयत्त विसया मुणेयव्वा ।
कुंभार चक्क भामग-दंडा हरणेण धीरेहिं ॥३४॥

अर्थात् - इसका अर्थ टीका में इस प्रकार है - 'सूत्र से' उपाय आदि जानना चाहिए । उसमें १. उपाय-सम्यकत्व, अणुव्रत आदि गुण अभ्युत्थानादि विनय करने से प्रगट होता है । कहा है कि - गुरु पधारे तब खड़े होना वह अभ्युत्थान आदि करना, उनका विनय करना, उसमें पराक्रम प्रगट करना और साधुओं की सेवा करना, इससे सम्यग् दर्शन, देश विरति और सर्व विरति आदि गुणों की प्राप्ति होती है । इसलिए वह अभ्युत्थान आदि सम्यकत्वादि गुणों को प्रगट करने का उपाय है । उसके उपरान्त जाति स्मरण आदि अपने ज्ञान से, श्री तीर्थंकर देव के वचन से या अन्य गुरुजन के वचन सुनने से भी समकित आदि प्रगट होता है, इसलिए वह उपाय समझाने के लिये आचारांग सूत्र श्रु० १ अ० १ उ० १-४ में कहा है कि:-

''**सहसंमुइआए परवागरणेणं अन्ने सिं वा सोच्चा**'' अर्थात् 'जाति स्मरण अथवा अवधि आदि अपने ज्ञान के बल से, श्री तीर्थंकर या सर्वज्ञ के वचन से अथवा अन्य किसी भी अतिशायी ज्ञान वाले ज्ञानियों के मुख से सुनकर वह सम्यकत्व देश विरति आदि गुण प्रगट होते हैं अथवा पहला अनंतानुबंधी तथा दूसरा अप्रत्याख्यानीय नामक कषायों का क्षयोपशम होने से भी सम्यकत्व प्रगट होता है इत्यादि समकित आदि पाने का उपाय जानना ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

२. रक्षण – प्रगट हुए समकित आदि गुणों का पालन करने के उपायों रूप आयतन सेवन करने आदि से उन गुणों की रक्षा होती है । यहाँ आयतन का अर्थ है जिस स्थान पर बहुत धार्मिक मनुष्य मिलते हों, धर्म कथा करते हों और धर्माचरण करते हों उस स्थान को आयतन कहते हैं। ऐसे स्थान में रहने से अपने गुणों का रक्षण होता है । कहा है कि "आयतन का सेवन करना, कारण बिना अन्य के घर में नहीं जाना, क्रीड़ा कुतूहल आदि का त्याग करना एवं विकारी वचन नहीं बोलना, जिससे प्राप्त हुए समकित या व्रत आदि का रक्षण होता है ।" श्री धर्मरत्न प्रकरण में शीलवंत के छह लक्षण बतलाए हैं, जो उस व्रत रक्षा के लिए बहुत उपयोगी हैं। वहाँ आयतन का सेवन करना, बिना कारण अकेला जहाँ पुरुष न हो उस घर में नहीं जाना, उद्‌भट वेश नहीं धारण करना, देशाचार और कुलाचार को शोभा दे ऐसा वेश पहनना, जिससे मोह जागृत हो ऐसे विकारी वचन नहीं बोलना, बाल चेष्टा का त्याग करना, और अन्य के पास में प्रयोजन पड़ने पर मधुर वाणी से काम लेना, समझा बुझाकर काम करवाना, परन्तु बलात्कार से – उसकी इच्छा बिना सत्ता या अधिकार के बल से काम नहीं करवाना । इन छह गुणों का पालन नहीं करने से क्या नुकसान होता है, वह भी बतलाया है । यहाँ उपाय एवं रक्षण दो अलग-अलग कहे हैं, जब कि अन्य आचार्यों ने उसे 'उपाय पूर्वक रक्षण करना चाहिए'। ऐसा अर्थ करके दोनों को मिलाकर एक ही गिना है ।

३. ग्रहण – सम्यकत्व, देश विरति आदि व्रत गुरु महाराज के पास अंगीकार करने वालों को उसके द्विविध, त्रिविध आदि भेदों को विवेक पूर्वक समझकर, स्वयं से जितने विभाग में रक्षण पालन हो सके उतने उस भाग में ग्रहण करने चाहिएं, कि जिससे पीछे से अतिचार का या व्रत भंग का प्रसंग न आये । आनंद जी कामदेव जी आदि ने जो व्रत लिया था उसमें यह विशिष्टता थी कि मरणान्त उपसर्ग आने आने पर भी उसका परिपूर्ण रूप में पालन किया और उससे ही प्रभु श्री महावीर परमात्मा ने मुख से भी उनकी उत्तम श्रावकों के रूप में प्रशंसा की थी । अत: पहले सम्यकत्व तथा व्रतों के अधिकार में बता दिया है– उसके अनुसार द्विविध-त्रिविध आदि विकल्पों में यथा शक्ति भेद से सम्यकत्व, व्रत आदि को ग्रहण करना चाहिए। कहा है कि – मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण द्विविध-त्रिविध से जानना आदि तथा व्रत के १. द्विविध-त्रिविध, २. द्विविध-द्विविध, ३. द्विविध-एक विध, ४. एक विध-त्रिविध, ५. एक विध द्विविध और ६. एकविध-एकविध इत्यादि भेद बतलाये हैं । उसके अनुसार समझकर शक्य भाव से व्रत लेना चाहिए ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४. प्रयत्न- ग्रहण किए हुए सम्यकत्व, व्रत आदि को बारम्बार याद करने का उद्यम करना- उसे प्रयत्न कहते हैं। इसका स्वरूप समकित के अधिकार में कहा गया है और जो त्याग योग्य होने पर भी त्याग करना न हो उसका भी शक्ति लगाकर त्याग करने का उद्यम रूप प्रयत्न करना चाहिए जैसे- आज से मुझे अन्य दर्शनी देव, गुरु आदि को वंदन नहीं करना इत्यादि समकित के विषय में तथा मोटे कपड़े से पानी छानकर पानी उपयोग में लेना, जलाने के लिए लकड़ी, दलने या पकाने का अनाज, दाल आदि भी खरीदने के पहले जिसमें जीव न हो- सड़ी न हो इस तरह खरीदना, इसी तरह शुद्ध वस्तु लाना फिर भी उपयोग के समय में भी त्रस आदि जीवों की हिंसा न हो- इस प्रकार देखकर विधि पूर्वक उपयोग करना इत्यादि पहले व्रत के विषय में जो जयणा कही है उसका पालन करना। अन्य व्रतों के लिये भी इसी के अनुसार वर्तन करना- उसे प्रयत्न समझना।

५. विषय- जिस विषय का त्याग अथवा स्वीकार हो, उसे समझ करके त्याग या स्वीकार करना चाहिए। जैसे- जीव, अजीव आदि नवतत्त्वों को तत्त्वरूप में मानना वह सम्यकत्व का विषय है तथा जीवों की स्थूल अथवा संकल्पित हिंसा त्याग आदि प्रथम प्राणातिपात विरमण व्रत का विषय है। इस तरह प्रत्येक व्रत में जिस विषय का उद्देश्य कहा हो उसे उस व्रत का विषय समझ लेना चाहिए।

इन उपाय, रक्षण, ग्रहण, प्रयत्न और विषय को व्रताधिकार में अथवा अतिचार के अधिकार में स्पष्ट रूप में नहीं कहा, फिर भी बुद्धिमानों को स्वयं समझ लेना चाहिए। जैसे कुम्भकार का चाक (चक्र) दण्ड से एक दिशा से ही घुमाते सर्व दिशाओं में घूमता है, वैसे ही यहाँ भी सम्यकत्व या व्रतों के विषय में विविध बातें कहने योग्य होने पर भी यहाँ संक्षेप में बतलाने का उद्देश्य होने से केवल सम्यकत्व, व्रत और उसके अतिचार रूप एक प्रदेश (अमुक बात) ही बतायी है, उसके साथ में पूर्व कहे अनुसार उपाय आदि अंशों को भी कहा है। इस तरह उपलक्षण से समझ लेना और अन्य आगमों में से जान लेना। ऊपर कहे अनुसार उन व्रतों के अतिचार का त्याग करना, वह गृहस्थ का विशेष धर्म है। इस तरह कहने के लिए मूल गाथा ही ग्रन्थकार कहते हैं कि:-

एतैर्बिना व्रताचारो, गृहि धर्मो विशेषतः ।
सप्त क्षेत्र्यां तथा वित्त वापो दीनानुकम्पनम् ॥५६॥

मूलार्थ - इस तरह बारह व्रतों में स्थिर होकर अतिचारों बिना व्रतों का पालन करना गृहस्थ का विशेष धर्म है, और सात क्षेत्रों में तथा अति दीन जनों पर दया पूर्वक अपने धन रूपी बीज बोने वाला गृहस्थ श्रावक कहलाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्याख्या- इस प्रकार पहले कहे अनुसार अतिचार न लगे अर्थात् अतिचार को रोककर सम्यकत्व तथा अणुव्रत आदि व्रतों को निरतिचार पूर्वक पालन करना गृहस्थ का विशेष धर्म कहा है। यहाँ सम्यकत्व अधिकार से लेकर विशेष धर्म का अधिकार चल रहा है। उसके अतिरिक्त भी दिन कृत्य आदि गृहस्थ का विशेष धर्म कहा जायेगा अर्थात् जैसे यहाँ तक जो धर्म की व्याख्या कही गई है वैसे ही और भी कहा जायेगा, उसे भी विशेष धर्म समझना चाहिए। उसमें श्रावक को सात क्षेत्रों में धनरूपी बीज बोना चाहिए तथा दीन दु:खी पर अनुकम्पा करनी चाहिए। यह भी गृहस्थ का विशेष धर्म है। १. श्री जिन प्रतिमा, २. जिन मंदिर, ३. जिन आगम, ४. साधु, ५. साध्वी, ६. श्रावक और ७. श्राविका- ये सात क्षेत्र कहे हैं। यहाँ श्रावक धर्म का अधिकार होने से श्रावक उन क्षेत्रों में न्याय से उपार्जन किया हुआ धन लगाए। श्लोक में 'क्षेत्र' और 'बोना' ये शब्द कहे हैं। इसका मतलब यह है कि क्षेत्र (खेत) में बीज बोने का सूचित किया है और वह बोना भी उत्तम क्षेत्र में ही उचित है। अयोग्य क्षेत्र में बीज नहीं बोना चाहिए। इसलिए सात क्षेत्रों (खेतों) में कहा है। जैन दर्शन में सात क्षेत्र को रूढ़ि शब्द समझना। श्रावक ने अपने द्रव्य को योग्यतम पात्र रूपी सात क्षेत्रों में भक्तिपूर्वक यथा योग्य जहाँ विशेष आवश्यक हो वहाँ खर्च (बोना) करना चाहिए। वह इस प्रकार है:-

१. श्री जिन प्रतिमा - विशिष्ट लक्षणों से युक्त, देखते ही आह्लाद उत्पन्न हो- इस तरह जिन मूर्ति वज्ररत्न, इन्द्रनील रत्न, अंजन रत्न, चन्द्रकान्त मणि, सूर्य कान्त मणि, रिष्ट रत्न, कर्केत रत्न, प्रवाल मणि, स्वर्ण, चांदी, चन्दन, उत्तम पाषाण, उत्तम मिट्टी आदि सार द्रव्यों से बनानी चाहिए। इसलिए कहा है- "जो उत्तम मिट्टी, स्वच्छ पाषाण, चान्दी, लकड़ी, सुवर्ण, रत्न, मणि, चन्दन इत्यादि से अपनी संपत्ति के अनुसार श्री जिनेश्वर भगवान की मनोहर मूर्ति बनवाता है, वह मनुष्यत्व में और देवत्व में महान सुख को प्राप्त करता है तथा आह्लादकारी सर्व लक्षणों से युक्त और समस्त अलंकारों से विभूषित श्री जिन प्रतिमा के दर्शन करते जैसे-जैसे मन में अधिक आनन्द होता है वैसे-वैसे अधिक कर्म निर्जरा होती है।" ऐसा समझना। इस तरह शास्त्रोक्त विधि से बनाई हुई जिन प्रतिमा की विधिपूर्वक प्रतिष्ठा करवाना और अष्टप्रकारी पूजा करना। संघ यात्रा का महोत्सव करके विशिष्ट प्रकार के आभूषण से विभूषित करे, विविध वस्त्र अर्पण करे। इस तरह जिन प्रतिमा में धन रूपी बीज बोये अर्थात् धन खर्च करे। अत: कहा है-अति सौरभ पूर्ण सुगन्धित मय १. चूर्ण, २. पुष्प, ३. अक्षत, ४. धूप, ५. ताजे घी के दीपक आदि ६. विभिन्न प्रकार का नैवेद्य, ७. स्वत: पके हुए पवित्र फल और ८. जल पूर्ण कलशादि पात्र श्री जिनेश्वर परमात्मा के आगे चढ़ाकर अष्टप्रकारी पूजा करने वाला गृहस्थ श्रावक भी कुछ ही समय में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मोक्ष का सा अखण्ड महासुख प्राप्त करता है।

यहाँ प्रश्न करते हैं कि- जिन प्रतिमा राग द्वेष रहित होती है, उसकी पूजा करने से जिन भगवान को कुछ भी लाभ नहीं है। कोई उनकी कितनी भी अच्छी तरह से पूजा सत्कार करे फिर भी वे न तो खुश होते हैं, न ही तृप्त होते हैं । अतृप्त या अतुष्ट देवता से कुछ भी फल नहीं मिल सकता। इसका उत्तर युक्ति पूर्वक देते हैं- यह बात यथार्थ नहीं है। अतृप्त या अतुप्ट जड़ चिंतामणि रत्न आदि से भी फल मिलता है, वैसे ही जिनेश्वर भगवान की मूर्तियाँ भी फल देती हैं । श्री वीतराग-स्तोत्र उन्नीसवें प्रकाश में कहा है कि-

अप्रसन्नात् कथं प्राप्यं, फलमेतदसंगतम् ।
चिन्तामण्यादयः किं न, फलन्त्यपि विचेतना ।।३।।

अर्थात्- ''जो प्रसन्न नहीं होता, उससे फल कैसे प्राप्त हो सकता है? यह कहना असंगत है। क्या जड़ चिन्तामणि रत्न आदि फल नहीं देता? अर्थात् देता है वैसे ही जिन मूर्ति भी फल देती है।'' तथा पूजापंचाशक में कहा है कि-

उवगाराऽभावम्मि वि, पुज्जाणं पूयगस्स उवगारो।
मंताइ सरण जलणादि सेवणे जह तहेहपि ।।४४।।

अर्थात्- ''पूज्यों का कोई उपकार न होने पर भी पूजक के लिए वे उपकारी हैं । जैसे मन्त्र आदि का स्मरण करने से उसका तद्रूप (इष्ट सिद्धि) और अग्नि आदि का सेवन करने से गर्मी आदि का फल प्राप्त होता है। इसी तरह जिन प्रतिमा की सेवा पूजा करने से भी लाभ का कारण समझना चाहिए।'' यहाँ हमने स्व निर्मित मूर्ति की विधि बताई है। उसी तरह दूसरे के द्वारा निर्मित बिम्बों की पूजा आदि करना चाहिए तथा किसी ने नहीं बनवाई हो ऐसी शाश्वत प्रतिमा का भी पूजन वन्दनादि यथा विधि यथा योग्य करना चाहिए ।

जिनेश्वर भगवान की प्रतिमा तीन प्रकार की होती है (१) स्वयं भक्ति से बनाई हुई जिन प्रतिमा, दूसरों की भक्ति के लिए स्वयं द्वारा मंदिर में स्थापित की हुई। जैसे कि- आजकल कई श्रद्धालु भक्त बनवाते हैं। (२) मंगलमय चैत्य या गृहद्वार पर मंगल के लिए बिम्ब या चित्र स्थापित किया जाता है। श्रावक आजकल घर के द्वार पर कलश करवाते हैं जो कि अष्ट मंगल में मंगल रूप है। फिर भी जिन मूर्ति करवाना श्रेष्ठ है। 'यह श्रावक का घर है।' इस तरह श्रावक के घर की यह निशानी है। द्वार पर जैनों को जिन मूर्ति बनाना- यह शास्त्र युक्त है। पूर्व जन्म में द्वार प्रवेश करते अनायास प्रतिदिन मूर्ति के दर्शन होने से आद्र कुमार को अनार्य देश में जन्म

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लेने पर भी जिन दर्शन की प्राप्ति हुई थी। इस तरह बारम्बार दर्शन के संस्कार पड़ने से बहुत लाभ होता है। (३) शाश्वत चैत्य होते हैं। उसे कोई बनवाता नहीं है, परन्तु शाश्वत रूप में उर्ध्व लोक, अधोलोक और तिर्यक् लोक में शाश्वत प्रतिमा कई जगह विद्यमान होती है। तीन लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं है कि जो जिन प्रतिमा से पवित्र न बना हो। इन प्रतिमाओं में भी वीतराग देव के स्वरूप का आरोपण (प्राण प्रतिष्ठा-अंजन शलाका) करके ही उसकी पूजा विधि आदि करना उचित है। इसके अनुसार श्री जिन मूर्ति रूपी क्षेत्र में धन को बोना (खर्च) करना चाहिए।

२. जिन मंदिर- दूसरा क्षेत्र जिन भवन (मंदिर) है, वहाँ अपना धन (बोना) लगाना चाहिए। जमीन में नीचे हड्डी, कोयले आदि अमंगल शल्यों से रहित भूमि स्वाभाविक रूप से प्राप्त, पत्थर, लकड़ी आदि पदार्थ ग्रहण करके शास्त्र विधि के अनुसार बढ़ई, मिस्त्री, शिल्पकार आदि को अधिक वेतन देकर प्रसन्नतापूर्वक षट् जीव निकाय के जीवों की यतनापूर्वक रक्षा करते हुए जिन मंदिर बनवाना चाहिए किन्तु उपर्युक्त व्यक्तियों से जबरन, मुफ्त में धोखा देकर हर्गिज यह काम नहीं करना चाहिए। अपने पास धन, सम्पत्ति अच्छी हो तो भरत महाराज आदि की तरह रत्न शिला जटित, सुवर्ण तल मय, मणियों के स्तंभों और सोपान से सुशोभित, रत्नमय तोरणों से सुशोभित, विशाल मण्डप में पुतलिका युक्त, स्तंभ इत्यादि उत्तम शिल्पकला से सुशोभित मन्दिर बनवाए जिसमें कपूर, कस्तूरी, अगर आदि प्रज्वलिंत सुगन्धित धूप से उत्पन्न हुआ धुँआ आकाश को छलकता हुआ छूता हो, उसके कारण बादल की शंका से आनंदपूर्वक नृत्य करते हुए मोर आदि के मधुर शब्द सुने जाते हों, और जहाँ चारों तरफ मांगलिक वाद्यों की नाद से गगन मण्डल गूँज उठता हो, देव इष्य आदि विविध वस्त्रों का चंदोवा बंधा हो और उसमें मोती लगे हों तथा मोतियों के लटकते गुच्छों से शोभामय हो रहे हों। जहाँ देव समूह ऊपर से नीचे आ रहे हों और दर्शन करके वापिस जा रहे हों, वे गीत गाते, नृत्य करते, उछलते, सिंहनाद करते हों, ऐसा प्रभाव देखकर देवों द्वारा की हुई अनुमोदना से हर्षित जन समुदाय जहाँ उमड़ रहा हो, विविध दृश्य- विविध चित्रों को देखकर जहाँ अनेक लोग आश्चर्यचकित होकर चित्र लिखित से बन जाते हों। चामर, छत्र, ध्वजा आदि अलंकारों से जो अलंकृत हों और जिस के शिखर पर महाध्वजा फहरा रही हो, अनेक घुंघरुओं वाली छोटी-छोटी पताकाएँ फहराने से उत्पन्न शब्दों से दिशाएँ शब्दायमान हो रही हों।

ऐसे कौतुक से आकर्षित देव, असुर और अप्सराओं का झुण्ड प्रतिस्पर्धा पूर्वक जहाँ संगीत गाता हो, गायकों के मधुर गीतों की ध्वनि ने जहाँ देव-गाँधर्वों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के तुम्बरू की आवाज को भी मात कर दी हो और वहाँ कुलांगनाएं निरन्तर एकत्रित होकर ताल और लय पूर्वक रास लीला आदि नृत्य करती हुई, भिन्न-भिन्न प्रकार का अभिनय व हाव-भाव करती हो, जिन्हें देखकर भव्य लोक चमत्कृत होते हों। अभिनय युक्त नाटकों को देखने की इच्छा से आकर्षित करोड़ों रसिक जन जहाँ एकत्रित होते हों। ऐसा जिन मंदिर उच्च पर्वत के शिखर पर अथवा श्री जिनेश्वरों का जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान और निर्वाण हुआ हो, ऐसी कल्याणक भूमि में बनवाना चाहिए अथवा श्री संप्रति राजा ने जैसे नगर-नगर, गाँव-गाँव और स्थान पर मंदिर बनवाया था वैसे ही महान श्रीमंत श्रावक का कर्तव्य है, परन्तु जिसके पास इतना वैभव नहीं हो उसे आखिरकार तृण कुटीर के समान भी जिन मंदिर बनवाना चाहिए। कहने का मतलब यह है कि अपनी संपत्ति अनुसार कम से कम खर्च वाला श्री जिन मंदिर भी बना सकता है, उसका लाभ लेना चाहिए। यदि सामान्य धनिक हो तो नया मंदिर अथवा जीर्णोद्धार में लाभ लेना चाहिए। कहा है कि :-

यस्तृणमयीमपि कुटीं, कुर्याद्दद्यात्तथैक पुष्पमपि ।
भक्त्या परम गुरुभ्यः पुण्योन्मानं कृतस्तस्य १ ॥१॥
किं पुन रूप चित दृढ धन, शिला समुद् घात घटित जिन भवनम्।
ये कारयन्ति शुभमति-विधायिनस्ते महाधन्या ॥२॥

अर्थात्- ''जो जिनेश्वर भगवान का केवल घास की कुटिया समान भी जिन मन्दिर बनवाता है तथा भक्ति पूर्वक केवल एक फूल भी चढ़ाता है, उसको इतना पुण्य प्राप्त होता है जिसका कोई नाप तोल नहीं किया जा सकता है। ॥१॥ तब फिर जो व्यक्ति मजबूत पाषाण शिलाओं से रंजित बड़ा मंदिर तैयार कराता है, वह शुभ भावना शील पुरुष वास्तव में महाभाग्यशाली है॥२॥''

राजा आदि कोई महासम्पन्न व्यक्ति जिन मंदिर बनवाये तो उसके साथ उसके निर्वाह और भक्ति के लिए बहुत सा भण्डार, धन, गांव, शहर या गोकुल आदि का दान देना चाहिए। इस तरह जिन मंदिर रूपी क्षेत्र में अपना धन रूपी बीज बोना चाहिए और कोई मंदिर जीर्ण-शीर्ण हो गया हो तो उसका जीर्णोद्धार भी कराना चाहिए अथवा नष्ट या भ्रष्ट भी हो गया हो तो उसका सम उद्धार करना चाहिए।

यहाँ शंका करते हैं कि निरवधध- पापरहित जिन धर्म के सम्यक् आराधक चतुर श्रावक के लिए जिन मंदिर या जिन प्रतिमा बनवाना या जिन पूजा आदि कारना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा करने में षड् जीव निकाय के जीवों की विराधना होती है। जमीन खोदना, पत्थर फोड़ना, ईटें बनाना, खड्डे भरना, ईंटें आदि इकट्ठी करना, जल से उन्हें गीली करना, इत्यादि सब कार्यों में पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वायुकाय, वनस्पति काय एवं त्रस काय आदि जीवों की विराधना होती है। अत: जीव हिंसा किये बिना जिन मंदिर बन नहीं सकता। इसका उत्तर देते हैं-तुम्हारा प्रश्न अयोग्य है क्योंकि-पूजा पंचाशक प्रकरण चौथे में कहा है कि-

देहाइ निमितं पहु छक्काय वहंमि जे पयट्टंति ।
जिणपूआ काय वहंमि तेसिम पवत्तणं मोहो ॥४५॥

अर्थात्- ''जो नश्वर शरीर आदि के कारण से छह काय जीवों की हिंसा में प्रवृत्ति करता है, उसे छह काय जीवों का वध होता है। इस बुद्धि से कल्याण कारक श्री जिन पूजादि विषय में प्रवृत्ति नहीं करता, वह मोह-अज्ञान है।'' इस तरह शास्त्र का वचन होने से आरंभ-परिग्रह वाला गृहस्थ तो कुटुम्ब परिपालन आदि के लिए धनोर्पाजन करता है उसका धनोपार्जन करना निष्फल न हो, इसलिए जिन मंदिर आदि बनवाने में धन का सदुपयोग करना कल्याण के लिए होता है। हाँ! यदि श्रावक प्रतिमा धारक आदि नियम का पालन करने वाला और इसके संयोग से अपने कुटुम्ब आदि के विषय में भी आरंभ नहीं करता हो और वह श्री जिन मूर्ति आदि भी नहीं बनवाता हो तो योग्य है। क्योंकि अन्य कार्यों में आरंभ करने वाले को धर्म के लिए भी आरंभ करने का अधिकार है, इतना ही नहीं, आरंभादि करके धर्म के लिए भी धन उपार्जन करना योग्य नहीं है। इस दृष्टि से पूज्य हरिभद्रीय अष्टक ४/६ में कही है कि -

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्या नीहा गरीयसी ।
प्रक्षालनादि पङ्कस्य, दूराद् स्पर्शनं वरम् ॥१॥

अर्थात्- ''धर्म के लिए धन कमाने की इच्छा करने से बेहतर यही है कि- इसकी इच्छा नहीं करे। क्योंकि कीचड़ में पैर बिगाड़ कर फिर उसे धोने की अपेक्षा पहले से कीचड़ का स्पर्श नहीं करना ही उत्तम है।'' और जो ''शरीर आदि के लिए पाप करने वाले ने वह एक पाप किया और दूसरा पाप धर्म के लिए करे वह योग्य नहीं है'' ऐसा मानकर जिन मंदिर बनवाना आदि कार्यों को नहीं करता उसे महान दोष लगते ही हैं। पूज्य श्री हरिभद्र सूरी जी ने पंचाशक ४-१२ में कहा है कि -

अण्णत्थारं भवओ, धम्मेऽणारंभओ अणाभोगो।
लोए पवयण खिंसा, अबोहि बीअंति दोसा य ॥१॥

अर्थात्- ''अन्य संसारी कार्यों में आरंभ करने वाले को धर्म में आरम्भ नहीं करना चाहिए। आरंभ मानकर धर्म कार्य नहीं करना अज्ञान है, इतना ही नहीं परन्तु इससे लोगों में धर्म-शासन की निन्दा होती है और इससे मिथ्यात्व के बीज बोये जाते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हैं, बोधि दुर्लभ होता है। इस तरह बहुत दोष होते हैं।'' अतः घर में स्वकुटुम्ब के लिए रसोई बनाने वाले को भोजन करने वाले सगे सम्बन्धियों के लिए आरंभ करना यह गृहस्थावास में उचित-आवश्यक है तो फिर उसे आत्म कल्याण का परम साधनभूत जिन मंदिर आदि के लिए आरम्भ करना चाहिए- वह अति आवश्यक है।

दूसरी बात यह है कि जिन मंदिर आदि बनवाना, बावड़ी, कुएँ, तालाब आदि खुदवाने के समय अशुभ कर्म बन्धन का कारण नहीं है, बल्कि वहाँ चतुर्विध श्री संघ का बारम्बार आगमन होता है, धर्मोपदेश श्रवण, व्रत परिपालन आदि धर्म कार्य होने से वह आत्म कल्याण का साधन बनता है और इससे शुभ कर्म-पुण्य या निर्जरा रूप है। इस स्थान पर छह जीव निकाय की विराधना होने पर भी यतना रखने वाले दयालु श्रावक के दया का परिणाम होने से सूक्ष्म जीवों का रक्षण होने से उसे विराधना सम्बन्धी पाप बन्धन नहीं होता। पिण्ड नियर्युक्ति में कहा है कि-

जा जय माणस्स भवे, विराहण सुत्त विहि समग्गस्स ।
सा होइ निज्जर फला, अज्झप्प विसोहि जुत्तस्स ॥६७१॥

अर्थात्- शुद्ध अध्यवसाय वाले और सूत्र में कही हुई विधि अनुसार धर्म मार्ग को आचरण करने वाले यतना वान् श्रावक द्वारा यदि जीव विराधना हो जाय तो भी वह कार्य निर्जरा रूप फल देने वाला होता है। ओघ निर्युक्ति में कहा है कि:-

परमरहस्समि सोणं, समत्त गणि पिडग झरिअसाराणं ।
परिणामिअं पमाणं, निच्छयमवलंब माणाणं ॥७६१॥

अर्थात्- ''समस्त गणि पिटक याने द्वादशांगी का सार जिन्होंने प्राप्त कर लिया है, उन निश्चय नयावलम्बी परमर्षियों का रहस्यमय कथन है कि- 'आत्मा के जैसे परिणाम होते हैं तदनुसार ही शुभाशुभ फल मिलता है, यही प्रमाणभूत माना जाता है।' बाह्य क्रिया के अनुसार नहीं माना जाता। इसका अर्थ यह हुआ कि जिन मंदिर-निर्माण आदि कार्यों के पीछे निश्चय नय की दृष्टि से हिंसा के परिणाम नहीं है, अपितु भक्ति के परिणाम हैं।'' श्रावक-प्रतिमा अंगीकार करने वाला महाश्रावक जो अपने कुटुम्ब के लिए भी आरम्भ नहीं करता, वह भी यदि जिन मंदिर आदि बनाता है तो उसको छह जीव निकाय की विराधना से पापकर्म का बंध नहीं होता है और जो यह कहा जाता है कि जैसे शरीर आदि के कारणों से छह जीव निकाय का वध होता है, वैसे ही जिन मन्दिर निर्माण या जिन पूजा में भी छह जीव निकाय का वध होता है, ऐसा कथन अज्ञता का सूचक है। इसका अधिक विस्तार वर्णन करने से क्या लाभ? इस तरह श्री जिन मंदिर में धन उपयोग करने की विधि समझायी, अब श्री जिनागम

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रूप क्षेत्र के लिए कहते हैं:-

३. जिन-आगम- तीसरा क्षेत्र जिन आगम है, इस क्षेत्र में भी श्रावक को धन लगाना चाहिए। क्योंकि यह मिथ्या शास्त्र से उत्पन्न गलत संस्कार रूपी विष का नाश करने के लिए मंत्र समान है तथा धर्म, अधर्म, करणीय, अकरणीय, भक्ष्य, अभक्ष्य, प्रेय, अप्रेय, गम्य, अगम्य, तत्त्व, अतत्त्व आदि बातों में हेय-उपादेय अर्थात् योग्य सार असार आदि जगत् के सर्व भावों में विवेक करने वाला है। गाढ़ अज्ञान अन्धकार में दीपक के समान है, संसार समुद्र में डूबते हुए के लिए द्वीप समान है और मरुभूमि में कल्पवृक्ष के समान जिनागम इस संसार में प्राप्त होना अति दुर्लभ है। श्री जिनेश्वर के स्वरूप, उनके सिद्धान्तों और उपदेशों का ज्ञान कराने वाला आगम ही है। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य श्रीमद् हेमचन्द्र सूरीश्वर जी ने अयोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिकायाम् या श्लोक २१ में स्तुति करते हुए कहा है कि :-

यदीय सम्यकत्व बलात्प्रतीमो, भवादृशानां परमाप्त भावम् ।
कुवासना पाश विनाशनाय, नमोऽस्तु तस्मै जिन शासनाय ॥२१॥

अर्थात्- "हे जिन देव! जिस शासन की श्रद्धा के बल से आप जैसे वीतराग पुरुषों के परम आप्त भाव (परमात्म भाव) को मैं समझ सकता हूँ और जो कुवासना रूप दोषों का नाश करना आप का शासन है। अत: आपके इस शासन को मेरा नमस्कार हो।" वस्तुत: जिनागम के प्रति प्रगाढ़ सम्मान रखने वाले व्यक्ति को देवगुरु और धर्म आदि पर बहुमान होता है। इतना ही नहीं, बल्कि किसी समय केवल ज्ञान से भी बढ़कर जिनागम- प्रमाण रूप ज्ञान हो जाता है। उसके लिए पिण्ड निर्युक्ति गाथा ५२४ में कहा है कि-

ओहे सुओवउत्तो, सुअनाणी जइ हु गिण्हइ असुद्धं ।
तं केवलोवि भुंजइ, अपमाण सुअं भवे इहरा ॥५२४॥

अर्थात्- "सामान्य श्रुतोपयोग के अनुसार श्रुतज्ञानी कदाचित् दोषयुक्त अशुद्ध आहार को भी निर्दोष-शुद्ध मानकर ले आए तो उसे केवल ज्ञानी भी आहार रूप में ग्रहण कर लेते हैं, नहीं तो श्रुतज्ञान अप्रमाण हो जाता है।" श्री जिनागम का एक वचन भी भव्य जीवों का भव (संसार) नाश करने में समर्थ है। अत: तत्वार्थ सम्बन्ध कारिका २७ में कहा है कि :-

एकमपि च जिन वचनाद्यस्यान्निर्वाहकं पदं भवति।
श्रूयन्ते चानन्ता: सामायिक मात्र पद सिद्धा ॥ २७॥

अर्थात् - "जिनागम का केवल एक पद भी मोक्ष पद देने में समर्थ है, अर्थात्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जीव को पार उतार देता है। सुना जाता है कि केवल एक सामायिक पद मात्र से अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं ।''

जैसे रोगी को पथ्य आहार रुचिकर नहीं होता, वैसे ही मिथ्या दृष्टि को जिन वचन रुचिकर नहीं होता। फिर भी स्वर्ग या अपवर्ग का मार्ग बताने में जिन वचन के सिवाय और कोई समर्थ नहीं है। इसलिए सम्यदृष्टि जीव उत्तम बुद्धि वाले आत्मा को आगम पर आदर करना उचित है क्योंकि जिसका निकट भविष्य में कल्याण होने वाला हो वही भव्य जीव जिन वचन को भाव पूर्वक स्वीकार करता है। दूसरे को तो यह वचन कान में शूल भोंकने के समान दु:खदायी लगता है। इसलिए विपरीत और अश्रद्धामयी दृष्टि वाले के लिये वह अमृत आस्वादन भी विषरूप बन जाता है। यदि इस जगत् में जिनवचन नहीं होते तो धर्म-अधर्म की व्यवस्था आदि के बिना सारा जगत्, संसार रूपी अन्धकूप में गिर जाता और गिरने के बाद उसका वहाँ से उद्धार कैसे होता?

एक कहावत है कि'' **हरीतकी भक्षये द्विरेक काम:** '' अर्थात् 'जो मलाशय साफ करना चाहता है, उसे हरड़ खाना चाहिए ।' वैद्य के इस वचन पर विश्वास रखकर जो हरड़ खा लेता है, उसे उसके प्रभाव से जुलाब लगता है। रोगी को वैद्य के वचन पर विश्वास बैठ जाता है, इतना ही नहीं बल्कि आयुर्वेद शास्त्र को वह प्रामाणिक रूप में स्वीकार करता है ।

इसी तरह अष्टांग निमित्त शास्त्र में कहे हुए चन्द्र, सूर्य या ग्रह की चाल, या धातुवाद, रस-रसायन आदि के प्रत्यक्ष प्रभाव पर विश्वास हो जाने से व्यक्ति उन-उन शास्त्रों में कथित परोक्ष भावों से सम्बन्धित वचनों को भी प्रामाणिक मान लेता है, वैसे ही जिन वचन को समझने में जिसकी बुद्धि मंद है उसको भी उसमें कहे हुए प्रत्यक्ष भावों की तरह परोक्ष भावों को या जो दृष्टि या बुद्धि से भी समझ में नहीं आते वैसे भावों को भी सत्यरूप में निश्चय मानना चाहिए। इस दु:षम नामक पंचम आरे में दिन-प्रतिदिन जीवों की बुद्धि मंद होती जा रही है, जिससे जिन वचन का लगभग उच्छेद हो जायेगा, ऐसा समझकर श्री नागार्जुन, श्री स्कंदिकाचार्य आदि पूर्व महापुरुषों ने आगमों को लिपिवद्ध करके पुस्तक रूप में लिखाया । अत: जिन वचन के प्रति बहुमान रखने वाला श्रद्धालु भी इन आगमादि शास्त्रों को पुस्तक रूप में लिखाए (प्रकाशन करवाए) वस्त्रादि से लपेट कर आदर पूर्वक जिनागमों की रत्न, सुवर्ण, मोती आदि से पूजा भक्ति करे व करवाये । अत: कहा है कि:-

न ते नरा दुर्गतिमाप्नुवन्ति, न मूकतां नैव जड स्वभावम् ।
न चान्धतां बुद्धि विहीनतां च, ये लेखयन्तीह जिनस्य वाक्यम् ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्-"जो भावुक व्यक्ति श्री जिनेश्वर भगवान के वचन रूप आगम आदि शास्त्रों को लिखवाता है, (प्रकाशित करवाता है) वह पुरुष दुर्गति प्राप्त नहीं करता, और भविष्य में गूंगा या जड़-मूढ़ अथवा बुद्धिहीन नहीं होता और अन्धा या मूर्ख आदि नहीं होता है।" इसलिए जो भाग्यशाली पुरुष जिनागम लिखवाता है, प्रकाशित करवाता है, और पढ़ने वाले का भक्तिपूर्वक सम्मान आदि करता है इससे निःसंदेह वह सर्वशास्त्रों का पारगामी होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है। जिनागम का अध्ययन करने कराने वाले का वस्त्रादि से पूजा भक्ति पूर्वक सम्मान करना चाहिए। और भी कहा है कि-

पठति पाठयते पठतामसौ, वसन-भोजन पुस्तक वस्तुभिः।
प्रतिदिनं कुरुते य उपग्रहं, स इह सर्वविदेव भवेन्नरः ॥१॥

अर्थात्-"जो स्वयं जिन आगम को पढ़ता है, दूसरों को पढ़ाता है, और पढ़ने पढ़ाने वालों को सदा वस्त्र, आहार, पुस्तक या पढ़ने की सामग्री देने का अनुग्रह करता है, वह मनुष्य यहीं पर समस्त पदार्थों या तत्त्वों का जानकर हो जाता है।"

एवं लिखे हुए शास्त्रों तथा ग्रन्थों को संविग्न एवं गीतार्थ मुनिवर्यों को अर्थात् जिन आगम के रहस्य को जानने वाले एवं मोक्षाभिलाषी वैरागी मुनि भगवन्तों को अति सम्मान पूर्वक स्वाध्याय के लिए या व्याख्यान के लिए देना चाहिए। किसी भी आगम या ग्रन्थ पर व्याख्यान कराना हो तो प्रतिदिन उसकी द्रव्य से ज्ञानपूजा भक्ति पूर्वक करने के श्रद्धा भाव से उसका श्रवण करना चाहिए। निष्कर्ष यह है कि तीसरे क्षेत्र में जिन आगम के लिए अपने धन का यथाशक्ति सदुपयोग गृहस्थ को करना चाहिए।

४. साधु क्षेत्र- चौथा सम्यक् क्षेत्र साधु मुनिराज हैं। श्री जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञानुसार साधु सम्यक् चारित्र का पालन करते हैं, दुर्लभ मनुष्य जन्म को सफल करने के लिए संसार समुद्र से पार उतरते हैं और दूसरे को पार उतारने के लिए प्रयत्न शील हैं। ऐसे श्री तीर्थंकर परमात्मा तथा गणधर भगवन्त से लेकर आज तक के दीक्षित सामायिक संयमी सर्व साधु भगवन्त की यथा योग्य सेवा भक्ति में अपना धन लगाना चाहिए। वह इस प्रकार- उपकारी साधु महाराज को कल्पनीय निर्दोष अचित्त आहारादि, रोगनाशक औषधादि, सर्दी, गर्मी, वर्षा, रोग एवं लज्जा के निवारणार्थ वस्त्रादि और प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन के लिए रजोहरण आदि देना, आहार करने के लिए पात्रादि, अन्य औपग्रहिक उपकरण दण्ड आदि देना तथा रहने के लिए मकान आदि वसतिदान रूप में देना चाहिए। ऐसी कोई वस्तु नहीं हो जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से साधु के जीवन यापन के लिए उपकारक न हो। इसलिए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उनको संयमोपकारी सभी वस्तुओं का दान देना चाहिए। इतना ही नहीं अपितु साधु धर्म में दीक्षित होने के लिए उद्यत, संसार से विरक्त अपने पुत्र-पुत्रियों को भी साधु-साध्वियों को समर्पित करना चाहिए। अधिक क्या कहें ? जिस-जिस उपाय से मुनिगण निराबाध (पीड़ा रहित) वृत्ति से अपनी स्व-पर कल्याणकारी मोक्ष साधना कर सकें, तदनुरूप जो भी कल्पनीय साधन सामग्री हो, वह सब प्रयत्न पूर्वक उन्हें देनी चाहिए। परन्तु यदि कोई साधु जिन वचन-जिनागम विरोधी हो, अथवा जो सामग्री साधु धर्म की निन्दा कराने वाली हो, उसे अपनी शक्ति अनुसार रोकना चाहिए। इसलिए कहा है कि:-

तम्हा सइ सामत्थे, आणा भट्ठंमि नो खुल उवेहा ।
अणुकूलेहि अरेहि अ, अणुसट्ठी होइ दायव्वा ॥

अर्थात् - "इसलिए समर्थ श्रावक पूर्वोक्त कारणों से प्रभु आज्ञा से भ्रष्ट साधु की उपेक्षा न करे अपितु अनुकुल या प्रतिकूल उपायों से उसे हित शिक्षा देकर मूलमार्ग पर आरूढ़ करने का प्रयत्न करे।" क्योंकि योग्य प्रतिभाशाली अधिकारी पुरुष उपेक्षा करे तो दोनों विराधक होते हैं। इसलिए उसे सुधारना दोनों को लाभदायक है। इस तरह चौथे साधु क्षेत्र में श्रावक को अपने धन का सदुपयोग कर लाभ लेना चाहिए।

५. साध्वी क्षेत्र- ज्ञान दर्शन चरित्र रूप रत्नत्रय सम्पन्न साध्वी क्षेत्र में भी साधु के समान यथोचित आहार आदि का दान देकर अपने धन का उपयोग करना चाहिए। यहां शंका करते हैं कि "स्त्रियों में सत्त्वरहितता तथा दुःशीलता आदि दुर्गुण होते हैं, इसी कारण स्त्रियों को मोक्ष पाने का अधिकार नहीं है। तो फिर उनको दिया हुआ दान साधु को दिए समान दान कैसे माना जाय ?" इसका समाधान यों देते हैं- स्त्रियों में सत्त्वहीनता की बात मिथ्या है क्योंकि ब्राह्मी आदि कई साध्वियां घर-बार छोड़कर साधु धर्म की अनुपम आराधना करने वाली हुई हैं, ऐसी महा सत्त्वशाली साध्वियों को सत्त्वहीन कहना उचित नहीं है। स्त्री निर्वाण ग्रन्थ गाथा ३४ में कहा हैं कि:-

ब्राहम्मी सुन्दर्यार्या, राजमती चन्दना गणधराऽन्या ।
अपि देवमनुजमहिता, विख्याता शील सत्त्वाभ्याम् ॥

अर्थात्- "शील-सत्त्व गुणों से प्रसिद्ध आर्या ब्राह्मी सुन्दरी, राजमती प्रवर्त्तिनी चन्दन बाला आदि महा साध्वियाँ देवों और मनुष्यों द्वारा पूजनीय हैं।" तथा गृहस्थ-अवस्था में भी इस जगत् में सुन्दर सत्त्व और निर्मल शील से प्रसिद्ध सती सीता आदि स्त्रियों को सत्त्वहीन या शील रहित कैसे कहा जा सकता है ? राज्य, लक्ष्मी, पति,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पुत्र, भाई, कुटुम्ब आदि के स्नेह सम्बन्धों का परित्याग कर दीक्षा का भार उठाने वाली सत्यभामा आदि स्त्रियों को असत्त्वशाली कैसे कहा जा सकता है? इस कारण से रत्नत्रय की आराधिका प्राणान्त कष्ट में भी शील को सुरक्षित रखने वाली और महाघोर तपस्या करने में सत्त्ववाली साध्वियां दुश्चरित्र कैसे हो सकती हैं ?

यहां फिर प्रश्न उठाया जाता है कि- "महापाप और मिथ्यात्व के कारण ही जीव स्त्रीत्व प्राप्त करता है अत: सम्यग्दृष्टि जीव कदापि स्त्रीत्व प्राप्त नहीं करता है, तो फिर स्त्रीत्व- शरीर में रहा हुआ आत्मा मौक्ष कैसे जा सकता है?" इसके उत्तर में कहते हैं- ऐसा कहना यथार्थ नहीं है, वस्तुत: पुरुष के समान स्त्री को भी सम्यकत्व की प्राप्ति के समय ही सभी कर्मों की स्थिति एक कोटा कोटी सागरोपम से कम हो जाती है और उस समय मिथ्यात्व मोहनीय आदि का भी क्षयोपशम होता है । मिथ्यात्व सहित पाप कर्म के होने का कोई कारण नहीं है । स्त्री को सम्यकत्व प्राप्ति होते ही मिथ्यात्व आदि का उदय समाप्त हो जाता है। अत: स्त्री को भी सम्यकत्व प्राप्ति की असंभावना नहीं कह सकते और स्त्री मोक्ष साधना नहीं कर सकती, ऐसा भी नहीं कह सकते । स्त्री निर्वाण में कहा है कि-

जानीते जिन वचनं, श्रद्धत्ते चरति चार्यिका सकलम् ।
नाऽस्याऽस्तस्याऽसंभवोऽस्या, नादृष्ट विरोध गतिरस्ति ॥

अर्थात्- "आर्या यानि साध्वी श्री जिन वचन जानती है, उस पर श्रद्धा करती है, समग्र रूप से शुद्ध चारित्र का पालन करती है । इस तरह उसमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र भी होता है। इस कारण उसके लिए मोक्ष प्राप्ति असंभव नहीं है । अदृश्य (न देखी हुई) वस्तु विरोध का कारण नहीं हो सकती अर्थात् मोक्ष की भी असंभाव्यता का कारण देखे बिना स्त्रियों के लिए मोक्ष प्राप्ति असंभव मानना योग्य नहीं माना जा सकता ।" इससे सिद्ध हुआ कि -मुक्ति- साधना मूर्ति धर्म धन वाली साध्वियों में साधु के समान ही अपना धन सेवा भक्ति में लगाना चाहिए ।

साधु से साध्वियों की सेवा भक्ति में इतना विशेष समझना चाहिए कि- दुराचारी नास्तिकों के जाल से साध्वियों की सुरक्षा करनी चाहिए तथा उन्हें निवास के लिए अपने घर के नजदीक, चारों तरफ से सुरक्षित और गुप्त द्वार वाला मकान, उपाश्रय या रहने का स्थान देना चाहिए । अपने घर की स्त्रियों द्वारा उनकी सेवा करवानी चाहिए, अपनी पुत्रियों को उनके सम्पर्क में रखना चाहिए । उनसे परिचय कराना चाहिए, उनके पास रखना चाहिए और अपनी किसी कन्या की दीक्षा लेने की भावना हो तो उसे नि: संकोच दीक्षा देकर समर्पित करना चाहिए । साध्वी कोई करने योग्य कार्य भूल जायें तो याद दिला देना चाहिए । यदि साध्वी जी गलत प्रवृत्ति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करती हों तो विनय पूर्वक रोकना चाहिए। यदि बारम्बार भूल करे तो हृदय में पूज्य भावपूर्वक कठोर वचनों से उलाहना भी देना चाहिये। बार-बार चेतावनी देने पर भी न मानें तो उन्हें शिक्षा देनी चाहिए और संयमोचित वस्तुएँ देकर उनकी सेवा करना चाहिए। इत्यादि विशेष रक्षा करना। इस तरह साध्वी क्षेत्र में गृहस्थ को अपने धन का उपयोग करना चाहिए।

६. श्रावक क्षेत्र- यह क्षेत्र छठा माना गया है। श्रावक श्रावक का साधर्मिक माना जाता है। समान धर्म पुरुषों का समागम महापुण्य से होता है, साधर्मिकता के अनुरूप सेवा करने की तो बात ही क्या है? अपने पुत्र पुत्री आदि के जन्मोत्सव, विवाह आदि अवसरों पर साधर्मिकों को निमंत्रण देना, विशिष्ट प्रकार का भोजन, ताम्बूल, वस्त्र, आभूषण आदि देकर उनकी भक्ति करनी चाहिए। अंतराय कर्म के उदय से कदाचित उनका वैभव चला गया हो तो सहायता देकर या रोजगार -धंधे से लगाकर उनकी स्थिति सुधार देनी चाहिए। यदि उन पर कोई विपत्ति आ पड़ी ७हो तो अपना धन देकर उसका उद्धार करना चाहिए। धर्म में गिरते हुए को पहले की तरह स्थिर कर देना चाहिए। धर्माचरण में प्रमाद करता हो तो उसे याद दिलाना, अनिष्ट मार्ग में जाने से रोकना, प्रेरणा देना, बार-बार प्रेरणा करना, धार्मिक अभ्यास कराना, उसकी शंका का समाधान करना, पढ़े हुए को दोहराना, उसके साथ विचार-विमर्श करना, धर्म कथा आदि पाँच प्रकार के स्वाध्याय कर्तव्य में यथा योग्य लगाना और कोई विशिष्ट धर्मानुष्ठान या सामूहिक धर्म क्रिया या सामूहिक धर्माराधना होती हो तो पौषधशाला-उपाश्रय आदि प्रत्येक स्थान पर उसे साथ में ले जाना तथा विशेष धर्म के लिए सर्व साधारण उपाश्रय-पौषधशाला आदि बनाना चाहिए। अतः श्रावक रूप छठे क्षेत्र में गृहस्थ को अपना धन लगाना चाहिए।

७. श्राविका क्षेत्र- सातवां श्राविका रूपी धर्म क्षेत्र है। श्रावक के समान श्राविका वर्ग की उन्नति या उत्कर्ष के लिए अपना धन लगाना चाहिए। श्रावक से श्राविका को जरा भी कम या अधिक नहीं समझना चाहिए। ज्ञान, दर्शन, चरित्र सम्पन्न, शील और संतोष गुण से युक्त तथा श्री जिन शासन में अनुराग रखने वाली महिला चाहे सधवा हो अथवा विधवा हो, उसे साधर्मिक बहन, माता या पुत्री हृदय से मान कर सेवा भक्ति करना चाहिए।

यहाँ शंका की जाती है कि- स्त्रियां शील पालन कैसे कर सकती हैं ? और किस तरह वे रत्नत्रय युक्त हो सकती हैं ? क्योंकि लोक और लोकोत्तर व्यवहार में तथा अनुभव से भी स्त्रियां बहुत दोष भाजन के रूप में प्रसिद्ध हैं। वास्तव में स्त्रियां भूमि के बिना उत्पन्न हुई बिजली हैं, बिना नाम की व्याधि हैं, अकारण मृत्य हैं, गुफा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से रहित सिंह और प्रत्यक्ष राक्षसी है और असत्य-वादी, साहसी और बन्धु-स्नेह, घात एवं संताप की हेतु है तथा अविवेकों की महाकारण भूत होने से दूर से ही त्याग करने योग्य हैं। फिर उन्हें दान देकर उनका सम्मान करना, उनके प्रति वात्सल्य करना किस तरह उचित है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि- स्त्रियों में अधिकांशतः दोष युक्त होती हैं, यह बात एकान्ततः ठीक नहीं है। पुरुषों में भी यह बात हो सकती है क्योंकि पुरुष में भी क्रूर आशय वाले नास्तिक, कृतघ्न, स्वामी द्रोही और देव गुरु के भी वंचक आदि होते हैं। इत्यादि पुरुषों में बहुत दोष युक्त पाये जाते हैं। इससे उत्तम पुरुष भी इस प्रकार दुष्ट हैं, ऐसा मानकर या देखकर महापुरुषों की अवज्ञा करना योग्य नहीं है। इसी तरह वैसी स्त्री को देखकर सम्पूर्ण स्त्री जाति को बदनाम करना उचित नहीं है। कितनी ही स्त्रियां बहुत ही दोष वाली होती हैं और कितनी ही स्त्रियां बहुत गुण वाली होती हैं और श्री तीर्थंकर परमात्मा आदि उत्तम पुरुषों की माता स्त्री ही होती है, फिर भी उसकी गुण गरिमा के कारण इन्द्र महाराज भी उनकी स्तुति करते हैं और मुनिवर्य भी उसकी प्रशंसा करते हैं। लौकिक शास्त्र में भी कहा है कि -

निरतिशयं गरिमाणं, तेन युवत्या वदन्ति विद्वांसः ।
तं कमपि वहति गर्भं जगतामति यो गुरुर्भवति ॥

अर्थात्- "जो युवती किसी उत्तम गर्भ को धारण करती है, वह तीन जगत् में गुरु स्थान प्राप्त करती है। इसी कारण विद्वान लोगों ने अतिशयोक्ति से मातृ जाति की महिमा का गुणगान किया है।"

कितनी ही स्त्रियां अपने शील के प्रभाव से आग को जल के समान शीतल, सर्प को रस्सी के समान (निर्विष), नदी को स्थल के समान, विष को अमृत समान कर देती हैं। स्वयं तीर्थंकर भगवन्त ने अपने मुख से सुलसा आदि श्राविकाओं के गुणों की प्रशंसा की है। इन्द्रों ने भी देव लोक में बार-बार उनके चरित्रों को अति सम्मान पूर्वक कहा है और प्रबल मिथ्या दृष्टि देवों ने भी सम्यकत्व आदि से उन्हें विचलित करने का प्रयत्न किया था। फिर भी वे जरा भी विचलित नहीं हुईं। कोई तो उसी ही जन्म में मोक्ष गयी हैं और कोई दो या तीन जन्म लेकर मोक्ष में जायेंगी। ऐसा शास्त्रों में वर्णन सुना है। इसलिए उनके प्रति माता के समान, बहन के समान या अपनी पुत्री के समान वात्सल्य रखना चाहिए। यही व्यवहार युक्ति युक्त है। अधिक क्या कहें ?

केवल सात क्षेत्रों में ही धन लगाने से महा(विशेष) श्रावक नहीं कहलाता। परन्तु गृहस्थ को करने योग्य अति दीन-दुःखी जन के प्रति दया आदि अनुकम्पा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करना भी विशेष धर्म कहा है । अन्धा, बहरा, लंगड़ा, रोग से पीड़ित आदि निर्धन, दीन-दु:खी के प्रति अनुकम्पा धन व्यय करना है , उनको भक्ति से नहीं परन्तु दया भाव से धन, अनाज, वस्त्र, औषध आदि देना अनुकम्पा कहलाती है । सात क्षेत्रों में तो भक्ति पूर्वक यथोचित दान देने को कहा है और दीन-दु:खी जन आदि को तो पात्र-अपात्र के विवेक बिना या कल्पनीय-अकल्पनीय का विचार किये बिना, केवल करुणा भाव से ही अपना धन लगाना योग्य माना गया है । दीक्षा के समय में श्री तीर्थंकर भगवन्तों ने भी पात्र-अपात्र की अपेक्षा रखे बिना अभेद भाव से केवल करुणा परायण होकर ही सांवत्सरिक दान दिया था । इस कारण से श्रावक सात क्षेत्रों में भक्ति पूर्वक और दीन दु:खी के लिए अति करुणा से अपना धन लगाता है । यह बात न्याय संगत है। उपर्युक्त व्रत गुण वाला गृहस्थ महा श्रावक कहलाता है । योग शास्त्र के तीसरे प्रकाश श्लोक ११६ में प्रस्तुत वर्णन मिलता है ।

एवं व्रतस्थितो भक्त्या सप्तक्षेत्र्या धन वपन् ।
दयया चाऽति दीनेषु, महाश्रावक उच्यते ॥ ११६ ॥

अर्थात् - 'इस प्रकार बारह व्रतों में स्थित रहने वाला व्रतधारी श्रावक सात क्षेत्रों में भक्ति पूर्वक और अति दीन-दु:खियों में दया पूर्वक अपने धन रूपी बीज बोने वाला महा श्रावक कहलाता है ।'

यहाँ 'महा श्रावक' इसलिए कहलाता है कि अन्यों के द्वारा वह विशेष गुण वाला होता है। अविरति सम्यग्दृष्टि वाला अथवा एक दो व्रत रूप अल्प विरति वाला भी जिन वचन का श्रवण करता है, उसे व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ से श्रावक कहा जाता है । उसकी अपेक्षा से यह 'महाश्रावक' कहलाता है । इसके विषय में सम्बोध प्रकरण श्रावक धर्माधिकार आदि में कहा है कि :-

संपत्त दंसणाई,पइदिअहं जह जणा सुणई अ ।
सामायारिं परमं जो खलु तं सावग बिंति ॥१॥

अर्थात्- जिसे सम्यग् दर्शन आदि गुण प्राप्त हो गया है, जो हमेशा साधु पुरुषों के मुख से उत्तम श्रावक धर्म की समाचारी अर्थात् साधु श्रावक का कर्तव्य आदि सुनता है, वह यथार्थ रूप- निश्चय रूप में श्रावक कहलाता है । और भी कहा है:-

श्रद्धालुतां श्राति पदार्थ चिन्तनाद्धनानि पात्रेषु वपत्य नारतम् ।
किरत्यपुण्यानि सुसाधु सेवनाद् द्यापितं श्रावक माहूरज्जा सा ॥१॥

अर्थात्- "प्रभु कथित पदार्थों पर चिन्तन करके जो स्व श्रद्धा को स्थिर करता है, प्रतिदिन सुपात्र रूपी क्षेत्र में धन रूपी बीज बोता है और उत्तम सुसाधुओं की सेवा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करके पाप कर्म क्षय करता है । उसे आज भी हम अवश्य श्रावक कह सकते हैं ।"

श्रावक शब्द की इस निरुक्ति- व्याख्या से सामान्य- अल्प धर्म वाला भी श्रावकत्व रूप में प्रसिद्ध ही है । महाश्रावक तो यहाँ जिनका वर्णन किया गया है, उन समग्र व्रतों का निरतिचार पालन करने वाला होता है, पूर्वोक्त सात क्षेत्रों में निर्मल भक्ति से अपना धन लगाता है, उससे जैन धर्म की प्रभावना करता है और दीन-दु:खी जीवों पर अत्यन्त करुणा करता है, उसे महाश्रावक कहने में कोई दोष नही है ।

इस प्रकार यहाँ तक महाश्रावक और उसके धर्म का स्वरूप बतलाया गया है । अब उसकी दिनचर्या- हमेशा करने योग्य कर्त्तव्य रूप गृहस्थ का विशेष धर्म आगे प्रकरण में कहा जाता है।

इस ग्रन्थ का अनुवाद परम पूज्य भारत दिवाकर, पंजाब केशरी, युगवीर जैनाचार्य कलिकाल कल्पतरु, अज्ञान तिमिर तरणि, श्री श्री श्री १००८ श्री मद् विजय वल्लभ सूरीश्वर जी महाराज सा० के प्रथम पट्टधर, मरुधर देशोद्धारक आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय ललित सूरीश्वर जी महाराज सा० के पट्टधर महान तपस्वी, ज्योतिष मार्त्तण्ड, आचार्य देव श्रीमद् विजय पूर्णानंद सूरीश्वर जी महाराज सा० के पट्टधर, अनेक तीर्थोद्धारक, शासन दीपक, अप्रतिम तपस्वी, उत्तर प्रदेश केशरी, पंजाब में व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म सिंचन करने वाले उत्तर प्रदेश उद्धारक आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय प्रकाश चन्द्र सूरीश्वर जी महाराज सा० के शिष्य रत्न पन्यास श्री पद्म विजय जी गणीवर्य ने विक्रम सम्वत् २०४८ आश्विन बदि ११ तदनुसार ४-१०-१९९१ दिन शुक्रवार को परम पूज्य आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वर जी महाराज सा० की ३७ वीं पुण्य तिथि के पवित्र दिन मैसूर (कर्नाटक) में श्री सुमतिनाथ जैन श्वेताम्बर मन्दिर तीर्थंकर रोड के निकट श्री ज्ञान मन्दिर में यह प्रथम भाग पूर्ण किया ।

यह अनुवाद बड़ी सावधानी पूर्वक किया गया है, फिर भी मति मंदता के कारण सूत्र सिद्धान्त से विपरीत लिखा गया हो तो त्रिकरण योग से मिच्छामि दुक्कड़म् करता हूँ और सभी भव्य आत्मा इस ग्रन्थ को पढ़कर, आत्म गुण प्रकट कर परम शान्ति प्राप्त करें यही एक हार्दिक शुभाभिलाषा है ।

॥ इति प्रथम खण्ड ॥

卐 श्रोतु वाचकयो शुभं भूयात् 卐

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

For Private and Personal Use Only